हिन्दी साहित्य-सम्मेलन प्रयाग की आयुर्वेदरत्न तथा तत्समस्तरीय अन्य परीक्षाओं में सफलता के लिए सर्वोत्तम ग्रन्थ

अशोक आयुर्वेदरत्न गाइड

(आयुर्वेद-रत्नावली)

द्वितीय खण्ड

द्वितीय संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण

लेखक

डा० शिवकुमार 'व्यास'

आयुर्वेदाचार्य धन्वन्तरि

बी० आई० एम० एस० (आनर्स) स्वर्णपदक प्राप्त

प्राध्यापक—आयुर्वेदिक एवं यूनानी तिब्बिया कॉलेज

नयी दिल्ली-५

प्रकाशक

अशोक प्रकाशन

नई सड़क, दिल्ली-६

प्रकाशक
अशोक प्रकाशन;
नई सड़क, दिल्ली।

द्वितीय संस्करण : १९६८
मूल्य : १५·००

मुद्रक
सतीश प्रिंटिंग एजेन्सी द्वारा
अशोक प्रिंटिंग प्रेस
दल्ली-६

अपनी बात

"मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहासताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥

न जाने कितनी बार महाकवि कालीदास का उक्त श्लोक मुझे याद आया, उस समय जबकि इस संग्रह के लेखन का भार मैं स्वीकार कर चुका था, और वास्तव में याद आने की बात भी थी। इतने विशद तथा महत्वपूर्ण विषय पर लेखन और वह भी मनचाहा नहीं, अपितु आयुर्वेद की एक उच्च परीक्षा के पाठ्यक्रमानुसार एवं आयुर्वेद के आर्ष ग्रन्थों के सूत्रों पर आधारित लेखन एक कठिन कार्य होता है। अब से पूर्व एक-एक विषय पर ही लेखनी उठाई थी किन्तु यहाँ तो आयुर्वेद के सभी महत्वपूर्ण विषयों पर लिखना था। जिसकी कृपा से पंगु पर्वत लाँघ जाते हैं, गूंगे गाने लगते हैं, बहरे सुनने लगते हैं, मूर्ख ज्ञानवान हो जाते हैं, उस जटाधारी, भस्मीरमित, त्रिशूल-डमरू ग्रहित, नन्दीसहित, विषधर सुशोभित, त्रिनेत्री, कल्याणकारी शंकर भगवान की कृपा से यह कार्य पूर्ण हुआ और आप तक पहुंच सका।

नई परम्परा बनाम प्राचीन पद्धति

आयुर्वेद की किसी परीक्षा के लिए इस प्रकार की गाइड देख कर नई परम्परा कहा जा सकता है। इससे पूर्व भी वैद्य विशारद परीक्षा की गाइड—अशोक प्रकाशन से प्रकाशित हो चुकी है। वास्तव में यह कोई नई बात नहीं। यदि आयुर्वेद के इतिहास का अवलोकन करें तो मालूम हो जायेगा कि समय अनुकूल साहित्य का निर्माण होता रहा है। एक समय था जब विशाल-बुद्धि मनुष्य थे तब संहिता ग्रन्थों से काम चलता था, फिर अल्प बुद्धि वाले लोगों के लिए संग्रह ग्रन्थ बनने लगे। स्वयं माधवनिदानकार ने लिखा है:—

"नानातन्त्रविहीनानां भिषजामल्पमेधसाम् ।
सुखं विज्ञातुमातंकमयमेव भविष्यति "

किन्तु बारह-तेरह सौ वर्ष पूर्व जितनी बुद्धि वाले मनुष्य थे आज वह नहीं रहे। आज उस माधवनिदान को सुखपूर्वक तो कहाँ कठिनाई से भी

समझ पाना प्रत्येक के लिए सम्भव नहीं । यही बात अन्य ग्रन्थों के विषय में भी कही जा सकती है। यही कारण है कि आज आयुर्वेद के पठन पाठन का स्वरूप बदलना पड़ा । आज आयुर्वेद को ग्रन्थों के आधार पर न पढ़ाकर विषयों के आधार पर पढ़ाया जाता है और उन विषयों पर अलग-अलग पुस्तकें लिखी गई हैं और लिखी जा रही हैं। वह सभी उस विषय में पाठक का पथ-प्रदर्शन करती हैं। आँगल भाषा का शब्द 'गाइड' भी पथ-प्रदर्शक के लिए ही प्रयोग होता है। और वास्तव में विद्यार्थियों के पथ-प्रदर्शन के लिए ही इस पुस्तक की रचना हुई है, जो समय की माँग भी है।

स्वरूप एवं उपयोगिता

इस पुस्तक का क्या स्वरूप है—यह तो आपके सामने ही है तो भी दो शब्द इस विषय में कह देना आवश्यक है। यह संग्रह आयुर्वेदरत्न परीक्षा के परीक्षार्थियों के लिए तैयार किया गया है। आयुर्वेदरत्न परीक्षा का पाठ्यक्रम देखने से विदित हो जाता है कि प्रत्येक विषय की महत्वपूर्ण बातें वहाँ सम्मिलित की गई हैं। उन विषयों पर प्राचीन सिद्धान्तों के साथ-साथ आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के सिद्धान्तों का ज्ञान करना भी कहा गया है। वास्तव में यह समन्वय ज्ञान के लिए आवश्यक भी है। कोई चीज पुरानी है—इसलिए अच्छी है और कोई नवीन है, इसलिए खराब, यह धारणा गलत है। पुरानी हो या नवीन जो अच्छी बात है उसे उसी रूप में स्वीकार करना चाहिये। वास्तव में यह ही बुद्धिमानी है। महाकवि कालीदास का एक श्लोक है—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्मान्मतरद् भजन्ते मूढः परः प्रत्ययनेयबुद्धिः ॥"

और फिर प्रत्येक विषय युगानुरूप होना चाहिए। चरक संहिता के पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी भी समय में किये गए अनुसन्धानों को आत्मसात् करना चाहिये—वही विषय युगानुरूप हो सकता है। अष्टांगसंग्रह के कर्ता ने स्पष्ट रूप से कहा है—

"युगानुरूपसन्दर्भो विभागेन करिष्यते।"

और ऐसा ही हमने किया है। किसी भी विषय में प्राचीन सिद्धान्तों का

प्रतिपादन कर जहाँ-जहाँ आवश्यक समझा और सम्भव हुआ वहाँ-वहाँ आधुनिक सिद्धान्तों के साथ समन्वय किया गया है।

जैसा कि पहले ही लिखा जा चुका है, यह पुस्तक परीक्षार्थियों के लिए लिखी गई है। परीक्षार्थी को विषय का स्पष्ट ज्ञान सरल भाषा में चाहिये। जैसे दर्पण देखने से मुख ज्यों का त्यों दिखाई देता है—ठीक उसी प्रकार विषय पढ़ कर उसे ज्यों का त्यों समझ सके। इस बात का पूर्ण रूप से ध्यान रखा गया है। प्रत्येक विषय को बहुत सरल किया गया है। सरल करने के लिए भाषा एवं शैली दोनों ही तदनुरूप ग्रहण की हैं। विषय प्रतिपादन में एक-एक विषय की मर्यादा निर्धारित करने के लिए सभी विषयों को प्रश्नोत्तर के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि प्रश्न से सम्बन्धित सभी बातों को विस्तार से स्पष्ट कर दिया जाये।

चाहे इस पुस्तक की रचना आयुर्वेदरत्न परीक्षा के पाठ्यक्रम के अनुसार की है तो भी यह पुस्तक आयुर्वेद की किसी भी उच्च परीक्षा के लिए उपयोगी पुस्तक है। कारण यह कि प्रथम तो आयुर्वेदरत्न के पाठ्यक्रम में प्रत्येक विषय के सभी उपयोगी अंश सम्मिलित किये हैं जो कि दूसरी लगभग सभी परीक्षाओं में ज्यों के त्यों हैं। दूसरी बात यह कि किसी भी विषय पर लिखते समय उससे सम्बन्धित सभी ज्ञातव्यों का संग्रह कर दिया गया है। जो किसी भी विषय में किसी भी परीक्षा के प्रश्न का उत्तर लिये हुए हैं। इस प्रकार न केवल आयुर्वेदरत्न के परीक्षार्थियों के लिए अपितु तत्समस्तरीय प्रत्येक आयुर्वेद की परीक्षा के लिए यह पुस्तक पथ-प्रदर्शक का कार्य दे सकती है। यदि अतिशयोक्ति न समझी जाए तो मैं यह कह सकता हूं कि चिकित्सकों के लिए भी यह पुस्तक लाभदायक है। वह इस तरह कि प्रायः साधारण चिकित्सक चिकित्सा व्यवसाय में लग जाने पर शास्त्रीय सिद्धान्तों को कुछ भूलने लगते हैं। वह अल्प समय में उन सभी सिद्धान्तों का अवलोकन इस पुस्तक में कर सकते हैं। अतः उनके लिए एक रिफ्रेशर बुक के रूप में ग्राह्य हो सकती है। इन सभी बातों को देखते हुए इसका नाम आयुर्वेदरत्न गाइड के साथ-साथ 'आयुर्वेद रत्नावली' रक्खा गया है। वह नाम कहाँ तक सार्थक रहा है—इसका निर्णय वाचकों पर ही छोड़ता हूं।

विषय-चयन

इस पुस्तक के विषय-चयन के सम्बन्ध में यह स्पष्ट करना उचित समझता हूं कि इस पुस्तक के लिए विषय ग्रहण करते समय मैंने चरक-सुश्रुत आदि संहिता ग्रन्थों से लेकर आधुनिकतम संग्रह ग्रन्थों तक से विषय ग्रहण किया है। न केवल इतना ही अपितु प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा लिखित एवं आयुर्वेद की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित विभिन्न लेखों से भी विषय-चयन किया गया है। विषय-चयन उच्च एवं शिला वृत्ति से किया है। यही कारण है कि कहीं-कहीं सूत्रमात्र ही किसी ग्रन्थ से लिये हैं और कहीं २ पूरा विषय ज्यों का त्यों उठाकर रख दिया है। वास्तव में उन ऋषियों एवं विद्वानों को ही श्रेय मिलना चाहिए जिन्होंने ऐसा महत्वपूर्ण साहित्य लिखा जिसकी सहायता से यह संग्रह तैयार किया जा सका। उन सबके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं।

आत्मनिवेदन

अन्त में उन सभी ज्ञात एवं अज्ञात विभूतियों के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूं जिनसे मुझे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से कुछ भी ज्ञान प्राप्त हुआ हो। विद्यार्थियों के लिए दर्पणवत्—प्रत्येक विषय में पथ-प्रदर्शक करने वाली आयुर्वेद के रत्नों से युक्त यह आयुर्वेद-रत्नावली (अशोक आयुर्वेदरत्न गाइड) गुरु पूर्णिमा की इस शुभ वेला में गुरुप्रवर श्री १०८ श्री स्व० स्वामी अभयानन्दजी महाराज के चरण कमलों की कृपा से आयुर्वेद के विद्यार्थियों तक पहुंचाते हुए कामना करता हूं कि इसकी सहायता से परीक्षा तो उत्तीर्ण कर ही जायें—जीवन में चिकित्सा करते समय नित्य-प्रति होने वाली परीक्षाओं में भी सफलता प्राप्त कर धर्म-अर्थ-काम एवं मोक्ष के भागी बनें।

आयुर्वेदिक एवं यूनानी तिब्बिया कालेज
गुरु पूर्णिमा विक्रमी २०२१

विनीत
शिवकुमार व्यास

द्वितीय-संस्करण

१९६४ में आयुर्वेद रत्नगाइड का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था—यह बात इसकी उपयोगिता को स्वयं सिद्ध कर रही है कि इस अल्प अवधि में ही वह सारा बिक गया है और द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया गया । आयुर्वेद रत्नगाइड में पहले ही लगभग सभी आवश्यक विषय संगृहीत किए गए थे । अनेक छात्रों, अध्यापकों एवं विद्वानों ने इस बात की भूरि-भूरि प्रशंसा की और पत्र लिखे । प्रथम संस्करण में जो एक दोष रह गया था—जो सभी को अखरता था वह था संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी के शब्दों में प्रूफ रीडिंग की गलतियाँ । इस संस्करण से उन सबका संशोधन कर दिया गया है और पूर्ण प्रयत्न किया गया है कि प्रूफ में कोई गलती न रह जावे ।

कुछ ऐसे विषय जो इस बीच में परीक्षा में पूछे गए और उनका अलग से उत्तर आयुर्वेद रत्नगाइड में नहीं था—इस संस्करण में समाविष्ट कर दिए गए हैं । इस तरह यह एक संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण बन गया है जो अधिक उपयोगी सिद्ध होगा ।

मैं अध्यापकों—विद्वानों एवं पाठकों को धन्यवाद देना चाहता हूं जिन्होंने इस पुस्तक को अपनाया और आग्रह करता हूं कि इसके द्वितीय संस्करण से लाभ उठावें

विनीत :

१५ अगस्त १९६७ शिवकुमार व्यास

विषय-सूची

प्रथम पत्र

शालाक्य तन्त्र ऊर्ध्वांग चिकित्सा

मुखरोग विज्ञान

प्रश्न—शालाक्य-तन्त्र किसे कहते हैं और क्यों ?

उत्तर—आयुर्वेद को आठ अंगों में विभक्त किया गया है, उनमें से एक अंग 'शालाक्यतन्त्र' भी है। इन आठ अंगों को जानने वाला ही 'आयुर्वेदज्ञ' कहलाता है। इन अंगों को जानना भी दो प्रकार से होता है—प्रथम सामान्यत: जो कि प्रत्येक आयुर्वेद के छात्र के लिये आवश्यक है और इसीलिये आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में सभी अंगों का निरूपण किया गया है, विशेषता चाहे किसी एक अंग की रखी हो। दूसरी प्रकार का ज्ञान 'विशेष' ज्ञान कहलाता है, जिस में किसी 'अंग विशेष' का अधिक ज्ञान प्राप्त किया जाता है जो व्यक्ति विशेष की रुचि, कार्यक्षेत्र, मनन पर निर्भर करता है। यह विशिष्ट ज्ञान तभी संभव होता है जबकि सामान्य ज्ञान प्राप्त हो चुका हो और इस प्रकार का विशिष्ट ज्ञान रखने वाला व्यक्ति उस विषय का 'विशेषज्ञ' कहलाता है और उसका उस विषय में अधिक महत्व होता है। प्राचीन समय में इस प्रकार का प्रचलन था और आज भी उसका वहु-प्रचलित स्वरूप सामने है। जो व्यक्ति, शालाक्य-तन्त्र' में विशेप ज्ञान रखता हो, उसे 'शालाक्य-विशेषज्ञ' कहा जाता है।

शालाक्य-तन्त्र उस अंग विशेप को कहा जाता है "जिसमें जत्रु के ऊपर वाले कान, आँख, मुख, नाक आदि में होने वाली व्याधियों का उपशमन सहित विधान वर्णित होता है।"[1] और भी कहा गया है कि "जिस तन्त्र में उत्तमांग में पाये जाने वाले, ७६ नेत्र रोग, २८ कर्णरोग, ३१ नाक के रोग, ११ शिरो-रोग, ६७ मुख के रोगों का स्थूलत: संख्या, रूप तथा चिकित्सा के साथ वर्णन पाया जाता है, उस तन्त्र को शालाक्य-तन्त्र कहते हैं।"[2]

---

१. "शालाक्यं नामोर्ध्वजत्रुगतानां श्रवणनयन वदनघ्राणादि
संश्रिताणां व्याधीनामुपशमनार्थम्…' (सुश्रुत सूत्र० अ० १)

२. षट सप्तति नेत्ररोगा दशाष्टादश कर्णजा:।
एकेत्रिंशत घ्राणगत: शिरस्येकादशैव तु॥
संहितामार्मभिहिता: सप्तषष्टिमुखामया:।
एतावन्तो यथास्थूलमुत्तमांगता गदा:।
अस्मिच्छास्त्रे निगदिता: संख्या रूपचिकित्सितै॥

यह जो दो सूत्र ऊपर लिखे गये हैं, यह शालाक्य तन्त्र किसे कहते हैं—इस बात का पूर्ण उत्तर देने वाले हैं। आज के पाश्चात्य-चिकित्सा ग्रन्थों में भी शालाक्य तन्त्र विषयक विशाल वर्णन उपलब्ध होता है किन्तु वह कई अंगों में विभाजित हो गया है—अतः किसी एक को शालाक्य तन्त्र का पर्यायवाची नहीं कहा जा सकता। प्रधानतः यह तीन अंग हैं—प्रथम नेत्र विज्ञान (Eye Diseases), दूसरे कर्ण-नासिका-गले के रोग (E.N.T.) और तीसरे दन्त चिकित्सा (Dental surgery)। इन तीनों के समुदाय को शालाक्य तन्त्र कहा जा सकता है। पहले जहाँ केवल आठ विषय ही विशेषज्ञ बनने के लिये थे, अब उस एक विषय (शालाक्य तन्त्र) के भी तीन विभाजन हो जाने से इन तीनों के अलग-अलग विशेषज्ञ होते हैं और व्यवहार की दृष्टि से यह अच्छा भी है। अतः कहा जा सकता है कि शालाक्य तन्त्र विषयक-ज्ञान का आज कुछ विस्तार ही हुआ है जो प्रगति के पथ पर अग्रसर है और नित्य नवीन अनुसंधानों द्वारा उसकी वृद्धि होती रहती है।

अब दूसरा विषय लेते हैं कि इसे शालाक्य तन्त्र क्यों कहा जाता है? डल्हण ने लिखा है कि जिस तन्त्र में शलाका का प्रयोग बहुलता से होता है, उसे शालाक्य तन्त्र कहते हैं।[1] यहाँ पर 'शलाका' से 'शालाक्य' बना है। इस तन्त्र के ज्ञाताओं को 'शालाकी' कहा जाता है क्योंकि वह 'शलाका' वाले होते हैं। एक स्थान पर नेत्र विशेषज्ञों के लिये भी 'शालाकी' शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] वह भी उसी अर्थ में है क्योंकि नेत्र विज्ञान भी शालाक्य तन्त्र का एक अंग है, अतः हम कह सकते हैं कि क्योंकि शालाक्य तन्त्र में शलाका का प्रयोग सर्वाधिक होता है, इसलिए उसी के नाम पर शालाक्य तन्त्र कहा जाता है (शालाक्य अभिहितं शालाक्यातन्त्रम्)। इसी को 'निमि तन्त्र' भी कहा जाता क्योंकि विदेह के राजा निमि इसके विशेषज्ञ हो चुके हैं।

प्रश्न—उपलब्ध आयुर्वेदीय ग्रन्थों में शालाक्य विषयक साहित्य क्या पर्याप्त माना जा सकता है?

उत्तर—आज शालाक्य विषयक जो भी साहित्य हमें देखने को मिलता है उसका मूल आश्रय सुश्रुत संहिता को माना जा सकता है। चरक संहिता में

१. "शलाकायाः कर्म शालाक्यं तत्प्रधानं तन्त्रमपि शालाक्यम्।" (डल्हण)
२. "दृष्टि विशारदाः शालाकिनः।" (डल्हण)

बहुत गौण रूप से है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि आयुर्वेद को अष्टांग कहा जाता है और उन आठों का सामान्य तथा विशेष दो प्रकार का ज्ञान करना होता है, सुश्रुत संहिता में चाहे आठों का ही सामान्य ज्ञान हो तो भी विशेष रूप से वह 'शल्य' प्रधान ग्रन्थ माना जाता है। जैसा कि स्वयं सुश्रुत संहिता के प्रणेता ने भी लिखा है कि यहाँ पर सभी शल्य-विषयक ज्ञान को मूल रूप से कहता हूं।[1] इसका स्पष्ट अर्थ है कि शालाक्य का जो वर्णन सुश्रुत संहिता में है वह सामान्य ज्ञान के लिये है—अतः उसे पर्याप्त नहीं माना जा सकता।

इसी बात को स्वीकार करते हुये सुश्रुत संहिता में लिखा है कि "१२० अध्यायों में यह तन्त्र समाप्त किया है। इस तन्त्र में वर्णन किये हुये और न वर्णन किये हुये (शालाक्य, कौमारभृत्य एवं कायाचिकित्सा) विषयों का वर्णन उत्तर तन्त्र में किया जायेगा।"[2] इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि प्रधान विषय तो समाप्त हो गया है अब गौण विषय में लिखेंगे। उत्तर तन्त्र को आरम्भ करते समय सुश्रुत संहिता में लिखा है, 'अब हम यहाँ से उस अध्याय की व्याख्या करते हैं जिसमें उपद्रव का वर्णन होता है।"[3] जिसकी व्याख्या करते हुये डल्हण ने लिखा है कि "किसी भी रोगी की चिकित्सा करते समय उत्पन्न हुये उपद्रवों को शांत करने के लिये यह उत्तरतन्त्र है। अथवा १२० अध्यायों का वर्णन करने के पश्चात् परिशिष्ट रूप में यह उत्तर तन्त्र कहा गया है।"[4] यह बात भी सिद्ध करती है कि सुश्रुत संहिता के उत्तर तन्त्र में जो विषय लिखा गया है, वह मूल विषय से सम्बन्धित विषयों का ज्ञान

---

१. "अस्माकं तु सर्वेषामेव शल्यज्ञानं मूलं कृत्वोपदिशतु भवानिति। स उवाचैवमस्त्विति।" (सु० सू० अ. १.)

२. सविंशमध्यायशतमेतदुक्तं विभागशः।
इहोद्दिष्टाननिर्दिष्टानार्थान् वक्ष्याम्यथोत्तरे॥

३. "अथातः औपद्रविकमध्यायं व्याख्यास्यामः यथोवाचभगवान् धन्वन्तरि।" (सुश्रुत उत्तरतन्त्रारम्भक सूत्र)

४. "अथातः उपद्रवचिकित्साधिकारि सामान्यात् सर्वोपद्रवचिकित्सार्थमुत्तर-तन्त्रारम्भः। अथवा सविंशमध्यायशतं परिसमाप्य परिशिष्टत्वादुत्तरतन्त्रं प्रतिपाद्यं भवति।" (डल्हण)

कराने के लिये है न कि उसमें विशेपज्ञता प्राप्त करने के लिये । इस वात को और भी स्पष्ट एक उदाहरण से किया जा सकता है कि एक शल्य चिकित्सक के पास एक भग्न का रोगी आता है, उसका अधिकार है कि वह भग्न का उपचार वहुत ही प्रवीणता से करे किन्तु वीच में ही उस रोगी को ज्वर हो जाता है जिसका उपचार काम चिकित्सक को करना चाहिये किन्तु भग्न का उपचार एक चिकित्सक कर रहा है अतः उपद्रव स्वरूप उत्पन्न ज्वर का उपचार भी वह ही कर देता है और इसीलिये वह अपने विषय की विशिप्टता रखते हुये भी अन्य विपयों का सामान्य ज्ञान रखता है। सुश्रुत संहिता में वर्णित शालाक्य विपय की भी ठीक यही स्थिति है । विशेप रूप से शल्य का ग्रन्थ है किंतु सामान्य ज्ञान कराने के लिये शालाक्य तन्त्र आदि का भी वर्णन किया है जो किसी प्रकार भी पर्याप्त नहीं कहा जा सकता ।

और फिर सुश्रुत संहिता में एक सूत्र द्वारा स्पष्ट ही कर दिया गया है कि शालाक्य तन्त्र के सभी रोगों का वर्णन विदेह के द्वारा हुआ है ।[1] और उसी के आधार पर सुश्रुत संहिता में शालाक्य का वर्णन किया गया है । यह वात यह सिद्ध करती है कि सुश्रुत संहिता में उपलब्ध शालाक्य विपयक ज्ञान अपर्याप्त है । विदेहाधिपति के द्वारा जो शालाक्य तन्त्र वनाया गया वह अपने विपय में पूर्ण ज्ञान प्रदान करने वाला होगा जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं और उसी को सुश्रुत संहिता में अगाध समुद्र के समान कहा गया है ।[2]

अतः हम कहेंगे कि आज निमितन्त्र के न होने से आयुर्वेद के सुश्रुत आदि संहिता ग्रन्थों में शालाक्य विषयक ज्ञान मिलता है, वह उस ज्ञान का विशेपज्ञ वनने के लिये पर्याप्त नहीं है ।

प्रश्न—आदि शालाक्य तन्त्र कौन सा था ? उसके प्रणेता के विषय में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर—आज शालाक्य तन्त्र की प्रधानता लिये हुये कोई आयुर्वेदीय

---

१. "निखिलेनोपदिश्यन्ते यत्र रोगाः पृथक् विधाः"
शालाक्यतन्त्राभिहिता विदेहाधिपकीर्तिताः ॥ (सु. उ. अ. १.)

२. "महतस्तस्य तन्त्रस्य दुर्गाधस्याम्बुधेरिव ।
आदावेवोत्तमाङ्गस्थां रोगानभिदधाम्यहम् ॥
संख्यया लक्षणैश्चापि सव्यासाध्यक्रमेण च ।" (सु० उ० अ० १)

ग्रन्थ उपलब्ध नहीं, तो भी अनेकों प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि विदेह के राजा निमि शालाक्य तन्त्र के आचार्य ऋषि थे। प्राचीन इतिहास का अवलोकन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनके द्वारा बनाया गया शालाक्य विषयक ग्रन्थ जिसे निमितन्त्र भी कहा जाता था, इस विषय का प्रधान एवं आदि ग्रन्थ रहा होगा। निमि के अतिरिक्त इस परम्परा में आने वाले अन्य ग्रन्थकारों का उल्लेख भी यत्र-तत्र पाया जाता है। उनमें से प्रधान निम्न है—

कराल, भद्रक, शौनक, चक्षुष्येण, विदेह, सात्यकि, भोज आदि।

यहाँ पर कहा जा सकता है कि आज निमितन्त्र नामक ग्रन्थ तो मिलता नहीं और न ही ऐसे शालक्य विशेषज्ञ चिकित्सक मिलते हैं जो निमितन्त्र के ज्ञाता हों और उसके आधार पर चिकित्सा करते हों, अतः उसे किस प्रकार स्वीकार किया जाए? एतदर्थ यही कहा जा सकता है कि विभिन्न संग्रहों में तथा टीकाओं में निमितन्त्र का उल्लेख आता है और उसके प्रमाण दिये हुए मिलते हैं—इसका सीधा अर्थ है कि अवश्य ही निमितन्त्र नामक ग्रन्थ रहा होगा। सुश्रुत संहिता में उत्तरतन्त्र के आरम्भ में विदेह के राजा द्वारा रचित शालाक्य तन्त्र का वर्णन किया है, जिसके विषय में हम पीछे लिख आए हैं। ड़ल्हण आचार्य, जिन्होंने सुश्रुत संहिता की टीका की है तथा जिसका समय इतिहासकार ईसा की बारहवीं शताब्दी मानते हैं, ने भी शालाक्य विषक रोगों का स्पष्टीकरण करते समय अपनी टीका में बहुत से स्थानों पर निमि अथवा विदेह के वचनों को उद्धृत किया है। इसका अर्थ यह है कि उस समय में वह ग्रन्थ उपलब्ध होगा जिसके आधार पर ड़ल्हण ने उसके प्रमाण टीका में दिए। अन्य शालाक्य-तंत्र के प्रणेताओं के वचनों को भी टीकाओं में देखा जाता है, जिससे उनके तंत्रों की विद्यमानता भी स्वीकार करनी पड़ती है। अतः हम कहेंगे कि शालक्य-तन्त्र विदेहराज निमि के द्वारा बनाया हुआ आदि शालक्य विषयक ग्रन्थ था, जो आज उपलब्ध नहीं।

इससे प्रणेता आचार्य निमि कौन थे? यह विचारणीय विषय है। इनके विषय में पौराणिक कथा एवं इतिहास दोनों को देखना होगा।

यह एक सर्वमान्य सत्य है कि निमि एक पौराणिक ऋषि हैं। पुराणों में कई स्थानों पर इनके विषय में चर्चाएं मिलती हैं। श्रीमद्भागवत के नवम स्कंध के तेरहवें अध्याय में राजा निमि के विषय में एक कथा आई है जो निम्न प्रकार है—

"हे राजन् ! राजा इक्ष्वाकु के पुत्र महाराज निमि ने यज्ञ आरम्भ करके उसके लिए जब गुरु वशिष्ठ जी को ऋत्विज नियत किया, तब वशिष्ठ जी ने कहा, "मेरा इन्द्र ने पहले से ही वरण कर लिया है, इसलिए जब तक मैं उन का यज्ञ समाप्त करके न आ जाऊँ तब तक तुम मेरी प्रतीक्षा करते रहना।" वशिष्ठ जी का यह वचन सुन कर यजमान निमि चुप हो गए और वशिष्ठ जी ने इन्द्र का यज्ञ प्रारम्भ कर दिया। (कुछ काल तक प्रतीक्षा करके) आत्मज्ञानी निमि ने विचार किया कि जीवन बहुत चञ्चल हैं और गुरु जी लौट कर नहीं आए, सो क्या किया जाए। और विचार कर अन्य ऋत्विजों और अपने शिष्य को अपनी आज्ञा के अनुसार प्रतीक्षा करते न पाकर यज्ञ करते देखा तो उन्होंने शाप दिया कि अपने को पण्डित मानने वाले इस राजा निमि की देह नष्ट हो जाए। निमि ने भी अधर्म में प्रवृत्तगुरु वशिष्ठ को शाप के बदले में शाप दे दिया कि आपने लोभवश अपना धर्म नहीं पहचाना इस-लिए आपका शरीर भी नष्ट हो जाए। यों शाप देकर आत्म-विद्या में निपुण राजा निमि ने अपना शरीर त्याग दिया एवं वृद्ध वशिष्ठ जी ने जी अपना शरीर त्याग कर उर्वशी के गर्भ से मित्रावरुण के वीर्य द्वारा जन्म ग्रहण किया। पश्चात् राजा निमि की देह उसको को ऋत्विज मुनियों ने सुगन्धित वस्तुओं में रखवा दिया और उस सत्रयाग के पूर्ण होने पर वहाँ आए हुए देवताओं से कहा, "हे देवताओ, यदि आप इस यज्ञ से प्रसन्न हैं तो राजा निमि का यह शरीर सजीव हो उठे।" देवताओं ने 'तथास्तु' कहा और राजा निमि का शरीर सजीव हो गया। तब निमि ने कहा, "मुझे देह का बन्धन प्राप्त न हो क्योंकि सभी भगवत्परायण मुनिजन इनके वियोग से डर कर इसका संयोग नहीं चाहते, इसी कारण वे सर्वदा श्री भगवच्चरणारविन्दों का भजन करा करते हैं। इसलिए दुख-शोक तथा भय प्राप्त कराने वाली इस देह को प्राप्त करने की मुझे तनिक भी इच्छा नहीं है क्योंकि जल में रहने वाली मछली की तरह इसकी सर्वत्र मृत्यु हो सकती है। देवताओं ने कहा—हे मुनिजनो ये राजा निमि अपनी इच्छानुसार बिना शरीर के ही सब देहधारियों के नेत्रों की पलकों पर निवास करेंगे। ये सबके नेत्रों में स्थिर रहते हुए उनके खोलने, मूंदने से लक्षित होंगे। राजा के बिना मनुष्यों में अराजकता फैल जाने के भय से महर्षियों ने निमि की देह को मथा तब उनके शरीर से एक बालक

उत्पन्न हुआ। वह जन्म से 'जनक' और विदेह से उत्पन्न होने के कारण 'वैदेह,' मन्थन करके उत्पन्न होने के कारण मिथिल कहलाया और इसी ने मिथिलापुरी बसाई।"

इस प्रकार की पौराणिक गाथा को आधार मान कर हम नहीं कह सकते कि निमि कौन थे, क्योंकि इस प्रकार की कथाएं रूपक के आधार पर होती हैं जिन को समझ पाना प्रत्येक के बस की बात नहीं। इसी प्रकार का वर्णन धन्वन्तरि के विषय में आता है, जहां समुद्र-मन्थन के द्वारा उनके उत्पन्न होने की कथा वर्णित की गई है।

इतिहास का अवलोकन करें तो हमें पौराणिक राजवंशों की तालिका देखने को मिलती है और उसके अनुसार महाराज निमि काशीराज दिवोदास धन्वन्तरि के बहुत पूर्व से सिद्ध होते हैं। उस वर्णन के आधार पर राजा निमि अयोध्या के राजा विकुक्षी शशाद के समकालीन थे। अयोध्या के राजाओं की वंश परम्परा पुराणों में विस्तार से दी हुई है। उसके वर्णन केअनुसार राजा विकुक्षी शशाद की सोलहवीं पीढ़ी में प्रसेनजित हुए जो काशीराज धन्वन्तरि के सम-कालीन थे। यदि अनुमान द्वारा यह कहा जाय कि प्रत्येक पीढ़ी के राजा ने लगभग बीस वर्ष राज किया होगा तो हम पाते हैं कि काशीराज धन्वन्तरि के लगभग ३२० वर्ष पूर्व राजा निमि हुए।

पाश्चात्य इतिहासकार सुश्रुत तन्त्र का समय महाभारत काल के बहुत पूर्व का मानते हैं। महाभारत काल अधिकतर विद्वानों ने सहस्र वर्ष ईसा पूर्व का माना है। अतः यदि सुश्रुत का समय दो सहस्त्र वर्ष ईसा से पूर्व माना जाए तो धन्वन्तरि को दो सहस्र वर्ष ईसा से पूर्व मानें तो निमि का समय तेइस सौ वर्ष पूर्व ईसा से माना जाएगा।

अतः हम कहेंगे कि राजा निमि आदि शालाक्य तन्त्र के प्रणेता थे और उनका समय ईसा पूर्व साढ़े तेईस सौ वर्ष माना जाना चाहिए जो कि धन्वन्तरि के समय से ३५० वर्ष पूर्व का होता है।

प्रश्न—'मुख' शब्द से आप क्या समझते हैं ? मुख के उपांगों की रचना का विशद वर्णन कीजिए !

उत्तर—'मुख' शब्द से मुखगह्वर के सभी अंगों का बोध होता है। आयुर्वेद में सात अवयवों के समूह का नाम मुख है, वे सात अवयव निम्न हैं—

१. ओष्ठ (Lips)
२. दन्तमूल (Cums)
३. दन्त (Teeth)
४. जिह्वा (Tongue)
५. तालु (Palete)
६. गला (Throat)
७. सकल-मुख (Mucusmembrane of the Buccal cavity)

इन सात उपांगों से युक्त अवयव को 'मुख' नाम से आयुर्वेद के ग्रन्थों में वर्णित कर रहे हैं।

रचना

रचना की दृष्टि से इन उपांगों का वर्णन करने के लिए हमें आधुनिक शरीर-विज्ञान की सहायता लेनी होगी और हम यहाँ उसी के आधार पर क्रमशः एक-एक का वर्णन कर रहे हैं।

१. ओष्ठ (Lips)—ओष्ठ दो गुदगुदे अवयव हैं जोकि मुख द्वार पर ऊपर तथा नीचे स्थित हैं। इनका वाह्य आवरण त्वचा द्वारा तथा आंतरिक भाग आवरण श्लेष्मिक कला द्वारा निर्मित होता है। इसके बीच में मांस पेशी, ओष्ठगत रक्तवाहिनियाँ, कुछ वातावाहिनियाँ, पिच्छिल तन्तु, वसा और अनेक छोटी-छोटी ओष्ठगत ग्रन्थियाँ होती हैं। इनका आन्तरिक आवरण अपने-अपने तालुमूल पर श्लेष्मिक कला के सूत्र समूह द्वारा जुड़ा रहता है। इनमें ऊपर ओष्ठ को जोड़ने वाला सूत्र समूह वड़ा होता है।

ओष्ठगत ग्रन्थियाँ श्लेष्मिक आवरण एवं माँसावरण के मध्य में स्थित रहती हैं। यह गोल होती हैं और छोटे मटर के आकार से मिलती-जुलती होती हैं। इनके मुख श्लेष्मिक आवरण पर सूक्ष्म छिद्र रूप में खुलते हैं।

इन ओष्ठों का आश्रय लेकर उत्पन्न होने वाले रोगों को आयुर्वेद में मुख-रोगाधिकार में "ओष्ठगत रोग" कहा है।

२. दन्तमूल (Gums) :—इन्हें साधारण भाषा में मसूढ़े कहा जाता है। यह दाँतों की ग्रीवाओं (necks) पर होते हैं। इनके ऊपर अति कोमल एवं रक्त की अधिकता वाली श्लेष्मिक कला का आवरण रहता है। यह मर्यादित

१. ओष्ठौ च दन्तमूलानि दन्ता जिह्वा च तालु च।
गलो मुखादिसकलं सप्तांगं मुखमुच्यते ॥ (योगरत्नाकर)

सहिष्णुता के लिए प्रसिद्ध है। इन पर दाँतों के संलग्न स्थान पर बहुत से छोटे-छोटे दाने होते हैं।

दन्तमूलों में प्राय: कर रक्ताधिक्य पाया जाता है। यह शोथयुक्त हो जाने पर तथा रक्ताधिक्य से व्रणयुक्त पाए जा सकते हैं और इनमें से रक्तस्राव होता पाया जा सकता है। यह अवस्थाएँ रोगों के आक्रमण में ही होती हैं।

इन दन्तमूलों का आश्रय करके जो भी विकार उत्पन्न होते हैं—आयुर्वेद में उन्हें मुखरोगाधिकार में दन्तमूलगत रोगों के अन्तर्गत माना है।

३. दांत (Teeth) :—मुख में ऊपर और नीचे दो भागों में दाँत लगे रहते हैं। मनुष्य के ऊपर एवं नीचे मुख के अंग हनु कहलाते हैं। यह हन्वस्थियों से बने होते हैं इन्हीं हन्वस्थियों में मनुष्य के दांत लगे रहते हैं। दांतों की सम संख्या एवं सम आकृति के कारण प्रत्येक हनु प्राकृतिक रूप में दो समान भागों में विभक्त रहता है एक बायाँ भाग और दूसरा दायाँ भाग। इस प्रकार दो हन्वों के चार भाग कर लेते हैं।

मनुष्य के दाँत दो बार आते हैं—पहले बाल्यावस्था में जबकि उन्हें दुग्ध-दन्त कहा जाता है, यह अस्थायी होते हैं। फिर किशोरावस्था में अस्थायी दाँतों के गिरने पर स्थायी दाँत आते हैं। अस्थायी दाँत संख्या में २० होते हैं और स्थायी ३२।

अस्थायी दाँतों को (Deciduous teeth) दूधिया दाँत (Milk Teeth) भी कहा जाता है। यह प्रत्येक हनु में १०-१० होते हैं और प्रत्येक आधे हनु में ५-५। सामान्यत: यह दांत बालक की छठे मास की आयु के बाद निकलने आरम्भ होते हैं। प्राय: सर्वप्रथम अधोहनु के दो कर्तनक (Incisors) दाँत निकलते हैं और फिर उर्ध्वकर्तनक। इस समय भिन्न-भिन्न प्रकार से ऊपर नीचे के दाँतों का उद्‌गम क्रम चलता है और लगभग ढाई वर्ष में २६ दाँत पूर्ण हो जाते हैं। छठे वर्ष के पश्चात् इन स्थायी दाँतों का पतन काल आ जाता है और बारह वर्ष तक क्रमश: अस्थायी दाँत रहते गिरते हैं और उनके स्थान पर स्थायी दाँत आते रहते हैं। इन दोनों की रचना, स्थान तथा कार्य को दृष्टि में रखते हुए अस्थायी दाँतों को तीन मुख्य विभागों में विभक्त करते हैं—

(क) कर्तनक अथवा राजदन्त (Incisors)—इनकी कुल संख्या आठ होती है, चार ऊपर के हनु में और चार नीचे के हनु में। यह प्रत्येक हनु के

दाएं एवं वाएं विभाग में दो-दो होते हैं। इनका मुख्य कार्य पदार्थ को काटने का होता है। मुख के मध्य भाग में होने से यह शोभा भी बढ़ाते हैं।

(ख) रदनक अथवा भेदक (Cuspids or canines) इनकी कुल संख्या चार होती है। प्रत्येक हनु के आधे भाग में दाएँ वाएं एक-एक होता है। वोल-चाल की साधारण भाषा में इन्हें सूआ भी कहा जाता है। इनका कार्य पदार्थ को छोटे-छोटे भागों में तोड़ना होता है।

(ग) चर्वणक (Molars) यह कुल आठ होते हैं और प्रत्येक हनु के आधे भाग में दो-दो रहते हैं। इन्हें वड़ी दाढ़ें भी कहते हैं और इनका मुख्य कार्य चवाने का होता है।

इन अस्थायी दाँतों की मुख में क्या स्थित है—यह निम्न कोष्ठक से सिद्ध हो जाती है।

ऊर्ध्वहनु	दक्षिण हनु अर्धभाग			कोष्ठक मध्य रेखा	वाम हनु अर्धभाग			ऊर्ध्वहनु
	च.	र.	क.		क.	र.	च.	
५	२	१	२		२	१	२	५
अधोहनु	च.	र.	क.		क.	र.	च.	अधोहनु
५	२	१	२		२	१	२	५

इस कोष्ठक में च. शब्द चर्वणक के लिए, र. शब्द रदनक के लिए, क. शब्द कर्तनक के लिए प्रयोग किए हैं। इनके नीचे प्रत्येक की संख्या लिखी गई है।

अस्थायी दांतों के विषय में यह सब जान लेने के पश्चात् एक विषय और यह रह जाता है, जिसको जानना प्रत्येक चिकित्सक के लिए आवश्यक है। वह विषय है—इनके विकास का क्रम जानना। अस्थायी दांतों को उत्पन्न होने के समय से लेकर पतनावस्था तक ५ विभागों में विभक्त किया जाता हैं। वे विभाग निम्न प्रकार है—

(१) दन्त रचना अन्त क्रिया काल (Calcification) यह दन्त रचना की प्रारम्भिक अवस्था है। यह मसूड़े के अन्दर दांत के सर्वप्रथम उद्गम स्थान पर रासायनिक क्रिया द्वारा अथवा दन्तवीजों (Spcial Dental germs) की उत्पत्ति के पश्चात् प्रारम्भ होता है। प्रत्येक दांत के लिए यह काल भिन्न-भिन्न होता है।

(२) **दन्त दर्शन अथवा प्रकट काल** (Eroption) यह वह अवस्था है जब दाँत मसूढ़े के बाहर दिखाई देने लगते हैं।

(३) **दन्त रचना पूर्ण काल** (Completion of Calcification) यह वह अवस्था है जब दाँत पूर्ण रूप से बन चुकते हैं। इसके पश्चात् इनकी वृद्धि नहीं होती।

(४) **दन्त पतनारम्भकाल** (Decalcification) यह वह समय है जबकि दन्तमूल में दाँतों की पतनारम्भ क्रिया होती है।

(५) **दन्तपूर्णपतन काल** (Sheeding of tooth) यह वह समय है जबकि दन्तमूल में निर्बल हो जाते हैं और सभी दाँत गिर जाते हैं।

इनमें से प्रथमावस्था बालक की ४-५ मास की आयु में होती है। द्वितीय अवस्था में भिन्न-भिन्न दाँतों के लिए ६ मास से २० मास तक रहती है। तृतीय अवस्था भिन्न-भिन्न दाँतों के लिए १॥ वर्ष से २ वर्ष तक की आयु तक रहती है। चतुर्थ अवस्था भिन्न-भिन्न दाँतों के लिए ४ वर्ष से ८ वर्ष की आयु के मध्य में होती है। पांचवी अवस्था भिन्न-भिन्न दांतों के लिए ६ वर्ष से १२ वर्ष की आयु तक रहती है। यह आयु का विधान साधारण नियम जानना चाहिए—इसमें न्यूनाधिकता भी हो सकती है।

स्थायी दान्त (Permanent teeth) दूसरी प्रकार के दांत जो पुनर्दन्त भी कहलाते हैं—स्थायी होते हैं। यह जीवन पर्यन्त भी रह सकते हैं और यदि वृद्धावस्था में अथवा अन्य किसी कारणवश पहले भी गिर जाएँ तो पुनः और दाँतों का उद्गम नहीं होता। जैसे-जैसे अस्थायी दाँत गिरते जाते हैं—उन्हीं के स्थान पर स्थायी दाँतों की उत्पत्ति होती रहती है। अस्थायी दाँत संख्या में २० होते हैं। जैसा कि पीछे वर्णन कर चुके हैं किन्तु स्थायी दांत संख्या में ३२ होते हैं। अतः २० दाँतों के स्थान पर तो २० दांतों का पुनरुद्गम हो जाता है, शेष १२ दाँत तो प्रथम बार ही निकलते हैं। ऊपर के हनु में १६ दाँत और नीचे के दाँत भी १६ होते हैं जो निम्न हनु में लगे होते हैं। प्रत्येक हनु के दाएँ बाएँ आधे भाग में आठ-आठ दाँत होते हैं।

जैसे अस्थायी दाँत तीन प्रकार के कहे गए हैं, स्थायी दांत चार प्रकार के होते है।

(क) **कर्तनक या राजदन्तः** (Incisors)—यह संख्या में आठ होते हैं। प्रत्येक हनु के आधे-आधे भाग में दो-दो होते हैं। ओष्ठ मध्यवर्ती काल्पनिक

रेखा के इधर-उधर नीचे ऊपर दो-दो करके देख सकते हैं। यह दिखने में चपटे और ऊपर से तीखे मालूम होते हैं। यह भी अस्थायी कतर्नक वत् काटने का कार्य करते हैं।

(ख) **रदनक अथवा भेदक** (Canines) इनकी कुल संख्या चार होती है। प्रत्येक हनु के दाएँ वाएँ अर्ध भाग में एक-एक होता है। इनका स्थान प्रत्येक हनु के आधे भाग में लगे कतर्नक दाँत के पास का यानी मध्य रेखा से तीसरे नम्बर पर होता है। यह दूसरे दाँतों की अपेक्षा नौकीला होता है।

(ग) **अग्र चवर्णक** (Premolars) इनकी कुल संख्या आठ होती है। यह प्रत्येक हनु के आधे-आधे भाग में दो-दो होते हैं। इन्हें ही साधारण भाषा में छोटी दाढ़ें कहते हैं। यह कुछ मोटे होते हैं और इनका ऊपर का भाग कुछ चपटा होता है। ऊपर के चपटे भाग में दो-दो उभार और दो-दो गढ़े भी होते हैं। इनका कार्य खाद्य पदार्थों को चवाने का होता है। इनका स्थान प्रत्येक हनु के अर्धभाग में ओष्ठमध्यवर्ती रेखा के वाद रदनक दाँत के पास चौथे और पाँचवे नम्बर पर होता है। यह कपोलों से ढके रहते हैं।

(घ) **पश्चिम चवर्णक** (Molars) इनकी कुल संख्या १२ होती है। प्रत्येक हनु के आधे भाग में यह तीन-तीन होते हैं। यह अन्य सव दाँतों की अपेक्षा अधिक मोटे और ऊपर से अधिक चपटे होते हैं। ऊपर के चपटे भाग में कुछ गढ़े और प्रायः चार उभार भी होते हैं। इनका स्थान हनु के किनारों के पास ओष्ठमध्यवर्ती रेखा से छठे-सातवें और आठवें नम्बर पर होता है। यह कपोलों से पूर्ण रूप से ढके रहते हैं। यह स्मरण रहे कि अस्थायी दाँतों से जो १२ दाँत स्थायी दाँतों में अधिक हैं—वह यह वारह ही हैं—कारण इनकी उत्पत्ति अस्थायी दान्तों के समय में नहीं होती—यह प्रथम वार ही स्थायी रूप में उत्पन्न होते हैं।

एक वात यहाँ स्पष्ट कर देना अनुपयुक्त नहीं होगा कि अक्कल दाढ़ (Wisdom teeth) करके जो कहा जाता है वह भी इन पश्चिम चवर्णक का ही एक दाँत है। प्रत्येक हनु के आधे भाग में जो किनारे वाला अथवा तीसरा दाँत है—उसे अक्कल दाढ़ कहा जाता है। यह प्रायः १८ से २५ वर्ष की आयु में उत्पन्न होती है।

स्थायी दाँतों का निश्चित स्थान क्या है—यह निम्न कोष्ठक से स्पष्ट हो जाती है—

ऊर्ध्वहनु	दक्षिणहनु		अर्धभाग	मध्यरेखा	वामहनु	अर्धभाग		ऊर्ध्वहनु
८=प.च.	अ.च.	र.	क.		क.	र.	अ. च.	प.च.=८
३	२	१	२		२	१	२	३
अधोहनु प. च.	अ. च.	र.	क.		क.	र.	अ. च.	प. च. अधोहनु
८=३	२	१	२		२	१	२	३ = ८

इसमें प. च. से पश्चिम चवर्णक (Molars) अ. च. से अग्रचवर्णक (Premolars) र. से रदनक (Canines), क. से कर्तनक (Incisors) का ग्रहण करना चाहिए।

ऊपर के कोष्ठक से यह बात सिद्ध हो जाती है कि प्रत्येक हनु के अर्ध भाग में आठ दांत हैं और प्रत्येक में उसी क्रम से लगे हुए हैं। इन आठ दांतों के अलग-अलग नाम हैं—जो निम्न प्रकार वर्णित किये जाते हैं :—

यदि प्रत्येक हनु के मध्य भाग से चलें और अर्धभाग में स्थित ८ दांतों को देखें तो सर्वप्रथम मध्यवर्ती दाँत आता है, उसे—

(१) मध्य कतर्नक अथवा प्रथम कतर्नक (Central Incisor or First Incisor) कहा जाता है।

(२) द्वितीय कतर्नक (Second Incisor or lateral Incisor) जो मध्य कतर्नक के साथ लगा रहता है।

(३) रदनक (Canine) यह कतर्नक के द्वितीय के पास वाला है।

(४) प्रथम अग्रचवर्णक (First premoler)

(५) द्वितीय अग्रचवर्णक (Second premoler)

(६) प्रथम पश्चिम चवर्णक (First Molers)

(७) द्वितीय पश्चिम चवर्णक (Second Molers)

(८) तृतीय पश्चिम चवर्णक अथवा बुद्धि दन्त (Third Molar or wisdom Teeth)

जिस प्रकार अस्थायी दाँतों के विकास का क्रम पीछे वर्णित किया है—इसी प्रकार स्थायी दांतों के विकास का क्रम भी जानना आवश्यक होता है

आधुनिक वैज्ञानिकों ने इस पर बहुत अनुसन्धान किए हैं, किन्तु पूर्ण रूप से सिद्धान्त प्रतिपादन नहीं कर सके हैं--हाँ अनुमान लगाया गया है। यह अनुमान कभी-कभी गलत भी हो सकता है।

अस्थायी दांतों के विकास क्रम में जिन ५ अवस्थाओं का वर्णन किया है उनमें से अन्तिम दो का अनुमान लगा पाना असम्भव सा होता है, कारण यह कि स्थायी दाँतों की वास्तविक अवधि तो मनुष्य की आयु पर्यन्त होनी चाहिए। किन्तु यदि कोई मनुष्य दन्त रक्षा के नियमों का पालन नहीं करता हो उसके दाँतों का युवा अवस्था में भी दन्तपूय आदि रोगोत्पत्ति के साथ-साथ दन्त पतन आरम्भ हो जाता है। प्रथम तीन अवस्थाओं का ज्ञान अनुमानिक समझा जा सकता है। वह अगले पृष्ठ पर कोष्ठक द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है।

दांतों के विषय में इतना सब लिखने के पश्चात् एक मुख्य ज्ञातव्य और है कि इसकी सूक्ष्म रचना क्या है। इसे जाने बिना दांतों के रोगों को समझ पाना अथवा उनका उपचार कर पाना सम्भव नहीं होता। इस विषय को दो विभागों में वर्णित किया जाता है—

१. दन्त बाह्य रचना

२. दन्त रचना और संगठन

बाह्य रचना के अनुसार प्रत्येक दांत को मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त किया जाता है—

(क) दन्त शिखर (Crown) यह दांत का वह भाग है जो हमेशा दिखाई देता है—यह सफेद एवं चमकीला होता है दन्तवेष्ट से बाहर निकला रहता है।

(ख) दन्तग्रीवा (Neck) यह दन्त का वह भाग है जहां दन्तमूल तथा दन्त शिखर परस्पर मिले रहते हैं। यह सन्धि स्थान कुछ संकुचित भी होता है। मसूढ़े दन्तमूल से ग्रीवा तक ही आते है। इस भाग को Cervix के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है और दो नाम यह भी हैं—

(i) Gingival margin.

(ii) Cervical margin.

(ग) दन्तमूल (Roots) यह प्रत्येक दाँत का वह अन्तिम भाग है जो कि हनु के गड्ढे (Alveolus of teeth) में गड़ा होता है।

दन्त की वास्तविक रचना एवं संघटन के विषय में आधुनिक दन्त विशेषज्ञों ने बहुत कुछ वर्णित किया है, उस सबको तो यहाँ नहीं लिखा जा सकता

नामदन्त	प्रथम पश्चिम चवर्णक First Molars	कतर्नक Incisors	अग्रचवर्णक Premolars	रदनक canines	द्वितीय पश्चिम चवर्णक 2nd Molar.	तृतीय पश्चिम चवर्णक Wisdom teeth
दंतरचनाअंतकाल calcification	—	प्रथम वर्ष	४-५ वर्ष	३ वर्ष	५ वर्ष	६ वर्ष
दंतदर्शनकाल eroption	६-७ वर्ष	७-८ वर्ष	१०-१२ वर्ष	१२-१३ वर्ष	—	—
दंतरचनापूर्णकाल completion of calcification	७-६ वर्ष	८-१० वर्ष	११-१३ वर्ष	१२-१३ वर्ष	१६-१७ वर्ष	२२ से २५ वर्ष

तो भी संक्षेप में आवश्यक बातें सार रूप में दे रहे हैं।

यदि एक दांत को शिखाग्र से मूल पर्यन्त मध्य में काटा जाये तो निम्न तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं—

(१) दन्त कवच (Enamel) यह दन्त के शिखर पर चिपका हुआ पदार्थ होता है जो श्वेत एवं चमकदार होता है। यह शरीर का सर्वाधिक कठोर पदार्थ माना जाता है, यह दांतों की शोभा बढ़ाता है और उनका रक्षक भी है। दन्त कवच के निर्माण के विषय में बहुत कुछ वर्णन मिलता है तो भी इतनी बात ध्यान रखनी चाहिये कि यह आठ पदार्थों से बनने वाला पदार्थ है। इसमें किसी प्रकार की रक्तवाहिनियां नहीं होतीं और इसमें वाततन्तु भी नहीं होते, अतः इसके टूटने पर न तो वेदना ही होती है और न पुनः उत्पन्न ही होता है। वैसे इसका वर्ण श्वेत ही कहा गया है तो भी ध्यान रहे कि इसका वर्ण प्रकृति के अनुसार अथवा पथ्य के अनुसार कुछ भिन्न भी हो सकता है।

(२) दन्त प्रस्तर (Cementum) यह भी एक कठोर पदार्थ है, जो स्वस्थावस्था में दांत की ग्रीवा से लेकर दांत के मूल तक दन्तसार (Dentin) नामक दांत के अन्तिम पदार्थ के ऊपर चढ़ा रहता है। यह दांतों की रक्षा करता है और दांत को अपने अन्तर्गत स्थित तन्तुओं से हन्वास्थि के साथ ठीक स्थान पर जकड़े रखता है।

(३) दन्त प्रस्तरछादक कला (Predental Membrane or Pericementum) यह एक सूक्ष्म तन्तुमय आवरण है जो कि दन्तप्रस्तर पर ग्रीवा से मूल तक लगी रहती है और उसे दन्तोदूखल से जोड़ती है और दन्तप्रस्तर की रक्षा भी करती है। इसमें छोटी-छोटी रक्तवाहिनियां और वातवाहनियां होती हैं।

(४) दन्तसार (Dentin)—इसे दांत का अन्तिम भाग कहना चाहिये क्योंकि दांत की पोषण प्रणाली और धमनी आदि का स्थान इसी में होता है। इसका वर्ण श्वेताभ अथवा पीताभ सा होता है। इसके अन्दर अनेक छोटी-छोटी रक्तवाहिनियां, वातवाहिनियां आदि होती हैं—इसी से दांत में पीड़ा, शीतलता, उष्णता आदि का आभास होता है।

(५) दन्त पोषक प्रणाली (Dental Pulp)—यह दांत का सर्वथा मध्य

रिक्त भाग होता है। इसके मुख्यतः तीन कार्य होते हैं—

(क) अपने चारों तरफ दन्तसार का निर्माण करना।

(ख) पीड़ा-उष्णता-शीतलता आदि का अनुभव करना।

(ग) अपने अन्दर स्थित धमनियों आदि से समस्त दांत का पोषण करना और उसकी रक्षा करना।

इसमें जो धमनियाँ-केशिकाएँ—शिराएँ और अन्य लासिकावाहिनियाँ आदि होती हैं वह सभी दाँतों को पोषण देती हैं, सभी कर्म कराती हैं और इनके विकृत होने पर दाँतों के प्रायः रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इनकी विस्तार से व्याख्या आज के दन्त विशेषज्ञों ने की है। आयुर्वेद में दन्तमूलगत पाँच प्रकार की नाड़ियों का वर्णन सुश्रुत संहिता में मिलता है जिसमें वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज एवं शल्यज होती हैं। इनके विषय में इतनी बात ध्यान रखनी बहुत आवश्यक है कि इनमें से कई धमनियों का और वातवाहिनियों का नेत्र व मस्तिष्क से घनिष्ठ सम्बन्ध है—अतः दांत उत्पादन आदि के समय इस बात का विचार कर लेना चाहिये।

(६) दन्तमूल—(Gums) इसका अलग से पहले वर्णन कर चुके हैं।

इस प्रकार दाँत के सूक्ष्म संघटन को देखकर तथा उसकी रचना को जान कर ही दन्त रोगों को समझा जा सकता है और उनका उपचार किया जा सकता है।

यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि दाँतों को आश्रय करके जो रोग उत्पन्न होते हैं—उन्हें दन्त रोग के नाम से आयुर्वेदज्ञों ने वर्णित किया है।

(४) जिह्वा (Tongue)—जिह्वा रसास्वादन के लिये एवं बोलने के लिये एक प्रधान अंग है। यह आहार को घोलने एवं निगलने में भी सहायक होती है। यह मुख की अधः स्तर पर स्थित रहती है और हनु के मोड़ तक ही सीमित होती है। इसका मूल पिछली ओर को झुका रहता है और दो माँस पेशियां तथा एक कला द्वारा कंठकास्थि (Hyoid Bone) से जुड़ा रहता है। इसकी शिखा पतली और संकुचित होती है। यह भाग किसी उपांग से जुड़ा हुआ नहीं रहता और न ही जिह्वा के दोनों किनारे, जिह्वा का अधः अग्रभाग और जिह्वा का ऊपरी स्तर किसी अंग से जुड़ा रहता है। जिह्वा का अग्र भाग जो ऊपरी स्तर का लगभग २/३ होता है, ऊपर को उभरा रहता है, खुरदरा होता है और वह बहुत से दानों से युक्त होता है। पिछला १/३ भाग

पिछली ओर को रहता है और चिकना होता है और इसमें अनेक श्लेष्मिक ग्रन्थियाँ होती हैं ।

जिह्वा का वर्ण साधारणतः गुलाबी-सा होता है किन्तु जब शरीर में रक्ताल्पता होती है तो इसका वर्ण फीका-सा हो जाता है । इसी प्रकार अजीर्ण की अवस्था में जिह्वा पर मैल चढ़ा रहता है इसलिये भी वह मैली रहती है ।

जिह्वा पर जो दाने रहते हैं वह मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं । प्रथम प्रकार के दाने जिह्वा के मूल पर दिखाई देते हैं । यह दाने बड़े-बड़े होते हैं और संख्या में नौ या दस होते हैं । यह दाने दो पंक्तियों में रहते हैं और पीछे जाकर एक दूसरे से मिलकर एक वृहत् कोण बनाते हैं । प्रत्येक दाने के चारों तरफ एक खाई रहती है । इन खाइयों के कारण ही इन अंकुरों का नाम 'खातवेष्ठितांकुर' (Papillae Vallatae) कहा जाता है । इन 'खातों' की दीवारों में दबे अनेक छोटे-छोटे सेल समूह होते हैं जिनको स्वाद कोष कहा जाता है ।

दूसरी प्रकार के अंकुर जिह्वा के किनारों एवं अग्रभाग पर पाये जाते हैं और इधर-उधर फैले रहते हैं, इनको सरलता से पहचाना जा सकता है क्योंकि यह आकार में बड़े होते हैं, गोल होते हैं और इनका रंग गहरा लाल होता है । यह जिह्वा के साथ लगे हुये भाग में संकुचित होते हैं और इनका ऊपरी स्वतन्त्र भाग चौड़ा होता है । इनको छत्रिकांकुर (Papillae Fungiformes) कहा जाता है ।

तीसरी प्रकार के दाने पतले, नौकीले होते हैं और जिह्वा पर प्रत्येक स्थान पर पाये जाते हैं । प्रायः कर यह समानान्तर पंक्तियों में होते हैं । इन्हें 'सूत्रकारांकुर' (Papillae Filifomes) कहा जाता है ।

जिह्वा पर स्वाद-कोष होते हैं । यह प्रायः खातवेष्ठितांकुरों (Papillae Vallatoe) और छत्रिकांकुरों (Papillae Fungiformes) में पाये जाते हैं । इनके अतिरिक्त कोमल तालु के नीचे के पृष्ठ और स्वरयंत्रछद के पिछले पृष्ठ पर भी होते हैं ।

प्रत्येक स्वाद कोष में एक छिद्र होता है जिसे स्वाद-रन्ध्र कहा जाता है । और दो प्रकार के सेल होते हैं—

१—प्रथम प्रकार की सेलें रसज्ञ सेलें कहलाती हैं जो बीच में मोटी और

किनारों पर पतली होती हैं। इनके ऊपर के सिरे से एक बाल जैसा तार निकलता है जो स्वाद रन्ध्र में रहता है।

२. दूसरे प्रकार की सेलें रसज्ञ सेलों की सहायता करती हैं। इनके द्वारा स्वाद का परिचय व ज्ञान तभी हो सकता है जब घुली हुई वस्तु के अणु मुख रसों में घुल कर अणु रसज्ञ सेलों के बालों से टकराते हैं। स्पर्श होने पर इन दोनों सेलों पर पड़ता है, उसकी सूचना नाड़ी केन्द्रों द्वारा मस्तिष्क के स्वाद केन्द्रों को पहुंचाती है। ये तार जिह्वा के पिछले १।३ भाग से जिह्वा कंठनाड़ी द्वारा मस्तिष्क में पहुंचाते हैं और अगले २।३ भाग के मौखिक नाड़ी द्वारा मस्तिष्क में जाते हैं।

जिह्वा के द्वारा षट्-विध रसों का भिन्न-भिन्न रूप से स्वाद लिया जाता है जैसे मीठा स्वाद जिह्वा की आगे की नोक में, कड़ुवा पिछले भाग से, तीखा दोनों किनारों से, लवण अगली नोक से ग्रहण किया जाता है।

जिह्वा का आश्रय कर जो रोग उत्पन्न होते हैं, उन्हें आयुर्वेद में जिह्वा-गत रोग के नाम से कहा जाता है

(५) तालु (Palate) मुख के सप्तांगों में पंचम अंग तालु हैं। सुविधा की दृष्टि से इसके दो भाग किये जाते हैं (क) कठोर तालु (Hard Palate) जो कि अग्र भाग में रहता है। और (ख) कोमल तालु (Soft Palate) जो कि पश्चिम भाग में रहता है। यह बात याद रहे कि तालु मुख की छत (Roof) का काम देता है।

कठोर तालु (Hard Palate)—का अग्र भाग और किनारे मसूढ़ों (Gums) और विशेष तन्तुमय रचना (Alveolar arches) से घिरे रहते हैं और पश्चिम भाग में यह कोमल तालु से जुड़ा रहता है। यह भाग एक गहन-आवरण से ढका रहता है जिसकी रचना श्लेष्मिक कला (mucous-membrane) और अस्थिकावरण-कला (Periosteum) के आपस में मिल जाने से होती है। इस भाग के बीचों बीच एक लाइन होती है। इसके अग्र-भाग की तथा दोनों किनारों की श्लेष्मिक कला मोटी और पीले रंग की होती हैं। पिछली ओर की पतली, कोमल और गहरे रंग की होती है।

कोमल तालु (Soft Palate) एक हिल सकने योग्य (Moeable) रचना है जो कि कठोर तालु (Hard Palate) के पश्चिम किनारे से लटकी रहती है। इस तरह यह मुख और गले (Pharynx) के बीच में एक अपूर्ण झिल्ली

बनाती है। इसमें श्लेष्मिक कला के अन्दर माँसतन्तु, रक्तवाहिनियां, वात वाहिनियाँ, एडिनाइड कोष एवं श्लेष्मिक ग्रन्थियां होती हैं। जब यह अविकृत अवस्था में हो तो इसका अग्रभाग नतोदर होता है और यह मुख की छत से लगा रहता है तथा इसके मध्य में एक लाइन होती है। इसका पश्चिम भाग उन्नतोदर होता है। इसका ऊपरी किनारा कठोर तालु के पश्चिम भाग से जुड़ा रहता है। इसका निचला किनारा स्वतंत्र होता है। इसके निचले किनारे के मध्य से एक छोटी, गोल सी, लटकन रहती है जिसे 'काक' 'कौवा' (Palatine uvula) कहा जाता है। इस 'काक' के दोनों ओर किनारों में और नीचे की तरफ दो स्तम्भ होते हैं। इन्हें अग्रस्तम्भ (Antirior Pillor or glossopalatine arch) तथा पश्चिम-स्तम्भ (Posterior Piller or Pharyngopalatine arch) कहा जाता है।

तालु में पाँच माँस पेशियां होती है। इसमें रक्तवाहिनियां एवं वात-वाहिनियाँ होती हैं। तालु को आश्रय करके जो-जो रोग उत्पन्न होते हैं उनका आयुर्वेद में तालुगत रोग के अध्याय में वर्णन किया गया है।

(६) कंठ अथवा गला (Throat)

कंठ (Throat) में मुख्यतया निम्न अंग होते है—

1. The Pharynx
2. The Larynx
3. The Trachea
4. The Oesophagus or gullet

1. The Pharynx

यह एक Fibro-muscular tube है जो कि Conical शक्ल की है। यह Skull की Surface से लेकर Cricoid cartilage व 6th Cervical vertebra तक फैली है यह बड़ों में 5" लम्बा व 1½" चौड़ा होता है। इसकी तीन Layer हैं जो कि निम्न हैं। (1) Mucous (2) Fibrous (3) Muscuiar.

Mucous membrane में बहुत से Mucous gland भी होते हैं। Anatomical इसके तीन भाग हैं।

(1) Nasopharynx (2) Oropharynx (3) Hypopharynx Nasopharynx Soft Palate के ऊपर होता है और Hypopharynx

larynx के पीछे होता है जो कि Larynx का एक हिस्सा ही होता है। Oropharynx जो कि Pharynx का ही एक हिस्सा है वह मुँह में पीछे पड़ा रहता है जो कि Tongue depressor से देखा जा सकता है। Pharynx का तात्पर्य यहाँ Oropharynx से है जिससे कि Soft Palate के किनारे Palatine Arch बनाते हैं। इस Arch के बीच में Uvula 'काग' लटका रहता है जबकि दूसरी ओर किनारों पर दो mucous membrane के Crescentic folds होते हैं जिसको हम Palatine Tonsils कहते हैं। जन्म के समय यह Tonsils अदृश्य होते हैं परन्तु २ वर्ष की अवस्था में बढ़ते हैं। Puberty के बाद घट भी जाते हैं। Old age में tonsil की atrophy हो जाती है। Tonsil Almond Shape के होते हैं जो कि mucous membrane से ढकी रहती है। Tonsil को External Carotid artery की शाख रक्त प्रदान करती है। Nasopharynx की Posterior wall व roof के Junction पर Adenoid tissue पाया जाता है जिसको हम Adenoids या nasopharyngeal tonssil कहते हैं। इनका कार्य Secondary Infection को रोकना है।

2. The Larynx

यह शब्द के लिए एक आवश्यक अंग है जो कि Cartilaginous भाग है जोकि Musles व ligements से बंधा हुआ है। यह Hypopharynx की Anterior wall पर रहता है। यह ऊपर Pharyngeal Cavity में व नीचे Trache में खुलता है। यह Epiglottis से 4th Cervicle Vertebra से शुरू होकर 6th Cervicle vertebra के सामने Cricoid-Cartilage के lowor border पर समाप्त होता है। यह पाँच Certilage का बना है जो कि निम्न हैं—

1. Epiglotis 2. Thyroid 3. Cricoid 4. Arytevoid—2 in number 5. Corniculate and Cuniform cartilage.

Thyroid Cartilage के दोनों ओर Vocal Cords होते हैं दोनों Vocal-Cords के बीच एक Chink होती है जिसे glottis chink कहते हैं। Vocal cords दो प्रकार के होते हैं। ऊपर वाला true vocal cord व नीचे वाला false vocal cord-male व female में larynx की लम्बाई अलग-

अलग होती है। Male में लम्बाई 44 m. m. और female में 36 m. m. होती है।

इसमें दो प्रकार की मांसपेशियाँ होती हैं—

1. Extrinsic 2. Intrinsic

Extrinsic के भी दो भाग हैं। (1) Supra hyoid (2) Infra hyoid Intrinsic के भी दो भाग हैं। Abductor और Abductor मांसपेशियाँ।

इससे शब्द का उच्चारणादि कार्य होता है।

3. The Trachea or wind pipe

यह एक Cartilaginous व membranous tube होती है। जिसकी लम्बाई 1 1 c. m. होती है जो कि lower part of the larynx से शुरू होकर अर्थात् 6th cervical vertebra से upper border of the 5th thoracic vertebra तक जाती है जहाँ कि वह दो Bronchi में बट जाती है जो कि फुफ्फुस में चले जाते हैं। यह 16 से 20 hyline certilage का बना होता है।

4. The Oesophagus or gullet

यह एक muscular है जो कि 23 c. m. से 25 c. m. लम्बी होती है, यह pharynx से Stomach तक होती है जो कि 6th cervical vertebra के सामने lower border of the cricoid cartilage से शुरू होकर 1 1th thoracc vertebra के सामने cardiactorifice of the stomach पर समाप्त होता है। इसके चार Coat हैं जो निम्न हैं।

(i) Muscular (ii) Circular fibrous(iii) Areolar (iv) muco-uscear

प्रश्न—मुख रोगों की संख्या के विषय में शास्त्रों के प्रमाणों के आधार पर वर्णन कीजिए और मुख रोगों के उत्पादक साधारण कारणों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—पहले ही यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि शालाक्य विषयक जो भी साहित्य हमें उपलब्ध होता है उसका आधार सुश्रुत संहिता है। मुख रोगों की संख्या के विषय में भी हमें उसी का अवलोकन करना पड़ता है। सुश्रुत संहिता में मुख रोगों की संख्या ६७ बतलाई गई है। इसी को

आधार मानने से पूर्व यह बताना भी आवश्यक समझता हूं कि वाग्भट ने जो मुख रोगों की संख्या का वर्णन किया है उसे भी जानना चाहिए। वाग्भट ने यह ७५ प्रकार के बताए हैं।

जैसा कि सर्वविदित ही है कि मुख शब्द से मुखगत सात अंगों का बोध किया जाता है। उन सात अंगों का आश्रय कर यह रोग उत्पन्न होते हैं। निम्न कोष्ठक द्वारा इनकी अलग-अलग संख्या सुश्रुत एवं वाग्भट के मतानुसार वर्णित कर रहे हैं—

रोग	सुश्रुत सम्मत संख्या	वाग्भट सम्मत संख्या
१. ओष्ठ रोग	८	१२
२. दन्त रोग	८	१०
३. दन्त मूल रोग	१६	१३
४. जिह्वा रोग	५	६
५. तालु रोग	६	८
६. कण्ठ रोग	१८	१८
७. सर्वसर	३	८

ओष्ठरोग सुश्रुत की अपेक्षा वाग्भट के मतानुसार चार अधिक हैं—

वाग्भट के चार अधिक रोग हैं—

(क) जलबुदबुद अथवा जलार्बुद (Cyst)

(ख) खण्डौष्ठ (Harelip)

(ग) कपोल गत।

(घ) गण्डालजी।

दन्त रोगों में वाग्भट ने निम्न दो रोग सुश्रुत वर्णित रोगों से अधिक बताए हैं—

(क) चालन।

(ख) दन्तभेद।

दन्तमूलगत रोग वाग्भट से सुश्रुत में तीन अधिक कहे गए हैं। वे निम्न हैं।

(क) दन्तवेष्ठ (ख) परिदर (ग) अधिदन्त।

जिह्वागत रोगों में वाग्भट ने निम्न रोग अधिक माना है।

(क) अधिजिह्वक।

तालुगत रोगों में वाग्भट से एक अधिक रोग का वर्णन सुश्रुत में किया गया है। वह रोग है।

(क) अध्रुप।

कण्ठगत रोगों की संख्या चाहे समान है तो भी एक-एक रोग दोनों में भिन्न-भिन्न हैं। सुश्रुत ने यहाँ पर अधिजिह्वक का वर्णन किया है जब कि वाग्भट ने गलगण्ड का।

सर्वसर रोगों में सुश्रुत से वाग्भट ने पांच अधिक माने हैं जो रक्तज मानने से एवं वातादि का द्वन्दज होने से एवं सन्निपात होने से कहे गए हैं।

वास्तव में हमें सुश्रुत के ही वर्गीकरण को स्वीकार करना चाहिए। कारण यह कि वाग्भट ने जो वर्णन किया है उसमें कुछ रोग तो किसी रोग के लक्षणों में ही आ जाते हैं यथा चालन अथवा दन्त भेद आदि। कुछ का वर्णन शल्यतन्त्र में होना चाहिए जैसे गलगण्ड। अतः हम सुश्रुत के मत के अनुसार ही आगे क्रमशः ६७ रोगों का वर्णन करेंगे।

कारण

इन रोगों के उत्पादक कारणों का वर्णन साधारणतः एक समान ही शास्त्रों में वर्णित किया गया है। वह निम्न प्रकार है—

"आनूप मांस, क्षीर, दधि, उड़द का अधिक सेवन करने से श्लेष्मा प्रवृद्ध होकर अन्य दोषों को प्रकुपित करके मुख रोगों को उत्पन्न करता है।"[1] इसका अर्थ हुआ कि मुख रोगों का उत्पादक प्रधान दोष कफ है जो अपने साथ दूसरे दोषों को भी प्रकुपित कर लेता है। इस बात को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रायः वाराह, मछली, भैंस का मांस विकार उत्पन्न करता है। सिराव्यध, धूम्रपान, गण्डूष, वमन का अनुचित [अयोग-अतियोग-मिथ्यायोग] प्रयोग होने पर यह रोग उत्पन्न होता है।

इस प्रकार हम कहेंगे कि मुख को आश्रय करके जो रोग उत्पन्न होते हैं उनका उत्पादक कारण मुख्यतः कफ है और वह उपर्युक्त प्रकोपक कारणों से प्रकुपित हो जाता है और वातादि को क्रुद्ध कर रोग उत्पन्न करता है।

---

१. "आनूप पिशित क्षीर दधि माषादि सेवनात्।
मुखमध्ये गदान् कुर्युः क्रुद्धा दोषा कफोत्तरा॥" (यो० र०)

प्रश्न—मुख रोगों की चिकित्सा के साधारण सिद्धान्तों तथा पथ्यापथ्य का वर्णन कीजिए।

उत्तर—मुख रोगों के कारण बताते हुए पीछे स्पष्ट किया है कि कफ दोष की प्रधानता से होता है और इस विषय में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि रक्त के विकृत हो जाने से यह रोग उत्पन्न हो जाता है अतः सभी मुख रोगों में सिरामोक्षण कराना चाहिए।[1] सिरामोक्षण के अतिरिक्त आवश्यकतानुसार निम्न क्रियाएँ करानी पड़ती हैं।[2]

१—कवल और गण्डूष	२—स्वेदन	३—विरेचन
४—वमन	५—प्रतिसारण	६—धूम्र
७—शस्त्रकर्म	८—अग्निकर्म	९—तर्पण

चाहे आवश्यकता होने पर कोई भी क्रिया कराई जा सकती है तो भी कवल-गण्डूष एवं प्रतिसारण तथा धूम का प्रयोग प्रायः कर लिया जाता है। इन सभी का वर्णन हम आगे करेंगे।

पथ्य का विधान बताते हुए कहा गया है कि 'तृणधान्य, यव, मूँग, कुलथ, जागल माँस रस, पत्तों वाले शाक, करेला, पटोल, कच्ची मूली, कर्पूरवासित जल, ताम्बूल, खादिर एवं घृत का सेवन, कटु एवं तिक्त वर्ग के पदार्थों का प्रयोग मुख रोगों के लिए हितकारक होता है।'[3]

मुख रोग वाले को प्रायः भोजन में ऐसे शाक एवं पथ्य का प्रयोग करना हितकारक बताया है जिसमें विटामिन 'ए' 'बी' सी' तथा 'डी' होते हों। इसीलिए इन तत्वों से युक्त हरे शाक, ताजा फल, शुष्क मेवे, मक्खन, गाजर, टमाटर, मोसम्बी, सन्तरा, नीबू, पालक, आँवला, धनिया एव आलूबुखारा का प्रयोग करना हितकारक होता है।

---

१. "गलदन्त मूलदशनच्छदेषु रोगाः कफास्त्र भूयिष्ठाः।
तस्मादेतेषु रुधिरं विस्रावयेद दुष्टम्॥"

२. "स्वेदो विरेकः वमनं गण्डूष प्रतिसारणम्।
कवलोऽसृक्स्रुतिनस्यं धूमः शस्त्राग्नि तर्पणम्॥"

३. "तृण धान्य यवा मुद्गाः कुलथा जांगलो रसाः।
बहुपत्रों कारवेल्लं पटोलं बालमूलकम्॥
कर्पूरनीरं ताम्बूलं तप्ताम्बु खदिरो घृतम्।
कटुतिक्तो च वर्गोयं मित्रं स्मान्मुखरोगिणाम्।'

मुख रोगों में निम्न अपथ्य कहा गया है। 'अधिक अम्ल पदार्थों का सेवन, मछली का माँस, जलीय प्राणियों का माँस, दही, दूध, गुड़, उड़द, रूक्ष, कठिन, भारी एवं अभिष्यन्दकारी आहार का सेवन, उल्टा लेटना और दिन में सोना मुख रोगों में हानि करता है। कड़े पदार्थों का खाना, सख्त दातुन करना भी हानिकारक है।'[1]

प्रश्न—कवल एवं गण्डूष किसे कहते हैं ? प्रतिसारण क्या है ? मुखरोग नाशक कुछ प्रसिद्ध कवल, गण्डूष एवं प्रतिसारण के योग लिखिए।

उत्तर—कवल एवं गण्डूष आयुर्वेद के शास्त्रीय शब्द हैं। दोनों का अर्थ क्रियात्मक रूप में लगभग समान ही होता है। औषधियों के क्वाथ अथवा कल्क घी, दूध, शहद, माँस, रस, गोमूत्र, गर्म जल अथवा स्वरस जो भी रोग की अवस्था के अनुसार उपयुक्त हो, उसे मुख में धारण करना पड़ता है। इन दोनों परिभाषाओं में अन्तर केवल इतना है कि यदि मुख में धारण की गई वस्तु को सुखपूर्वक मुख में चलाया या हिलाया जा सके तो उस क्रिया को कवल कहा जाता है और यदि वह द्रव्य मुख में इतना ज्यादा भर लिया जाए कि हिलाया न जा सके तो उसे गण्डूष कहा जाता है।[2] इसका अर्थ यह हुआ कि दोनों में ही द्रव्य मुख में भरना पड़ता है—कवल की अवस्था में उसे संचारित कर कंठ तक पहुंचाना पड़ता है जिसे आजकल गरारे करना (Gargle) कहा जा सकता है और गण्डूष की परिभाषा अनुसार मुख में भरे द्रव्य को वापस निकाला अथवा कुल्ले करना कहा जाता है।

शास्त्रों में कवल एवं गण्डूष को धारण करने का विधान वर्णित किया गया है और वहाँ बताया गया है कि जब तक उत्क्लेश होकर दोषों से मुख भर न जाय तब तक पदार्थ को मुख में धारण करना चाहिए। दोषों के मुख में भर जाने पर नाक एवं नेत्रों से स्राव होने लगेगा। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि

---

१. "दन्त-काष्ठं स्नानमम्लं मत्स्यमानूपमामिषम्।
दधिक्षीरं, गुडंमासं रूक्षान्नं कठिनाशनम्॥
अधोमुखेन शयनं गुर्वाभिष्यंदकारि च।
मुख रोगेषु सर्वेषु दिवा निन्द्रां च वर्जयेत्।"

२. सुखं संचार्यते या तु मात्रा सा कवलः स्मृतः।
असंचार्यातु या मात्रा गण्डूषः स प्रकीर्तितः॥" (सु० सू० अ० ४०)

धारण करते समय प्रसन्न हो, स्थान ऐसा हो जहां तेज हवा न आती हो तथा धूप हो और व्यक्ति सीधा होकर बैठकर इन्हें धारण करे। यदि इसके पश्चात् व्याधि घट जाए, तुष्टि हो, मुख स्वच्छ हो जाए, इन्द्रियों में लघुता तथा स्वच्छता हो तो जानना चाहिए कि धारण करने का पूर्ण लाभ हुआ है अन्यथा नहीं।[1]

गुणों की दृष्टि से कवल एवं गण्डूप चार प्रकार के बनाए गये हैं—स्नेही, प्रसादी, शोधन एवं रोपन। स्नेही-स्निग्ध एवं उष्ण होता है। इसका प्रयोग शीतता एवं रूक्षता से उत्पन्न विकारों में किया जाता है। इसी से वात विकारों में यह लाभ करता है। प्रसादी-मधुर एवं शीत गुण होता है। इसका प्रयोग पित्तज विकारों को शान्त करने के लिए किया जाता है। शोधन में कटुता, अम्लता एवं लवणता होता है, यह रूक्ष गुण होता है, अतः इसका प्रयोग कफज विकारों को दूर करने के लिए किया जाता है। रोपण मुखज व्रणों का रोपण करता है। यह प्रायः मधुर-तिक्त-कषाय होता है। कवल एवं गण्डूप की विस्तृत जानकारी के लिए लेखक की 'पंच कर्म-विज्ञान' नामक पुस्तक का अध्ययन कीजिये।

प्रतिसारण—वह क्रिया है जिसमें किसी औषध के स्वरस, कल्क, चूर्ण अथवा मधु आदि को अंगुली से किसी स्थान पर फैलाया जाये।[2] इसे साधारण भाषा में लेप कहा जाता है जिसे Paint or Paste कह सकते हैं। सुश्रुत के टीकाकार डल्हणाचार्य ने लिखा है कि 'कोलास्थि के बराबर पिंड से दोष और व्याधि के अनुसार पाँच या सात बार हीन-मध्यम अथवा उत्तम व्याधि में प्रतिसारण करना चाहिये। प्रतिसारण करते समय अतिघर्षण न करे। अतिघर्षण से श्रोष, चोष, दाह, क्लेद, शोथ, तृष्णा, अरुचि शब्दोच्चारण बन्द हो जाता हैं। असम्यक् प्रतिसारण में पिच्छिलता, गुरुता, भोजन में अनिच्छा, मूर्च्छा आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। सम्यक् प्रकार प्रतिसारण से मुख में विशदता लघुता छींक आना, लालास्राव का अभाव तथा भोजन में रुचि उत्पन्न होती है। ऐसा शालाक्य तन्त्र में लिखा है।'

---

१. "व्याधेरपचयस्तुष्टि वैशद्य वक्त्रलाघवम्।
इन्द्रियाणां प्रसादश्च कवले शुद्धिलक्षणम्।"

२. "दन्तजिह्वा मुखानां यच्चूर्णकल्कावलेहकैः।
शनैर्घर्षणमंगुल्या तदुक्तं प्रतिसारणम्।।"

गण्डूष एवं कवल के लिए निम्न योग प्रयोग किये जाते हैं—

१. खादिरादि—खादिर, लोह, हरड़, बहेड़ा, आँवला, अर्जुन की छाल, एरण्ड और पूतिखादिर का क्वाथ बनाकर प्रयोग करना।

२. पटोलादि गण्डूष—पटोलपत्र, शुण्ठी, त्रिफला, इन्द्रायणमूल, त्रायमाण, कुटकी, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, गुडूची का क्वाथ बनाकर प्रयोग करना।

३. सप्तच्छदादि क्वाथ—सप्तपर्णत्वक्, सुगन्धवाला, पयोलमूल, नागरमोथा, हरड़, चिरायता, कुटकी, मुलहठी, अम्लतास का गूदा और चन्दन का क्वाथ बनाकर गण्डूष अथवा कवल धारण करना।

४. दारुहरिद्राका रस—अथवा रसौंत में गेरू और मधु मिलाकर कल्क प्रयोग करना।

५. कालक चूर्ग—मधु के साथ मिलाकर प्रयोग करना।

प्रतिसारण के लिये आयुर्वेद में जात्यादि तैल, खदिरादि तैल, खदिरादि वटी के चूर्ण का प्रयोग किया जाता है।

प्रश्न—ओष्ठगत रोग कितने हैं? उनका कारण, लक्षण, साध्यासाध्यता एवं चिकित्सा सहित वर्णन कीजिए।

उत्तर—ओष्ठ को आश्रय करके 'ओष्ठ प्रकोप' नामक रोग का वर्णन प्राचीन संहिताओं में किया गया है। यह ओष्ठ-प्रकोप आठ प्रकार का कहा गया है।

(१) वातज (२) पित्तज (३) कफज (४) सन्निपातज (५) रक्तज (६) मांसज (७) मेदोज (८) अभिघातज।

(१) **वातज**—शीतऋतुओं में कोष्ठबद्धता में एवं अन्य वात प्रकोपक आहार विहार से वायु प्रकुपित हो ओष्ठों का आश्रय ले ओष्ठों में कर्कशता, कठिनता एवं स्तब्धता उत्पन्न करता है। इस अवस्था में ओष्ठ कृष्ण वर्ण के हो जाते हैं और बहुत वेदना होती है। ओष्ठों में प्राय: दरारें पड़ जाती हैं और फटे हुए रहते हैं।[1] इस अवस्था को 'क्रेक्ड लिप्स' कहा जाता है।

आधुनिक शल्य के ग्रन्थों में खंडौष्ठ (Hire lip) करके एक रोग का वर्णन मिलता है। इसका वातज ओष्ठ-प्रकोप से कोई सम्बन्ध नहीं। यह एक सहज विकार है जिसकी चिकित्सा शस्त्रकर्म करना है। इस रोग के विषय में वंश परम्परा का भी असर पड़ता है—ऐसा माना जा रहा है।

---

१. "कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ कृष्णौ तीव्र रुजान्वितौ।
दाल्येते परिपाट्येते ह्योष्ठौमारुत कोपतः॥"

वातज ओष्ठ प्रकोप का उपचार करने में निम्न साधन उपयोगी हैं—

(क) स्नेहन—चतुर्विध स्नेह (घृत-तैल-वसा-मज्जा) में मोम मिलाकर ओष्ठों पर अभ्यंग करना।

(ख) नाड़ी स्वेदन—अभ्यंग के पश्चात् नाड़ी स्वेदन करना।

(ग) उपनाहन—लवण सहित उपनाह बाँधना।

(घ) वातहर तैल—सिर पर लगाने एवं नस्य लेने के लिए वातहर तैलों का प्रयोग करना।

(ङ.) प्रतिसारण—चन्दन, राल, देवदार, गुग्गुल, मुलैहठी के चूर्ण के द्वारा प्रतिसारण करना चाहिये।

आधुनिक चिकित्सा में फटे हुए ओष्ठों का उपचार शल्य के द्वारा किया जाता है।

(२) पित्तज—उष्ण पदार्थों के प्रयोग एवं पित्त प्रकोपक कारणों के द्वारा पित्त प्रकुपित होकर ओष्ठों का आश्रय लेकर पित्तज ओष्ठ प्रकोप उत्पन्न करता है। उसमें ओष्ठ स्पर्श असह्य हो जाते हैं। सरसों के आकार के दाने निकल आते हैं। इनमें जलन, पाक एवं स्राव होता है। ओष्ठों का वर्ण नीला अथवा पीला होता है।[1]

पित्तज ओष्ठ प्रकोप का उपचार बताते समय लिखा गया है—

(क) रक्तमोक्षण-जलौका द्वारा अथवा सिरामोक्षण द्वारा।

(ख) वमन-विरेचन

(ग) तिक्त-पान

(घ) रस प्रधान भोजन

(ङ) शीत प्रदेह

(च) परिसेंचन

(३) कफज—कफ के प्रकोप से ओष्ठ पर सवर्ण-मन्द वेदना युक्त पिड़िकाएँ उत्पन्न होती हैं। ओष्ठ शीतल, भारी होते हैं। उनमें कण्डू होती है।

---

१. "आचितो पिड़िकाभिस्तु सर्षपाकृतिभिर्भृशम्।
सदाहपाक संस्रावो नीलो पीतोच पित्ततः॥"

पिच्छिलता रहा करती है ।[१]

इस अवस्था में निम्न सिद्धान्तों पर उपचार किया जाता है—

(क) शिरोविरेचन

(ख) धूम्रपान

(ग) स्वेद

(घ) कवल

(ङ) रक्तमोक्षण—सर्वप्रथम करने के वाद अन्य शिरोविरेचन आदि कराने चाहिए ।

(४) सन्निपातज—प्रकोपक कारणों से वातादि दोप प्रकुपित होकर ओष्ठ का आश्रय लेकर सन्निपातज ओष्ठ रोग उत्पन्न करते हैं। इस अवस्था में ओष्ठ का वर्ण कभी काला, कभी पीला, कभी श्वेत वर्ण का अनेक विध होता है। अनेक तरह के दाने ओष्ठों पर मिलते हैं। ओष्ठों में दुर्गन्ध आती है और चिपचिपा स्राव होता है। ओष्ठों में सूजन और दर्द होता है। ओष्ठ के कुछ भाग में पाक हो जाता है, कुछ भाग ठीक रहता है।

आयुर्वेद में सन्निपातज ओष्ठपाक को असाध्य कहा गया है।

(५) रक्तज ओष्ठ प्रकोप—रक्त प्रकोपक कारणों से प्रकोप को प्राप्त हुआ रक्त खजूर के फल के समान पिड़िकाओं को ओष्ठों पर उत्पन्न करता है और उनमे रक्त का स्राव होता है। इस अवस्था में ओष्ठ का वर्ण प्रायः रक्त होता है।[२]

इसकी साध्यासाध्यता के विषय में शास्त्रों में इसे असाध्य कहा गया है। तो भी सुश्रुत संहिता में इसका उपचार पित्तजओष्ठ प्रकोपवत् करने को कहा है। वहाँ कहा गया है कि इस अवस्था में जलौका द्वारा रक्तासेंचर कराना चाहिए और पित्तज विद्रधि के समान उपचार कराना चाहिए।

(६) अभिघातज—ओष्ठों पर चोट लगने से ओष्ठों का रंग अनेक प्रकार का होता है। ओष्ठों पर शोथ आ जाती है, ओठ फट जाते हैं, लाल

---

१. "सवर्णाभिस्तु चीयते पिण्डिकाभिरवेदनौ ।
कण्डुमन्तौ कफाच्छूनौ पिच्छिलौ शीतलौ गुरू ।"

२. "खर्जूरफल वर्णाभिः पिडिकाभिः समाचितौ ।
रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ।।"

हो जाते हैं और खुजली होती है।[1]

आयुर्वेद में अभिघातज ओष्ठप्रकोप का उपचार रक्तजवत् ही बताया है। पित्तज विद्रधिवत् रक्तावसेचन जलौका द्वारा करना चाहिए और शीतल क्रियाएँ करनी चाहिएँ।

(७) **मांसज**—दोषों से दूषित हो मांसज ओष्ठप्रकोप होता है। इस अवस्था में ओष्ठ भारी, मोटे, मांसपिंडवत, उभरे हुए होते हैं। प्रायः कर यह ओष्ठों के कोने से विकार आरम्भ होता है। अधिक विकृत होने पर इस अवस्था में कृमि उत्पत्ति भी हो जाती है।[2]

पाश्चात्य ग्रन्थों में इसी से मिलती-जुलती अवस्था को 'पैंपीलोमा' अथवा 'एपिथिलियोमा ऑफ दी लिप्स' कहा जाता है।

आयुर्वेद में मांसज ओष्ठप्रकोप को असाध्य कहा है। आज के वैज्ञानिकों ने अनुसंधान के पश्चात् यह बताया है कि इस अवस्था में छेदन एवं 'रेडियम' के द्वारा उपचार करना लाभदायक होता है।

(८) **मेदोज ओष्ठ प्रकोप**—इस अवस्था में ओष्ठ घृतमण्ड के समान वर्ण के भारी और कण्डुयुक्त हो जाते हैं। इनमें से स्फटिक के समान निर्मल स्राव होता है।[3] इस अवस्था से समन्वय करते हुए इस आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ग्रन्थों में वर्णित एक अवस्था भी जिसे 'मेक्रोकीलिया' कहा जाता है, यहां वर्णित करते हैं। इस अवस्था में ओष्ठों की वृद्धि हो जाती है।

'मेक्रोकीलिया' का वर्णन करते समय बताया जाता है कि यह तीन प्रकार का होता है—

(क) **सहजः**—जो ऐसे वंश में उत्पन्न होने वाले बच्चे को मिलता है, जिस वंश में क्षयरोग हो। इसमें प्रायः नीचे वाला ओष्ठ विकृत मिलता है।

---

१. क्षतजाभौ विदीयेते पाट्येते चाभिघाततः।
ग्रथितौ च समाख्यातौ ओष्ठौ कण्डुसमन्वितौ॥"

२. "मांसदुष्टौ गुरु स्थूलौ मांसपिण्डवदुद्गतौ।
जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्ति सृक्कस्योभयतो मुखात्!!

३. "मेदसा घृतमण्डाभौ कण्डूमन्तौ स्थिरौ मृदु।
अच्छस्फटिकसंकाशं स्रावं च स्रवतो गुरू॥"

(ख) जन्मोत्तर:—ओष्ठों के पूर्णतया विदीर्ण हो जाने पर विषों का शोषण होता रहता है और ओष्ठ मोटे हो जाते हैं। यह विकृति प्राय: ऊपरी ओष्ठ में मिलती है।

(ग) फिरंगज:—फिरंज (Syphilis) की तीसरी अवस्था में होता है और प्राय: कर नीचे वाले ओष्ठ में होता है।

आयुर्वेद में मोदोज ओष्ठ प्रकोप साध्य कहा है और उसके उपचार का वर्णन करते हुए कहा है कि निम्न क्रियाएँ करनी चाहिएं—

(क) स्वेदन

(ख) भेदन

(ग) अग्निकर्म

(घ) शोधन—वमन विवेचन

(ङ) प्रतिसारण:—प्रियंगु-त्रिफला; लोध और मधु से।

प्रश्न:—दन्तलमूगत रोगों के कारण लक्षण साध्यासाध्यता एवं चिकित्सा लिखिए।

उत्तर:—दन्तमूलगत रोगों का क्रमश: वर्णन निम्न प्रकार है—

(१) शीताद:—यह कफ एवं रक्त के विकार स्वरूप उत्पन्न होती है। इस अवस्था में अनायास दन्तमूल से रक्तस्राव होते लगाता है। दन्तमूल दुर्गन्धित कृष्णवर्ण के, मुलायम और गीले होते हैं। इस अवस्था में दन्तमूल गलने लगते हैं।

इन लक्षणों को देखकर हम आधुनिक चिकित्सा शास्त्रों में वर्णित रोग विशेष 'स्पँजी गम्स' अथवा 'ब्लीडिंग गम्स' (Spongy gums or Bleeding gums) से समन्वय कर सकते हैं। इसके उत्पन्न होने के कारणों में मुख का अस्वच्छ रहना, कच्चे पदार्थ का सेवन करना, मूत्र विषमयता तथा स्कर्वी बताए है।[1]

शीताद को साध्य रोग कहा गया है और उसका उपचार निम्न सिद्धान्तों पर करने का आदेश दिया हुआ है:—

---

१. "शोणितं दन्त वेष्टेभ्यो यत्राकस्मात्प्रवर्तते।
दुर्गंधीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च।
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम्।
शीतादो नाम स व्याधि कफशोणित संभव:।"

(i) रक्तावसेंचन :—जलौंका, अलावु अथवा शृंगी द्वारा

(ii) गण्डूषधारण :—सोंठ, सरसों, त्रिफला, नागरमोथा, रसौंत के क्वाथ से

(iii) प्रलेप :—प्रियुंग, मुस्तक एवं त्रिफला द्वारा

(iv) नस्य :—मुलहेठी, उत्पल, पद्माख और त्रिफला से सिद्ध किये गये तेल से।

(v) पिण्डधारण :—इस अवस्था में जब मांस में दुर्गन्ध आवे तब कासीस-लोध्र, पिप्पली, मनःशिला प्रियुंग और तेजबल को पीस मधु में मिला मुख में रखना चाहिये।

(२) दन्त पुप्पुट—दो या तीन दांतों के मसूढ़ों में महान् शोथ हो जाता हैं उस अवस्था को 'दन्त पुप्पुट' कहा जाता है। यह कफ और रक्त दोषों की विगुणता के कारण उत्पन्न होता है।[1]

आधुनिक चिकित्सा विषयक ग्रन्थों में इससे मिलने वाला रोग 'गम-बायल' (Gum boil) कहलाता है। उसका कारण कृमिदन्त कहा गया है और बताया है कि कृमिदंत के कारण हनु तथा मसूढ़ों में संक्रमण पहुंचता है और उसी से मसूढ़ों में शोथ हो जाती है।

इसकी चिकित्सा में सुश्रुत संहिता में निम्न दो सिद्धांत बताये हैं।[2]

(i) रक्तमोक्षण

(ii) प्रतिसारण—अपक्वावस्था में पंचलवण-क्षार एवं मधु से प्रतिसारण करना चाहिये। जब पूर्ण रूप से पक्व हो तो प्रथम भेदन करके पूय निकालना चाहिये और फिर प्रतिसारण करना चाहिये। इस हालत में स्निग्ध भोजन देना चाहिये और आवश्यकता हो तो नस्य एवं शिरोविरेचन कराना चाहिये। आधुनिक चिकित्सक इसका कारण कृमिदन्त मानते हैं—अतः उनका कहना है कि प्रथम कृमिदंत का आहरण करना चाहिये, भेदन करना चाहिये और स्वेदन देना चाहिये।

---

१. "दन्तयोस्त्रिषु वा यत्र श्वयथुर्जायते महान्।
दन्तपुप्पुटको नाम स व्याधि कफ रक्तजः॥"

२. "दन्त पुप्पुट के कार्य तरुणे रक्तमोक्षणम्।
सपंचलवणक्षारैः स क्षौद्रैः प्रतिसारम्॥"

(३) दन्तवेष्ठ—यह दूषित रक्त के कारण होने वाली रोगावस्था है। इसमें दन्तमूल से पूय और रक्त का स्राव होता है । दांत हिलने लगते हैं ।[१] इन लक्षणों से मिलने वाला रोग आधुनिक चिकित्सा ग्रन्थों में 'पायरिया एल्वीयोलैरिस' है। इसका वर्णन हम अगले पृष्ठों में विस्तार से करेंगे।

आयुर्वेद में दन्तवेष्ठ का उपचार बताते हुये निम्न सिद्धांत व्यक्त किये हैं—[२]

(i) प्रतिसारण—लोध, पतंग, मुलहठी और लाक्षा चूर्ण को मधु में मिलाकर

(ii) रक्तपित्त शमन—रक्तपित्त शामक शीतोपचार करना।

(iii) शिरोविरेचन

(iv) नस्य

(v) स्निग्ध भोजन

(vi) गण्डूष—क्षीरी वृक्षों के क्वाथ में मधु मिलाकर, घृत एवं शक्कर मिलाकर।

(vii) बकुल चवर्ण—जब दांत हिलने लगे तब इसका प्रयोग करना चाहिये, मौलसरी की छाल एतर्थ उत्तम द्रव्य है।

इसके अतिरिक्त अनेक अनुभूत योग एवं शास्त्रीय योग बताये गये हैं जिनका वर्णन पायरिया के प्रकरण में करेंगे।

(४) सौषिर—यह कफ एवं वायु के प्रकोप के कारण उत्पन्न होने वाला विकार है। इसमें दन्तमूल में शोथ, पीड़ा एवं कण्डु होती है । इस अवस्था में

---

१. "स्रवन्ति पूयं रुधिरं चला दन्ता भवन्ति च ।
दन्तवेष्ठः स विज्ञेयो दुष्टशोणित संभवः ॥"

२. "विस्राविते दन्तवेष्ठे व्रणे तु प्रतिसारयेत् ।
लोध्रपतंग मधुकलाक्षा चूर्णा मधुप्लुतैं ॥
दन्तवेष्ठे विधि कार्यो रक्तपित्तनिवर्हणः ॥
शिरोविरेकश्च हितो नस्यं स्निग्धं च भोजनम् "
गण्डूषे क्षीरिणो योज्या सक्षौद्रघृत शर्कराः ।
चलदन्त स्थैर्यकरं कार्य बकुल चवर्णम् ॥"

लालास्रव होता है ।[1]

आयुर्वेद में इसकी चिकित्सा निम्न प्रकार कही गई है—[2]

(i) रक्त निर्हरण—

(ii) लेप : - लोध्र, मुस्तक, रसाञ्जन का मधु के साथ

(iii) गण्डूष:—क्षीरी वृक्षों के कषाय का गंडूष

(५) महासौषिर—यह एक सन्निपातज विकार है । इस अवस्था में दाँत वेष्ठन ढीले पड़ जाते हैं और वह हिलने लगते हैं । तालु मुख में पाक होकर फटने लगते हैं ।[3]

ऐसी अवस्था ज्वर की सन्निपातावस्था में अथवा कालाज्वर में ज्वर शान्त होने पर दन्तमूल एवं मुख की श्लेष्मिक कला में उत्पन्न हो जाती है । प्रथम शोथ होता है फिर व्रण बन जाते हैं । इन व्रणों का प्रसार सम्पूर्ण दन्त मूलों में हो जाता है । इसके साथ ही साथ उस व्यक्ति को अनेक सार्वदेहिक लक्षण भी पाये जाते हैं—यह लक्षण शरीर में विष व्याप्त होने के कारण होते हैं ।

यह एक असाध्य रोग कहा गया है । अतः इसकी चिकित्सा का वर्णन शास्त्रों में नहीं किया गया । सौषिरवत उपचार कर सकते हैं । आधुनिक चिकित्सक व्रणित भाग को नष्ट कराने के लिए जलाते हैं ।

(६) परिदर—यह पित्त-रक्त एवं कफ के विकृत होने पर उत्पन्न होने वाला विकार है । इसमें दाँत के मसूढ़े विशीर्ण होने लगते हैं और मसूढ़ों से रक्त का स्राव होता है ।[4]

---

१. श्वयथुर्दन्तमूलेषु रुजावान कफवातजः ।
लाला स्रावी सकण्डुश्च स ज्ञेयः सौषिरो गदः ॥

२. सौषिरे हृतरक्ते तु लोध्रु मुस्तारसाञ्जनैः ।
सक्षौद्रैः शस्यते लेपो गण्डूषेक्षीरिणो हिताः ॥

३. दन्ताश्चलन्ति वेष्ठेभ्यस्तालुश्चाप्यवदीर्यते ।
यस्मात्स सर्वजो व्याधिर्महासौषिर संज्ञकः ॥

४. "दन्तमांसानि शीर्यन्ते यस्मिन्स्रवति चाप्यसृक ।
पित्तासृककफजो व्याधिर्ज्ञेयः परिदरो हि सः ॥

यह एक साध्य विकार है और इसकी चिकित्सा शीताद के समान करनी चाहिये। शीताद की चिकित्सा हम पिछे लिख चुके हैं।

(७) उपकुश— दन्तवेष्ठों में दाह और पाक होता है जिससे दांत हिलने लगते हैं। मंद वेदना और दबाने से रक्त का स्राव होता है। इसमें पीड़ा अल्प होती है। रक्त स्रवित होने के कुछ देर बाद फिर मसूढ़ों में सूजन हो जाती है, दबाने पर पुनः रक्तस्राव होने लगता है। इसकी उत्पत्ति पित्त एवं रक्त के विकार स्वरूप होती है। इस अवस्था में मुख से दुर्गन्ध आती है।

यह एक साध्य रोग है और इसकी चिकित्सा निम्न सिद्धांतों के आधार पर करने को कहा है—

(i) उभयतः शोधन—वमन एवं विरेचन

(ii) शिरोविरेचन

(iii) रक्तविस्रावण—कठूमर एवं गोजीपत्र से लेप करके

(iv) प्रतिसारण—त्रिकटु सैंधव तथा मधु मिलाकर अथवा पिप्पली-सोंठ सरसों तथा वेतस फल को मिलाकर।

(v) कवल धारण—पिप्पली-सोंठ-सरसों तथा वेतसफल के क्वाथ का कवल या काकोल्यादि गण की औषधियों से।

उपकुश नामक रोग रक्त पित्तजन्य होता है।[1] अतः इसकी चिकित्सा में रक्तपित्तशामक उपचार का विचार करना चाहिये।

(८) दन्तवैदर्भ—यह एक अभिघातज रोग है। इसमें मसूढ़ों में घर्षण करने से शोथ और रक्तिमा उत्पन्न हो जाती है। इस अवस्था में दांत हिलते रहते हैं।[2]

इसकी चिकित्सा निम्न सिद्धांतों पर करनी चाहिये—[3]

---

१. वेष्ठेषु दाहः पाकश्च तेभ्यो दन्ताश्चलन्ति च।
आघट्टिताः प्रस्रवन्ति शोणितं मन्द वेदनाः॥
आध्मायन्ते स्रुते रक्ते मुखं पूति च जयते।
यस्मिन्नुपकुशः स स्यात् पित्तरक्तो गदः॥

२. घृष्टेषु दन्तमूलेषु संरम्भो जायते महान्।
भवन्ति च चलादन्ताः स वैदर्भोऽभिघातजा॥

३. शस्त्रेण दन्तवैदर्भे दन्त मूलानि शोधयेत्।
ततः क्षारं प्रयुञ्जीत क्रिया सर्वाश्च शीतला॥

(i) शस्त्रकर्म:—शस्त्र द्वारा वहाँ के दूषित मांस को निकाल कर।
(ii) क्षारकर्म:—शस्त्र-छेदन के पश्चात् वहां पर क्षारकर्म करना चाहिए।
(iii) कवल गण्डूष:—शीतल पदार्थों को धारण करना चाहिए।

यहाँ पर यह बात स्पष्ट करना उचित है कि इन तीन चार रोगावस्थाओं में जिन में रक्त का स्राव होना प्रधान लक्षण है जैसे दन्तवेष्ठ-सौषिप्ट-परिदर-उपकुश और दन्तवैदर्भ इन सबका समन्वय आधुनिक एक ही रोगावस्था से कर सकते हैं और वह रोगावस्था है—जिन्जिवायटिस (Gingivitis) उपर्युक्त रोगों में 'जिन्जिवायटस' रोग की भिन्न भिन्न अवस्थाओं (Stages) में पाए जाने वाले लक्षण होते हैं। यह रोग मुख की अस्वच्छता के कारण होता है और उसी से व्रण तथा विषाक्तता बढ़ जाती है।

(९) वर्धन—वायु के प्रकोप से मसूढ़े में दांत निकने लगता है जिसमें तीव्र वेदना होती है। जब यह दाँत निकल चुकता है तो वेदना अपने आप मिट जाती है।[1] इसे 'अधिदन्त' के नाम में अष्टांगहृदयकार से वर्णित किया है, अंग्रेजी में इसे एक्सट्रा टूथ (Extratooth) कहा जाता है। इसका चिकित्सा में दो बातें बताई गई हैं।[2]

(i) दाँत का निकलना
(ii) अग्निकर्म

(१०) अधिमांस—हनु के अन्तिम दाँत में तीव्र वेतना युक्त महान् शोथ उत्पन्न हो जाता है। इस अवस्था में मुख से लालास्राव होता है। यह कफ जन्य रोग है।[3]

यह एक साध्य रोग है और इसका उपचार निम्न सिद्धान्तों पर करने का विधान कहा गया है—

(i) छेदन—अधिमांस को काट देना

---

१. "मारुतेनाधिको दन्तो जायते तीव्रवेदनः।
वर्धनः स मतो व्याधिर्जाते रुक् च प्रशाम्यति॥"
२. उद्धृत्याधिकदन्तं तु ततोऽग्निमवचारयेत्।"
३. हानव्ये पश्चिमे दन्ते महाञ्छोथो महारुजः।
लालास्रावी कफकृतो विज्ञेयः सोऽधिमांसकः॥

(ii) प्रतिसारण—वच, तेजवल, पाठा, सर्जक्षार और यवक्षार से,
(iii) कवलधारण—गरम पानी में मधु पिप्पली मिलाकर,
(iv) धोने के लिए—त्रिफला-परवल और नीम का कषाय,
(v) शिरोविरेचन—
(iv) वैरेचनिक धूम्र,

इस रोग के लक्षण 'इम्पैक्टेड विस्मड टूथ से (Impected wisdom tooth) मिलते हैं।

(११) **दन्त नाड़ी**—दांत के मसूढ़ों में पाँच प्रकार की नाड़ियाँ होती हैं। यह वात-पित्त-कफ-सन्निपात एवं शल्य के द्वारा हुआ करती हैं। वास्तव में नाड़ियों की उत्पत्ति दन्तवेष्ट नामक रोग के उपद्रव स्वरूप होती हैं—उचित प्रकार से शोधन न होने से पूय की गति दांतों की जड़ों तक पहुंच कर नाड़ी रोग उत्पन्न करती है।

नाड़ी का वर्णन सुश्रुत संहिता में निदान स्थान अध्याय १० में किया है—यहां पर नाड़ी रोग की संख्या आठ बताई है—दन्तनाड़ी के पांच भेद कहे हैं। इसमें नाड़ी प्रकरण में वर्णित त्रिदोषज अवस्थाओं का नहीं गिना गया है।

नाड़ी के प्रकरण में निम्न प्रकार लक्षण वर्णित किए हैं। उन्हीं को दन्त नाड़ी के प्रकरण में स्वीकार किया गया है; अतः उनका वर्णन यहाँ कर रहे है।

(i) **वातज**—यह कठोर, सूक्ष्ममुख युक्त वेदना युक्त होती है और झाग युक्त स्राव बहती है। यह स्राव रात के समय अधिक बहता है।

(ii) **पित्तज**—इस अवस्था में प्यास, संताप, चुभने की वेदना, अंगगलानि तथा ज्वर की पीड़ा होती है और पीले रंग का उष्ण स्राव बहता है—यह स्रव दिन में अधिक बहता है।

(iii) **कफज**—इस अवस्था में मन्दवेदना, कठोरता एवं कण्डु होती है। स्राव अधिक मात्रा में होती है और वह स्राव-श्वेत तथा चिपकना होता है। यह स्राव रात्रि में अधिक होती है।

(iv) **त्रिदोषज**—इस अवस्था में दाह, ज्वर श्वास, मूर्च्छा मुख की शुष्कता पूर्वोक्त वातज-पित्तज-कफज रक्त स्राव होता हैं। यह कए भयानक अवस्था कही गई है।

---

१. दन्तमूलगता नाड्यः पञ्चमज्ञेया यथेरिताः।

(v) शल्यज—उदीरित स्थानों में किसी प्रकार से शल्य के नष्ट होने से या अनुमार्ग में घुसने पर शल्य शीघ्रता से नाड़ीव्रण उत्पन्न करता है। इस अवस्था में स्राव झागदार-मथित-निर्मल-रक्त मिश्रत-उष्ण स्राव बहता है। इसमें स्राव अकस्मात् बहता है और दर्द होता है।

दन्त नाड़ी का उचार किस प्रकार करना चाहिए, इसका वर्णन करते हुए निम्न चिकित्सा सूत्र कहे गए हैं—

(i) दन्त-उद्धरण—जिस दांत के मसूढ़े में नाड़ी बन गई हो, उसके मसूढ़ों को चारों तरफ से काट कर उस दाँत को निकाल देना चाहिए। यदि वह न निकल गया तो पूय आदि ठीक प्रकार नहीं निकल सकती, न ही नाड़ी का रोपण हो सकता है और ऐसी अवस्था में हन्वास्थि तक उपसर्ग जाने का भय रहता है।

यह बात भी स्पष्ट की गई है कि कभी भी ऊपर के हनु के दांत को न निकाला जाए। दांत को निकालने का विधान अधोहनु के लिए ही कहा गया है। यह भी स्पष्ट कहा गया है कि ऊपर के हनु के दांत को निकालने में अधिक रक्तस्राव का भय रहता है वह आंख की ज्योति को नष्ट कर सकता है। अर्दित हो सकता है।

अतः इस प्रकरण में ध्यान रहे कि यह क्रिया अधो हनु के लिए ही कही गई है।

(ii) दहन—दाँत के निकलते के पश्चात् जब यह देख लिया जाए कि शोधन हो गया है तो क्षार से अथवा अग्नि से उस स्थान पर दहन कर देना चाहिए।

(iii) प्रक्षालन—दहन के पश्चात् चमेली के पत्ते, मैनफल, खैर की छाल, छोटे गोखरू के क्वाथ से प्रक्षालन करना चाहिए।

(iv) गण्डूष—चमेली की पत्ती, धतूरे की पत्ती, गोखरू और खदिर की छाल के क्वाथ से।

(v) स्थानिक प्रयोग—उस स्थान पर जात्यादि तेल का स्थानिक प्रयोग करना चाहिए।

इस प्रकार शीताद, दन्तपुप्पुट, दन्तवेष्ट, शौषिर, महाशौषिर, परिदर, उपकुश, दन्तवैदर्भ वर्धन; अधिमांस और ५ प्रकार की दन्तनाड़ी नामक पन्द्रह दन्तमूलगत रोगों का वर्णन कर दिया है।

प्रश्नः—दन्त रोगों के कारण लक्षण चिकित्सा सहित लिखें ?

उत्तरः—आयुर्वेद में दन्त रोगों की संख्या आठ बताई हैं और वह हैं—

(i) दालन (ii) कृमिदन्तक, (iii) दन्तहर्ष.

(iv) भञ्जनक, (v) शर्करा, (vi) कपालिका,

(vii) श्याव, (viii) हनुमोक्ष.

यहां क्रमशः एक-एक का वर्णन कर रहे हैं—

(i) दालनः यह रोग वायु के कारण उत्पन्न होने वाला है। इस अवस्था में मनुष्य ऐसा अनुभव करता है कि मानों दांत फूट रहे हैं। इस अवस्था में विदीर्ण होने के समान वेदना होती है। इस अवस्था को अंग्रेजी में 'टूथएक' (Toothache) अथवा 'औडोनटोडीना, (odontodina) कहा जाता है।

सुश्रुत में इसकी चिकित्सा का वर्णन उपलब्ध नहीं, हां अष्टांग हृदय में इसे साध्य मना है और निम्न सिद्धांत पर उपचार करने को कहा है—

[i] लेखन—व्रीहीमुख से लेखन

[ii] दहनः—अत्यन्त उष्ण तैल द्वारा,

[iii] प्रतिसारणः—मधु, मोथ, अनार का छाल, त्रिकटु, फिला, लवण द्वारा,

[iv] नस्यः—अगुतैल द्वारा.

[ii] कृमिदन्तः—यह दांत रोग में वायु के कारण उत्पन्न होता है। इस अवस्था में दांत के अन्दर काला रग आ जाता है, दाँत में छिद्र बन जाता है, दांत हिलता है। दांत में से स्राव जाता है, और वह स्थान शोययुक्त होता है। इस अवस्था में दन्त में तीव्र वेदना होती है और यह वेदना बिना किसी कारण के भी शी बढ़ जाग्रती है।[२]

आधुनिक चिकित्सा विषयक ग्रन्थों में इस रोग का समन्वयक रोग 'डेन्टल कैरीज' [Dentalcaries] है। जिसका प्रधान कारण विटामिन डी और चूने की कमी बताई गई है। ऐसा माना जाता है कि इन तत्वों की

१. "दाल्यन्ते बहुधादन्ता यास्मिंस्तीव्ररुगन्वितः।
दालनः स इति ज्ञेयः सदागतिनिमित्तजः॥"

२. कृष्णछिद्री चलः स्रावी ससंरम्भो महारुजः।
अनिमित्तारुजो वाताद्वि ज्ञेयः कृमिदन्तकः॥

कमी के कारण दाँत उचित प्रकार काम नहीं कर सकते और उस अवस्था में दाँत के खात में मल सञ्चय आदि द्वारा संक्रमण का भय हो जाता है। संक्रमण हो जाने पर क्रिमि उत्पत्ति हो जाती है। इस रोग के होने से पाचन तंत्र पर भी बुरा असर पड़ता है, क्योंकि आहार के साथ यह दूषित पदार्थ भी आमाशय में जाते रहते है।

कृमिदंत की चिकित्सा बताते हुए निम्न सिद्धांत काम में लेवें—

(i) अचल अवस्था में निम्न कर्म करने को कहा गया है—

(क) विस्रावण—रक्त निकालें।

(ख) स्वेदन—विस्रावण से पूर्व करायें।

(ग) स्नेह गण्डूष—वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध स्नेहों से।

(घ) लेप—भद्रदार्वादि गण अथवा पुनर्नवा से।

(ङ) स्निग्ध भोजन।

(ii) चल दाँत का उपचार निम्न प्रकार करें—

(क) दंत उद्धरण—हिलते हुये दाँत को निकाल देवें।

(ख) दहन—खोखले स्थान को जला देवें।

(ग) नस्य—विदारी, मुलहठी, सिंघाड़ा, केसरू इनके द्वारा तैल को दस गुणा दूध में सिद्ध कर नस्य मे बरतें।[1]

आधुनिक चिकित्सक इस रोग की अवस्था में इस रोग के मूल कारण को दूर करने के लिए विटामिन 'डी' और 'कैलसियम' का प्रयोग कराते है। इस अवस्था में तत्काल पीड़ा शामक उपचार करते हैं और एतर्श लौंग का तैल, दालचीनी का तैल, पीपरमेंट, अलकोहल, क्लोरोफार्म आदि द्रव्यो का स्थानिक प्रयोग करते हैं। कृमि वाले दाँत को साफ कर उस गढ़े को 'क्रिया-जोट' के लोशन से जला दिया जाता है।

---

१. "जयाद्विस्रावणैः स्विन्नमचलं कृमिदन्तकम्।
तथाऽवपीडैर्वातघ्नैः स्नेहगण्डूषधारणः॥
भद्रदार्वादिवर्षाभूलेपैः स्निग्धैश्च भोजनैः।
चलमुद्धृत्य च स्थानं विदहेत् सुषिरस्य च॥
ततो विदारी यष्ट्याह्वश्रृंगाटक कसेरूकैः।
तैलं दशगुणे क्षीरे सिद्धं नस्ये हितंभवेत्॥"

(iii) दन्तहर्ष—यह भी वायु के विकार स्वरूप उत्पन्न रोग है। इस रोग में दांत शीत अथवा उष्ण वस्तु के स्पर्श को सहन नहीं कर सकते।[१]

इस अवस्था के लक्षण आधुनिक चिकित्सा शास्त्रों में वर्णित दन्तशोथ (Odontitis) नामक रोग से समानता रखते हैं।

दंतहर्ष की चिकित्सा निम्न प्रकार कही गई है।[२]

(i) कवल धारणा—चतुर्विध स्नेहों (घृत-तैल-वसा-मज्जा) को किञ्चिदुष्ण करके।

(ii) गण्डूष—वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ से।

(iii) स्नैहिक धूम्र।

(iv) स्नैहिक नस्य।

(v) स्निग्ध भोजन—मांस, रस, यूष, यवागू, दूध, मलाई, घृत आदि।

(vi) शिरोवस्ति।

(iv) भञ्जक—यह रोग कफ एवं वायु के विकृत होने पर उत्पन्न होता है। इस अवस्था में मुख टेढ़ा हो जाता है, दांत टूट जाते हैं, तीव्र वेदना होती है।[3]

भञ्जनक रोग नामक सुश्रुतोक्त अवस्था के जैसी अवस्था आचार्य वाग्भट ने 'दंतभेद' के नाम से वर्णित की है।

इस रोग को असाध्य कहा गया है और इसी से सुश्रुत संहिता में इसकी चिकित्सा का वर्णन नहीं उपलब्ध होता। लाक्षणिक चिकित्सा कर सकते हैं और एतदर्थ हनुप्रदेश में नारायण तैल का अभ्यंग एवं स्वेदन हितकारक है तैलपान एवं बस्ति भी दे सकते हैं।

१. 'शीतमुष्णं च दशनाः सहन्ते स्पर्शनं न च।
यस्य तं दन्तहर्षं तु व्याधिं विद्यात् समीरणात्।'

२. "स्नेहानां कवलाः कोष्णाः सर्पिस्त्रैवृतस्व वा।
निर्यहाश्चानिलघ्नानां दन्तहर्ष प्रमर्दनाः।
स्नैहिकश्च हितो धूमो नस्यं स्निग्धस्य भोजनम्।
रसो रस यवाग्वश्च क्षीरं सन्तानिकाघृतम्।
शिरोवस्तिर्हितपूचापि क्रमो यश्चानिलापहः॥"

३. "वक्त्रं वक्रं भवेद्यस्मिन् दन्तभंगश्च तीव्ररुक्।
कफवातकृतो व्याधिः य भञ्जनक संज्ञितः॥"

(v) दन्तशर्करा—जिन दाँतों में शर्करा के समान मल जम जाता है—उसे दंतशर्करा कहते हैं । इस अवस्था में दांतों के शुक्लता आदि गुणों का नाश हो जाता है ।[1] यह कफ एवं वायु के द्वारा उत्पन्न विकार है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के ग्रंथों में इस अवस्था को टारटर(Tartar) के नाम से वर्णित किया गया है । वहाँ बताया गया है कि यह दाँतों की उचित प्रकार की सफाई न रखने के कारण उत्पन्न अवस्था है । इसमें दाँतों के बीच में मल संग्रह होता रहता है और कठोर बन जाता है । प्रायः कर इसके निर्माण में खनिज पदार्थ जैसे कैलशियम और फास्फेट मदद देते हैं ।

इसकी चिकित्सा बताते हुये सुश्रुत संहिता में कहा गया है कि[2]—

(i) शर्कर उद्धरण—मसूढ़ों को हानि पहुंचाये बिना शर्करा को खुरचा जाय ।

(ii) प्रतिसारण—मधु एवं लाक्षा द्वारा दांतों पर प्रतिसारण।

(iii) दन्तहर्षवत उपचार—जिसका वर्णन हम पीछे कर आये हैं।

आधुनिक दन्त विशेषज्ञ (Dental Surgeon) दन्तशंकु नामक (Tooth Scaler) एक शस्त्र द्वारा उस शर्करा को लेखन करके इस रोग की चिकित्सा करते हैं।

(vi) कपालिका—इस रोग में दांतों का वल्कल (ऊपर की श्वेत त्वचा) शर्करा के साथ विदीर्ण हो जाती है।[3] यह उस अवस्था में होता है जबकि मुख को शुद्ध न रखा जाये । दांतों का वल्कल (Enamel) जिसका वर्णन हम दांतों की रचना के प्रकरण में पीछे कर आये हैं, शरीर में एक बहुत कठिन चीज है। अशुद्ध मुख के कारण शर्कर बन जाने पर शर्करा के साथ ही साथ यह भी विदीर्ण होकर टूटने लगती है।

---

१. "शर्करेव स्थिरीभूतो मलो दन्तेषु यस्य वै ।
सा दन्तानां गुणहरी विज्ञेया दन्तशर्करा ॥"

२. "अहिंसन् दन्तमूलानि शर्करामुद्धरेद् भिषक् ।
लाक्षा चूर्णैर्मधुयुक्तैस्ततस्ताः प्रतिसारयेत् ।
दन्तहर्षे क्रियां चापि कुर्यान्निरवशेषतः ॥"

३. "दलन्ति दन्तवल्कानि यदा शर्करया सह ।
ज्ञेया कपालिका सैव दशनानां विनाशिनी ॥"

इसके नष्ट होने का अर्थ है दांतों का नाश । और इसीलिए इसी रोग को कष्ट साध्य रोग कहा गया है—इसीलिए इसका उपचार बताते समय शर्करा रोग के समान उपचार करने का विधान बताया है ।[1]

(vii) श्यावदन्तक—रक्त मिश्रित पित्त से दांत पूर्ण रूप से जल जाता है। इस अवस्था में दांत का रंग काला या नीला हो जाता है ।[2] अष्टांग संग्रह में इस रोग का उत्पादक कारण रक्तमिश्रित पित्त न कहकर वायु को कहा गया है।

यह एक असाध्य रोग है जिसकी चिकित्सा का विधान आयुर्वेद के ग्रन्थों में वर्णित नहीं किया गया। साधारण चिकित्सा जो मुख रोगों के लिए कही गई है—का अवस्थानुसार प्रयोग कर सकते हैं । मुख रोगों की साधारण चिकित्सा पीछे लिख आये हैं।

(viii) हनुमोक्ष—ऊंचे बोलने से, कठिन पदार्थ के भक्षण से, जृम्भा आदि कारणों से वायु कुपित होकर हनुसंधि को शिथिल कर देती है । इस रोग में अर्दित के समान लक्षण होते हैं ।[3]

हनुमोक्ष को दन्त रोगों में गिनने का कारण यह है कि दांतों का आश्रय हनु हैं। जब आश्रय में विकार आयेगा तो आश्रित प्रभावित होंगे ।

अर्दित के लक्षण बताते हुये कहा गया है कि चेहरे का आधा भाग टेढ़ा हो जाता है, ग्रीवा भी टेढ़ी हो जाती है, सिर हिलता है, वाणी नहीं उठती नेत्र-भ्रू-गण्ड आदि विकृत हो जाते हैं । जिस पार्श्व में अर्दित होता है—उस ओर की ग्रीवा, हनु और दांतों में वेदना होती है ।

हनु-मोक्ष की चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि इस रोग में अर्दित के समान चिकित्सा करे ।[4] अर्दित की चिकित्सा का विधान बताते हुए कहा गया है कि बलवान, जितेन्द्रिय, साधन सम्पन्न अर्दित रोगी का उपचार वातनाशक

---

१. "कपालिका कृच्छ्रतमा तत्राप्येषा (शर्करोक्ता) क्रियाहिता ।"

२. "योऽसृङमिश्रेण पित्तेन दग्धो दन्तस्त्वशेषतः ।
श्यावतां नीलतां वाऽपि गतः स श्यावदन्तकः ।।"

३. "वातेन तैस्तैर्भावैस्तु हनुसन्धिर्विसंहतः ।
हनुमोक्ष इति ज्ञेयो व्याधिरर्दित लक्षणः ।।"

४. "हनुमोक्षे समुद्दिष्टां कुर्याच्चार्दितवत् क्रियाम् ।"

द्रव्यों से करना चाहिए। विशेषकर मस्तिष्क के लिए हितकारक शिरोवास्ते, नस्य, धूम, उपनाह, स्नेहन एवं नाड़ी स्वेदन आदि से चिकित्सा करनी चाहिए। अर्दित में पान-अभ्यंग आदि के लिए इसी प्रकरण में सुश्रुत ने क्षीर तैल का वर्णन किया है। उसका प्रयोग हनुमोक्ष में भी करा सकते हैं। अन्य क्रियाएं भी हनुमोक्ष में प्रयोजनीय समझनी चाहिए।

दन्त रोगों के विषय में यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि सुश्रुतोक्त इन आठ रोगों के अतिरिक्त अष्टांगकार ने तीन रोग और कहे हैं—

(क) **करताल**—दांतों का विकट और बड़े आकार का होना (असाध्य)

(ख) **दन्त चालन**—दांतों का हिलना; उपचार में दांत निकालना।

(ग) **दन्त भेद**—सूई चुभने के समान वेदना वातघ्न उपचार।

इन तीन रोगों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

सुश्रुत संहिता में दन्त रोगों की चिकित्सा के अतिरिक्त पथ्य पर भी विचार किया गया है और वहां पर लिखा है कि दन्त रोगी खट्टे फल, शीतल पानी, रूक्ष अन्न, दातुन, अतिकठिन भक्ष्यों का सेवन छोड़ देवे।[1]

सामान्यतः सभी दन्त रोगों में वातघ्न उपचार लाभ करता है किञ्चदुष्ण तैल का कवल धारण आदि लाभ करता है।[2]

दांतों के रोगों के लिए विविधि प्रकार के मंजन लाभकारक होते हैं।

प्रश्न—जिह्वागत रोगों का वर्णन कीजिए ?

उत्तर—सुश्रुताचार्य ने पांच रोगों का वर्णन जिह्वागत रोगों के प्रकरण में किया है—वह निम्न हैं—

१. वातज कण्टक २. पित्तज कण्टक ३. कफज कण्टक ४. अलास ५. उपजिह्विका।

१. **वातज कण्टक:**—इस अवस्था में जिह्वा ईषद विदीर्ण, प्रसुप्त एवं शाक पत्र के समान होती है। यह वायु के कारण उत्पन्न रोग है।[3]

---

१. "फलान्यम्लानि शीताम्बु रूक्षान्नं दन्तधावनम्।
तथाऽतिकठिनान् भक्ष्यान् दन्त रोगी विवर्जयेत्॥"

२. दन्तरोगेषु सर्वेषु शस्तोवातहरो विधिः।
पक्वं तैलं कवोष्णाणं च शस्तं कवल धारणे॥

३. "जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता
भवेच्च शाकच्छदन प्रकाशा।"

२. पित्तज कण्टक—पित्त के प्रकोप से जिह्वा का रंग पीला हो जाता है और जलती हुई सी अनुभव होती है। इस अवस्था में जीभ पर लाल-लाल कांटे उत्पन्न हो जाते हैं।[1]

३. कफज कण्टक—कफ के प्रकोप के कारण जिह्वा भारी, स्थूल एवं सिम्बल के कांटों के समान मांसांकुरों से व्याप्त हो जाती है।[2]

आधुनिक चिकित्सा ग्रन्थों में कण्टक रोग की अवस्था का समन्वय हम जिह्वा शोथ से कर सकते हैं। इन ग्रन्थों में जिह्वा शोथ के दो प्रकार बताऐ है—

[i] तीव्र [Acute]

[ii] जीर्ण [Chronic]

तीव्र के पुनः दो उपविभाग किए है—

[क] तीव्र उपरितन प्रकार [Acute Superficial type]

[ख] तीव्राभिघातज प्रकार [Acute paranchymatous type]

तीव्र उपरितन प्रकार मुखपाक की अवस्था में उत्पन्न होता है।

तीव्र अभिघातज प्रकार अधिकतर दुष्टव्रण, गहरे अभिघात, दंत एवं पारद सेवन आदि कारणों से होता है। यह मालाकारपूयजनक कीटाणु (Streptococcus Pyogenes) के संक्रमण के कारण होता है। इस अवस्था में जिह्वा पीड़ायुक्त फूली हुई होती है और मुख के बाहर निकलती रहती है। लाल स्राव अधिक होता है। इससे बोलने-निगलने एवं श्वासोच्छ्वास में कठिनता पड़ती है।

जीर्ण जिह्वा शोथ प्रायः फिरंग की तृतीयावस्था में, उपसर्ग से, धूम्रपान की अधिकता से, तीव्र मद्य से अधिक चटपटे पदार्थ खाने से उत्पन्न होने वाली रोगावस्था है। यह बड़ी आयु वालों को होता है। इस अवस्था मे वेदना, बोलने की क्षमता और स्वाद ज्ञान का अभाव होता है। इस अवस्था में जिह्वा पर शोथ, व्रण, दरार आदि पाये जाते हैं, अन्तिम अवस्था घातकअर्बुद भी हो सकते है।

---

१. "पित्तेन पीता परिदह्यते च चिता सरक्तैरपि कण्टकैश्च ॥"

२. "कफेन गुर्वी बहला चिता च मांसोद्गमैः शाल्मलि कण्टकाभैः।"

कण्टक की चिकित्सा में निम्न सिद्धांत याद रखने चाहिए;

(i) शोणितमोक्षण—लेखन करके।

(ii) कवलधारण—गिलोय, पीपल, नीक और कुटकी के क्वाथ द्वारा

(iii) प्रतिसारण—वाजत में बाह्य तैलों से।

पित्तज में काकोल्याणदि गण के द्रव्यों से।

कफज पिप्पलाद्यगण की औषधियों से।

(iv) गडूष—वाजतण्डू पित्ताज में प्रतिसारणीय पदार्थों को ही (उपर्युक्त) ग्रहण करना चाहिए। कफज अवस्था में योगटलाकार में कचनार की छाल व खदिर का क्वाथ का प्रयोग गण्डूप के लिए कहा गया है।

(v) नस्य—

जिह्वाशोथ की चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि जिह्वा पर सब प्रकार के क्षोभक कारणों को दूर करना चाहिए। शोधन एवं रोपण क्रियाएं करनी चाहिए। इस अवस्था में आधुनिक चिकित्सक कई प्रकार के लेपों का प्रयोग भी करते हैं।

(४) अलास—यह जिह्वा के नीचे उत्पन्न होने वाला कफरक्तजन्य गम्भीर शोथ है, जिह्वा जड़ हो जाती है और बाद में वह स्थान पाक को प्राप्त हो जाता है।[१]

चाहे, सुश्रुत से इस रोग को कफ और रक्तजन्य माना है तो भी ध्यान रहे कि जड़ता करने वाला वायु और पाक करने वाला पित्त भी ग्रहण करना होगा। अतः इसे एक सन्निपात विकार माना जाएगा। सुश्रुत ने इसे असाध्य कहा है।

इस विषय में अष्टांग हृदय में इसके दो विशेष लक्षण कहने के हैं—वे हैं।

(i) मांस शातन—मांस को नष्ट करने वाला।

---

१. जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढ़ः सोऽलास संज्ञःकफरक्त मूर्तिः।
जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो मूलेतु जिह्वा भृशमेतिपाकम्॥

(ii) मत्स्यगन्धि—मछली सदृश गन्ध के स्राव वाला, यह दोनों बातें भी इसकी गम्भीरता के बोधक हैं। सम्भवः है यह घातअर्बुद की तरह की रोगावस्था है।

(५) उपजिह्वा—कफ और रक्त के विकार से उत्पन्न होने वाला जिह्वाग्र के रूप का एक शोथ जीभ के नीचे होता है, इसमें जीभ ऊपर को उठी रहती है। इस अवस्था में रोगी को प्रसेक, खुजली और दाह होता है।[1]

इन लक्षणों से युक्त एक रोग का वर्णन आधुनिक चिकित्सा ग्रन्थों में मिलता है जिसे रेनुला (Ranula) कहा जाता है। इस अवस्था में शोथ का कारण जिह्वागत लासिकावाहिनियों का अवरोध होना माना गया है इसे ही 'उपजिह्वा' का पर्याय मानना चाहिए।

इसकी चिकित्सा में निम्न सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है—

(i) लेखन (ii) प्रतिसारण—क्षारद्वारा (iii) शिरोविरेचन (iv) गण्डूप (v) धूम।

'रैनुला' नामक रोग की चिकित्सा करते समय आज के चिकित्सक दो सिद्धान्त बरतते हैं—

(i) शस्त्र कर्म—ग्रन्थि का अशेष निर्मूलन।

(ii) दाहकर्म—(Diathermy) यदि कुछ रह भी जाए तो उस स्थान का दहन करना।

प्रश्न—तालु-गत रोग कितने हैं ? उनके विषय में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर—सुश्रुत संहिता में तालुगत रोगों की संख्या नौ बताई है, वे निम्न प्रकार हैं—

(१) गलशुण्डिका। (२) तुण्डिकेरी। (३) अध्रुप। (४) मांसकच्छप।

---

१. जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वा, मुन्नम्य जातः कफरक्तयानि।
प्रसेककण्डू परिदाहयुक्ता, प्रकथ्यतेऽसावुपजिह्विकेति॥"
"उपजिह्वां तु संलिख्य क्षारेण प्रतिसारयेत्।
"शिरोविरेक गण्डूप धूमैश्चैनमुपाचरेत्॥"

(५) अर्बुद । (६) मांसघात । (७) तालुपुप्पट । (८) तालुशोष । (९) तालु-याक ।

हम यहाँ एक-एक का क्रमशः वर्णन करते हैं ।

(१) **गलशुण्डिका**—यह कफ एवं रक्त के कारण उत्पन्न होने वाला रोग है—जिसमें तालुमूल में दीर्घ, भारी वातपूर्ण वस्ति के समान फूली हुई शोथ उत्पन्न होती है । इसमें तृष्णा-कास-श्वास आदि लक्षण होते हैं । इस रोग को 'कण्ठ शुण्डी' भी कहा जाता है ।[1]

यह अवस्था पुरानी खाँसी या शुष्क कास में अधिक पाई जाती है । साधारण भाषा में इसे काग गिरना कहा जाता है । अंग्रेजी में इसे 'एलोंगेटिड वल्वा' (Elongated vulva) कहा जाता है । यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस अवस्था में शुष्क कास होती है । कई बार खाँसते-खाँसते वमन हो जाती है ।

गलशुण्डिका की चिकित्सा का विधान निम्न प्रकार कहा गया है ।[2]

"जिह्वा के ऊपर स्थित गलशुण्डिका को अंगूठा और अंगुली के संदंश से खींचकर मंडलाग्र से काट देवें । न तो वहुत अधिक काटें न ही कम अपितु एक तिहाई भाग को ही काटना चाहिये । अधिक कट जाने से अधिक रक्त का स्राव होने से रोगी मर जाता है और थोड़ा काटने से शोथ, लालास्राव, निद्रा, भ्रम और अन्धकार होता है । इसलिए शल्यकर्म के ज्ञाता कुशल वैद्य साव-धानी से गलकुण्डी को काटें ।

गलकुण्डी के काटने के पश्चात् मिर्च, अतीस, पाठा, वच, कूठ श्योनांक इनको चूर्ण कर मधु में मिलाकर प्रतिसारण करना चाहिए ।

वच, अतसी, पाठा, रास्ना, कुटकी, नीम के क्वाथ से कवल धारण करायें ।

इंगुदी, चिरचिटा, दन्ती, त्रिवृत, देवदारू इन पांच द्रव्यों को पीसकर

---

१. श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूलाद् प्रवृद्धो, दीर्घः शोफो ध्मात वास्ते प्रकाशः ।
तृष्णा श्वास कासकृत संप्रदिष्टो, व्याधिर्वैद्यैः कण्ठशुण्डीति नाम्नः ॥

२. सुश्रुत संहिता से अविकल ग्रहण किया है ।

प्रचुर गंध द्रव्य मिलाकर वर्ति बनावें । इस वर्ति का धूम दिन में दो बार कफ नाश के लिए पान किया जाये ।

यवक्षार से सिद्ध किये गये मूंगों का यूष भोजनार्थ ग्रहण करना चाहिए ।

(२) तुण्डिकेरी—वन कपास के फल के समान शोथ को तुण्डिकेरी कहा जाता है । इसके उत्पादक कारण भी गलशुण्डिका के समान पूर्वोक्त कफ-रक्त ही कहे गये हैं ।[१]

इस रोग का वर्णन वाग्भट्ट ने कंठगत रोगों के प्रकरण में किया है । इसके लक्षणों को देखा जाये तो इसे 'एन्लार्ज्ड टॉंसिल' (Enlarged Tonsil) कह सकते हैं ।

इसकी चिकित्सा का विधान गलशुण्डिका के समान है ।

(३) अध्रुष—रक्त के कारण तालु प्रदेश में लाल वर्ण का एवं जड़ शोथ उत्पन्न हो जाता है, इसको अध्रुष कहा जाता है । इसमें वेदना तथा ज्वर रहता है ।[२]

यह अवस्था तालु शोथ (Palatitis) से मिलने वाली है । इसकी चिकित्सा बताते हुये गलशुण्डिका के समान उपचार करने को कहा है ।

(४) मांस कच्छप—यह कफ के कारण उत्पन्न होने वाली व्याधि है, जिसमें कछुए के समान बीच में से उठा हुआ शोथ होता है । यह शोथ वेदना रहित होता है, पाण्डुवर्णी एवं धीरे-धीरे फैलने वाला होता है ।[३]

इसका समन्वय 'एडिनोमा' नामक रोग से किया जा सकता है । इस रोग में भी 'गलशुण्डिका' के समान उपचार करने का विधान कहा गया है ।

(५) अर्बुद—रक्त के कारण से तालु के मध्य में पद्मकर्णिका के समान आकार वाला शोथ उत्पन्न होता है । इसके लक्षण रक्तार्बुद के समान

---

१. 'शोफः स्थूलस्तोददाहप्रपाकी प्रागुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मतातु ।"
२. "शोफः स्तब्धो लोहितस्तालु देशेरक्ताज्ज्ञेयः सोऽध्रुषो रुग्ज्वराढ्यः ॥"
३. "कूर्मोत्सन्नोऽवेदनोऽशीघ्रजन्मा ऽरक्तो ज्ञेयः कच्छपः श्लेष्मणस्यात् ॥"

होते हैं ।[1]

इस रोग को असाध्य कहा गया है । इसका समन्वय कैंसर से किया जा सकता है । इसे 'सारकोमा' अथवा 'एपिथिलियोमा' भी कह सकते हैं ।

मांस घात—तालु के अन्दर का माँस कफ के कारण दूषित हो जाता है—इसमें वेदना नहीं होती, इसको माँसघात कहते हैं ।[2]

इसकी समानता फाइब्रोमा (Fibroma) से की जा सकती है । इसकी चिकित्सा भी गलशुण्डिका के समान बताई है ।

(७) तालुपुप्पुटक—मेदो मिश्रित कफ के कारण से तालु प्रदेश में वेदना रहित, स्थायी एवं कोलमात्र शोथ उत्पन्न होता है उसे तालुपुप्पुट कहा जाता है ।[3]

यह एक प्रकार की ग्रन्थिक शोथ है जिसकी तुलना आधुनिक रोग Euplis से की जा सकती है ।

सुश्रुत ने सूत्रस्थान के वर्गीकरण में इस रोग को भेद्य रोगों में बतलाया है । किन्तु चिकित्सा स्थान में तुण्डीकेरी, अध्रुष, कच्छप, मांसाघात के समान ही तालुपुप्पुट की चिकित्सा 'गलशुण्डिकावत्' करने को कहा गया है ।[4]

(८) तालुशोष—यह एक वातज व्याधि है जिसमें तालु का शुष्क होना, दरार युक्त होना कहा जाता है । इस अवस्था में श्वास भी उग्र रूप से चलता है ।[5]

इसका समन्वय 'क्लैफ्ट-पैलेट' से कर सकते हैं । रक्त पुष्टी एवं विषमता में भी तालुशोष एक लक्षण रूप में रहा करता है ।

तालुशोष की चिकित्सा में निम्न तीन बातें ध्यान रखें ।[6]

---

१. "पद्माकारं तालु मध्ये तु शोफं विद्याद्रक्तादर्बुदं प्रोक्तलिंगम् ।"

२. "दुष्टं मांसं श्लेष्मण नीरुज च तालवन्तःस्थं मांस संघातमाहुः ।"

३. नीरुक् स्थायी कोलमात्रः कफात् स्यात् मेदोयुक्तात् पुप्पुटस्तालु देशे ।।"

४. तुण्डिकेर्यं ध्रुषेकूर्मे संघाते तालुपुप्पुटे ।
एस एव विधिः कार्यो विशेषः शस्त्रकर्मणि ।।'

५. शोषोऽत्यर्थं दीर्यते चापि तालुः श्वासो वातात्तालुशोषः सपित्तात् ।

६. "स्नेह स्वेदौ तालुशोषे विधिश्चानिलनाशनः ।"

(i) स्नेहन. (अभ्यंग)

(ii) स्वेदन.

(iii) वातनाशक चिकित्सा ।

(६) तालुपाक—जिस समय पित्त तालु में अतिभयानक पाक उत्पन्न करता है—उसे तालुपाक कहा गया है ।[1]

यह तालु के व्रण होने की अवस्था है जिसे 'अल्सरेशन आफ दी पैलेट' कहा जाता है । आधुनिक वैज्ञानिकों ने यह कई प्रकार का बताया है ।

इसकी चिकित्सा पित्तनाशक विधान पर करनी चाहिए ।[2]

प्रश्न—कंठगत रोगों के कारण, लक्षण एवं चिकित्सा लिखिए ?

उत्तर—सुश्रुत संहिता में सत्रह कंठगत रोगों का वर्णन किया है । उनमें पाँच प्रकार की 'रोहिणी' कही गई हैं, इसके अतिरिक्त रोग निम्न हैं, रोहिणी का वर्णन आगे करेंगे ।

१. कण्ठशालूक, २. अधिजिह्वा, ३. वलय,

४. वलास, ५. एकवृंद, ६. वृंद,

७. शतघ्नी, ८. गिलायु, ९. गलविद्रधि.

१०. गलौध, ११. स्वरघ्न, १२. मांसतान.

१३. विदारी.

कण्ठशालूक—गले में कफ के कारण बेर के बराबर जो ग्रन्थि उत्पन्न होती है और कण्टक की भाँति पीड़ा कारक होती है, स्पर्श में खट एवं निश्चल होती है । यह रोग शस्त्र द्वारा साध्य है, इसको कंठशालूक कहते हैं ।[3]

इन लक्षणों से मिलने वाले लक्षण आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में वर्णित एक रोग विशेष से मिलते हैं जिसे 'एडिनायड्ज' कहा जाता है ।

इस रोग की व्याख्या पाश्चात्य वैद्यक में निम्न प्रकार की है—

"नासा ग्रसनिका (Naso pharynx) के लसिकाभ धातुओं (Lymphoid tissue) के जीर्ण (Chronic) वृद्धि को कण्ठशालूक (Adenoids) कहते

---

१. "पित्तं कुर्यात् पाकमत्यर्थघोरं तालुन्येनं तालुपाकं वदन्ति ।"

२. "तालुपाकं तु कर्तव्यं विधानं पित्तनाशनं ।"

३. "कोलास्थिमात्रः कफसंभवो यो: ग्रन्थिगले कण्टकशूलभूतः ।
खरः स्थिरः शस्त्रनिपात साध्यस्तं कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति ॥

हैं। इस रोग के कारणों में बार-बार प्रति श्याम का होना, रोमान्तिका, रोहणी आदि विशेष कारण हैं। इस अवस्था में श्वास लेने में कठिनता पैदा होती है। छाती की आकृति बदल जाती है। कान एवं नेत्रों में भी इसके द्वारा रोग उत्पन्न हो जाते हैं। मन्द ज्वर एवं कास रहता है। यह रोग प्रायः बालकों को उत्पन्न होता है।

आयुर्वेद में कण्ठशालूक की चिकित्सा शस्त्र द्वारा बताई गई है। कहा गया है कि इस अवस्था में रक्तमोक्षण करना चाहिए फिर तुण्डीकेरी के समान चिकित्सा करनी चाहिए। जौ के स्निग्ध भोजन को थोड़ी मात्रा में एक समय खाना चाहिए।[1]

तुण्डकेरी की चिकित्सा हम पीछे लिख चुके हैं।

आधुनिक चिकित्सा विधान में लवण जल के कवल करने का विधान बताया गया गया है। इसी के द्वारा परिषेक करें अथवा ड्रायर द्वारा नाक में डालें। जब यह बहुत बढ़ जाए तो इनके छेदन (Excision) का विधान बताया गया है। इनको निकालते समय ध्यान रखना चाहिए कि इसका अंश शेष न रहे वर्ना उससे रक्तस्राव का भय रहता है।

अधिजिह्वा—रक्त मिश्रित कफ के कारण जिह्वा के अग्रभाग के सामने शोथ जिह्वामूल के ऊपर उत्पन्न हो जाता है। इसे अधिजिह्वा कहते हैं। यदि यह पक जाए तो इसको असाध्य समझना चाहिए।[2]

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इसका समन्वय एपीग्लाटाइटिस (Fpiglo-titis) से कर सकते हैं। इस अवस्था में पाक होने पर संक्रमण के प्रसार का अधिक भय रहता है—इसीलिए उस अवस्था में उपचार न करने को कहा गया है।

अधिजिह्वा की चिकित्सा उपजिह्वा के समान करने को कहा गया है।[3] उसका विधान हम पीछे लिख आए है।

---

१. "विलाव्य कण्ठशालूकं साधयेत्तुण्डिकेरीवत्।"

२. "जिह्वाग्ररूपः श्वयथुः कफात्तु जिह्वाप्रबन्धोपरि रक्तमिश्रात्।
ज्ञेयोऽधिजिह्वा खलु रोग एष विवर्जयेदागतपाकमेनम्॥"

३. "उपजिह्वकवच्चापि साधयेदधिजिह्विकाम्।"

वलय—कफ अन्न मार्ग को रोककर आयात और उन्नत शोथ उत्पन्न करता है। यह रोग सर्वथा ही असाध्य है। इस अवस्था का उपचार नहीं करना चाहिए।[१]

वलास—प्रकुपित कफ और वायु गले में शोथ उत्पन्न करते हैं। इससे श्वास में कठिनता होती है। यह रोग प्राणनाशक होता है। इस अवस्था की चिकित्सा कष्टसाध्य कही गई है।[२]

एकवृन्द—कफ और रक्त के कारण से गोल, उन्नत, दाहयुक्त, कण्डुयुक्त पाकरहित, कठोर एवं भारी शोथ को एकवृन्द कहा जाता है।[३]

इसकी चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि इस अवस्था में रक्तविस्रावण एवं शोधन कराना चाहिए।[४]

वृन्द—पित्त और रक्त के प्रकोप से ऊपर को उठा, गोलाकार, तीव्रदाह, तीव्र ज्वर युक्त शोथ होता है। यदि इस अवस्था में तोद हो तो इसे वात रक्त-जन्य समझना चाहिए।[५]

इसका उचार भी एक एकवृन्द के एक समान करना चाहिए।

शतघ्नी—जो गांठ कठोर, गले को रोकने वाली, माँसांकुरों से बहुत अधिक व्याप्त होती है, एवं त्रिदोषजन्य होने से तोद-दाह कण्डु-नाना प्रकार को वेदनाकारी तथा शतघ्नी के समान होती है—इसको शतघ्नी कहते हैं। यह एक असाध्य रोग है।[६]

---

१. "बलास एवामतमुन्नतंच शोफं करोत्यन्नगतिं निवार्य।
तं सर्वथैवा प्रतिवारवीर्य विवर्जनी वलयं वदन्ति॥"

२. गले तु शोफं कुरुते प्रवृद्धो श्लेष्मानिलो श्वासरूजोयपन्नम्।
मर्माच्छदं दुस्तरमेतद् हुं बलास—सश्रं निगुण विकारम्।"

३. वृत्तोन्नतो यः श्वयथु सदाहः। कण्डवन्वितोऽपाक्यमृदुर्गुरूश्च॥
नाम्नैकवृन्दः परिकीर्तितोऽसौ व्याधिर्वलासक्षतज प्रसूतः।"

४. 'एकवृन्दं तु विस्राव्य विधि शोधनमाचरेत्॥"

५. 'समुन्नतं वृत्तममन्ददाहं तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति।
तं चापि पित्तक्षतजप्रकोपा—द्विद्यात्सतोदं पवनात्रजतु॥"

६. 'वर्तिघना कण्ठनिरोधिनी या चिताऽतिमात्रं पिशितप्ररोह।
नानारूजोच्छायकरी त्रिदोषज ज्ञेया शतघ्नीव शतघ्न्यसाध्या॥"

गिलायु—कफ रक्त के कारण गले में आँवले के समान बड़ी, स्थिर, मन्द वेदनायुक्त ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि गले में भोजन अटक रहा है। यह रोग शस्त्र द्वारा साध्य है।[1]

गलविद्रधि—सम्पूर्ण गले में शोथ व्याप्त होता है; इस शोथ में वातादि सब दोषों की पीड़ाएं होती है; यह सन्निपातज विकार है। इसके लक्षण सन्निपातजन्य विद्रधि के समान होते हैं।[2]

इस अवस्था का समवन्य Pharyngeal abcess से कर सकते हैं। गल-विद्रधि को चिकित्सा का विधान निम्न प्रकार कहा गया है—

यदि मर्मस्थान में इस विद्रधि का अवस्थान नहीं हो एवं विद्रधि पक्व हो तो भेदन करके पूयः का निर्हरण करना चाहिए। इसके पश्चात् शोधन एवं रोपण करना चाहिए।

गलौघ—कफ एवं रक्त के कारण से गले में महान शोथ उत्पन्न हो जाता है। इस शोथ के कारण अन्न-जल का मार्ग रुक जाता है वायु की गति भी बन्द हो जाती है। रोगी को तीव्र ज्वर रहता है इसके रोग को गलौघ कहते है।[4] इसे असाध्य कहा गया है।

स्वरघ्न—अनिलायन में कफ भर जाने से रोगी अत्यन्त कठिनाई के साथ निरन्तर श्वास लेता है। स्वर भिन्न हो जाता है, गला शुष्क और टूटता हुआ प्रतीत होता है। यह रोग वायु के कारण उत्पन्न हुआ होता है।[5] यह असाध्य रोग है।

मांसतान—जो शोथ फैलने वाला, कष्टदायक होता है। यह धीरे-धीरे

---

१. ग्रन्थिर्गले त्वामलकास्थिमात्रः स्थिरोऽल्परुक स्यात् कफरक्तमूर्तिः।
संलक्ष्यते सक्तमिवाशनं च स शस्त्रसाध्यस्तु गिलायु संज्ञः॥"

२. 'सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः शोफो रुजो यत्र च सन्ति सर्गा।
सर्वदोषो गलविद्रधिस्तु तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजस्य॥"

३. "अमर्मस्थं सुपक्वं च भेदयेद् गलविद्रधिम्।"

४. "शोफो महानन्नजलावरोधी तीव्र ज्वरो वातगतेर्निहन्ता।
कफेन जातो रुधिरान्वितेन गले गलौघः परिकीर्त्यतेऽसौ।"

५. "योऽतिप्रताम्यन् श्वसिति प्रसक्तं भिन्न स्वरः शुष्कविमुक्तकण्ठः।
कफोपदिग्धेष्वनिलायनेषु ज्ञेयः स रोगः श्वसनात् स्वरघ्न॥"

बढ़कर क्रमश: गले को बन्द कर देता है और नीचे की तरफ लटकता है, उस को मांसतान कहते हैं—यह सन्निपातज असाध्य विकार है।[1]

विदारी—पित्त प्रकोप से गले के भीतरी भाग में दाह और सुई चुभने की सी पीड़ा होती है। गले में रक्त वर्ण की सूजन छा जाती है। क्रमश: शोथ स्थान का मांस गल जाता है और उसमें दुर्गन्ध आने लगती है। इसे भी असाध्य कहा गया है। ऐसा कहा गया है कि मनुष्य जिस ओर की करवट लेकर सोता है, उस तरफ ही यह रोग हो जाता है।[2]

इस प्रकार गले के रोगों का वर्णन किया गया है। रोहिणी का वर्णन अब करेंगे।

प्रश्न—रोहिणी किसे कहते हैं ? कितने भेद हैं ? लक्षण तथा चिकित्सा लिखिए ?

उत्तर—वात, पित्त, कफ, रक्त दोष पृथक-पृथक अथवा सभी मिलकर गले में वर्द्धित होकर वहाँ के मांस को दूषित करके गले को रुद्ध करने वाले मांसांकुरों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार गले एवं श्वास का अवरोध करके प्राण को नष्ट करने वाली व्याधि को रोहिणी कहते हैं। यह प्राणनाशक रोग है।[3]

यहाँ पर यह बात ध्यान रखना आवश्यक है कि रोहिणी त्रिदोष होती है—इन में वातज, पित्तज आदि कहना उन दोषों को उत्कृष्ट सिद्ध करना है। यह पाँच प्रकार की होती है।

जो मांसांकुर जिह्वा के चारों ओर उत्पन्न हो जाएँ तथा इनमें तीव्र वेदना होती हो और इसके कारण गला रुक जाए, उसे वातज रोहिणी कहते हैं। इस अवस्था में वातजन्य उपद्रव हुआ करते हैं।[4]

---

१. "प्रतानवान् यः श्वयथुः सुकष्टो गलोपरोधं कुरुते क्रमेण।
स मांसतानः कथितोऽवलम्बी प्राणप्रणुत् सर्वकृतो विकारः।"

२. "सदाहतोदं श्वयथुं सरक्तमन्तर्गले पूति विशीर्णमांसम्।
पित्तेन विद्याद्वदने विदारीं पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते॥"

३. गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्।
प्रदूष्य मांसं गलरोधिनोऽङ्कुरान् सृजन्ति यान् साऽसुहरा हि रोहिणी॥"

४. "जिह्वां समन्ताद्भृशवेदनाये मांसाङ्कुराः कण्ठनिरोधिनः स्युः।
तां रोहिणीं वातकृतां वदन्ति वातात्मकोपद्रव गाढ़युक्ताम्॥"

जिसमें अंकुर शीघ्र उत्पन्न होते है, शीघ्र ही विदग्ध होते है, शीघ्र ही पकते है। इसमे तीव्र ज्वर उत्पन्न होता है। यह रोग पित्तजन्य होता है।[1]

अंकुर कंठस्रोत को रोक लेते है, धीरे-धीरे पकते है, भारी और कठिन होते है। यह कफज रोग है।[2]

त्रिदोषज रोहिणी गंभीर पकती है—अत्यतिवारवीर्या होती है।[3]

रक्तज रोहिणी छालों से व्याप्त एवं पित्त के समान लक्षणों वाली होती है।[4]

आयुर्वेद के ग्रन्थों में इनका अलग-अलग वर्णन करने के पश्चात् कहा गया है कि इन पाँचों में रक्तज एवं सन्निपातज तो निश्चित रूप से असाध्य हैं। प्रथम तीन का यदि उचित समय पर उपचार कर लिया जाए तो लाभ की आशा रहती है। अन्यथा वह भी असाध्य हो जाती है। घातक काल की मर्यादा बताते हुए कहा है कि सन्निपात एवं रक्तज तो सद्योमारक है, कफज तीन दिन में, पित्तज पाँच दिनों में और वातज एक सप्ताह में घातक होती है।

रोहिणी से मिलने वाला रोग को पाश्चात्य वैद्यक में 'डिप्थीरिया' कहा जाता है।

यह रोग अधिकतर बालकों में दो से दस वर्ष की आयु में होता है। नासाग्रसनिका के भाग, जिह्वामूल तथा गलशुण्डिका के विकृत भागों पर झिल्ली पैदा होती है और वह फैलती है। इस झिल्ली के साथ ही सारे शरीर में जीवाणुओं के कारण विषमयता उत्पन्न हो जाती है। इस विषमयता से रक्त-वह संस्थान का अवसाद, पक्षाघात, शुक्लीमेह आदि रोग उत्पन्न हो जाते है।

इस रोग का उत्पादक कारण 'डिप्थीरिया वेसिलस' कहलाता है। इसे 'क्लेवर लोफट वेसिलस' भी कहते हैं। इसकी तीन जातियाँ बताई गई है इन में से गंभीर प्रकार मनुष्य के लिए भयानक होते है। इन कीट का प्रसार विन्दूत्क्षेप (Droplet infection) दूध आदि से होता है। वाहक भी इन

---

१. "क्षिप्रोद्गमा क्षिप्रविदाहपाका
तीव्रज्वरा पित्त निमित्तजा स्यात्।"

२. "स्रोतोनिरोधिन्यपि मन्दपाका गुर्वी स्थिरा सा कफसंभवा वै।"

३. "गम्भीरपाकाऽप्रतिवारवीर्या त्रिदोषलिङ्गात्रय संभवास्यात्।"

४. "स्फोटाचिता पित्तसमानलिङ्गाऽसाध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मिकेयम्।"

का प्रसार करते हैं। इसके संक्रमण के पश्चात् २४ घंटे का संचय काल कहा गया है।

आधुनिक ग्रन्थों में रोहिणी के लिए कई स्थानों का वर्णन किया है, जहाँ इसकी झिल्ली बन सकती है। वे स्थान हैं—

१. गलतोरणिकागत रोहिणी

२. स्वरयन्त्रगत रोहिणी

३. आनुनासिक रोहिणी

४. करर्भ रोहिणी

५. नेत्रकलागत रोहिणी

६. योनिगत रोहिणी

७. व्रणोत्पन्न रोहिणी

इस रोग में निम्न बातें प्राय: मिला करती हैं—

१. ताप लगभग १००° होता है, गम्भीर अवस्था में ज्वर नहीं भी रहता।

२. रोगी के मुख पर निस्तेजता, पाण्डुता आ जाती है। वमन हो सकता है, सिर दर्द होता है और मूत्र में शुक्ली आने लगती है।

३. सातवें दिन के बाद हृदयगत विकार उत्पन्न होते हैं। इसमें नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है और रक्तभार घट जाता है।

४. नाड़ी शोथ के साथ अंगघात हो सकता है। आँखों की दृष्टि नष्ट हो जाती है। बालक की चाल बदल जाती है।

५. गले की रोहिणी में आरम्भ में रक्ताधिक्य होता है और निगलने में कठिनाई होती है। २४ घंटे के बाद धोए हुए चमड़े के समान झिल्ली बन जाती है तथा इसे निकालने पर रक्तस्राव होने लगता है। हनु सन्धि के पास की ग्रन्थियों का शोथ होकर ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं तथा गला कड़ा मालूम होने लगता है। इस हालत में श्वास में विशेष प्रकार की गंध आती है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि सारे शरीर में व्याप्त विषमयता के कारण हृदय अवरोध के द्वारा सातवें दिन मृत्यु होने का भय रहता है।

चिकित्सा

रोहिणी की चिकित्सा आयुर्वेद के ग्रन्थों में वर्णित की गई है। सुश्रुत ने निम्न सिद्धान्त बताए हैं—

१. रक्तमोक्षण

२. वमन

३. धूम्रपान

४. गण्डूष

५. नस्य—कोयल, वायविडंग, जमालगोटा, सैन्धव से।

६. कवल—सिद्ध तैल का नस्य अथवा कवल धारण करें।

७. प्रतिसारण—रक्त मोक्षण के पश्चात् दोपानुसार रोहिणी में भिन्न-भिन्न द्रवों के द्वारा प्रतिसारण करने को कहा गया है—

[i] वातज—नमक से प्रतिसरण

[ii] पित्तज—लाल चन्दन, शर्करा और मधु से

[iii] कफज—घर का धुआँ एवं कटु द्रव्यों से

वातज में सुहाते उष्ण गण्डूषों का प्रयोग करना एवं पित्तज में द्राक्षा एवं फालसे के क्वाथ का कवल धारण करना कहा गया है। कफज के लिए उपर्युक्त कवल एवं नस्य के लिए कहा गया योग प्रयोग करें।

आधुनिक ग्रन्थों में इसकी चिकित्सा निम्न प्रकार लिखी गई है—

(i) प्रतिविष—Diptherie Autitoxin—प्रतिविप की क्या मात्रा हो यह वात रोग की अवस्था के अनुसार तय करनी होती है। सन्देह अवस्था में चार हजार यूनिट्स की मात्रा में प्रयोग करना चाहिए, जब पूर्ण निश्चय हो जाए तो १५ हजार यूनिटस की मात्रा में प्रयोग करना आरम्भ कर देनी चाहिए। बारह या चौबीस घंटे के पश्चात् पुनः दूसरी मात्रा देनी चाहिए।

[ii] पेनसिलीन [Pencillin] अथवा अन्य वृहत्तर क्षेत्र के (Broad Spectorum Antiboities) एण्टिबायटिक्स का प्रयोग करना चाहिए।

[iii] शुल्वयोग (Sulpha Drugss) प्रयोग करने चाहिए।

[iv] यदि स्वरयन्त्र अवरुद्ध हो जाए तो गले पर उष्ण उपचार करना चाहिए।

[v] लोरणिका प्रकार में तुण्डि का छेदन (Tonsillectomy) करना चाहिए। यदि रोग में सुधार न हो तो ग्रसनिका भेदन (Trach eotymy) अथवा नलिका सयोजन (Intuliation) कहते हैं।

[vi] हृदय अवसाद का भय हो तो पूर्ण विश्राम एवं हाद्य द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

[vii] रोगी को पोषक आहार करना चाहिए, इस हालत में दूध-मिश्री तथा जलीय पदार्थ अधिक लेना चाहिए । यदि कोष्ठ शुद्धि न हो तो एनिमा करना चाहिए। बेचैनी में निद्राकारक द्रव्य दे सकते हैं ।

यह ध्यान रखना चाहिए कि इसके कीट को वाहन करने वाले लोगों की परीक्षा करनी चाहिए और उनको अल्प मात्रा में प्रति विष देना चाहिए।

प्रश्न – सर्वसर रोग क्या है, उसके कितने भेद हैं ? प्रत्येक के लक्षण एवं चिकित्सा लिखिए ?

उत्तर—सर्वसर रोग उस रोग को कहा जाता है जो संपूर्ण मुख में उत्पन्न होता हो अथवा मुखगत सप्तस्थानों में व्याप्त हो । इसका पर्यायवाची नाम मुखपाक कहा गया है। इसको सरल करते हुए कहा जाता है कि यह मुख-गह्वरगत श्लेष्मिक कला का शोथ है जिसे अंग्रेजी भाषा में 'स्टोमेटाइटिस' [Stomatitis] कहा जाता है। प्रायः-कर यह रोग बालकों को और केवल कृत्रिम दूध पर निर्भर करने वाले लोगों को अधिक होता है ।

इसके भेदों के विषय में आयुर्वेद के आचार्यों के अलग-अलग मत हैं । वे निम्न प्रकार हैं—

१. **आचार्य विदेह**—केवल एक प्रकार का मुखपाक मानते हैं और वह है रक्तज मुखपाक।

२. **आचार्य वाग्भट एवं शारंगधर**—ये दोनों आचार्य पाँच प्रकार का मुखपाक मानते हैं। वे हैं—

[i] वातज [ii] पित्तज [iii] कफज [iv] रक्तज [v] सन्निपातज

३. **आचार्य माधव**—माधवनिरसका मुखपाक तीन प्रकार का मानते हैं—

[i] वातज ii] पित्तज [iii] कफज

४. **आचार्य सुश्रुतर्य**—चार प्रकार का मुखपाक मानते हैं। वे हैं—

[i] वातज [ii] पित्तज [iii] कफज [iv] रक्तज

शालाक्य विषयक सिद्धांत सुश्रुत के ही मान्य हैं । अतः हम इन चार का ही वर्णन करेंगे।[1] यह बात ध्यान रहे कि रक्तज सर्वसर को पित्तज के समान ही कहा गया है।

वातजन्य सर्वसर में सम्पूर्ण मुख चारों ओर से तोदयुक्त छालों से भरा

---

१. "सर्वसरास्तु वात पित्त-कफशोणितनिमित्ताः।"

रहता है ।[1]

पित्तजन्य सर्वसर में मुख लालवर्ण, दाहयुक्त, सूक्ष्म एवं पीले छालों से भरा रहता है ।[2]

कफजन्य सर्वसर में मुख कण्डुयुक्त-मन्दवेदना वाले त्वचा के समान वर्ण के छालों से भरा रहता है ।[3]

कई आचार्य जो रक्तजन्य सर्वसर को मानते हैं वह पित्तजन्य सर्वसर ही है ।[4]

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के ग्रन्थों में मुख पाक के अनेक भेद बताए हैं—वे निम्न प्रकार है :—

(i) स्रावी मुखपाक (Catecrrshal Stomatitis)—यह अयुक्त भोजन, उपसर्गज ज्वर आदि तथा क्षोभक कारणों से उत्पन्न होता है । इस अवस्था में श्लेष्मिक कला में रक्ताधिक्य हो जाता है और शोथ हो जाता है । बाद में छाले पड़ जाते हैं । छाले का ऊपर का भाग छिल जाता है और उसके छिल जाने के पश्चात् व्रणों की उत्पत्ति हो जाती है ।

(ii) धूसर मुखपाक (Aphthus) यह प्राय: कर बालकों को उत्पन्न होता हैं । सारे मुख में श्वेतवर्ण के धब्बे पड़े रहते हैं, बाद में यह स्थान व्रणित हो जाते हैं और फिर पीड़ा होने लगती है ।

(iii) दुदर्भ पाक (Thrush) यह भी श्वेत वर्ण का ही शोथ है, यह छत्रकाण्ड (Fungus) के उपसर्ग से होता है ।

(iv) कदर्म पाक (Gangreuons) इस अवस्था में शोथ के पश्चात् व्रण हो जाते हैं और वह स्थान निर्जीव हो जाता है । यह स्थान पहले काले रंग का होता है फिर बादामी रंग का हो कर श्ययुक्त हो जाते हैं । यह भी उत्सर्ग के द्वारा उत्पन्न रोग है ।

(v) पारदजन्य मुखपाक (Murenirsal) इस अवस्था में दन्तमांस शोथ युक्त एवं स्पर्श असह्य हो जाता है, तनिक से दबाव से रक्तस्राव होने लगता है।

---

१. "स्फोटैः सतोदैर्वदनं समन्ताद्य स्याचित् सर्वसरः स वातात् ।।"

२. "रक्तैसदाहैस्तनुभिः सपीतैर्यस्याचितं चापि स पित्तकम् ।।"

३. कण्डूयुतै रल्परुजैः सवर्णैर्यस्याचितं चापि सवैकफेन ।।"

४. "रक्तेन पित्तोदित एकएव कैश्चित् प्रदिष्ठे मुखपाक संज्ञः ।"

(vi) फिरंगज (Syphilitie) इस अवस्था में मुख की सारी कला में श्वेतवर्ण का शोथ हो जाता है और वहां व्रण पड़ जाते हैं।

अन्य कई प्रकार से भी मुखपाक हो सकता है। मुखपाक अथवा सर्वसर की चिकित्सा का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है।

वातजन्य सर्वसर में लवण के चूर्ण से प्रतिसारण करना चाहिए। वात हर द्रव्यों से सिद्ध तैलों का प्रयोग नस्य एवं कवल में करना चाहिए। फिर विचक्षण वैद्य इसमें निम्न स्नैहिक धूम का प्रयोग करावे।

शाल, खिरनी, एरण्ड, दिगोर, महुआ, सार, इन की मज्जा, गुग्गुल, जरामासी, कालानुसारी, सर्जरस, शिलापुष्प और मोम इन सबको भली भांति मिला कर स्नेह में घोलकर मधु लगाई हुई श्योनाक डंठल पर लेप करें और स्नैहिक धूम बनाकर इसका प्रयोग करावें।

पित्तजन्य सर्वसर में वमन विरेचन देकर रोगी में पित्तनाशक मधुरशीतल सम्पूर्ण चिकित्सा बरतें। प्रतिसारण गण्डूष, धूम और संशोधन बरतें। कफजन्य सर्वसर में कफनाशक विधि बरतें। अतीस, पाठा, मुस्ता, "देवदारु, कुटकी, इन्द्र जौ इन सबके चूर्ण को छः मासा मात्रा में गोमूत्र के साथ पियें।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में स्रावी मुखपाक के लिये लाइसोल, डेटोल, सेवलोन आदि द्रव्यों के द्वारा गन्डूस करने को कहा गया है। अन्य व्रणरोपक एवं उपसर्ग नाशक द्रव्यों का प्रयोग कर सकते हैं।

प्रश्न—पायरिया रोग क्या है ? कैसे उत्पन्न होता है और उसकी चिकित्सा किस प्रकार की जाती है ?

उत्तर—पायरिया ग्रीक भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है—'छोटे से छिद्र में से पूय का स्राव होना।' दन्तवेष्ठ नामक दन्तमूलगत रोग में भी ऐसा ही होता है, अतः पायरिया एवं दन्तवेष्ठ को पर्यायवाची माना जा सकता है।

इस रोग की उत्पन्नावस्था के पूर्व सर्वप्रथम मसूढ़ों में शोथ होता है, दांतों से रक्तपीव निकलता है, मुख में पिच्छिलता रहती है और मुख से दुर्गन्ध आती है। इसका ज्ञान तब होता है जब दन्तमूल से रक्त एवं पीव बाहर आने लगती है, दांत किंचित प्रमाण में हिलते हैं किन्तु उनमें वेदना बिलकुल नहीं होती। मसूड़े खराब हो जाते हैं और वह रक्त तथा पूय से भर जाते हैं और धीरे-धीरे

स्वास्थ्य बिगड़ने लगता है। मसूढ़ों के बीच में अवकाश बन जाते हैं, जिनमें पीव भरा रहता है, आहार के कण भी जाकर एकत्रित हो जाते हैं, इस अवस्था में यह दूषित रक्त एवं पीव आमाशय में जाते रहते हैं और अनेक प्रकार के शारीरिक रोग उत्पन्न करते है।

पायरिया कैसे उत्पन्न होता है इस विषय में कई बातें कही जाती हैं तो भी हम एक ही बात पर विशेष महत्त्व देते हैं जो कि अर्वाचीन एवं प्राचीन दोनों विज्ञानों के साहित्य में वर्णित की गई हैं। सुश्रुत संहिता में इस रोग का वर्णन करते हुए इसे 'रक्तविकारजन्य' रोग कहा है।[1] आज के वैज्ञानिकों का भी यही कहना है कि रक्त में अम्लता के बढ़ जाने से दाँतों में पीव आने लगती है। ऐसा भी कहा गया है कि रक्त की यह अम्लता लार में आकर वह खपरटी, शर्करा के रूप में दाँतों में जमती जाती है। यह रक्त की अम्लता यकृत के विकार से उत्पन्न होती है ऐसा माना गया है।

दाँतों पर जमी हुई खपरटी—शर्करा को ही आज पायरिया का प्रधान कारण माना जा रहा है—और इस खपरी को बार-बार हटाने का निर्देश चिकित्सक देते हैं। ऐसा देखा गया है कि यह उसका समुचित उपचार नहीं और कभी-कभी तो उससे रोग बढ़ भी जाता है। कारणों की व्याख्या में यह भी कहा गया है कि प्रकृति विरुद्ध दूषित एवं कृत्रिम आहार का सेवन, पान-सुपारी का अत्यधिक सेवन, मुख में गन्दे ब्रुश का सेवन, बहुत गरम चाय आदि पदार्थों का सेवन, किसी पिन आदि से दाँतों को एवं मसूढ़ों को कुरेदना आदि कारण हुआ करते हैं। इससे मसूढ़ों का रक्त दूषित हो जाता है और वे पक जाते हैं और दाँतों की जड़ें हिल जाती हैं और फिर रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

रोग का स्वरूप उस समय प्रकट होता है जब दाँतों की जड़ों से रक्त एवं पीव बाहर निकलने लगते हैं, किन्तु उस समय तक रोग खूब बढ़ गया होता है। लक्षणों की दृष्टि से इसकी तीन अवस्थाएँ बताई गई हैं—

(१) प्रारम्भिक अवस्था में मसूढ़ों में सूजन, दाँतों का हिलना एवं रक्त-पूय के कोषों का बन जाना होता है।

---

१. "स्रवन्ति पूयं रुधिरं चला दन्ता भवन्ति च।
दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणित संभवा ॥"

(२) मध्यावस्था में मसूढ़ों का शोथ और भी अधिक हो जाता है, दांत कुछ आगे को निकले से दिखाई देते हैं। उक्त कोपों में पीव-रक्त तथा आहार के कण भरे रहते हैं। जरा सा दबाव पड़ने से यह टूट जाते हैं और उनमें से पीव रक्त बाहर निकलने लगता है। दांतों की ग्रीवा पर काला मैल जमा रहता है।

(३) पूर्णावस्था में रोगी का श्वास बदबूदार हो जाता है। प्रातःकाल मुख का स्वाद बिगड़ा रहता है और थूक अधिक आता है।

इस अवस्था में सार्वदैहिक लक्षण भी हो जाते हैं कारण यह कि आहार के साथ यह रक्त एवं पीव आमाशय में चला जाता है। दिन के समय आमाशय रस (HCL) इस पीव में उपस्थित कीटाणुओं का नाश कर देते हैं, किन्तु रात्रि में सोते समय थूक के साथ जो पीव जाता है वह सीधा पाचक तन्त्र को दूषित कर देता है।

इस रोग के कारण आम वात, वातरक्त, सन्धि-शोथ, हाथ पांवों में वेदना एवं पादहर्ष होता है। पाचक तन्त्र के विकार से अतिसार, संग्रहणी, आमाशय शोथ आमाशय एवं पक्वाशय में व्रण, उपांजशोथ, अजीर्ण, शूल, कब्ज आदि रोग उत्पन्न हुआ करते हैं। हृदय रोग, नेत्र रोग एवं वात विकार उत्पन्न हो जाते हैं। मनुष्य को भ्रम सा रहता है और उसके स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ जाता है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि जो मनुष्य बहुत समय से इस रोग से पीड़ित रहता है तो उसे कैंसर रोग होने का भय रहता है। मनुष्य को रक्ताल्पता हो जाती हैं और वह कमजोर होने लगता है। त्वचा का वर्ण भी रक्ताभ हो जाता है।

पायरिया एक भयानक विकार है—यह बात सभी को स्वीकार है। दुःख की बात है कि इसके उपचार या कहिये चिकित्सा का लोग उपहास योग्य प्रचार करते हैं। कोई भी लिख देता है कि यह पायरिया की अचूक औषध है, किन्तु वह लाभ के स्थान पर हानि ही कर सकती है। इसके उपचार में आयुर्वेद के चिकित्सा सूत्रों के आधार पर उपचार करना ही लाभदायक हो सकता है और रोग का कारण खोज कर उसे दूर करने से लाभ होने की सम्भावना रहती है। केवल दांतों के खुरचने, उस पर जमे हुये मल की सफाई करने से पायरिया नहीं मिट सकता, क्योंकि जब तक रक्त विकार ठीक न हो तब तक रोग जा ही नहीं सकता, अतः रक्त दोष को भी ठीक करना होगा।

जब रोग की प्रथमावस्था हो तब दांतों के मल को साफ करवाना, मसूढ़ों में जम गये पीव को निकाल देना चाहिये। कैशोदि गूगुल एवं आरोग्यवर्धनी का सेवन करना चाहिये। महामञ्जिष्ठाई क्वाथ एवं सारिवाद्यासव का प्रयोग लाभ कर सकता है।

द्वितीयावस्था में स्थानिक रक्तमोक्षण लाभ करता है—इस अवस्था में प्रतिसार करना चाहिये—उससे रक्त का स्राव हो तो घबराना नहीं चाहिये। दूषित रक्त निकल जाने से लाभ होता है। फिर रक्त दोष नाशक एवं दुर्गन्ध हर द्रव्यों का क्वाथ बनाकर कुल्ले करने चाहिये। इसके पश्चात् विरेचन करा सकते हैं। नस्य का प्रयोग लाभ करता है। नस्य के लिये काकोल्यादि गण के द्रव्यों से सिद्ध घृत का प्रयोग किया जाता है। साधारणत: लगाने के लिए खस-खस का तैल है। भांग एवं लौंग का तैल २ भाग मिलाकर रखना चाहिये। टैनिक एसिड का लोशन भी लगाया जाता है। जो जो लक्षण हों उनका उपचार भी करना चाहिये।

चिकित्सा में पथ्य ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इसके लिये रोग के प्रारम्भ से ही सरसों के तेल से मसूढ़ों को मसलना चाहिये और गर्म पानी में नमक डाल कर गरारे करने चाहिये। हलका आहार एवं कब्ज नाशक आहार है। विटामिन 'सी' एवं 'डी' का अधिक प्रयोग करना चाहिये। मुख का शोधन रखना बहुत आवश्यक है।

प्रश्न—टानसिल की शोथ (Tonsillitis) के कारण लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन कीजिए!

उत्तर—मुख के पश्चिम भाग में एक ग्रन्थि होती है जिसे उतुण्डिका कहा जाता है—उसकी शोथ ही उतुण्डिका शोथ (Tonsillitis) कहलाती है। इसके वर्णन को सरल बनाने के लिये हम इस रोग को दो अवस्थाओं में वर्णित करते हैं—

(क) तीव्र शोथ Acute Tonsillitis.

(ख) जीर्ण शोथ Bhronic

हम क्रमश: इनका अलग अलग वर्णन करते हैं।

तीव्र शोथ

तीव्र शोथ के कारणों को देखते हुये हम पाते हैं कि कीटाणुओं के उपसर्ग

से रोग उत्पन्न होता है। वे कीटाणु प्रायः स्तवक गोलाणु (staphylo cocci) मालागोलाणु (strepto cocci) फुफ्फस गोलाणु (prewo cocci) होते हैं। इनमें से किसी एक के उपसर्ग से भी रोग हो सकता है और कभी कभी सभी का मिलित उपसर्ग होता है। क्षोमक पदार्थों के सेवन करने से अथवा क्षोभक गैसों के गले में लगने से भी यह रोग उत्पन्न होता है।

इस रोग का आक्रमण ६ से २५ वर्ष तक की आयु वालों को अधिक होता है। शिशिर, हेमन्त, वसन्त ऋतुओं में प्रायः होता है। दूषित खाद्य पदार्थों का सेवन; साधारण कमजोरी और सर्दी लगना भी इस रोग की उत्पत्ति में सहायक कारण होते हैं। आमवात, रोहिणी, रोमान्तिका के कारण भी यह रोग हो जाता है।

इसके दो प्रकार बताये गये हैं।

(१) आशयी (paranchymatous)

(२) कूपीय (Follicular)

लक्षणों को दृष्टि में रखते हुये हम इन दोनों प्रकारों में ही निम्न बातें पाते हैं—

'रोगी के गले में खराश एवं दर्द होता है। उसे बोलने में और किसी चीज के निगलने में कठिनाई होती है। जी मिचलाता है शीत लगती है और सिर कमर-कान-जबड़े के नीचे के भाग में पीड़ा होती है। ज्वर हो जाता है और १०२° F से १०५° F तक हो सकता है। कम्पन होता है और पाचन बिगड़ जाता है।'

चिह्न देखे जावें तो दोनों में भिन्न-भिन्न स्वरूप देखते हैं—

आयशी (panarchynatous) में पूरी ग्रन्थि में शोथ होता है और कभी कभी दोनों ओर की ग्रन्थियाँ सूज जाती हैं और इस अवस्था में मार्गावरोध तक हो जाता है। इस शोथ स्थान का रंग गहरा लाल हो जाता है। इस शोथ के जोर से गले की लसिका ग्रन्थियाँ सूज जाती हैं और मुख से दुर्गन्ध आती है। जिह्वा मलाकृत दिखाई देती है।'

कूपीय प्रकार (Follicular) में पूरी उतुण्डिका में शोथ नहीं होता अपितु उसकी छोटे-छोटे भागों में शोथ हो जाता है और उस शोथ में से पीला स्राव होने लगता है। इस स्राव के जम जाने से एक झिल्ली सी बन जाती है

इस झिल्ली के बनने से ऐसा लगता है कि रोहिणी हों किन्तु अन्तर यह है कि इस झिल्ली को हटाने से रक्त का स्राव नहीं होता जबकि रोहिणी में झिल्ली के हटाने से रक्त स्राव होता है।

इस अवस्था में निम्न उपद्रव होते हैं—

१. परितुण्डविद्रधि (pesitoinsillar Abcess)

२. स्वरयन्त्र शोथ (Laryngeal oedewa)

३. उत्तुण्डिका कोथ (gangreue of the tonsil)

इसकी चिकित्सा करते समय निम्न सिद्धांत बरतने चाहिये—

(क) आराम पूर्ण रूप से

(ख) पेय पदार्थों का सेवन

(ग) विरेचन

(घ) गले पर सेक

(ङ) ज्वर नाशक द्रव्य—एस्पि्तन, सोडा सेलिसलास

(च) एण्टी सैप्टिक लोजेन्ज का चूसना

(छ) पैंसलीन और एन्टीबायटिक का सेवन

कई बार तीव्र शोथ होने के पश्चात अथवा प्रारम्भ से ही जो मन्द शोथ होता है और पुराना हो जाता है—उसे, जीर्ण शोथ कहा जाता। यह कीटाणुओं के उपसर्ग से सर्दी के लग जाने से, रोहिणी, कुक्कुर कास रोमान्तिका के उपसर्ग से होता है। यह ५ से १५ वर्ष तक की अवस्था में होता है।

इस अवस्था में प्राय: रोगी को कोई विशेष कष्ट का अनुभव नहीं होता प्राय: पाचन विकार अथवा कर्णशूल आदि को लेकर चिकित्सक के पास व्यक्ति आता है और परीक्षा करने पर मालूम होता है कि उसे उत्तुण्डिका शोथ है। किसी किसी रोगी को तीव्र अवस्थावतशूल आदि लक्षण भी पाये जाते हैं।

मुख की परीक्षा करने पर कभी-कभी कुछ सूजे हुये लालवर्ण के टान्सिल मिलते हैं। यह बहुत सख्त हो जाते हैं। कभी-कभी इसके पूर्व भाग को दबाने से पूय का स्राव होता है।

इस अवस्था में उपद्रव स्वरूप कर्ण के रोग, आन्त्र पुच्छ शोथ, विषमयता जोड़ों का दर्द आदि हुआ माना है।

चिकित्सा दो सिद्धांतों पर आधारित है—प्रथम तो रोगी को बल बढ़ाने

वाले पदार्थों का सेवन करना चाहिये। खुली वायु में रहना चाहिये। आहार पौष्टिक देना चाहिये और मुख का शोधन रखना चाहिए।

इस अवस्था में शस्त्रकर्म करना चाहिए। शस्त्रकर्म दो प्रकार का होता है—

(i) उत्तुण्डिका को गिलोटिन नामक शस्त्र से निकालना

(ii) विच्छेदन

इन दोनों प्रकार के शस्त्रकर्म में पूर्वकर्म एवं पश्चात्कर्म का ध्यान रखना आवश्यक है।

पूर्वकर्म में रोगी की परीक्षा करना, कमजोर रोगी को बलदायक औषध आदि का सेवन कराना, मुख का शोधन करना और बाद में संज्ञाहर द्रव्यों का प्रयोग करना आदि होता है।

शस्त्र कर्म कर लेने के पश्चात् रक्तस्राव को देखते रहना चाहिए। पेय पदार्थ खाने को देवें। चूसने के लिए पेपरमेंट आदि द्रव्यों का सेवन करा कर दर्द दूर कर सकते हैं। मलावरोध को दूर करना चाहिए।

आयुर्वेद में इस रोग के लिए खदिरमडिवटी, लवंगादि वटी, व्योषादिवटी, या सहकारादि वटी को चूसने के लिए कहा है। कफकेतु रस को अदरक के रस एवं मधु के साथ खाना चाहिए।

प्रश्न—गलगण्ड किसे कहते हैं? कैसे उत्पन्न होता है और उसकी क्या चिकित्सा है?

उत्तर:—जिसके गले में महान् अथवा ह्रस्व सूजन, अण्डकोष के समान लटकने लगती है, उसे गलगण्ड से पीड़ित कहा जाता है।[1]

अतिशय रूप में प्रवृद्ध वायु और कफ तथा मेदमन्या का आश्रय करके वातकफ के लक्षण में युक्त, क्रमशः गण्ड रोग उत्पन्न करते हैं। इसको गलगण्ड कहते हैं। यह तीन प्रकार की होती है—

१. वातजन्य गलगण्ड

२. कफजन्य गलगण्ड

३. मेदजन्य गलगण्डक

---

१. "निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले।
महान् वा यदिवा ह्रस्वो गलगण्डम् तमादिशेत्॥"

वातजन्य गलगण्ड तोदान्वित, कृष्ण शिराओं से व्याप्त, कृष्ण अथवा लाल वर्ण का होता है। यदि कालवश से सञ्चित भेद के साथ संयुक्त हो जाय तो अतिशय स्निग्ध एवम् अरूज हो जाता है। यह अर्बुद कठोरतायुक्त, देर में वर्धनशील, देर में पकने वाला, भाग्यवश कभी पकता है। रोगी का मुख का स्वाद बदल जाता है, तालु और गला सूख जाता है।[1]

कफजन्य जलगण्ड स्थिर, त्वचा के समान वर्ण मन्दवेदनाशील, कण्डुबहुल, शीतल एवम् महान् होता है। बहुत देर में बढ़ता है, और कभी भाग्य से बहुत देर में पकता है तथा अल्पवेदना होती है। रोगी का मुख मीठा रहता है और ताल और गला कफ से भरा रहता है।[2]

मेदजन्य जलगण्ड स्निग्ध-मृदु-पाँडुवर्ण, दुर्गन्धयुक्त, वेदना रहित कण्डु बहुल होता है। अलाबु के समान नीचे लटकता है। मूल अल्प होता है शरीर की वृद्धि से बढ़ता है शरीर के क्षय से घटता है। रोगी का मुख स्निग्ध रहता है। प्रतिदिन गले से शब्द आता रहता है।[3]

गलगण्ड की चिकित्सा से पूर्व यह ध्यान रखना चाहिए कि असाध्य अवस्था तो नहीं। आचार्य ने असाध्य अवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है कि कठिनाई से स्वास लेने वाले रोगी हो, सम्पूर्ण शरीर कोमल हो, एक वर्ष पुराना हो गया हो, अरोचक रोग से रोगी पीड़ित हो, शरीर से क्षीण तथा भिन्न स्वर हो तो रोगी की चिकित्सा न करें, उसका रोग असाध्य समझना चाहिए।

---

१. 'तोदान्वितः कृष्णसिरानवद्धः कृष्णेऽरुणो वा पवनात्मकस्तु।
मेदोन्वितश्चोपाचितश्च कालाद् भवेदति स्निग्धतरोऽरुजश्चः
पारुष्य युक्तश्चिरवृद्धययांको यदृच्छया पाकमियान् कदाचित्
वैरस्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालुगलप्रशोषः।"

२ स्थिरः सवर्णोऽल्परूगुग्रकण्डूः, शीतो महांश्चरपि कफात्यकस्तु।
चिराभिवृद्धि कुरुते चिराच्च, प्रपच्यते मन्दरुजः कदाचित्।
माधुर्यमास्यस्य च तस्त जन्तोर्भवेत्तथा तालु गल प्रतेपः॥"

३. "स्निग्धो मृदुः पाण्डुरनिष्ट गन्धो, मेदः कृतो नीरूगयाति कण्डूः।
प्रलम्बतेऽलम्बु वदल्पमूलो, देहानुरूप क्षय वृद्धि युक्तः॥
स्निग्धास्यता तस्य भवेच्च जन्तो-र्गलेऽनुशबं कुरुते च नित्यम्॥"

वातजन्य गण्ड में वैद्य वातनाशक द्रव्यों के पत्तों से नाड़ी द्वारा स्वेद देवे। पित्तावृत वात में काँजी द्वारा, कफावृत में मूत्र एवं क्वाथ से, रक्तावृत वायु में दूध के साथ, धातु क्षयजन्य वायु में माँस के साथ, तेल मिलाकर गरम स्वेद करें। स्वेदन हो जाने पर विना आलस्य के विद्वान जौंक आदि से रक्तमोक्षण करावें। रक्तमोक्षण हो जाने पर सन, अलसी, मूली, सोहजना, सुराबीज, चिरोंजी को तिलों में मिलाकर, कालानुसारी गिलोय, सहंजन, पुनर्नवा, आक गजपिप्पली, मैनफल, कुण्ठ, पाठा, कुरज, तिल्वक, इनको सुरा एवं कांजी में पीस कर बार बार लेप करें। गिलोय, नीम, हंसराज, कुटज, पिप्पली, बला, पतिबला, देवदारू इनसे सिद्ध किया तैल गलगण्ड रोग में नित्य हितकारी होता है।

कफन्जय गलगण्ड में स्वेदन एवं उपनाह करके इसको स्वेद देकर रक्त-मोक्षण ही करना चाहिए। फिर अजगन्धा, अतीस, कलिहारी, मेठाशृंगी, कुण्ठ, शुकनासा, रत्तियां इनको पलाश क्षारोदक में पीसकर, गरम करके लेप करें। पाँचों नमक के साथ, पिप्पली आदि गण के क्वाथ एवं कल्क ये सिद्ध किए गए तैल का पान करना चाहिए। वमन, शिरोविरेचन, वैरेचनिक धूम्र का प्रयोग करना चाहिए। वात एवं कफजन्य गलगण्ड यदि पक जाय तो वैद्य को पाकविधि बरतनी चाहिए।

मेदजन्य गलगण्ड में स्नेह देकर सिरा का वेधन करना चाहिए। निशाथ चूना लोहकिट्ट, दन्ती और रसौत का लेप करना चाहिए। सालसारादिगण के वृक्षों के सारकल्क को गोमूत्र में घोल कर प्रातःकाल पिए। अथवा मेदजन्य गलगण्ड को शस्त्र से चीरकर मेद को निकाल देवें और उस स्थान पर सीवन करा देवें। अथवा मज्जा, मेद, घी और मधु से इसे जलाएं। जल जाने पर घी और मधु लगायें। पीछे से कासीट, तुत्थ, गोरोचन का चूर्ण व्रण पर रगड़ें। फिर तैल से मल कर सालसारादि गण की और गोबर की भस्म लगाये। त्रिफला कषाय नित्य उत्तम है। कसकर नित्य पट्टी बांधनी चाहिए और नित्य जौ का भोजन करना चाहिए।

ऐसे गलगण्ड पीड़ितों का आहार अलग से बताया गया है। भक्ष्यों को गोमूत्र में भिगो कर सुखा कर, जौ के बने भक्ष्य, मूंग के रस को तथा त्रिकुट को मधु के साथ खाना चाहिए। शृंगवेट, परवल नीम को गलगण्ड रोग में

देना उत्तम है।[1]

प्रश्न—नस्य का भेदों सहित वर्णन कीजिए।

उत्तर—नासा के द्वारा औषधि प्रयोग नस्य कहलाता है इसे ही नावन और नस्त: कर्म. कहते हैं।

वमनादि द्वारा शरीर का शोधन हो जाता है। इसके पश्चात् एक आव-श्यक अंग जिसे 'उर्ध्वजत्रु' कहते हैं, शोधनार्थ शेष रह जाया है। वे शिर आदि अंग शरीर के उत्तमाङ्ग कहे गए हैं, उनके लिए ही आचार्य ने नावन कर्म का उपदेश किया है।

जिस प्रकार आमाशय के निकट मुख होने से (वमन) मुख द्वारा शोधन तथा आँतों के निकट गुदा-मार्ग होने से (विरेचन) गुदा-मार्ग शोधन करते हैं, उसी प्रकार शिर के निकटतम नासा होने से नस्य का प्रयोग नासा द्वारा ही कराया जाता है।[2]

नासिका द्वारा प्रेषिता औषधिश्रृङ्गाटक, श्रोत्र, नेत्र, मस्तिष्क, कण्ठ आदि की अभ्यन्तर शिरायों में प्रविष्ट हो, सचय को नासिका द्वारा बाहर निकाल डालता है।

नस्य भेद—

नस्य कर्म ही एक ऐसा विषय है जिस पर नाम निर्देश में विभिन्न यह मतान्तर है। अष्टांग संग्रह में मुख्य रूप से तीन प्रकार का नस्य कहा है—

१. विरेचन नस्य

२. शमन नस्य

३. बृंहण नस्य

सुश्रुत मुख्य रूप से दो भेद बताता है—(गुणों की दृष्टि से)।

१. शिरो विरेचन

---

१. गलगण्ड का सारा वर्णन शब्दशः सुश्रुत संहिता के अध्यायों के आधार पर है।

२. "ना सामां प्रणनिमानौषधं नस्यम। नावनं नस्तःकर्मेति च संज्ञा लभते॥" (अ० संग्रह सू० अ० २६)

३. उर्ध्वजत्रुविकारेषु विशेषान्नस्यमिष्यते। नासाहि शिरसो द्वार तेन तद्याप्यहान्तितान्॥" (अ० हृ० सू० अ० २०)

२. स्नेहन

और पुनः इसे पाँच प्रकार का कहता है—(प्रयोग विधान की दृष्टि से)।

१. नस्य

२. शिरो विरेचन

३. प्रतिमर्श ४. अवपीड ५. प्रधमन

इन पाँच में प्रथम दो प्रधान कहे हैं तथा नस्य का विकल्प प्रतिमर्श, शिरो-विरेचन का विकल्प अवपीड तथा प्रधमन कहा है।[1]

१. नावन २. अवपीड

३. ध्मापन ४. धूम ५. प्रतिमर्श

इस प्रकार यदि देखें तो 'नस्य-कर्म' के भेद होने कठिन हो जाते हैं। सुश्रुत और चरक में पाँच-पाँच प्रकार से जो लिखा है, उसे समन्य की दृष्टि से हम निम्न प्रकार समझा सकते हैं—

	१	२	३	४	५
चरक	नावन	अवपीड	ध्मापन	धूम	प्रतिमर्श
सुश्रुत	नस्य	अवपीड	प्रधमन	शिरोविरेचन	प्रतिमर्श

इनमें विशेष अन्तर धूम और शिरोविरेचन में दिखाई देता है। धूम्र का प्रयोग नासिका द्वारा भी किया जाता है। मुख द्वारा किया जाने वाला धूम्र सुश्रुत ने पाँच प्रकार का माना है—उनमें से कण्ठघ्न और वमनीय धूम्र मुख द्वारा ही प्रयोजनीय हैं। चरक सूत्र स्थान अध्याय ५ में तीन प्रकार का धूम्र कहा है वह नासिका द्वारा प्रयोजनीय होने से ही चरक ने धूम्र नावन कर्म में माना है। उनमें ही 'शिरोविरेचनीय धूम' सुश्रुत के 'शिरो-विरेचन' के समान समझना चाहिए। प्रायोगिक और स्नैहिक धूम्र चरक की अपनी विशेषता है।

इस प्रकार वर्गीकरण से हम इस बात पर पहुंचे कि चरक सुश्रुत आदि में जो भी मतान्तर मिलता है, यह केवल विचार भेद मात्र ही समझना चाहिए।

---

१. "नावन चावपीडश्चध्मापनं धूमएव च।
प्रतिमर्षश्च विज्ञेयं नस्तः कर्मतु पञ्चधा॥" (चरक सिद्धि अध्याय ९)

औषधि प्रयोग के समय कुछ आवश्यक बातें ध्यान में रखनी होंगी कि औषधि न अधिक उष्ण हो, न ही अधिक शीत। उष्ण औषधि दाह, मूर्च्छा, भ्रम, सिर शूल आदि पित्तज विकार तथा अतिशीत जड़ता, अरुचि आदि विकार उत्पन्न करेगी। औषधि की मात्रा के विषय में भी यही बात ध्यान रखें यदि मात्रा अधिक दे दी गई तो अतियोगज रक्त स्राव, अत्यधिक शिर लघुता आदि लक्षण होंगे तथा औषधि की मात्रा कम रही तो अयोगज लक्षण गुरुता, अरुचि, जड़ता आदि हो जाते हैं।

जिसे नस्य का प्रयोग करा दिया हो, उसके कान, कंधे, सिर तथा तलुओं को हल्के हाथों से मर्दन करना चाहिए। अब नथने से श्वास खींचते हुए औषधि ऊपर ले जावे और बाहर दोषों को निकालें। कण्ठ में गया हुआ स्राव थूक देना चाहिए। अष्टांग हृदय में सू० अ० २० में तीक्ष्ण औषधि द्वारा दी गई नस्य से उत्पन्न मूर्छा को ठीक करने का विधान बताते हुये लिखा है—कि मूर्च्छा हो जाने पर सिर के भाग को छोड़कर शेष सब शरीर पर ठण्डा सेचन करें, इससे मूर्च्छा मिट जाती है।

नस्य अयोग्य—क्या प्रत्येक अवस्था में नस्य दिया जा सकता है ? इसको स्पष्ट करते हुए अष्टांग हृदय सू० अध्याय २० में अयोग्य रोगियों के नाम निर्देश किए हैं। लिखा है—

जिसने जल, मद्य, विष अथवा स्नेह पान किया हो अथवा इनमें किन्हीं एक के भी पीने की अत्यन्त इच्छा रखता हो, जिसका सिराव्यध करके रक्त निकाला गया हो; जिसने स्नान किया हो या करने की इच्छा हो, जिसको नया पीनस हुआ हो, जिसने मल मूत्र का वेग रोका हो; प्रसूता स्त्री हो, श्वास या कास का रोगी हो जिसको वमन, विरेचन वस्ति द्वारा शुद्ध किया गया हो—इनको तत्काल नस्य न देवें। वर्षाऋतु के अतिरिक्त किसी अन्य ऋतु में बादल-बिजली हो तो नस्य न देवें। इस सबका ध्यान रखते हुए भी यदि कष्टप्रद रोग हो तो उस अवस्था में नस्य की आवश्यकता पड़े तो अवश्य दे दीजिए।"

नस्य का समय—श्लेष्म रोग में प्रातःकाल, पित्त रोग में मध्याह्न में और वात रोग में सांयकाल व रात्रि के समय देना चाहिए।

स्वस्थावस्था, शरद् और वसंत काल में पूर्वाह्न के समय; ग्रीष्मकाल में

(१) नस्य (नावन)[1]

स्नेह शून्य, मस्तिष्क, ग्रीवा, शिर, स्कन्ध तथा वक्ष की शक्ति के लिए जिस स्नेह का प्रयोग होता है, उसे नस्य कहते हैं।

दोषानुसार कौन-कौन स्नेह का नस्य प्रयोजनीय है? कफ तथा कफ और वात से उत्पन्न रोगों में तेल का नस्य लेना चाहिए। वातज रोगों में चर्वी का तथा वात पित्तज अवस्थाओं में घृत एवं मज्जा का नस्य लेना होता है।

नस्य की मात्रा का निर्देश करना बहुत ही आवश्यक है। प्रत्येक औषधि मात्रावत प्रयोग करने से लाभप्रद हो सकती है अन्यथा नहीं। नस्य की मात्रा तीन प्रकार की बताई है।

१. अष्ट बिन्दु

२. शुक्ति

३. पाणिशुक्ति

अष्ट बिन्दु—आठ बूंदों की मात्रा होती हैं। शुक्ति-बत्तीस बूंदों की तथा पाणिशुक्ति—(दो शुक्त) अर्थात् चौसठ बूंदों की मात्रा को कहते हैं।

अब बिन्दु किसे कहते हैं—यह जानना भी आवश्यक हो जाता है, कारण कि बूंद में कम औषधि भी जा सकती है और अधिक भी, अतः इसका निश्चित परिमाण जानने के लिए हमें वाग्भट्ट का यह सूत्र वैज्ञानिक आधार मानना पड़ेगा[3] तर्जनी उंगली को दो पर्व तक स्नेह में भिगोकर उठाने पर जो प्रथम बार बूंद पड़े उसे एक बूंद (Drop) परिमाण मानना चाहिए।

(२) अवपीड—उस विधि को जिसमें किसी द्रव विशेष का रस निचोड़ कर (अवपीडन कर) उस रस से नस्य लिया जाए उसे अवपीड कहते हैं, लिखा भी है।[4] अवपीड का प्रयोग प्रायः दो बातों के लिये किया जाता है शोधन तथा

---

१. स्नेह शून्यशिरसां ग्रीवास्कन्धोरसां तथा।
बलार्थं दीयते स्नेहो नस्त शब्दोत्र वर्तते ॥" चक्रदत्त

२. तैलं कफे च वाते च केवले पवने वसाम्।
दद्यान्नस्तः सदापित्ते सर्पि मज्जा समस्ते ॥" चक्रदत्त

३. "प्रदेशिन्यङगुलीपर्व-द्वायान्मग्न समुद्धृतात्।
यावत्पतत्यसो बिन्दु ··· ··· ··· ··· ॥" (वाग्भट्ट)

४. अवपीड्म दीयते यस्मादवपीडस्ततस्तुसः

स्तम्भन। शोधनार्थ शोधक औषधि के रस को तथा स्तम्भनार्थ स्तम्भक के रस को प्रयोग किया जाता है।

(३) प्रधमन—किसी चूर्ण विशेष को नासिका में हवा के जोर से पहुंचना प्रधमन कहा जाता है इसका प्रयोग एक छः अंगुल की सुबरि नलिका द्वारा होता है। जिसमें औषधि भरकर एक किनारा नाक में लगा दूसरे किनारे से फूंक मारी जाती है, प्रधान द्वारा दिये जाने वाला चूर्ण प्रायः शोधनार्थ ही प्रयुक्त किया जाता है। एक और विशेष बात कि जहाँ स्रोतों के शोधन की शीघ्र आवश्यकता होती है वहाँ पर हम प्रधमन का प्रयोग कराते हैं।

(४) शिरोविरेचन—शिरोविरेचन का प्रयोग किन-किन अवस्थाओं में आवश्यक है। यह बताते हुए चक्रदत्त में लिखा है[1] सिर का भारीपन, सिर की पीड़ा, जड़ता, अभिष्यनन्द, कण्ठ रोग, शोथ गलगण्ड, क्रिमि, ग्रन्थि, कुष्ठ, अपस्मार तथा पीनस रोग शिरोविरेचन से ठीक हो जाते हैं।

शिरोविरेचन का प्रयोग सात वार करने का विधान बताया है और प्रत्येक शिरोविरेचन के तीसरे २ दिन के अन्तर से स्नेह-पान करें, फिर स्नेहपान के दूसरे दिन शिरोविरेचन लें।

चरक ने शिरोविरेचन के स्थान पर धूम्र का प्रयोग किया है। सुश्रुत में मुख द्वारा किये जाने वाले धूम्र का सहन तथा वमनीय है और चरक का धूम नासिका द्वारा प्रयोजनीय है जो तीन प्रकार का है—जिनमें वैरेचनिक धूम्र का समवन्य हम शिरोविरेचन से कर चुके है। प्रायोगिक तथा स्नेहिक धूम्र का अपना अलग स्थान है।

(५) प्रतिमर्श—प्रतिमर्श उस विधान द्वारा लिए गए नावन कर्म को कहा जाता है जिसमें नासिका के द्वारा साँस को खेंचते हुए वेग से स्नेह द्रव्य को ऊपर खेंचा जाता है और उसका कुछ अंश मुख में पहुंचा जाता है।

प्रतिमर्श का प्रयोग स्वस्थ मनुष्य को भी करना चाहिए ऐसा विधान आचार्य ने बताया है। दैनिक कार्यो के पश्चात् प्रतिमर्श करना स्वास्थ्य के लिये हितकारक कहा है।

निम्न कार्यों के पश्चात् अवश्य ही प्रतिमर्श करना स्वास्थ्यप्रद बतलाया है तथा—

---

१. "गोरवे शिरसः शूलेजाड्ये स्यन्दे गलामये।
शोथगण्ड क्रिमिग्रन्थि कुष्ठापरस्मार पीनसे॥" (चक्रदत)

१. दिन के भोजन के वाद । २. रात के भोजन के वाद । ३. वमन के वाद ४. सोने के पश्चात् । ५. धूम्र के वाद । ६. परिश्रम के वाद । ७. मैथुन के वाद । ८. सिर में मालिश के वाद । ९. गण्डप धारण के वाद । १०. मूत्र त्याग के वाद । ११. अंजन के वाद । १२. मल त्याग के वाद । १३. दातुन के वाद है १४. हंसने के वाद ।

इसके पश्चात् प्रतिमर्श का प्रयोग स्रोतों को खोलने वाला, वल बढ़ाने वाला, दाँतों को मजबूत करने वाला होता है ।

प्रतिमर्श की मात्रा दो वूंद की होती है । यह शोधनार्थ तथा स्नेहनार्थ दोनों प्रकार से प्रयोजनीय है ।

कर्ण रोग विज्ञान

प्रश्न—कर्ण की रचना एवं क्रिया का स्पष्ट वर्णन कीजिए ?

उत्तर—हमारी श्रवणेन्द्रिय का माध्यम कान है । यह कान मुख्य रूप से तीन भागों में विभक्त है । वे भाग हैं—

(क) वाह्य कर्ण (External Ear)

(ख) मध्य कर्ण (Middle ear)

(ग) अन्तर कर्ण (Internal Ear)

अतः कर्ण की रचना का वर्णन करते हुए हम क्रमशः एक-एक का वर्णन करेंगे ।

वाह्य कर्ण (External ear)

वाह्यकर्ण करते हुए हम उसके दो उपविभाग वना लेते हैं:—

कर्ण शुष्कली (pinna)

(ii) कर्ण नलिका (Auditory Canal)

कान का वाहरी भाग जो दिखाई देता है वह कर्ण शुष्कली कहलाती है । यह आड़ी टेड़ी त्वचाच्छादि कूर्चा से वना है जो खोपड़ी के वाहर स्नायु और अस्थियों से बंधी हुई है । इसका काम स्वर लहरों को एकत्रित करना और उन्हें कर्ण नलिका की ओर भेजना है ।

कर्ण नलिका लगभग सवा इंच लम्बी नली है जो भीतर से नीचे को जाती है । इसका वाहरी भाग त्वचा का और भीतरी अस्थियों का वना होता है । इसके भीतर की तरफ एक पतला पर्दा रहता है जो ढोल के समान तना

रहता है इसे टिम्पेनिक मेम्ब्रेन अथवा ड्रम (Tympanic membianc of I rum of the ear कहा जाता है।

मध्य कर्ण (Middle Ear)

कान के पर्दे के भीतर की तरफ मध्यकर्ण होता है। कनपटी की अस्थियों में यह आड़ा टेढ़ा सकरा और पोला भाग है। इसके बाहर की तरफ अन्तर बाह्य कर्ण के साथ लगी हुई मेम्ब्रेन होती है और अन्दर की तरफ अन्तर कर्ण होता है। यह कर्ण तीन अस्थियों से बना होता है—

(क) घन (Hammer), (ख) नेहाई (Incus), (ग) रकाब (Stapes)

घन (Hammer) की मूढ़ पर्दे की भीतरी बाजू से और चौड़ा भाग नेहई से जुड़ा रहता है। नेहाई नामक अस्थि रकाब से जुड़ी रहती है और इस तरह यह एक जंजीर बनाते हैं। रकाव की तरल अन्तर कर्ण के बाहरी बाजू के छेद पर रहने वाले पर्दे पर रहता है। कान के पर्दे पर पड़ने वाले स्वरद्वाघात का प्रवाह इन अस्थियों की जंजीरों द्वारा अन्तर कर्ण में पहुचानता है।

यह बात ध्यान रखने योग्य है कि इस मध्यकर्ण में लगभग एक इंच लम्बी एक नलिका होती है जो भीतर कंठ में जाकर खुलती है। इसका नाम ओस्टे-शियन टयूब (Austachian tube) है।

अन्तर कर्ण (Internal Ear)

कर्ण का यह भाग एक तिनोकना भाग होता है। यह मध्यकर्ण के भीतर और कनपटी की अस्थियों के भीतर रहता है। इस भाग को अस्थि कुट्टर (Bony Labyrnith) कहा जाता है।

अन्तरकर्ण के मुख्यत: तीन भाग होते हैं—

(क) मध्य भाग [Vestibul] (ख) कर्ण वलय [Semie Circular Canal] (ग) शंखाकृति भाग [Cochlea]

मध्य भाग [Vetibule] अस्थि कुह के बीच का पोला भाग है जिसके सामने शंखाकृति भाग रहता है।

कर्ण वलय में तीन अर्ध वर्तुलाकार नालियाँ हैं जो मध्य भाग [Vestibule] के ऊपर और पिछले भाग में रहती है। यह नलियाँ एक खड़ी, एक आड़ी और एक तिरछी होती हैं। प्रत्येक में पतले आवरण की नली बनी रहती है। यह तीनों नलियाँ एक साथ पांच मुँह से मध्य भाग [Vestibule] में खुलती हैं। प्रत्येक नली के मुँह के भीतर कर्णविषयक वातवाहिनी [Auditory nerve] की शाखाएँ फैली रहती हैं। यह वातवाहिनियाँ छोटे

मस्तक की ओर जाती हैं और इनके द्वारा शरीर का भार सम्भालने में सहायता मिलती है।

इस भाग में पतले आवरण की बनी एक थैली रहती है जिसे त्वक कुट्टर कहते हैं। यह अन्तरकर्ण के उक्त तीनों भागों में रहती है और उसमें एक तरल पदार्थ भरा रहता है जिसे एन्डोलिम्फ (Endo-Lymph) कहा जाता है।

नलियों में रहने वाले तरल पदार्थ पर दबाव पड़ने के कारण तज्जन्य प्रेरणा मस्तिष्क की ओर प्रवाहित होती है जिससे हमें अवयवों की स्थिति का बोध होने में सहायता मिलती है।

शंखाकृति भाग [Cochlea] मध्य भाग [Vestibule] का अग्रभाग है जिसका आकार शंख के आकार का होता है। इसके बाहरी तरफ एक छिद्र है जिस पर पर्दा रहता है जो इसे मध्यकर्ण से पृथक् करता है।

इसके भीतरी तरल पदार्थ [Organ of Coti] में विशिष्ट ज्ञानेन्द्रिय से कर्ण की वातवाहिनियों के किनारे जुड़े रहते हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों के कम्पन के कारण नाड़ी तन्तुओं के किनारे उद्दीप्त होकर प्रेरणा उत्पन्न करते हैं। यह प्रेरणा नाड़ी तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क के श्रुति केन्द्र में [Area of hearing] आता है और तब हम सुन पाते हैं।

हमें कोई शब्द किस प्रकार सुनाई पड़ता है यह बात अब सरलता से बताई जा सकती है। होता यह है कि स्वर लहरें कर्ण शुष्कली (Pinna) में जमा होकर कर्ण नलिका के [Aubitory Canal] में प्रवेश करती हैं। यह कान के पर्दे पर [Drum of the ear] हलचल उत्पन्न करती हैं।

मध्य कर्ण की तीन अस्थियों से बनी हुई जंजीर इस पर्दे से जुड़ी रहती है, अतः यह लहरें इन अस्थियों से सम्पर्क स्थापित करती हैं और फिर अन्तकर्ण [Internal ear] के बाहरी छिद्र [Oval Foramen] पर पहुंच जाती हैं जिससे त्वक कुरा नामक थैली के बाहरी भीतरी तरल पदार्थ में लहरें उत्पन्न होती हैं। कान की विशिष्ट ज्ञानेन्द्रिय (Organ of Coti) त्वक कुट्टर से जुड़ी होने के कारण वर्ण की वातवाहिनी (Auditory nerve) के माध्यम से उत्पन्न हुई प्रेरणा [Impulse] मस्तिष्क के श्रुति केन्द्र में पहुंचती है जहाँ श्रवण की सम्वेदना में यह रूपान्तरित हो जाती है।

प्रश्न—कर्ण रोगों के उत्पादक कारण लिखिए और कर्ण रोगों की साधारण चिकित्सा का वर्णन कीजिए। पथ्यापथ्य लिखें ?

उत्तर—ओस का अधिक सेवन करने से, जल में अधिक क्रीड़ा करने से, कान को अधिक खुजलाने आदि कारणों से कर्णगत वायु कुपित होती है। इसी प्रकार शस्त्र के मिथ्या का अन्यथा प्रयोग होने से वायु कुपित होकर कान की शिराओं को प्राप्त कर कर्णस्रोत में वेग के साथ शूल पैदा करता है। वे ही कर्णगत रोग कहलाते हैं और उनकी कुल संख्या अट्ठाइस कहलाती है।[1]

वास्तव में देखा जाए तो उक्त कारणों में से किसी न किसी एक कारण से कोई कर्णगत रोग उत्पन्न होता है। जिसे किसी भी दृष्टि से प्रत्येक वैज्ञानिक ने स्वीकार किया है।

कर्ण रोगों का उपचार किस प्रकार किया जाए एतर्थ हमें कुछ सूत्र मिलते हैं। सुश्रुत में घृतपान एतर्थ सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। व्यायाम करना वर्जित कहा है। स्नान करते समय सिर को नहीं भिगोना चाहिये। ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये।[2]

स्वेदन करना कर्ण रोग नाशक है। गोमूत्र, स्नेह, रस से कानों को पूरित करना चाहिए और रोग की अवस्था के अनुसार १०० या ५०० से १००० मात्रा तक उसे धारण करना चाहिए। हिसाब लगाने से यह समय १$\frac{१}{२}$ से २$\frac{३}{४}$ घंटे तक का होता है। एक मात्रा की क्या परिभाषा है यह समझ लेना आवश्यक है। कहा गया है कि अपनी आयु के चारों ओर हाथ को घुमाकर चुटकी बजाने में जितना समय लगे वह समय एक मात्रा कहलाता है। इसका हिसाब लगायें तो एक मात्रा में लगभग $\frac{१}{६}$ मिनट का समय लगता है। उस हिसाब से ५०० मात्रा में १$\frac{१}{४}$ घन्टा हो जाता है। १०० मात्रा में लगभग १५ मिनट होना चाहिये। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्वरसादि का पूरण करना हो तो भोजन से पूर्व पूरित करें, यदि तेल इत्यादि से पूरण

---

१. "अवश्याम जलक्रीडा कर्णकण्डूननैर्मरुत्।
मिथ्यायोगेन शस्त्रस्य कुपितोऽन्यैश्च कोपनैः।
प्राप्य श्रोतशिराः कुर्यात् मूलं स्रोतसिवेगवान्।
ते वै कर्णगता रोगाः अष्टाविंशतिरीरिता॥"

२. "सामान्यं कर्णरोगेषु घृतपानं रसायनम्।
अव्यायामोऽशिरः स्नानं ब्रह्मचर्यमकत्थनम्॥"

करना हो तो सूर्यास्त के पश्चात् करना चाहिए ।[1]

आयुर्वेद में हिंग्वादि क्षार तैल, कुष्टादि तैल, द्रव्यादि तैल का प्रयोग कर्ण पूरण करने के लिए वताया गया है ।

कर्ण रोगों में इन क्रियाओं के अतिरिक्त औषधयान का विधान भी वताया गया है । उसमें हम पाते हैं कि रास्नादि गुग्गुल को उत्तम द्रव वताया गया है । इन्दुवटी का प्रयोग करना चाहिये । महारस का प्रयोग करना सब प्रकार के कर्ण रोगों को दूर करता है ।[2]

कर्ण रोगों में स्वेदन, रेचन, वमन, नस्य, अवधूलन, सिरावेध आदि हित-कारक हैं । गेहूँ, चावल, मूँग, जो पुराना घी लाभ करता है ।[3]

च्यवनप्राश रसायन का प्रयोग, त्रिफला का प्रयोग, घृत का सेवन, ब्रह्म-चर्य का पालन हितकारक होता है ।

दातुन करना, सिर पर पानी डाल कर स्नान करना अथवा पानी में डुबकी लगाकर स्नान करना, व्यायाम करना, कफवर्धक एवं भारी आहार का सेवन करना, कान को खुजलाते रहना अथवा कुरेदते रहना, सर्दी, तुपार अथवा तेज वायु में रहना, इन सवका त्याग करना चाहिये अन्यथा कर्ण रोग और वढ़ जाते हैं ।[4]

---

१. "स्वेदयेत्कर्णदेशं तु किंचिन्नु पार्श्वशायिनः ।
मूत्रैः स्नेहैः रसैः कोष्णैस्तैश्च श्रोत्रं प्रपूरयेत् ॥
कर्णे च पूरितं रक्षेच्छतं पञ्च शतानि च ।
सहस्रं वापि मात्राणां श्रोत्रकण्ठशिरोगदे ॥
स्वजानुनः करावर्त्त कुर्यात छोटिकया युतम् ।
एषा मात्रा भवेदेका सर्वत्रैवं विनिश्चयः ॥
रसाद्यैः पूरणं कर्णे भोजनात्प्राक् प्रशस्यते ।
तैलाद्यैः पूरणं कर्णे भास्करेऽस्तमुपागते ॥

२. "......खदेत् कर्णरोगे महारसम् ॥"

३. 'स्वेदो विरेको वमनं नस्यं धूमं शिराव्यधः ।
गोधूमः शालयो मुद्गः यवाश्च पुरानं हविः ॥"

४. "दन्तकाष्ठं शिरः स्नानं व्यायामं श्लेष्मलं गुरु ।
कराङ्गमनं तुषारं च कर्णरोगी परित्यजेत् ॥"

सुश्रुत संहिता में वर्णित उक्त परिभाषा के अनुसार केवल तीन बातें ही स्पष्ट होती हैं कि कर्णशूल एक वात विकार है—यह सारे शरीर कान में दर्द करता है और इसकी चिकित्सा कठिनाई से होती है । वास्तव में देखा जाए तो कर्णशूल एक उपलक्षण मात्र है और यह लक्षण अनेक रोगों में पाया जाता है। आइए हम उन अवस्थाओं के विषय में विचार करें।

वाह्यकर्णगत विकृतियों में कर्णशूल होता है। कान के अन्दर फोड़ा या नासिका हो तो तीव्र पीड़ा होती है । शंखास्थि का शोथ, मस्तिष्कावरण शोथ करोटी की अस्थियों के बीच में किसी प्रकार का शोथ या पाक हो जाने पर भी कर्णशूल होता है। कई बार कान में पानी चला जाता है और उससे कान का मैल फूल जाता है। इससे श्रुतिपथ छिद्र रुक जाता है और पीड़ा उत्पन्न हो जाती है। कर्णपटह के विदीर्ण होने पर भी कर्णशूल होता है।

मध्यकर्ण शोथ में कर्णशूल तीव्र होता है। दन्तमूल शोथ या कृमिदन्त में भी शूल होता है। गले के विकारों में श्रुतिसुरंगा (Eustachian tube) द्वारा विकार मध्य कर्ण में चला जाता है और कर्णशूल उत्पन्न करता है । कान्तारक शोथ (Labrynthitis) में भी कर्णशूल होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त किसी भी अवस्था में कर्णशूल हो सकता है, तो भी यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि सुश्रुत संहिता में कर्णशूल को एक प्रधान रोग माना है और वह वात प्रधान रोग है चाहे उसकी उत्पत्ति किसी भी कारण से क्यों न हो वायु का प्रकोप होकर उक्त लक्षण प्रकट होते हैं।

यहाँ पर यह बात जान लेना भी अनुपयुक्त न होगा कि आचार्य वाग्भट्ट ने कर्णशूल के पाँच भेद किए हैं और वह भेद दोषों के बल की अंशांश कल्पना पर आधारित है किन्तु वह वर्गीकरण हमें स्वीकार नहीं करना ।

कर्णशूल की साध्यासाध्यता के विषय में लिखा मिलता है कि जब कर्ण-शूल के कारण रोगी को मूर्च्छा आने लगे, अत्यंत दाह हो, ज्वर होने लगे, खाँसी आवे, श्वास बढ़ जाये, वमन हो तब वह कर्णशूल उपद्रवयुक्त हो जाता है। उपद्रवयुक्त कर्णशूल में रोगी को आराम नहीं मिलता और वह रोगी प्रायः मर जाता है ।

कर्णशूल की चिकित्सा बताते हुए सुश्रुत संहिता में विस्तार से वर्णन किया गया है। वहाँ पर लिखा गया है कि रोगी को स्नेहपान और अभ्यंग से स्निग्ध

करके वातहर द्रव्यों से स्वेद देकर स्नेह द्रव्यों से विरेचन देवें। नाड़ी स्वेदन एवं पिण्ड स्वेदन का प्रयोग करना चाहिये।[1]

बिल्व, एरन्ड, आक, पुनर्नवा, कैथ, धतूरा, सुहंजना, वस्तगंधा, अश्वगंधा, अरणी, बाँस के जौ, इनको कांजी में पकाकर दिया गया नाड़ी-स्वेद कफ-वात से उत्पन्न कर्णशूल को नष्ट करता है।

मछली, मुर्गा, बटेर इनके माँस से या दूध के मावे से पिण्ड स्वेद करें—यह कर्णशूल को दूर करता है।

पीपल के बहुत से कोमल पत्ते लेकर उनसे एक दोहना बनाकर उसमें तैल भर देवें। इसके ऊपर पीपल के पत्ते ढाँप देवें अन्यथा उपयुक्त वस्तु रख देवें। अब इस पर अंगारे रखकर इसे कान के ऊपर रख देवें। अंगारों की गर्मी से कान में तैल चू जाता है और वह तैल कान स्रोतों में जाकर कर्णशूल को दूर कर देता है।

अलसी, गुग्गुल, अगर और घी से धूप देवें। भोजन के पश्चात् घृतपान करावें और वस्तिकर्म करावें।

रात में मनुष्य भोजन न करके घृतपान करे और पीछे से गरम दूध पीए। सिरो वस्तिनस्य एवं परिसेचन करें तथा एतर्थ शतपाकी बला तैल का प्रयोग करना चाहिए। भोजन में भी इस तैल का प्रयोग करना चाहिए।

कटेली चारपल मात्रा में लेकर आठ गुणा दूध लेवें और दूध से चार गुणा पानी मिलावें, अब इसे पकावें। इसमें एक कुड़व मात्रा मुर्गे की वसा को सिद्ध करें। इस वसा को कानों में डालना चाहिए—इससे कर्णशूल दूर हो जाता है।

चौलाई की जड़, अंकोठ का पुल, झिंटी, केन्द्रकमूल, चीड़, देवदारू, लहसुन, सोंठ, बाँस के छिलके का कल्क बनावें। दही-तक्र-सुराकाँजी लेवें और इनमें घृत-तेल-वसा मज्जा इन चारों स्नेहों को सिद्ध कर लेवें। इनका प्रयोग कर्णपूरण में करने से लाभ होता है।

लहसन, अदरक, सुहजना, मीठा सुहजना, मूली, केला, इनका स्वरस लेकर सह्य गरम कर कान में डालने से दर्द दूर हो जाता है। अदरक का रस, मधु, सैन्धव, तेल इनको थोड़ा गरम करके कान में डालने से वेदना दूर हो जाती है।

---

१. "स्निग्धं वातहरैः स्वेदैर्नरं स्नेहविरेचनम्।
नाड़ी स्वेदैरुप चरेत्पिण्ड स्वेदैस्तथैव च॥"

हितकारक है। तीक्ष्ण शिरोविरेचन एवं कदल उत्तम है।[1]

आधुनिक चिकित्सक भी एतर्थ कर्णबिन्दु का प्रयोग करते हैं। एक योग निम्नवत है—

प्रोकेन हाइड्रोक्लोर	१ ग्रेन
मैन्थल	५ ग्रेन
केम्फर	६ ग्रेन
परिस्रुत जल	½ औंस

इसे मिलकर कर्ण में बूंद डाली जायें तो कर्णशूल में सद्य लाभ होता है। इसी प्रकार अहिफेन के योग बनाकर भी कर्णशूल से दूर करने के लिए प्रयोग करते हैं।

(२) कर्णनाद

"कर्णस्रोत में वायु के स्थित होने से विविध प्रकार के स्वर सुनाई पड़ते हैं यह शब्द शहनाई, मृदङ्ग और शंख की ध्वनि के समान होते हैं। इस अवस्था को कर्णनाद अथवा कर्णप्रणाद कहा जाता है।[2]"

(३) कर्णक्ष्वेड़

यह भी कर्णनाद से मिलता जुलता रोग है इसमें भी कान में शब्द होता रहता है। अन्तर केवल इतना है कि कर्णनाद में भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्द उत्पन्न होते हैं जबकि कर्णक्ष्वेड़ में एक ही प्रकार की ध्वनि उत्पन्न होती है जिसकी समता वंशी बजाने की आवाज के समान होती है इसकी व्याख्या निम्न प्रकार की गई है।

"वायु पित्तादि के साथ संयुक्त हो कर वेणु-घोष के समान कान में शब्द पैदा करता है, उस रोग को कर्णक्ष्वेड़ कहा जाता है।"[3]

कर्णनाद एवं कर्णक्ष्वेड़ दोनों ही साधारण रोग माने जाते हैं कि कानों में आवाज होने लगती है। यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि यही अवस्थाएं कभी

१. यह ध्यान रखना चाहिए कि ऊपर जो चिकित्सा लिखी है वह सुश्रुत संहिता उत्तरतन्त्र अध्याय २१ से ली गई है।

२. कर्णस्रोतस्थिते वातेऽशृणोति विविधान् स्वरान्।
भेरीमृदङ्ग शंखानां कर्णनादः स उच्यते॥

३. वायु पित्तादिभियुक्तो वेणुघोषोपमं स्वनम्।
करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्णक्ष्वेड़ः स उच्यते॥

तरह का हो सकता है—एक तो शुष्क और दूसरा आर्द्र । इस शोथ का प्रभाव कर्णपटह की झिल्ली पर भी हो जाता है ।

इस शोथ को बाह्यकर्णशोथ अथवा ओटाइटिस एक्ट्रना (Otitis externa) कहते हैं। शुष्क में त्वचा में शुष्कता होती है, खुजली होती है, क्षोभ होता है और पतला स्राव होता है, आर्द्र में श्रुतिपथ लाल हो जाता है और शोथयुक्त हो जाता है। इसमें पूय स्राव अधिक मात्रा में होता है और बदबूदार होता है।

कर्णकण्डु की चिकित्सा में निम्न विधान बताया गया है—[1]

(क) नाड़ी स्वेदन (ख) वमन (ग) धूम्रपान (घ) शिरोविरेचन (ङ) कफ नाशक विधियाँ।

(७) कर्णगूथ

"पित्त की उष्णता से स्रोतों में कफ के सूख जाने से मनुष्यों में कर्णगूथ नामक रोग होता है।[2] 'कर्णगूथ' का अर्थ होता है कान में मैल का होना, यह मैल मोम के समान होता है इसलिए इसको अंग्रेजी में वैक्स (Wax) कहा जाता है। यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि कान में मैल का होना एक प्राकृतिक अवस्था है—यह कान की त्वचा के नीचे स्थित ग्रन्थियों का स्राव है। इसमें विशेष प्रकार की गन्ध होती है और चिपचिपापन होता है। इससे मक्खी आदि अन्दर नहीं जा पाती, धूल आदि बाह्य पदार्थ इसमें लिपट कर बाहर निकल आते हैं। यह कान की नलिका की रक्षा करती है। इस मैल का स्वाभाविक अवस्था में रहना कोई रोग नहीं। धूल का काम करने वाले, कोयले का काम करने वालों को यह मैल ज्यादा हो जाता है और उस अवस्था में रोग कहलाता है।

कर्णगूथ में प्रायःकर निम्न लक्षण हो जाते हैं—

१. वधिरता जो कि श्रुतिपथ का अवरोध होने से होता है।

२. पीड़ा एवं क्षोभ होता है।

---

१. "नाड़ीस्वेदोऽथ वमनं धूमो मूर्धविरेचनम्।
विधिश्च कफहृत्सर्वः कर्णकण्डूमपोहति।"

२. "विशोषिते श्लेष्मणि पित्त तेजसा।
नृणां भवेत् स्रोतसि कर्णगूथकः॥"

इस वर्णन को देखकर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कानों में कृमि होना कृमिकर्ण कहलाता है। यह विचार करना चाहिए कि यह होता किस प्रकार है। इसके लिए हम कह सकते हैं कि कान के किसी रोग में जब स्राव होता है अथवा पूय बहता है—उनकी पूर्ण रूप से सफ़ाई न रखी जा सके तो उसमें कृमि उत्पत्ति हो जाती है और उक्त अवस्था बन जाती है। अतः कहा जा सकता है कर्ण स्राव कर्णविद्रधि के पाक की अवस्था में उचित उपचार न होने से माक्षिका आदि द्वारा उपसर्ग होने से उक्त कृमिकर्ण नामक रोग उत्पन्न होता है।

कृमिकर्ण की चिकित्सा बताते हुए सुश्रुत संहिता में निम्न विधि लिखी है—[1]

(क) कृमिनाशक चिकित्सा करनी चाहिए।
(ख) सूखी कटेली का धुआँ कान में देना।
(ग) सरसों का तेल डालना।
(घ) गोमूत्र में हरताल मिलाकर कान में डालना।
(ङ) कान की दुर्गन्ध में गुग्गुल का धूपन देना।
(च) वमन।
(छ) धूम्रपान।
(ज) कवल धारण

इसके अतिरिक्त प्रक्षालन करना भी लाभप्रद होता है। कर्णस्राव के समान चिकित्सा करें। उसका वर्णन पीछे कर आए हैं।

(६) कर्ण प्रतिनाह

कर्णगूथ पिघल कर द्रवरूप होकर नासा मुख में आता है, तब इसको कर्ण प्रतिनाह नामक रोग कहते हैं। यह रोग सम्पूर्ण सिर को पीड़ित

१. "कृमिकर्णकनाशार्थं कृमिघ्नं योजयेद्विधिम्।
वार्ताकुधूमश्च हितः सार्षपस्नेह एव च।
कृमिघ्नं हरितालेन गवां मूत्र युतेन च।
गुग्गुलोः कर्णदौर्गन्ध्ये धूपनं श्रेष्ठमुच्यते।
छर्दनं धूमपानं च कवलस्य च धारणम्॥"

करता है।[1]

इस लक्षण को देखकर हमें मानना पड़ता है कि कर्णपटह का विदीरण होना आवश्यक है और श्रुतिसुरंगा का खुला होना आवश्यक है जिससे कान का स्राव मुख एवं नासा में आ सके। दूसरी ओर हम वाग्भट्ट में वर्णित लक्षणों को देखते हैं उसके अनुसार इस अवस्था में श्रुतिसुरंगा का तीव्र अवरोध होना आवश्यक है। वहाँ पर कहा गया है कि कर्णगत श्लेष्मा वायु के द्वारा शुष्क हो जाता है, अतः वह स्रोतों मे लिपट जाता है, जिससे पीड़ा, गुरुता और अवरोध का अनुभव होता है, उसे कर्णप्रतिनाह कहते हैं।[2]

इस अवस्था को इन दोनों लक्षणों को देखने के बाद एक ही नाम दिया है और अंग्रेजी में कहा जाता है—"Perforation of the drum and catarrb of Eustachian tube"।

इसकी चिकित्सा बताते हुए निम्न विधि कहीं गई है—[3]

(क) स्नेहन

(ख) स्वेदन

(ग) शिरोविरेचन

(घ) उपयुक्त औषधि

(१०-११) कर्ण विद्रधि

"चोट लगने से एक प्रकार की विद्रधि उत्पन्न होती है और दोषजन्य विद्रधि दूसरी प्रकार की है। इसमें लाल, पीला, अरुण वर्ण का रक्त बहता

---

१. "स कर्णविट्को द्रवतां यदा गतो विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते।
तदा तु कर्ण प्रतिनाह संज्ञितो भवे विकारे: शिरसोऽर्धतापनः॥"

२. "वातेन शोषितः श्लेष्मा स्रोतो लिम्पेत्ततो भवेत्।
रुगोरुपिधानञ्च स प्रतिनाह संज्ञितः॥"

३. "अथ कर्ण प्रतिनाहे स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत्।
ततो विरिक्तशिरसः क्रियां प्रोक्तां समाचरेत्॥"

है। चुभने की वेदना, धूमोद्गार, दाह एवं जलन होतीहै।"[1]

दोषज विद्रधि के और भी भेद किये जायें तो वह चार प्रकार की होती है जैसा कि विद्रधि के प्रकरण में कहा भी गया है वातिक-पैतिक—श्लैष्मिक और सन्निपातिक और आगन्तुक में क्षतज एवं अभिघातक बताई गई है। इस प्रकार छः प्रकार की विद्रधि कही गई हैं।

कर्णविद्रधि के नाम से स्पष्ट है कि इस अवस्था में वाह्यकर्ण स्रोत में एक फोड़ा हो जाता है। यह एक या अनेक हो सकते हैं। इसमें तीव्र पीड़ा होती है। कान के आस-पास नीचे शोथ रहता है। कान के सामने या नीचे हाथ लगाना भी कठिन हो जाता है। यदि विद्रधि बड़ी हो और स्रोत में अवरोध हो जाए तो उसमें बधिरता भी हो जाती है।

इस अवस्था को अंग्रेजी में Frunclosis कहते हैं।

कर्णविद्रधि की चिकित्सा करते समय रोग की अवस्था के अनुसार उपचार करना पड़ता है। यदि विद्रधि पकी न हो तो उसको बैठाने के लिए सशांमक उपचार करना चाहिए। यदि विद्रधि पाकोन्मुख हो और पकाना आवश्यक हो तो दारक योगों से अथवा शस्त्र क्रिया से विदीर्ण करें फिर शोधन और रोपण की व्यवस्था करनी चाहिए।

आधुनिक चिकित्सक निम्न उचार करते हैं—

(क) इक्थोल इन ग्लीसरीन १०% का घोल लेकर उसमें तीन इंच लम्बा कपड़े का टुकड़ा भिगोकर 'पैक' करना चाहिए। इससे यदि बैठना होगा तो बैठ जाएगी और पक जाय तो उसका शोधन करना चाहिए।

(ख) आजकल सल्फा की दवाइयां और पैन्सलीन का प्रयोग किया जाता है और उनसे लाभ भी होता है।

(ग) क्षोभक कारणों को सदैव दूर करना चाहिए। गुड़, तेल, खटाई आदि का प्रयोग भी बन्द कर देना चाहिए।

---

१. "क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधिर्भवे न्तया दोषकृतोऽपरः पुनः।
सरक्तपीतारुणमस्रासमास्रवेत् प्रतोदधूमायनदाह चोषवान्॥"

(१२) कर्ण पाक

"पित्त के प्रकोप से कानों में सड़ना और क्लेद युक्त पाक होना, कर्णपाक कहलाता है।[1]

इस विषय में एक शंका का समाधान करते चलना आवश्यक है कि कर्ण-गूथ में पित्त के द्वारा शुष्कता होना कहा गया है और यहाँ पाक होना तथा क्लेदन बताया है। जो दोनों एक दूसरे से विपरीत हैं इसका उत्तर यह है कि पित्त की उष्णता अधिक हो और सहकारी कारण रूक्ष हो तो कर्णगूथ होता है और यदि पित्त की स्रावता अधिक हो और सहकारी कारण स्रावक हों तो कर्णपाक होगा।

कर्णपाक एक ऐसी अवस्था है जो अनेक रोगों में हो सकती है तो भी इतना तो मानना ही होगा कि यह प्रायः शोथ के बाद उत्पन्न होने वाली अवस्था है।

कर्णपाक की चिकित्सा बताते हुए सुश्रुत में लिखा गया है कि पित्तज—विसर्प के समान इलाज करना चाहिए। पित्तज-विसर्प की चिकित्सा बताते हुये कहा है—

१. लेप—(क) कसेरू, सिंघाड़ा, कमल, कीचड़ को घृत में मिला कर अतिशय शीतल करके वस्त्र के व्यवधान से।

(ख) हाऊबेर, खस, चन्दन, स्रोताञ्जन, मुक्ता, मणि, गेरू को दूध में पीसकर घी के साथ अतिशय शीतल करके लेप करें।

२. परिषेचन—वरगद आदि क्षीरी वृक्षों के स्वरस से, शीतल दूध से शहद के जल से, ईख के रस से।

३. गोर्यादिघृत—(सुश्रुत चिकित्सा स्थान अध्याय १७ में) इस घृत से परिषेक लाभ होता है।

(१३) पूतिकर्ण

"पैतिक तेजोंश के द्वारा कर्ण स्रोत में स्थित श्लेष्मा के संतप्त एवं विलीन

---

१. "भवेत प्रपाकः खलु पित्तकोपत्तो।
विकोथविक्लेदकरश्च कर्णयो।"

२. "कर्णपाकस्य भैषज्यं कुर्यात्पित्त विसर्पवत्॥"

होने पर वेदना रहित अथवा वेदना सहित घने एवं दुर्गन्धित स्राव स्रावित करने वाला कर्णगत रोग पूतिकर्ण कहलाता है।"[१]

पूतिकर्ण का अर्थ है कान में बदबू का होना। इससे हम पाते हैं कि कान में स्राव होता है और उसमें दुर्गन्ध उत्पन्न हो जाए उसे पूतिकर्ण कहते हैं। माधव ने इसे और भी स्पष्ट कर दिया है कि—"जिस कर्ण रोग में पूयस्राव, दुर्गन्धित स्राव या घना स्राव हो उसे पूतिकर्ण कहा जाता है।"[२]

पूतिकर्ण की चिकित्सा कर्णस्राव की तरह करने को कहा गया है जिस का वर्णन हम पीछे कर आए हैं।

(१४-१७) कर्ण-अर्श

कान में अर्श के मस्सों के समान पाई जाने वाली विकृति को कर्णार्श कहते हैं। आजकल वैज्ञानिकों ने कई अवस्थाएं बताई हैं—

(क) ल्युपस (Lupus) छोटी-छोटी ग्रन्थियां कान के बाह्य भाग में पाई जाती हैं यह प्रायः क्षयज होती हैं।

(ख) फिरङ्गार्श (Condylomata) फिरंग की द्वितीयावस्था में यह विकार उत्पन्न होता है।

(ग) कर्ण वल्मीक (Otomycrosis) यह एक फंगस का विकार है।

और भी कुछ विकार हैं जिनका स्वरूप अर्श से मिलता है अतः वह भी कर्ण अर्श कहलाते हैं।

कर्ण अर्श की चिकित्सा करते समय हमें वही करनी होगी जो अर्श प्रकरण में कही गई है। यह चिकित्सा चार प्रकार की होती हैं—

(क) औषध

(ख) शस्त्र

(ग) क्षारकर्म

(घ) अग्निकर्म

इनकी विस्तृत व्याख्या यहाँ पर आवश्यक नहीं।

---

१. "स्थिते कफे स्रोतसि पित्ततेजसा
 विलायमाने भृशसंप्रतापवान् ॥"

२. "पूयं स्रवति पूतिर्वा स ज्ञेयो पूतिकर्णकः।"

(१८-२४) कर्ण-अर्बुद

कर्ण रोगों का वर्णन करते समय हम पाते हैं कि आचार्य ने यह कह दिया है कि कर्ण अर्बुद भी साधारण अर्बुद के समान ही समझना चाहिए। और अर्बुद रोग का वर्णन सुश्रुत आदि में पाते हैं—अतः उस विषय को संक्षेप में लिख देते हैं।

सुश्रुत संहिता निदान स्थान अध्याय ११ में अर्बुद का लक्षण बताते हुए कहा है कि—"कुपित वातादि दोष के किसी भी भाग में माँस और रक्त को दूपित करके शरीर गोल, स्थिर, मन्दवेदना युक्त, महान् एवं विस्तृत मूल वाली, देर में बढ़ने वाली, पाक रहित, माँस संघात युक्त तथा अगाध शोथ उत्पन्न करते हैं शास्त्रविद् इसको अर्बुद कहते हैं।

अर्बुद की यह सम्प्राप्ति एवं लक्षण बताने के बाद वहाँ पर अर्बुद के छः भेद बताए हैं—किन्तु कर्ण रोगों का वर्णन करते हुए कर्ण-अर्बुद सात प्रकार के कहे हैं—कर्ण रोगों में सन्निपातज अथवा सिराज कह कर सातावें प्रकार के कर्ण अर्बुद का वर्णन किया है।

आचार्य ने अर्बुद के न पकने का कारण बताते हुए लिखा है कि अर्बुद में कफ एवं मेद की अधिकता विशेष रूप से रहती है इसलिए तथा वातादि दोषों के स्थिर होने से तथा वातादि दोषों के ग्रन्थि रूप में बन जाने से सब प्रकार के अर्बुद स्वभाव से ही नहीं पकते।

अर्बुद को अंग्रेजी में 'ट्यूमर्स' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने ट्यूमर्स के मुख्यतः दो प्रकार बताए हैं।

(१) साधारण (Simple Tumors)

(२) घातक अर्बुद (Malignant Tumors)

आधुनिक समय में प्रचलित कैन्सर रोग घातक प्रकार का अर्बुद कहा जाता है। साधारण अर्बुद का उपचार सरल है किन्तु घातक अर्बुद का उपचार बहुत कठिन होता है। सम्प्रति रेडियम आदि द्वारा इनका उपचार कराया जाता है।

अर्बुद कान में किस जगह होता है, उसका वर्णन आधुनिक शालाक्य-तन्त्र के ग्रन्थों में पाया जाता है और वहां पर कहा गया है कि कर्ण के बाह्य भाग में कर्ण पाली शष्कुली, पुत्रिका और बाह्यश्रुतिपथ में प्रायः यह अर्बुद उत्पन्न

होते हैं। यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि कर्ण का आश्रय लेकर जो भी अर्बुद होते हैं यह साधारण भी हो सकते है और घातक भी।

अर्बुद का उपचार बताते हुए आयुर्वेद में अलग-अलग प्रकार के अर्बुद के लिए अलग-अलग विधान बताए हैं तो भी साधारणतः अर्श में जो उपचार कहे गए हैं वही अर्बुद के लिए है। वे चार विधान हैं—औषध, शस्त्र, क्षार और अग्नि का प्रयोग। अवस्था के अनुसार इनमें से जो उपयुक्त हो उसके द्वारा अर्बुद का उपचार करें।

आधुनिक चिकित्सक अर्बुद का उपचार करने में शल्य कर्म करते हैं। प्रायः अर्बुद का छेदन (Excision) करते हैं और फिर उस स्थान पर रेडियम का प्रयोग करते हैं। इन से लाभ होता है।

(२५–२८) कर्ण शोथ

कर्ण रोग वर्णन में चार प्रकार के कर्ण रोगों का भी वर्णन किया है। वह चार प्रकार के हैं:—

(क) वातज
(ख) पित्तज
(ग) कफज
(घ) सन्निपातज

और कहा गया है कि यह शोथ कान का आश्रय लेकर उत्पन्न होते हैं किन्तु इनमें लक्षण शोथ के अनुसार होते हैं। अतः उसी प्रकार इन्हें भी समझना चाहिए।

आधुनिक शालक्य तन्त्र विषयक ग्रन्थों में कर्ण शोथ के विषय में बहुत विस्तृत वर्णन उपलब्ध होते हैं। वहां पर कान के तीनों भागों में पाए जाने वाले शोथ का अलग-अलग वर्णन उपलब्ध होता है। वे हैं—

(क) बाह्यकर्ण शोथ।
(ख) मध्यकर्ण शोथ।
(ग) अन्तःकर्ण शोथ।

इनमें से मध्यकर्ण शोथ बहुत प्रसिद्ध विकार है अतः उसके विषय में वर्णन करना आवश्यक समझता हूं।

मध्यकर्ण शोथ (Otitis media)

मध्य कर्ण के अन्दर की श्लेष्मिक कला के शोथ युक्त हो जाने को मध्य कर्ण शोथ कहा जाता है। यह मध्य कर्ण शोथ प्रायः उपसर्ग के द्वारा हुआ करता है और उपसर्ग पहुंचने के अनेक मार्ग हैं। उनमें से प्रसिद्ध निम्न हैं जो तीव्र कर्ण शोथ करते हैं।

(क) नासाग्रसनिका (Nasopharynx)—इस स्थान का मध्यकर्ण से सीधा सम्बन्ध है जो सम्बन्ध कराने वाला अंग है उसे हम श्रुति सुरंगा कहते हैं जब नासाग्रसनिका में शोथ हो जाये, कंठशालूक हो, अर्बुद हो, उन सभी अवस्थाओं में मध्यकर्ण में शोथ हो जाता है। कभी-कभी पानी में डुबकी लगाने से भी श्रुतिसुरंगा द्वारा जल मध्य कर्ण में पहुंच जाता है और शोथ उत्पन्न करता है।

(ख) बच्चों को कंठशालूक (Adevoid) नाम ग्रन्थि के विकार के कारण मध्यकर्णशोथ होता है।

(ग) रक्तवाहिनियों द्वारा भी उपसर्ग मध्यकर्ण तक पहुंच कर तीव्र शोथ उत्पन्न करता है।

(घ) बाह्यकर्णशोथ एवं अन्तःकर्ण शोथ भी मध्यकर्ण शोथ का कारण हो सकते हैं।

(ङ) प्रतिश्याय आदि विकारों में भी कर्ण में शोथ पाया जा सकता है।

तीव्र मध्यकर्ण शोथ में निम्न लक्षण एवं चिन्ह होते हैं—

(१) पीड़ा—वह प्रायः तीव्र होती है और यह कान तक मर्यादित होती है। जितना अधिक स्राव होगा उतना ही मध्यकर्ण में तनाव होगा।

(२) बधिरता—यह भी उसी अवस्था में होता है जबकि अधिक स्राव हो। अल्प स्राव में प्रायः नहीं होता। मध्यकर्ण शोथ में बधिरता का मिलना इस बात का द्योतक है कि अब रोग बढ़ा हुआ है। स्राव के बढ़ जाने से पटह में छिद्र हो जाने से स्राव बाहर आता है।

(३) शब्द—कर्णशूल के साथ-साथ कान में आवाजें भी होती हैं और कभी-कभी रोगी ऐसा अनुभव करता है कि उसके कान में प्रतिध्वनि हो रही है।

(४) किसी-किसी रोगी को चक्कर भी आ सकते हैं। यह तभी होता है जब मध्य कर्ण शोथ का असर अन्तःकर्ण पर भी प्रभाव डालने लगे।

(५) सार्वदैहिक लक्षणों में मध्य कर्ण शोथ में ज्वर, नाड़ी की गति तीव्र जुकाम, अग्निमान्द्य एवं आलस्य आदि लक्षण हो जाते हैं।

इन लक्षणों एवं चिन्हों को देखकर रोग का निदान सरल हो जाता है तो भी परीक्षा करने की आवश्यकता होती है। सर्वप्रथम कर्णपटह (Drum) का निरीक्षण करना चाहिए। इस अवस्था में कर्णपटह की चमक नष्ट हो जाती है। शोथ में प्राय: इसका रंग भूरे के स्थान पर गहरा लाल हो जाता है। जब अन्दर स्राव काफी एकत्र हो जाता है तो कर्णपटह ऊपर को उभरा हुआ दिखाई देता है। जब पाक की अवस्था आ जाती है तब हम पाते हैं कि वह लाल रंग के स्थान पर पीला रंग का हो गया है।

मध्यकर्ण की शोथ की परीक्षा करते हुए इस नियम के विशेषज्ञ एक परीक्षा करते है जिसे टर्निंग फोर्क टेस्ट कहते (Tuning Fork Test) हैं। कान की पीछे की अस्थि को दबा कर देखा जाता है। उस स्थान पर यदि स्पर्श असह्य हो जाए तो रोग का निश्चय हो जाता है।

मध्यकर्ण शोथ के बढ़ जाने पर यदि कर्णपटह में छिद्र हो जाए और कान से स्राव होने लगे तो रोग का निश्चय हो जाता है। इस अवस्था में उस स्राव को रूई से साफ करके यदि कर्ण-पटह की परीक्षा की जाए तो ध्यान पूर्वक देखने से छिद्र दिखाई दे जाता है।

रोग का निश्चय हो जाने पर तीव्र मध्यकर्ण शोथ में लक्षणों के अनुरूप चिकित्सा आरम्भ करनी चाहिए। जब तक कर्णपटह में छिद्र न हुआ हो तब तक शून को नष्ट करने वाली ओषधियाँ देनी चाहिए। इस अवस्था में आधुनिक चिकित्सक कार्बोलिक ग्लीसरीन की बूंदें कान में डालते हैं और एस्प्रिन कोडीन आदि का मुख द्वारा प्रयोग कराते है। इस हालत में गले में वाष्प ग्रहण करना अथवा नासिका द्वारा एफेड्रिन ड्राप का प्रयोग किया जाता है इससे श्रुति सुरंगा का संकोच दूर हो जाता है और वहाँ का प्रवाह ठीक प्रकार चालू हो जाता है। स्वेदन इस अवस्था में लाभ करता है। रोगी को शय्या पर पूर्ण विश्राम देना चाहिए। आज सल्फा की ओषधियाँ एवं पेन्सिलिन होने से इस रोग में इनके द्वारा खूब लाभ पहुंचाया जाता है।

कभी-कभी इस अवस्था में शस्त्र कर्म भी करना आवश्यक हो जाता है जब मध्यकर्ण शोथ में अत्यधिक शूल हो, मध्यकर्ण में पूय के संचय से ज्वर आदि लक्षण बढ़ जायें और स्राव के बढ़ जाने से श्रवण कार्य में कठिनाई

हो तब शस्त्रकर्म करना चाहिए। इससे तीव्र लक्षण एवं उपद्रवों से शान्ति मिल जाती है। इस शस्त्रकर्म में कर्णपटह का भेदन किया जाता है जो संज्ञाहरण देकर विशेषज्ञ शालाक्यविदों द्वारा कराया जाता है।

मध्य कर्णशोथ की दूसरी अवस्था वह है जबकि कर्णपटह में स्वयं छिद्र हो जाए। उस अवस्था में चिकित्सा निम्न सिद्धांतों पर की जाती है—

(क) स्राव अथवा पूय की सफाई (Adegate Drainage)

(ख) स्राव को सुखाना (Drying up the Discharge)

(ग) शूल नाश (Seditives)

स्राव की सफाई के लिए शुष्क रुई से काम लिया जाता है अथवा हाईड्रोजन पेराक्साइड' की बूँदें डालकर झाग हो जाने पर सफाई कर लेवें। स्राव को शुष्क करने के लिए 'बोरिक एसिड स्प्रिट' का प्रयोग किया जाता है। एतर्थ सल्फा की औषधियाँ पेन्सिलिन एवं अन्य एन्टीबायटिक्स प्रयोग किया जाता है। कान में डालने के लिए क्लोरोमायसेटिन, सिन्थो मयसेटिन, टेरामाइसिन आदि के कान में डालने के ड्राप मिलते हैं। इन औषधियों को मुख द्वारा ग्रहण करना चाहिए।

यदि मध्यकर्णशोथ का उपशायन न हो तो उसके परिणाम स्वरूप जीर्णमध्यकर्ण शोध (chronic Supurative Otitis Media) हो जाता है। इस अवस्था में लक्षण कुछ अलग हुआ करते हैं।

जीर्णमध्य कर्णशोथ

(Chronic Superative Otitis Media)

यह बढ़ी हुई अवस्था है जिसमें तीव्र शूल आदि न होकर स्राव हुआ करता है। स्राव ही इस रोग का प्रधान लक्षण है। इस अवस्था में पतला गाढ़ा कैसा भी स्राव हो सकता है। इस अवस्था को हम 'कर्णस्राव' कह सकते हैं। इसी अवस्था में जब बदबूदार स्राव होता है तो उसे 'प्रतिकरण' कहते हैं। इस अवस्था में बधिरता पाई जाती है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी ज्वर आदि भी हो सकता है। इस रोग की परीक्षा में कर्णपटह की परीक्षा करनी चाहिये।

रोग की परीक्षा से यदि अवस्था का ज्ञान हो जाए इस बात का निर्णय हो जाए कि व्याधि बहुत गहरी अवस्थित नहीं है तो निम्न सिद्धांतों पर उपचार करें—

(क) कर्ण की पूर्णतः शुद्धता

(ख) स्राव को शुष्क करना

एतदर्थ विधान यह है कि कान में हाइड्रोजन पेरोक्साइड की कुछ बूंद डाल देवें फिर कुछ उष्ण बोरिक लोशन लेकर पिचकारी से कान को धो देना चाहिए। कान को रुई से सुखा कर बोरो-स्प्रिट की बूंदे डालते हैं। शुल्व-औषधियाँ एवं एन्टीबायटिक्स के ड्राप भी प्रयोग किए गए किन्तु उनका प्रयोग जीर्ण अवस्था में लाभप्रद नहीं पाया गया।

कान में डालने के लिए बोरिक और आयोडीन का चूर्ण डालना डाहिए।

मध्यकर्णशोथ बढ़ जाए तो उसमे उपद्रव हो जाते हैं। उपद्रवों में कठि-नाई से उपचार हो सकता है। उन सबका विस्तार विशेषज्ञों के लिए है।

प्रश्न—क्षारकर्म एवं अग्निकर्म के विषय में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर—कर्ण-अर्श आदि रोगों की चिकित्सा में क्षार कर्म एवं अग्निकर्म करने का विधान भी कहा गया है। हम इनके विषय में क्रमशः संक्षिप्त वर्णन करते हैं—

क्षारकर्म क्षार के द्वारा किया गया कर्म है। क्षार के दो भेद बताए गए हैं—

(क) पानीय—जो पीने के काम आता है।

(ख) प्रतिक्षारणीय—जो प्रतिसारण योग्य होता है।

क्षारकर्म में प्रतिसारणीय क्षार का प्रयोग किया जाता है। प्रतिसारणीय क्षार का प्रयोग कुष्ठ, किटिभ, दद्रु, किलास, मन्डल, भगन्दर, अर्बुद, दुष्टव्रण नाडीव्रण, चर्मकील, तिलकालक, न्यच्छ, व्यंग, मशक, कृमि आदि में एवं अर्श में किया जाता है। उपजिह्वा, अधिजिह्वा उपकुश, दन्तविदर्भ, रोहिणी में प्रयोग किया जाता है।

प्रतिसारणीय क्षार तीन प्रकार का होता है:—

(क) मृदु

(ख) मध्यम

(ग) तीक्ष्ण

जिस क्षार में प्रतिवाप्य (शंख आदि शास्त्रोक्त द्रव्य) न डाले जाएं वह मृदु प्रतिसारणीय क्षार कहलाता है। जिसमें प्रतिवाप्य द्रव्य मिलाए जाए वह मध्यम प्रतिसारणीय क्षार कहलाता है और मध्यम में जमाल गोटा, चित्रक,

विड़नमक आदि प्रक्षेय द्रव्य मिलाए जाए तो तीक्ष्ण प्रतिसारणीय क्षार कहलाता है।

क्षार के पाठ गुण बताए गए हैं।[1]

(i) अतितीक्ष्ण न होना। (ii) अग्मिृद न हो (iii) शुक्ल होना।
(vi) शलक्ष्ण (v) पिच्छिल (vi) अविष्यन्दी (vii) शिव
(viii) शीघ्रकारी

और इसी प्रकार निम्न दोष भी कहे गए हैं:—

(i) अतिकोमल (ii) अतिशीत (iii) अति उष्ण
(iv) अतितीक्ष्ण (v) अतिपिच्छिल (vi) बहुत फैलने वाला
(vii) बहुत घना (viii) अपक्व (iv) हीन द्रव्यता

क्षार प्रतिसारण विधि से बताते हुए कहा गया है कि, "वायु रहित, सूर्य के प्रकाशयुक्त खुले स्थान में रोगी को बिठाना चाहिए। रोगी के रुग्ण स्थान को देखकर पित्तदुष्ट स्थान को घर्षण करके वातदुष्ट स्थान को लेखन करके, कफदुष्ट स्थान को पोंछ करके शलाका द्वारा क्षार लगाना चाहिए। क्षार लगाकर सौ अक्षर के बोलने तक प्रतीक्षा करनी चाहिये। इस समय में जो क्षार दहन कर देता है—वह उत्तम कहलाता है। उत्तम प्रकार दहन हो जाने पर वह स्थान कृष्णिमायुक्त हो जाता है।"

क्षारकर्म में सम्यक दग्ध होने पर अंगों में लघुता आ जाती है। रोग की शान्ति हो जाती है और किसी प्रकार का स्राव नहीं होता। हीन दग्ध होने पर तोद, कण्डू, जड़ता तथा रोग वृद्धि होती है। अतिदग्ध होने पर दाह, पाक, राग, स्राव, अंगमर्द, कलम, पिपिसा, मूर्च्छा अथवा मृत्यु हो सकती है।

क्षारकर्म की अपेक्षा अग्निकर्म श्रेष्ठ होता है क्योंकि अग्निकर्म से ठीक हुए रोग पुनः उत्पन्न नहीं होते, औषध, क्षार एवं शस्त्र से जो साध्य नहीं वह रोग भी ठीक हो सकते हैं।

शरदऋतु एवं ग्रीष्मऋतु को छोड़कर अन्य किसी भी ऋतु में अग्निकर्म करा सकते हैं। यदि किसी रोगावस्था के लिये आवश्यक हो तो इन ऋतुओं में भी विपरीत उपचार करके अग्निकर्म कराया जा सकता है। त्वचा-मांस-सिरा

---

१. नैवातितीक्ष्णो नमृदुः शुक्लः शलक्ष्णोऽथ पिच्छिलः।
अविष्यन्दी शिवः शीघ्रः क्षारोह्यष्टगुण स्मृतः॥

जहाँ से रक्त लेना हो, उस स्थान को पोंछ कर पतले वस्त्र से ढाँप कर सींग द्वारा रक्त का आचूषण करना चाहिए।

कफ से दूषित रक्त को अलाबु से निकालना चाहिए। अलाबु (तुम्बी) कटु रस, रूक्ष और तीक्ष्ण है। कफ के विकारों में तिनके, मद्य या बत्ती जला-कर उसकी वायु निकाल कर स्थान को पोंछकर उस स्थान पर लगा देना चाहिए।

पित्त से विकृत विकारों में जलौका द्वारा रक्त विस्रावण करनी चाहिए। जलौका का घर जल ही है अथवा जलामुका कहने से जल ही जिसकी आयु है, मधुर है। वह पित्त-दुष्ट रक्त को निकालने के लिए उत्तम है।

आयुर्वेद में बारह प्रकार की जलौकाओं का वर्णन किया है उनमें छः जलौकाएं निर्विष हैं और छः सविष रक्त विस्तावण के लिए निर्विष जलौकाओं का प्रयोग लाभ करता है। सविष का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए।

निर्विष जलौकाएं कपिला, पिंगला, शंकुमुखी मूषिका, पुण्डरीकमुखी, सावरिका नाम से वर्णित की गई हैं। यह अधिक पानी वाले सुगन्धित क्षेत्रों में रहती है। कीचड़ आदि में नहीं होती। यह विष आदि के पदार्थों का भक्षण भी नहीं करती।

गीले कपड़े से इनको पकड़कर पानी के पात्र में रखना चाहिए। अब रोगी के स्थान को पोंछ कर शुष्क कर लेवे। जौंक की पकड़ कर सरसों-हल्दी के कल्कोदक से जलौंका के शरीर को मल कर पानी के बर्तन में थोड़ी देर रख कर रोग वाले स्थान पर लगाना चाहिए। उस स्थान पर रक्त की या दूध की बूंद डाल देनी चाहिए जिससे जलौंका शीघ्र पकड़ लेवे। जौंक घोड़े के खुर के समान मुख को करके, स्कन्धों को ऊंचा करे तो समझना चाहिए कि रक्त पी रही है। उस पर गीला कपड़ा ढाँप कर रखना चाहिए। जलौंका प्रथम अशुद्ध रक्त पीती है जब वह शुद्ध रक्त पीने लगे तो तोद होने लगती है तो उसी समय इसे हटा देना चाहिए। न हटे तो इसके मुख पर सैन्धव लवण का चूर्ण डालना चाहिए।

सम्यक् प्रकार स्राव होने पर शतधौतघृत लगावें हीन योग में मधु से घर्षण करे और अतिरिक्त स्राव में शीतल परिषेचन करना चाहिए।

ध्यान रहे कि जलौंका को रक्तपान के पश्चात् वमन करा देव अन्यथा जलौंका को 'इन्द्रमद' नामक रोग हो जाता है।

नासारोग विज्ञान

प्रश्न—नासा शरीर का नातिविस्तृत वर्णन कीजिए ?

उत्तर—घ्राणेन्द्रिय का अधिष्ठान नासिका है। शालाक्य तंत्र में अधिकतर ज्ञानेन्द्रिय तथा उनके अधिष्ठानों का वर्णन पाया जाता है। साथ ही अधिष्ठान गत रोगों तथा प्रतिषेध का भी प्रसंग आता है। यहां पर नासिका या घ्राणेन्द्रियाधिष्ठान में होने वाले रोगों का वर्णन सर्वप्रथम किया जा रहा है। नासा-रोगों का तुलनात्मक (प्राचीन एवं अर्वाचीन) अध्ययन करने के लिये इस अधिष्ठान की रचना एवं क्रिया का ज्ञान आवश्यक हो जाता है। फलतः नासारोगाधिकार में सर्वप्रथम इसी विषय का वर्णन दिया जा रहा है।

नासा-शारीर—नाक के दो भाग होते हैं जो भाग बाहर से दिखाई पड़ता है—जिसे साधारणतः नाक कहते हैं, वह वहिर्नासिका कहलाता है दूसरा भीतरी भाग जो नासाछिद्रों से दिखाई पड़ता है, उसे अंतर्नासिका या नासिका-गुहा कहते हैं। वाह्यकर्ण की रचना में कुछ भाग तरुणास्थि (Cartilage) और कुछ भाग अस्थि (Bone) का वना रहता है इसमें अस्थिमय भाग पार्श्व नासास्थि से (दोनों ओर के मिलने से) वना है। तरुणास्थिमय भाग कई मृद्व-स्थियों से वना है जिससे नासा का आकार वनता है और नासाछिद्रों को ठीक रखता है। इन मृद्वस्थियों से पेशियां लगी रहती हैं जो नासा को विवृत करती हैं।

नासा-जवनिका (Septum)—नासारंध्रों को देखने पर एक नलिका सी दिखाई देती है, इसे नासागुहा कहा जाता है। इनके वीच में एक खड़ा पर्दा लगा रहता है जिसमें गुहा दो भागों में विभाजित हो जाती है। इस पर्दे का कुछ हिस्सा अस्थि से एवं कुछ तरुणास्थि या मृद्वस्थि का बना रहता है। आगे की ओर चतुर्भुजाकार तरुणास्थि से नासाजवनिका वनी रहती है। पीछे की ओर जवनिका की बनावट में भाग लेने वाली अस्थियां होती हैं जैसे—झर्झरास्थि (Ethmarid) का मध्य फलक, उससे पीछे जतुकास्थि का तुण्ड (रास्ट्रय) आ जाता है। नीचे की ओर चतुर्भुजाकार तरुणास्थि ऊर्ध्व हन्वस्थि कंटक (Cimaxllaary p!ne) तथा सीरिस्थ (vomer) से जुड़ती है। रिक नीचे वाली धारा के साथ दो और तरुणास्थियों के छोटे-छोटे भाग आ जाते हैं जिनको सीरिक नासिक तरुणास्थि (Vomer Nasal cartilage) कहते हैं।

जवनिका का तरुणास्थिमय भाग, परितरुणास्थि (perichonrdium) अस्थिमय भाग, पर्यस्थि (periosteum) और उसके बाहर श्लेष्मिक कला से ढका रहता है।

पार्श्व की दिवाल में कई क्रमबद्ध उभार पाये हैं, जिन्हें शुक्तिका Conchae or Turbinates) कहते हैं। उभारों के बीच में कई एक खात होते हैं जिन्हें सुरंगा (Meatus) कहते हैं।

शुक्तिकायें तीन हैं—अधः शुक्तिका, मध्य शुक्तिका और ऊर्ध्व शुक्तिका इनमें अधः शुक्तिका स्वयं एक अस्थि का रूप लेती है और नासिका पार्श्व की दिवाल से लगी रहती हैं मध्य और अधः शुक्तिकायें झर्झरास्थि के ही भाग हैं। शुक्तिकाओं के ऊपर श्लेष्मल कला चढ़ी रहती है। श्लेष्यमल कला के नीचे प्रहर्षणक धातु (Erectile TIssues) रहता है, जो अधिकतर अधोशुक्तिका के निचले किनारे तथा अग्निमान्त और पश्चादन्त (Art & post ends) में मिल जाते हैं। मध्य शुक्तिका के अग्निमान्त में भी पाये जाते हैं।

नासा सुरंगायें बड़ी महत्व की रचनायें हैं, क्योंकि इन नलिकाओं के मार्ग से सहायक वायुविवादों का स्राव वाहर आता है। नासानुरंगा में पूप का दिखाई देना, नासा और वायु विवरों में विवृतियों का द्योतक होता है और इसी चिन्ह के ऊपर निदान भी किया जाता है।

नासा के ऊर्ध्व सुरंगा द्वारा पश्चात् समुदाय के नासासहायक वायु विवरों से स्राव बहाव होता रहता है। मध्यसुरंगा से अग्रिम वायु विवर समुदाय तथा अधःसुरंग में नासाश्रुवाही स्रोत खुला रहता है (Naso Laerymal duct)।

मध्य सुरंगा में कई एक महत्व की रचनायें हैं। इसके अग्रान्त (And ead) की ओर एक वृद्धि होती है जिसे झर्झरास्थिप्रवर्द्धन (Uncinate process) कहते हैं। यह झर्झरास्थि का ही एक भाग है। थोड़ी सी दूर हट कर एक और उत्थाव दिखाई पड़ता है उसे झर्झरास्थि स्फोट (Bulla Ethmoidatis) कहते हैं। यह झर्झरास्थि के कान्तारिक (Ethmoidal Labryinth) के उभार के कारण होता है। इन दोनों वृद्धियों के मध्य में एक खात होती है जो अर्द्धचन्दपारिखा (Hiatus S emi nular is) में कहा जाता है—जहाँ पर ऊर्ध्व हन्वस्थि वायुविवर का छिद्र खुलता है। अर्ध चन्द्रपारिखा के साथ ऊपर की ओर बढ़ने पर एक सँकरा स्थान (Indundibulum) पाया जाता है जो ऊपर जाकर पुनः नासास्रोत (Fronto Nasal duct) हो जाता है।

नासागुहा की सीमा—गुहा का फर्श तालवस्थि (Palatebonces) और दाँत की कोटरों (Alveolus) से बनता है। नासागुहा की छत आगे की ओर पार्श्वनासास्थि से, पीछे की ओर झर्झरपटल (Cribsiform plate) से (जो झर्झरास्थि का ही अस्थिमय भाग है जिसके छिद्रों से घ्राणवहनाड़ी के सूत्र जाया करते हैं,) उससे और जतुकस्थि से बनता है।

नासा-कार्य— नासिका के निम्न चार प्रधान कार्य होते हैं—

१. गंधग्रहण—गंधग्रहण करने वाले अंगों द्वारा।

२. निःस्यंदन (निस्तरण)—उच्छ्वसित वायु से धूल तथा अन्य चीजों को छानकर पृथक् करना।

३. ऊष्मी और आर्द्रीकरण—(Warming and moistering)—उस वायु का जो फुफ्फुस में प्रविष्ट हो रहा है।

४. स्वर को निनादित करना—Giring Sesonance to the voice)
गंध—कई कारणों से प्रभावित हो सकता है। अवरोध—आस-पास की चारों ओर की रचनाओं के भार के कारण या व्रणशोथ जन्य सूजन हो जाने की वजह से अवरोध होकर वायु का गंध ग्राही कक्ष तक पहुंचना संभव नहीं रहता जिससे गंध विपर्यय हो सकता है। कई बार वातवाह नाड़ियों तथा नाड़ी विशेष के परिवर्तनजन्य भी ऐसा परिणाम देखने को मिलती है। यह परिवर्तन उपसर्ग या विषजनित हो सकता है।

नितरण—उछलने का कार्य इस प्रकार का कार्य है कि धूल, तृणाणु और अन्य द्रव्य श्लैष्मिक कला के सतह पर चिपक जाते और शुद्ध वायु फुफ्फुस के भीतर चली जाती है। फिर कला पर चिपके पदार्थ अन्नालिका द्वारा बाहर निकाल दिये जाते हैं।

ऊष्मी एवं आर्द्रीकरण—परस्पर सम्बन्धित क्रियायें है। कला में जितनी सूजन और रक्ताधिक्य होगा उतना ही नासारन्ध्र संकुचित होगा और श्लेष्म-कला को गर्म करने वाली सतह उतनी बढ़ जायेगी। इससे वाष्पीभवन भी अधिक होगा और गाढ़ा कफ-स्राव होने लगेगा। इन कार्यों के सुचारु रूप से चलने में कई परिस्थितियों की विद्यमानता आवश्यक है। काफी वायु का मार्ग रक्तसंवहन का संगठन होना, ग्रन्थियों का ठीक होना (Intact) और उनका उचित रूप में कार्यक्षम होना (श्लेष्मकला में ग्रन्थियाँ, लसीकाणु कोष रहते है, जिनमें स्राव होता है।

कोशांकुर क्रिया (Ciliary action) नासा की श्लेष्मल के पृष्ठ पर जो कोषाणु होते हैं उनमें लोमवत् कोशांकुर (Cilie) होते हैं। इनके द्वारा श्लेष्म कला विजातीय पदार्थों से अपनी सफाई करती है। एवं किसी भी विजातीय, द्रव्य को ये भीतर जाने नहीं देते। नासा को स्वास्थ्य और सुखी रखने के लिये इन लोमवत् कोषांकुरों का प्राकृतिक अवस्था में रहना बहुत ही आवश्यक है। इनकी क्रिया में कमी का होना या अनियमित क्रिया का होना बहुत प्रकार के दुःखदायी लक्षणों को पैदा करता है।

इन अंकुरों के जीवन और ठीक क्रिया को चालू रखने के लिये एक अनुकूल माध्यम की आवश्यकता पड़ती है और यह मध्यमा श्लेष्मा (mucous) है जिनका संहन (coinstency) ठीक होना आवश्यक है। बहुत सी ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो इन अंकुरों की ठीक क्रिया में बाधक होती हैं। जैसे क्षोभ शुष्कता, अत्यन्त, शुष्कता शस्त्रक्रिया, आघात तथा व्रणशोफ।

कोपांकुरों के अधिक क्रियाशील होने से बहुत नासास्राव और कम क्रिया शील होने से स्राव का संचय होना या नासागूथ (पपड़ी Crust) का बनना पाया जाता है, जो नाक को बन्द करके स्रोत में अवरोध पैदा कर सकता है।

कोषांकुर जब तक कार्यक्षम रहते हैं वे नासा स्राव को पीछे नहीं जाने देते और आगे या सामने की ओर से उसे बाहर फेंकते रहते हैं। जब ये पूर्ण रूपेण कार्य-शील नहीं होते तो गाढ़े स्राव या कफ को बाहर नहीं फेंक पाते और वह स्राव नासिका के पश्चात् भाग से होता हुआ गले में चला जाता है; फिर वहां से मुख द्वारा बाहर निकलता है। इस व्यथा (complaint) का वास्तविक हेतु कोपांकुरों के कार्य की अक्षमता ही है।

कई परिस्थितियों में श्लेष्मकला की प्रतिक्रिया स्वतन्त्र नाड़ी मण्डल के इड़ा भाग के (Sypthtic System) ऊपर निर्भर करती है क्योंकि यह उसी के नियन्त्रण में रहती है। इस तरह इस नाड़ीसंस्थान की विकृति भी कई प्रकार के रोगों को, जैसे अवरोध स्राव या शिरो शूल पैदा कर सकती है।

सहायक वायु विवरों की क्रिया का ज्ञान भी नासाक्रिया के साथ ही साथ कर लेना अपेक्षित है। इनका प्रधान कार्य वायुभार को ठीक रखना और स्वर के उच्चारण को निनादित करके लाना है।

इस प्रकार नासा, कोपांकुर तथा नासा सम्बन्धित वायुविवरों के क्रिया का

ज्ञान विषय को तुलनात्मक ढंग से समझने के लिये तथा बुद्धिपूर्वक नासा रोगों की चिकित्सा करने के लिये आवश्यक है

प्रश्न—नासारोग कितने प्रकार के हैं ? उनकी उत्पत्ति के सामान्य कारण लिखिए ?

उत्तर—आचार्य सुश्रुत ने नासा-रोगों की संख्या ३१ बतलाई है, किन्तु योग रत्नाकर और भावप्रकाश ने अपने वर्णनों में ३४ रोग बतलाए हैं। सुश्रुत के बतलाए हुए ३१ नासारोग निम्नलिखित हैं—

१. अपीनस २. पूतिनासा Oyalna

३. नासापाक Recration of the Nose ४. रक्तपित्त Epispaxis

५. पूयरक्त ६. क्षवथु Sheezing

७. भ्रंशथु chronic maseldis chalge

८. दीप्त Aento phinito

९. नासावाह Aento phinito १०. परिस्राव

११. नासाशोष १२. नासार्श (चार)

१६. नासार्शक (चार) २०. नासार्बुद (सात)

२१. प्रतिश्याय [पांच] coryza

इस प्रकार सुश्रुत आचार्य ने ये ३१ नासारोग बतलाए हैं। अंस यह बर्फीली हवा घूमना, बहुत अदा धूली, रजःकला, अधिक भाषण करना, अधिक सोना, अधिक काल तक रात्री जागरण करना, ठंडी हवा या तेज हवा में नाक की रक्षा नहीं करना, सोते समय सिर को नीचे रखना, अधिक पानी पीना, अधिक स्त्री प्रसंग करना, वमन, आसू के वेगों को रोकना आदि कारणों से वायु का लोप होता है और वह दूषित वायु अन्य दोषों का संसर्ग करके नासा में संचित होकर पश्चात् नासा रोगों की उत्पत्ति करता है।

प्रश्न—अपीनस, पूतिनासा, नासापाक, पूयरक्त, क्षवथु, भ्रंसथु, दीप्त, नासावाह, परिस्राव, नासाशोष, इन नासा रोगों का निदान चिकित्सात्मक विवरण लिखिए ?

उत्तर—अपीनस

नासारोगों में अपीनस एक प्रधान रोग है, यह स्वतन्त्र रूप से भी हो

हींग, त्रिकटु, इन्द्र जौ, श्वेत पुनर्नवा, लाख, तुलसी के बीज, वच, कटफल, कूठ ठुहांजना, वाय विड़ंग, अरंज इनका नित्य प्रति अवपीड़न के रूप में नस्य देवें ।[1]

इन्हीं द्रव्यों से गोमूत्र के साथ सरसों का तेल नस्य के लिये बुद्धिमान वैद्य बनावें ।[2]

कटफलादि क्वाथ—कायफल, सौंठ, फटेकर मूल, मिर्च, काकड़ासिंगी आदि द्रव्यों का क्वाथ पिलाना चाहिये ।

नस्य—अजवायन खुरासानी, वच, अग्निमंथ, अलौजी जीरा इन द्रव्यों की पोटली को गरम करके सूंघना चाहिए ।

पूतिनासा (Ozaena)

विदग्ध हुए दोषों से अगले और तालु के मूल में वायु मूर्छित होकर मुख और नासिका के द्वारा बाहर आकर दुर्गन्ध के साथ निकलता है । इस व्याधि को पूति नासा या पूतिनस्य कहते हैं। इसमें कफ, पित्त और रक्त मनुष्य के सिर मे संचित होकर उष्णता से विदग्ध हो जाते हैं और स्राव को गाढ़ा कर देते हैं जिससे आंख और शंखदेश में पीड़ा (pain behind tne eyes or head ache) पैदा करते हैं और नाक से पीत वर्ण का दुर्गन्ध युक्त रक्तमिश्रत [Mucopurulent] स्राव होने लगता है जिससे श्वास में बदबू आती है । इसलिए इस रोग को पूतीनस्य कहते हैं । महर्षि सुश्रुत ने लिखा है 'जिस पुरुष के गले और तालु मूल वायु विदग्ध दोषों से मिलकर उनकी विकृत गंध से युक्त बनकर दुर्गन्धित होकर मुख और नासिका से निकलता है उस रोग को पूतिनासा कहते हैं ।"[3]

चिकित्सा—इसमें अपीनस की भांति पूरी चिकित्सा है कुछ विशेष योग जो नासा की दुर्गन्ध को कम करे उपवल प्रयोग अधिक होता है ।

व्याघ्री तैल—भटकटैया, दन्ती बीज, वच, सहिजन, त्रिकटु और सैंधव नमक से सिद्ध तैल का नासा मे प्रक्षेप करने से पूतिनासा नामक रोग ठीक होता है और बदबू को दूर करता है ।

---

१. हिङ्गु व्योषं वह्लाकारध्वं शिवारी, लाक्षा बीजं सौरभ कट फलं च ।
उग्रा कुष्ठं तीक्ष्णगन्धा विडङ्ग, ध्येऽजस्रं नावनीडे करञ्जम् ॥
२. एतैर्द्रव्यैः सर्षपं कुर्याद्युक्तं तैल धीमान्नस्यहेतोः पचेत ॥
३. दोषै वग्धैर्गल तालुमूलके, सवासितो यस्य समीरणस्तु ।
निरेति पूतिर्मुख नासिकाभ्यां, त पूतिनासं प्रवदन्ति रोगम् ॥

षड् बिन्दु तैल को नाक में बूँद-बूँद करके डालना चाहिए। भटकटैया के फल को आग पर सैंक कर उसका स्वरस या उसके पंचांग का पुट पाक विधि से निकाले स्वरस की बूँदें नाक में डाले।

नासापाक (Ulceration of the Nose)

"नासा में स्थित पित्त जिस रोग में छोटी-छोटी फुन्सियाँ उत्पन्न कर दे और जबरदस्त पाक भी हो जाए, इस रोग को नासापाक कहते हैं। इसमें क्लेद और सड़ान भी देखा जाता है।"[1] वायु की रूक्षता तथा पित्त की उष्णता के कारण घ्राणाश्रित श्लेष्मा के भली प्रकार सूख जाने से मनुष्य बड़ी कठिनाई से श्वास-प्रश्वास लेता है। नासापाक के वर्णनों में थोड़ा पाठ भेद मिलता है, सर्वप्रथम तो आश्रम के सम्बन्ध में घ्राणश्रोत में विकार होता है ऐसा वर्णन मिलता है। इस प्रकार मुख्यतः ये ही मानना चाहिए कि जब पित्त आयु और कफ को नष्ट करके नासिका में छोटी-छोटी फुन्सियाँ उत्पन्न कर दे उसे नासापाक समझना चाहिए, इसमें पीड़ा होती है और पाक भी होता है।

चिकित्सा—नासापाक में बाह्य एवं अन्तः उपचार पित्तनाशक चिकित्सा सम्पूर्ण रूप में करे। रक्त को निकालकर बरगद आदि क्षीरी वृक्षों के छाल घी के साथ मिलाकर लेप में और परिषेक में बरतनी चाहिए।

बाह्य उपचार—लेप, अभ्यंग, परिषेकादि।

आभ्यंतर—आहार, स्नेहपान, विरेचनादि।[2]

पूयरक्त

"दोषों की विकृति से रक्तविदग्ध हो कर दूषित होता है, अथवा ललाट में किसी प्रकार चोट लग जाने से जब नासिका से रक्त मिश्रित पूय निकलने लगती है उस रोग को पूयरक्त कहते हैं।[3] आधुनिक निम्न रोगावस्थाओं में पूयरक्त होना पाया जाता है। क्षयार्बुद में, नासार्बुद में, अभिघात के कारण, फिरंग के कारण और नासा सम्बन्धित विवरशोथ में।

---

१. घ्राणाश्रितं पित्तमरूंषि कुर्याद्यस्मिन् विकारे बलवांश्च पाकः।
तं नासिका पाक विती व्यवस्थेद्विक्लेद कोथावपि यत्त दृष्टौ॥

२. नासापाके पित्तहृत्संविधानं, कार्यं सर्वं बाह्यमाभ्यन्तरंच।
हृत्वा रक्तं क्षीरवृक्षत्वचश्च, साज्याः सेका योजनीयाश्च लेपाः॥

३. दोषैर्विदग्धरऽथरापि जन्तो ललाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तु।
नासा स्रवेत् पूयमसृग्विमिश्रं तं पूयरक्तं प्रवदन्ति रोगम्।

पूयरक्त की चिकित्सा बताते हुए प्राचीन ग्रन्थों में नाड़ी व्रण के समान चिकित्सा करने का निर्देश मिलता है। इस अवस्था में बलवान रोगी को वमन करावें। अवपीड़न नस्य देवें। तीक्ष्ण धूम और शोधन नस्य का प्रयोग करना चाहिए। रक्तपित्त नाशक उपचार करना चाहिए। कषाय द्रव्यों से प्रक्षालन कराना चाहिए। इस अवस्था में दहन करने का विधान आधुनिक शालाक्य शास्त्रियों ने बताया है। इसके लिए डायथर्मी का प्रयोग करते हैं अन्यथा विद्युद्दहन कराते है। सम्प्रति 'अल्ट्रावायलेट' किरणों का प्रयोग भी किया जाता है।

क्षवथु

इस शब्द का अर्थ है—बहुत छींकें आना। इस रोग का वर्णन करते हुए सुश्रुत में कहा गया है कि नासिका में स्थित शृंगारक मर्म के दूषित होने पर वायु कफ के साथ मिलकर बहुत बार शब्द के साथ बाहर निकलती है—उस रोग को क्षवथु कहते है।[1]

इस रोग के उत्पादक कारण बताते हुए कहा गया है कि तीक्ष्ण वस्तुओं के खाने से, इत्तर आदि बहुत सुगन्धित द्रव्यों के बहुत अधिक सूँघने से कटु वस्तुओं के सूँघने से सूर्य को देखते रहने से नाक में धागा आदि डालने से तरुणास्थि या मर्म के विक्षोभ से क्षवथु हो जाती है। चरक में इसका कारण और भी संक्षेप में बताया है कि सिरस्थ वायु विगुण मार्ग होने से नासाश्रित मर्म को स्पर्श करके छींकें पैदा करता है।

किसी प्रकार के क्षोभ से उत्पन्न छींक कोई विशेष बड़ा रोग नहीं है और न ही प्रतिश्याय आदि में पाया जाने वाला क्षवथु बड़ा विकार है। हम आधुनिक शालाक्य ग्रन्थों में पाए जाने वाले एक रोग विशेष को, जिसे अनुर्जताजन्य परिस्राव (Vasomotor Phinorrhoea) कहते हैं इसका पर्याय कह सकते हैं। सुश्रुतोक्त लक्षणों की समानता इसी में पाई जाती है। यह रोग अनुर्जता (Allergy) के कारण उत्पन्न होता है।

क्षवथु की चिकित्सा को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—प्रथम स्थानिक एवं दूसरे सार्वदैहिक। स्थानिक उपचार में प्राचीन ग्रन्थों में कहा गया है—

---

१. घ्राणाश्रिते मर्मणि संप्रदुष्टे यस्यानिलो नासिकण्ठा निरेति।
कफानुयातो बहुशः सशब्दस्तं रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः॥

दीप्त

जिस नासिका रोग में जलने के समय तीव्र दाह हो और नाक से धुंए के समान वायु निकले तथा नाक जलती हुई प्रतीत हो, उस रोग को नासा के प्रदीप्त होने से दीप्त रोग कहा जाता है।[1]

इन लक्षणों को देखकर हम कह सकते हैं कि यह आधुनिक ग्रन्थों में वर्णित तीव्र प्रतिश्याय (Acute Rhin.tis) की अवस्था है। वैसे इसके लक्षण पैत्तिक प्रतिश्याय से मिलते हैं। इस प्रकार की जलन का अनुभव नासाकला-शोथ में रक्ताधिक्य के कारण होता है।

दीप्त की चिकित्सा बताते हुए कहा है कि पित्तनाशक उपचार करना चाहिए और मधुर तथा शीतल चिकित्सा करनी चाहिए।

नासानाह अथवा प्रतिनाह

उदान संज्ञक वायु कफ से मिल कर अपने मार्ग में जब विकृत होकर स्थित हो जाता है और नासिका को बन्द कर देता है। उसे प्रतिनाह अथवा नासानाह कहते हैं।[2]

इस प्रकार का अवरोध दो प्रकार का हो सकता है। अल्पकालीन जैसे प्रतिश्याय में और चिरकालीन प्रतिनाह जीर्ण नासा शोथ में पाई जाती है। नासार्श और नासागत दुष्टार्बुद, मध्य प्राचीर का ठीक स्थान पर न होना (Dethiated septum) आदि में होता है।

नासानाह में स्नेहपान उत्तम है। स्नेहधूम और शिरोवस्ति प्रशस्त है। बलातैल का प्रयोग पान, अभ्यंग, शिरोविरेचन आदि में बरतें और कणु तैल का भी प्रयोग करना चाहिए।

परिस्राव

जिस रोगी की नासा से निरन्तर स्वच्छ पानी के समान, बिना किसी विशेष रंग का स्राव बहता है, विशेषकर यह स्राव रात्री में (ठंड के समय में) होता है, उस रोग को नासापरिस्राव कहते।[3]

---

१. घ्राणे भृशं दाहसमन्विते तु विनिः सरेद्धूम इवेह वायुः।
नासा प्रदीप्तेव च यस्य जन्तो-र्व्याधिं तु तं दीप्तमुदाहरन्ति॥

२. कफावृतो वायुरुदान संज्ञो यदा स्वमार्गे विगुणः स्थितः स्यात्।
घ्राणं वृणोतीव तदा स रोगो नासा प्रतिनाह इति प्रदिष्टः॥

३. अजस्रमच्छं सलिलप्रकाशं यस्या विवर्ण स्रवतीह नासा।
रात्रौ विशेषेणहि तं विकारं नासा परिस्रावमिति व्यवस्येत्॥

पर शीत लगने से, मल-मूत्र के वेगों को रोकने से प्रतिश्याय हो जाता है।

आधुनिक वैज्ञानिकों का कहना है कि प्रतिश्याय उत्पादक के दो कारण हैं—

(१) उपसर्ग (Bactesial infaction)

(२) श्लेष्मकला का क्षोभ (Irritaion)

उपर्युक्त कारणों से उत्पन्न प्रतिश्याय के पूर्वरूप बताते हुए कहा है कि "सिर में भारीपन, छींक का आना, अंगों का टूटना, रोमांचता, ज्वर आदि उपद्रव प्रतिश्याय के पूर्वरूप हैं। जब यही पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाते हैं तो रूप कहलाते हैं। तभी इनके भेदों का बोध होता है।

यह प्रतिश्याय पाँच प्रकार का कहा गया है। वे भेद हैं।

(१) वातज प्रतिश्याय

(२) पित्तज "

(३) कफज "

(४) सन्निपातज "

(५) रक्तज "

वातज प्रतिश्याय में नाक रुकी हुई रहती है और श्वास के समय तनती है। इस में पतला स्राव होता है और गला, तालु ओष्ठ सूखे रहते हैं, शख प्रदेशों में चुभने का दर्द होता है और स्वर बैठ जाता है।

पैत्तिक प्रतिश्याय में नासा से गरम, पीला स्राव बहता है। रोगी कृश हो जाता है—अतिपीला होता है और उष्ण स्पर्श वाला तथा प्यास से पीड़ित होता है। नासा से अचानक धूम युक्त आग निकलती प्रतीत होती है।

कफजन्य प्रतिश्याय में नासिका से श्वेत, शीतल कफ बार २ बहता है, रोगी का दिखाव श्वेत रहता है। आंखे भारी, सिर-मुख में भारीपन; सिर, गला, तालु और ओष्ठ में खाज का अनुभव होता है।

तीनों के लक्षण मिलितरूप में हों वह सन्निपातज कहलाता है। यह पक्व अथवा अपक्वावस्था में मिल सकता है। यह बार २ होता है और अचानक स्वयं शांत हो जाता है।

रक्तजन्य प्रतिश्याय में नासा से लाल रंग का स्राव होता है। रोगी की आंखें लाल हो जाती हैं। उरोघात की पीड़ा रहती है, श्वास और मुख से दुर्गन्ध आती है। रोगी गन्ध को नहीं पहचानता। इसमें श्वेत, स्निग्ध, सूक्ष्म कृमि उत्पन्न हो जाते हैं और कृमिजन्य शिरोरोग के समान लक्षण होते हैं।

जब प्रतिश्याय दुष्ट हो जाए तो उसे कष्टसाध्य समझना चाहिए। इस अवस्था में नासिका कभी तो गीली रहती और कभी सूख जाती है। कभी वन्द रहती है और कभी खुल जाती है। श्वास-प्रश्वास में दुर्गन्ध आती है और रोगी गन्ध को नहीं पहचान सकता।

चिकित्सा—प्रतिश्याय की चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि नूतन प्रतिश्याय को छोड़कर शेष सब प्रतिश्यायों में घृत का पान करावें। नाना प्रकार के स्वेदन देवें, युक्ति से नस्य व अवपीड़न देवें। वमन भी अवस्था के अनुसार करा सकते हैं।

यदि प्रतिश्याय अयक्त हो तो उसे पकाने के लिए स्वेद देवें। अम्ल और उष्ण वस्तुओं का स्वेद देवें। दूध में अदरक देवें। गुड़ आदि ईख के बने पदार्थों का प्रयोग करावें।

जो कफ पक गया हो, घट्ट हो गया हो, नीचे लटकता हो, उस कफ को शिरो विरेचनों से खींचें। दोषों को देखकर विरेचन, आस्थापन, धूम, नस्य और कवलग्रह वरतें।

वातिक प्रतिश्याय में स्नेहपान विधि से पांचों नमक से सिद्ध घृत का पान करावें। नस्य करावें।

पित्तज प्रतिश्याय में काकोल्यादि गण से सिद्ध घृत का पान करें। शीतल परिषेक एवं शीतल प्रदेह का प्रयोग करे। मधुर द्रव्यों से कवल एवं विरेचन करावें।

कफजन्य प्रतिश्याय में रोगी को घी से स्निग्ध करके तिल और उड़द की बनी यवागु पिला कर वमन करावें। फिर कफनाशक संसर्जन कर्म करावें। नस्य एवं धूम्रपान करावें।

सन्निपातज प्रतिश्याय में कटु-तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत का प्रयोग करें। तीक्ष्ण धूम और कटु द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। कवल एवं शिरो विरेचन का प्रयोग करना चाहिए।

रक्तज प्रतिश्याय में पित्तज प्रतिश्याय के समान उपचार करें।

जो प्रतिश्याय का रोगी वमन-अंग टूटना, ज्वर, भारीपन, अरोचक, बैचेनी या अतिसार से पीड़ित हो, उसे लंघन करावें। दीपन-पाचन योगों का प्रयोग करावें।

प्रतिश्याय रोगी के लिए पथ्य बताते हुए कहा गया है कि "वह वायुरहित

घर में बैठे, वहीं उठना और सोना चाहिए। सिर को गरम एवं भारी वस्त्र से लपेटे रहे। तीक्ष्ण शिरोविरेचन देवें और धूम्रपान करें। रूक्ष अन्न, जौ तथा हरड़ का सेवन करना चाहिये।

वर्जनीय बताते हुए कहा है कि "शीतल पानी, स्त्री संग, सिरसहित स्नान, चिन्ता, अति रूक्ष भोजन, उपस्थित वेगों को रोकना, शोक करना एवं नूतन बनाए मद्य का पान हानिकारक होता है।"

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में प्रतिश्याय के उपचार में दो प्रकार के उपक्रम कराए जाते हैं स्थानिक उपक्रम में घोल एवं द्रव्यों का कवल धारण एवं नासिका में बूंद प्रयोग किया जाता है। ऐसे द्रव्य देते हैं जो लक्षणों को दूर करने वाले हों।

उपसर्ग को मानने के कारण उपसर्ग नाशक उपचार भी करते हैं। सम्प्रति सल्फा की औषधियाँ, पैन्सलीन का प्रयोग भी किया जाता है।

प्रश्न—नासार्श का संक्षिप्त वर्णन कीजिये ?

उत्तर—सुश्रुत संहिता में नासार्श का वर्णन करते हुए कहा है कि चार प्रकार का नासार्श होता है—वातादि के अलग-अलग होने से तीन प्रकार का और सन्निपात से एक प्रकार का। उसके लक्षण एवं चिकित्सा अर्श रोग के समान जवानी चाहिए।

आधुनिक शालाक्यविदों के मत में 'नेजल पालिपस' (Nasal polypus) नामक रोग नासार्श ही है। इसमें नासा में भूरे वर्ण के अंगूरों के गुच्छों के आकार के उभार दिखाई देते हैं। इस रोग की उत्पत्ति में हेतु रूप शोथ होती है। कभी-कभी स्वतन्त्र नाड़ी मन्डल के विकारों के कारण भी वह उत्पन्न होते हैं।

इस अवस्था में प्रधान लक्षण नासावरोध होगा और कुछ स्राव मिलेगा। यह स्राव गाढ़ा या पूयमय होगा। रोगी नाक से बोलता है। रोगी का स्वरूप बिगड़ जाता है। कभी-कभी केवल पीले वर्ण का पूय ही निकलता है।

नासार्श की चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि अर्श रोग के समान औषधि-क्षार अग्नि एवं शस्त्र के द्वारा चिकित्सा करें।

औषध में करवीरादि तैल अथवा चित्रकादि तैल या दन्तवर्ती का स्थानिक प्रयोग किया जाता है।

इस अवस्था में आधुनिक चिकित्सक शल्य कर्म करते हैं और उसमें स्था-

फुपफुसीय रक्त स्राव (Haemoptysis) का भ्रम हो जाता है। अतः सावधानी से नासागह्वर को देखकर उपर्युक्त रोगों का, नासा के रक्तपित्त का निर्णय करना चाहिये।

२. सार्वदेहिक कारण—इनसे अधिकतर पर्याप्त मात्रा में रक्त स्राव होता है यहां तक कि किसी-किसी रोगी में चिन्ताजनक रूप धारण कर लेता है। कुछ लोगों में यह रोग पारिवारिक होता है और कुछ रोगों में नासा से रक्त स्राव होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी होती है। सार्वदैहिक कारणों को पुनः दो भागों में बांटा जा सकता है।

(क) रक्त वाहक अंगों में विकृति।

(ख) रक्तगत विकृत

(क) यदि रोगी स्वस्थ और ४० वर्ष से अधिक अवस्था का हो तो उसे पहले-पहल नकसीर फूटे तो 'ब्राइट' का चिरकालीन रोग (Chronic-Brights Diseases) अथवा रक्त भाराधिक्य (High Blood pressure) की आशंका करनी चाहिये। हार्दिक कपाटों की विकृति (cardic Valavar Diseases) एम्फीसीमा (Emphysema) पुरानी खांसी (chronic Bronchitis) और यकृत की शिरोसिस (cirrhosis of the liver) इन रोगों में भी नासा से रक्त स्राव का होना देखा जाता है। इनके अतिरिक्त निम्न दशाओं में भी रक्त स्राव होता है। वक्ष, गुहावत, अर्बुद (Thoracic Jumours) तीव्रतम ज्वर (Extreme Jemperative) अत्यधिक व्यायाम के बाद, आर्तवकाल (Menstrul period) ऊंचे पहाड़ों पर जाना अथवा वायुयान की यात्रा।

(ख) रक्त गत विकृति—इसमें रक्त में ही कुछ ऐसी विकृति हो जाती है कि उसमें जो शरीर के बाहर आने पर शीघ्र जम जाने का गुण होता है, उसमें कुछ दोष आ जाता है। यहां पर यह जान लेना चाहिए कि रक्त स्राव के बन्द होने में स्वयं रक्त भी सहायक होता है। क्योंकि जो रक्त शरीर के बाहर आ जाता है वह जमकर फटी हुई धमनी या शिरा अथवा व्रण के मुख को बन्द कर देता है। इस प्रकार रक्त बहना अपने आप बन्द हो जाता है। रक्त के जमने के गुण में विकार आ जाने से या तो वह बिल्कुल जमता ही नहीं यथा—Haemophilia में जमता नहीं या देर में जमता है। निम्न रोगों में रक्त में यह दोष उत्पन्न होने से नासिका से रक्त स्राव होता है purpura, Haemophilia Scuvy Leukaemia साधारण या पुष्ट पाण्डु रोग (Simple

Sperneticious Anaemia) रक्त का कायों (Blood platelets) की कमी (Throbicy topenia) कुछ विशिष्ट ज्वर यथा आन्तरिक ज्वर (Typhoid) आमवात (Rheumatism) और रक्त स्रावी प्रकार के विस्फोट (Haemorrhagic Forms of exanthanata) बच्चों में कुक्कुर कास (Hooping Cough) और कई प्रकार के ज्वरों की प्रारम्भिक दशाओं में प्राय: नासिका से रक्त स्राव भी कभी-कभी हो जाता है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए नासागत रक्तपित्त (Epistaxis) यदि अधिक मात्रा में बार-बार हो तो बहुत ही सावधानी से उसके कारण का अन्वेषण करना परमावश्यक है।

चिकित्सा—यदि हृदय या फुफ्फुस के कारण नकसीर फूटी हो और अधिक रक्तस्राव हो तो उसे रोकने की आवश्यकता नहीं है। इन रोगों में सिर में पीड़ा होती है और रक्त भार अधिक रहता है। अत: प्रत्येक सीर की दशानकमें रक्त भार (Blood Pressure) नापना चाहिए। जब तक रक्त भार अधिक रहता है तब तक कोई भय नहीं रहता।

(अ)—नकसीर के आवेग के समय की चिकित्सा—इसमें रक्तस्राव को रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। रोगी को आराम से और शान्तिपूर्वक रक्खे। उसे इस प्रकार उत्तान लिटा दे कि उसका सिर सीधा और चिबुक सामने की ओर रहे। सिर को ठण्डा तथा पैर को गर्म रक्खे। हाथों को भी ऊपर उठाया जा सकता है चूंकि सार्वदैहिक कारणों से उत्पन्न रक्त स्राव प्राय: नासा मध्य प्राचीर के पूर्व भाग के एक स्थान से होता है। अत: शरीर के उस भाग को अंगुली और अंगूठे से दबाये रहे।। अग्निदग्ध भी किया जा सकता है। रक्त स्राव के स्थान पर एड्रेनलीन लगाने पर भी रक्त का आना बन्द हो जाता है। यदि यह सब उपचार रक्त स्राव बन्द करने में असफल हो जायें तो नासा गुहा को सूखे पिचु या फोत (Ribbon Gauze) से खूब कस कर भर देना चाहिए और उसे दिन प्रतिदिन बदलते रहना चाहिये, मुख द्वारा चार-चार घन्टे पर 'कैल्सियम क्लोराइड', लेना चाहिये। कैल्सियम क्लोराइड (calcium chloride) का त्वचागत सूचीवेध (Subcuteneous injection) द्वारा भी प्रयोग किया जा सकता है। आवश्यकता होने पर अश्व की लसीका (Horse serum) का भी (१० से २० शीशी प्रति दिन) त्वचागत सूचीवेध द्वारा प्रयोग करें। यदि

इतना अधिक रक्त स्राव हो गया हो कि त्वचा में प्रीतिमा आ गई हो तो किसी स्वस्थ व्यक्ति का रक्त रुग्ण व्यक्ति में प्रवेश करना चाहिये।

(ब) दौरे के मध्य में नासा गह्वर के पूर्व और पश्चात् भागों को सावधानी से देखकर कारण का अन्वेषण कर उसकी चिकित्सा करनी चाहिए।

समय-समय पर नासिका में वैसलीन या गौ घृत, स्निग्ध वस्तु लगाते रहने से भी रक्तस्राव रोके रखने में सहायता मिलती है।

यह बात ध्यान रखनी चाहिये कि नासागत रक्त स्राव नामक रोग वास्तव में नासारोगाधिकार में वर्णित रक्तपित्त का ही स्वरूप है।

प्रश्न—नासार्बुद एवं नासाशोफ का वर्णन कीजिए ?

उत्तर—नासार्बुद का वर्णन अर्बुद के समान बताया है और यह सात प्रकार के कहे गये है। नासाशोफ चार प्रकार का है और यह शोथ के समान है।

प्रश्न—नासाशल्य पर एक निबन्ध लिखिए ?

उत्तर—नासाशल्य (Foreign Bodies in the Nasal Cavity)

बच्चों में नासाशल्य अधिकतर मिलते हैं—कंकड़, अन्न के दाने, मटर, चने रबर के टुकड़े तथा अन्य दूसरी छोटी चीजें जिनसे बच्चे खेलते हैं प्रायः नाक के भीतर चली जाती हैं। इस अवस्था में नासा के एक भाग में अवरोध और स्राव होता है। इसकी चिकित्सा आहरण है। कई प्रकार के नासास्वस्तिक यंत्रों तथा वडिश (Nasal Forceps ancl hooks) के द्वारा यह कार्य हो सकता है। आवश्यकता पड़ने पर संज्ञाहरण करके भी शल्य दूर किया जा सकता है।

वयस्कों में जातीय द्रव्य या शल्य, नासाश्मरी (Rhinolithis) का रूप ले लेते है। वर्ति के टुकड़े जो नासाभरण में प्रविष्ट किए गए हों वे यदि किसी कारण से निकल भी न पाये हों और नासा गुहा में चिपके रह गए तो उनके ऊपर खटिक संग्रह (calclum deposits) होकर पथरी का रूप धारण कर लेता है। चिकित्सा में इसका आहरण करके नासावस्ति (cnasal doushe) के द्वारा प्रक्षालन कर लिया जाता है।

नासागुहा के विकारों में आधुनिक ग्रंथों में कुछ अन्य रोग जैसे नासा नाडीव्रण तथा नासारोहिणी Dyptheria of the nose का वर्णन मिलता है, परन्तु इनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थकारों के वर्णन में लाक्षणिक ढंग पर हो चुका है।

नहीं हुआ। किन्तु एक प्रकार के दण्डाकार कीटाणु "वेसिलस इन्फ्लुएन्जा" को कारण बताया जाता है। इसके साथ प्रतिश्याय का कीटाणु तथा "स्टौफिलो-कोकस ऑरियस" भी पाये जाते हैं और ये भी रोगोत्पादन में सहायक होते हैं। यह रोग एकाकी रूप में प्राय: समस्त भूमण्डल पर पाया जाता है। परन्तु कभी-कभी यही कीटाणु जो साधारणतया भयानक नहीं होते अज्ञात कारणों से भयानक बन जाते हैं। तब इनका संक्रमण प्रसार अति शीघ्र होने लगता है। मृत्यु-संख्या बहुत बढ़ जाती है। इसी प्रकार यह सन् १९१८-१९ में समस्त भूमण्डल पर एक ही समय में उग्र रूप से फैल गया था, इसके बाद भी ३-३, ४-४ वर्ष पीछे यह रोग महामारी के रूप में फैलता रहा है परन्तु उतने उग्र रूप से फिर नहीं हुआ जितना १९१८ में हुआ था। इसका संक्रमण रोगी के संसर्ग दूषित वस्त्रों तथा वायु द्वारा होता है। संक्रमण वाहकों से भी यह रोग प्रसार पाता है।

एक बार हो जाने से पुन: होने की सम्भावना रहती है। इसी आधार पर शरद शिशिर और वसन्त ऋतुओं में प्रकोप विशेष होता है।

दोष परिपाक—२ दिन से ३ दिन और सीमा १-५ दिन है।

लक्षण—यह रोग अकस्मात् आरम्भ होता है। अच्छा भला चलता फिरता मनुष्य थोड़ी ही देर में तीव्र ज्वरादि लक्षणों से पीडित तथा अति क्षीण होकर शय्या पर लेट जाता है। शिर:शूल कटि वा शाखाओं में तीव्र सजा, कण्ठ और मुख में दाह तथा तीव्र कास शीघ्र ही आ घेरते हैं, आंखें सुर्ख हो जाती हैं और रोगी बेचैन होता है। कभी-कभी प्रलाप, कम्पन आदि लक्षण भी विद्यमान होते हैं। जिह्वा मैली और फूली हुई और इसके किनारे लाल होते हैं। नाड़ी की गति ज्वर की अपेक्षा कम होती है। रक्त में श्वेताणु कम हो जाते हैं, उनमें बृहत् और क्षुद्र लसीकाणुओं का निपात बढ़ जाता है। रोग शीघ्र ही निम्नांकित चार भेदों में से कोई एक भेद धारण कर लेता है।

(१) साधारण—इसमें उपर्युक्त सारे लक्षण विद्यमान होते हैं तथा अन्य कोई विशेष लक्षण विद्यमान नहीं होता। ज्वर ५-७ दिन तक १०३-१०४ डिग्री रहता है, पुन: प्राय: अकस्मात् उतर जाता है। कभी-कभी १० दिन तक भी चला जाता है यदि इससे अधिक दिनों तक रोग के लक्षण रह जावें तो रोग के साथ श्वास मार्गादि के उपद्रव श्वसनक आदि की उपस्थिति समझनी चाहिए।

ऊपर पात्र में पानी डाल कर इसमें लोबान, राई, नीमपत्र, हरमल और साधारण नमक सब लगभग १ सेर पानी में २ तोले की मात्रा के अनुसार डालें और उसको उबालें और उसका वाष्प लें। नाली द्वारा वाष्प गले और नाक में लें। अथवा—

पानी में टिंचर वेन्जोरन का एक छोटा चाय वाला चम्मच प्रति १ सेर मिला सकते हैं, हर १०-१० मिनट के बाद १-१ चम्मच उबलते हुए पानी में डालते जावें। ऐसा वाष्प आधा घण्टा दिन में ३-४ वार देवें इसमें गले का शोथ कम होता है और कास का वेग कम हो जाता है। अथवा रुमाल के ऊपर यूकलिप्टस और मेन्थोल मिलाकर छिड़क दें और उसे सूंघते जावें, नासा प्रसेक के लिए निम्नलिखित औषधियों के क्वाथ का उपयोग करना चाहिये।

केम्फर, सोडाबाई कार्ब, मेन्थल गर्म पानी में छोड़कर वाष्प लें। शिर पीड़ा के लिए एस्प्रीन, फेनासिटीन, या कोडो पायरीन, सोनालाजीव का प्रयोग करना चाहिए।

कास के लिए—चाटने के लिए निम्न औषधियां सीरप या शर्वत के साथ दी जाती है।

जैसे—टिंचर केम्फर २० बूंद, टिंचर सिल्ला ५ बूंद सीरप कोडीन फास्ट १ ड्राम ऐसा एक खुराक तीन घण्टे के पश्चात् चाटने को दिया जाता है। प्रयोजनानुसार इसके साथ एफ्रीडीन सेन्थल इत्यादि मिलाया जा सकता है। कोष्ठवद्धता रहने पर—

केलोमल या पथ्यादी चूर्ण से कोष्ठ साफ कर देना चाहिये। नाक से अधिक पानी निकलता है तो लाइकर एट्रोपीन का मिक्चर वा २ बूंद देना चाहिए। अथवा ऐस्प्रीन के साथ डोवर्स पाउडर मिला कर दें। कभी-कभी सल्फाड्रग्स का प्रयोग किया जा सकता है। प्रयोजन के अनुसार ओरोमाईसीन भी प्रयोग किया जाता है और रोगी को सेलीसिलेट इन्जेक्शन देना चाहिये।

वालुका स्वेद द्वारा स्वेद कार्य को करें।

मुस्तादि क्वाथ, पंचकोलादि क्वाथ, निम्बादि क्वाथ, त्रिफलादि क्वाथ।

मुस्तादि क्वाथ—नागरमोथा, गुरुच, सोंठ, अडूसा, सुगन्ध वाला, पित्तपापड़ा, हरड़ बड़ी, छोटी कटेरी, धमासा इनका क्वाथ पीने से वातश्लेष्म ज्वर में लाभ होता है। इन क्वाथों में से किसी एक को प्रयोग करने से वातश्लेष्म ज्वर उपद्रव सहित शांत हो जाता है।

क्षीण दुर्बल व्यक्तियों में अधिक होता है। एक बार हो जाय तो पुनः आक्रमण होने का भय रहता है।

इसका जीवाणु नासा कण्ठ द्वारा फुफ्फुसों में पहुंचकर वहाँ रोग उत्पन्न करता है। इसकी चार अवस्थाएँ मानी गई हैं।

प्रथमावस्था—वायु मन्दिरों की सेलों में शोथ उत्पन्न होती है, वहाँ की रक्त-वाहिनियाँ प्रफुल्लित और रक्त पूर्ण होती हैं। उनसे रक्तवारि चू-चूकर वायु मन्दिरों के कोष्ठों में आकर जमा हो जाता है। इस अवस्था में फुफ्फुसों का रुग्ण भाग शोथयुक्त रक्तवर्ण का और भारी होता है परन्तु अभी कोष्ठों में वायु होने के कारण यदि पानी में डाला जाए तो तैरता है, उस स्थान का फुफ्फुसावरण भी शोथयुक्त हो जाता है।

इस अवस्था में वायु कोषों की सेलों में वायु का प्रवेश कम होता है, श्वास शब्द कम सुनाई पड़ता है। अथवा जो सेलों शोथ-स्राव के कारण चिपक गई थी वे वायु प्रवेश होने से जब खुलती हैं तो प्रश्वास में करकरामन शब्द होता है। पहिली अवस्था परिपूर्ण होते-होते २-३ दिन लग जाते हैं।

द्वितीय अवस्था—रुग्ण भाग एकदम ठोस हो जाता है, वायु कोष्ठों के अन्दर रक्तवारि जम चुका होता है, सारे वायु कोष्ठ इस जमे रक्त से परिपूर्ण होते हैं, इनके रक्तकण श्वेतकण और वायु-कोष्ठ की दीवार से घिरी हुई कुछ सेलें होती हैं और वायुकोष्ठों में न वायु आती है और न जाती है, वक्ष के ऊपर स्टिटिसकोप लगाने पर वायु प्रणाली शब्द सुना देता है। उसका कारण यह है कि वायु प्रणालियों से सीधी ठोस स्थान द्वारा परिचालित होकर वक्ष की दीवार तक पहुंचती है और हमें प्रणालीय शब्द सुनाई देता है।

तृतीय अवस्था—वायु कोष्ठों के अन्दर के रक्तवण और रक्तवारिलीन हो जाते हैं, उनके स्थान पर पीले वर्ण का पूय समान तरल भरा हुआ होता है, फुफ्फुस अर्थात् वायु मन्दिर अभी तक ठोस होते हैं, और वे श्वेताणु और वायु कोष्ठों की सेलों से भरे हुए रहते हैं। इस अवस्था में रोग अपनी पूर्ण सीमा तक पहुंच चुका होता है, ज्वर तीव्र और अनिद्रा, प्रलाप अथवा मूर्च्छा आदि विष-प्रभाव एक्सीमिया के लक्षण अत्यधिक होते हैं विष का प्रभाव अधिकतर हृदय और मस्तिष्क पर पड़ता है। हृदय दुर्बल व नाड़ी की गति अति तीव्र होती है। परिधि की रक्त-वाहिनियाँ विस्तृत हो जाती हैं। हृदय में रक्त आने ही नहीं पाता, अधिकतर मृत्यु का कारण यही होता है। मस्तिष्क

वेग और अधिक हो जाता है। प्रलाप बढ़ जाता है। प्रलाप पहले तीव्र होता है और पीछे धीमा पड़ जाता है। रोगी गुनगुनाने लगता है। और अन्त में संज्ञाहीन हो जाता है। श्वास की गति अति तीव्र ४०-५०-६० प्रति मिनट होती है, नाड़ी की गति १२०-१३० या १४० हो जाती है। श्वास से इसका निणत १:३ या १:२ हो जाता है। नाड़ी पहले तीव्र भरी हुई और वेगवती होती है कि गिनी भी नहीं जाती और अन्त में अस्पष्ट हो जाती है, हृदय दुर्बल होता है। इस अवस्था में रोगी अति तीव्र ताप हृदय कार्यविरोध या सन्यास से मर जाता है। साध्यावस्था में ५-७ या १० दिन तक ज्वर तीव्र रहता है। तदन्तर [प्राय: ७ दिन बाद] अकस्मात् स्वेद पाकर उतर जाता है। इस समय हृदय कार्याविरोध का विशेष भय रहता है। विरलावस्था में ज्वर शनैः शनैः उतरता है। रक्त में श्वेताणु बहुत बढ़ जाते हैं और मूत्र में हरिद कम हो जाते हैं। उर: परीक्षा करने से निम्नोक्त बातें पाई जाती हैं।

प्राय: एक ओर के फुफ्फुस का निम्न खण्ड कभी-कभी दोनों ओर का भी प्रभावित होता है।

दर्शन—रुग्ण पार्श्व कुछ आगे की ओर उभरा हुआ होता है और श्वास क्रिया में कम उठता है।

स्पर्शन—रुग्ण संस्थान दृढ़ होता है। कभी-कभी फुफ्फुसावरण के प्रभावित होने से घर्षण शब्द सुनाई देता है। शब्द-स्पर्श बढ़ जाता है और जैसे-जैसे फुफ्फुस अधिक ठोस होते जाते हैं शब्द स्पर्श भी बढ़ता जाता है। बृहत फुफ्फुस प्रदाह में जब शोथ अत्यधिक हो जिससे कि वायु-प्रणालियाँ भी शोथ युक्त होकर बन्द हो जायें तो शब्द स्पर्श बिल्कुल प्रतीत नहीं होता।

ठेपन—प्रथमावस्था में थोड़े समय के लिए उस स्थान पर अति गुंजन शब्द सुनाई देता है जो झटपट कुछ ठोस हो जाता है। जैसे-जैसे खण्ड ठोस होते हैं ठेपन शब्द भी अधिक ठोस होता जाता है और तीसरी अवस्था में कोष्ठवत् ठोस हो जाता है। जब खण्ड के मध्य में शोथ प्रारम्भ हो तो ठेपन शब्द बहुत देर के बाद जाकर ठोस होता है, अर्थात् जब शोथ अन्दर से बाहर तक पहुंच जाता है।

श्रवण—प्रथमावस्था में कुछ घंटों के लिए श्वास शब्द अस्पष्ट होता है परन्तु कर्कश होने लगता है और प्रश्वास के अन्त में मृदु करकरापन सुनाई

अन्त: प्रयोगार्थ निम्नोक्त आयुर्वेदिक औषधियाँ भी काम में लाई जाती हैं—

त्रिभुवण कीर्ति रस १ रत्ती, चन्द्रामृत रस २ रत्ती, पुष्करमूलत्वक् चूर्ण ४ रत्ती, शृङ्ग भस्म ४ रत्ती।

ऐसी चार मात्रा ३-३ अथवा ४-४ घण्टे बाद मधु के साथ चटावें, उसके उपरान्त गोजिह्वादि क्वाथ ३ माशा शक्कर अथवा मधु के साथ पिला देवें। यदि प्रलाप हो तो हिंगू कर्पूर बटी, तगरादि क्वाथ के साथ प्रयोग करायें।

शुष्क कास में निम्न औषधियों का मिश्रण देना चाहिए—

१. टिंचर कैम्फर क्लोराइड २. एमोन क्लोराइड

३. एपीकाक ४. सिरप वासक ५. एफीड्रीन।

निद्रा लाने के लिए निम्नलिखित औषधियाँ प्रयुक्त की जाती है—

१. टैराएलाडिहाइड मात्रा आधी से २ ड्राम तक। इसे शर्बत अनार, शर्बत निम्बू के साथ पानी में घोलकर २ ड्राम अथवा १-१ ड्राम २ बार आधे घण्टे के अन्तर से दे सकते हैं। १ या २ c. c मांसगत इन्जेक्शन देना बहुत उपयोगी है।

२. सल्फोनाल ५ ग्रेन से २० ग्रेन सोते समय देना चाहिए।

३. क्लोराइड हाईड्रास १० ग्रेन १ औंस पानी के साथ।

४. एस्प्रीन आदि औषधियाँ प्रयोग करें।

निमोनिया की तरुण अवस्था में आयोडाइड एवं मिक्श्चर का प्रयोग करें। रोगी को हवादार खुले कमरे में रखना चाहिए। कमरा गरम होना चाहिये, छाती के ऊपर ऊनी कपड़ा का प्रयोग करें, पीने के लिए प्रारम्भ में गर्म पानी दें। पथ्य में वार्लीवाटर, साबुदाना, गर्म दूध पिया जा सकता है।

. केम्फर इन आपल बिथ ईथर १ c. c. का मांसगत इन्जेक्शन हर चार घन्टे बाद।

२. वेरिटाल त्वचागत इन्जेक्शन द्वारा हर ४ से ६ घण्टे बाद देवें। रोग निवृत्ति के पश्चात् बलवर्द्धक योग—लोह भस्म, मण्डूर भस्म, सुवर्णमाक्षिक, सिद्धदरदामृत, वसन्तकुसुमाकर, सुवर्ण, वसन्तमालती आदि औषधियां दी जाती हैं। सिद्धदरशामृत आधी रत्ती, मण्डूर भस्म २ रत्ती सुवर्णमाक्षिक भस्म २ रत्ती, प्रवालपिष्टी ४ रत्ती। इनको मिलाकर मधु के साथ दें और द्राक्षासव १। तोला समभाग पानी मिलाकर दो बार दें।

नेत्र रोग विज्ञान

प्रश्न—नेत्र शरीर का वर्णन कीजिए ?

उत्तर—सुश्रुतानुसार नेत्र शरीर (Anatomy)—आचार्य सुश्रुत ने अपनी परिभाषा के अनुसार नेत्र या नयन का अन्तः प्रवेश (गहराई) आयाम और विस्तार (लम्बाई एवं चौड़ाई) के मान या माप तथा आकार का वर्णन किया है। उन्होंने आंख को नयन बुदबुद् या नेत्र बुद्बुद् बतलाया है जिसका अर्थ अक्षिगोलक या नेत्रगोलक होता है। अंग्रेजी के आधुनिक नेत्र ग्रन्थों में भी इसका अविकल प्रयोग 'आईबाल' (Eye Ball) करके ही वर्णन मिलता है। इस प्रकार नेत्र की स्थूलता या अन्तः प्रवेश्य स्थान की गहराई दो अंकुष्ठोदर के प्रमाण की मानी जाती है। यह अंकुष्ठोदर अपने-अपने अंकुष्ठोदर के अर्थ में हैं किसी दूसरे व्यक्ति के अंकुष्ठोदर से मापने से यह बड़ी छोटी भी हो सकती हैं, परन्तु व्यक्ति भेद से उसकी गहराई स्वांगुष्ठोदर से दो ही की होती है। अर्थात् नेत्र गोलक की भीतरी लम्बाई अर्थात् कणिका (Connea) से दृष्टिनाड़ी (Optic Nerve) तक का व्यास अंकुष्ठोदर अर्थात् दो अंगुल का होता है।

इसी प्रकार नेत्र गोलक आयाम (लम्बाई) बाहर से लेने पर आयोग से कनीनिका तक (Antero-Posteior Diameter) $\frac{3}{2}$ अंगुल से बढ़कर २$\frac{3}{2}$ अंगुल तथा विस्तार (Vertical daimeter) बाहर से लेने पर २$\frac{1}{2}$ अंगुल का ही होता है। इस तरह सब ओर से नेत्रगोलक परिमाप गोल होने से ढाई अंगुल का ही ठहरता है। फलतः सुश्रुत ने इसके आकार को 'सुवृतंगोस्त'-नाकार' अर्थात् गोल एवं अण्डाकार बतलाया है। एवं इसकी उपमा ओस्तन या पक्व ताजे गाम्भारी या द्राक्षाफल से दी है। अंगुली का माप व्यक्ति विशेष की अंगुली ही ठीक बैठता है। फिर भी एक औसत माना जा सकता है।

नेत्र गोलक को सर्वभूत-गुणोभव माना जाता है अर्थात् इसकी उत्पत्ति सभी भूतों से तथा भूतों के गुणों में होती है। इसमें सभी भूतों से सिरा, स्नायु, अस्थि और अश्रुमार्ग के सहित नेत्र बुदबुद उत्पन्न होता है एवं भूतों के गुणों से नेत्रगत रक्त, श्वेत तथा कृष्णवर्णता उत्पन्न होती है। कुछ व्याख्या-कारों ने गुण शब्द से भूतगुण न मानकर भूत प्रसाद माना है। परन्तु यह व्याख्यान जेज्जर को रुचिकर नहीं मालूम हुआ अस्तु, डल्हण ने भी गुण का

आधुनिक ग्रन्थों में नेत्रगोलक का अनुलंब व्यास (Anteso posterior or sagital daimetiv) वाह्य भाग २४.१५ मिलीमीटर और भीतर का भाग २२.१२ मि० मी० का कहा गया है। नेत्र के दोनों कोनों के बीच का अनुप्रस्थ व्यास (Horizontal daimeter) २४.१३ मि० मी० और उत्तान खड़ा व्यास (Vertical daimeter) २३.४८ मि० म० का बतलाया गया है। सामान्यत: स्थूल रूप में नेत्र गोलक-व्यास सब ओर लगभग एक इंच है। सामान्यत: जन्म के समय में सबल शिशु का नेत्रसा अनुलंब व्यास लगभग १६.५ मि० मी० और युवावस्था में पहुंचने पर २०.२१ मि० मी० होता है फिर पूर्ण वृद्धि-काल तक २४.१५ मि० मी० का हो जाता है। अनुलंब व्यास यह अनुप्रस्थ एवं उत्तान व्यास की अपेक्षा अधिक होता है। उत्तान (Vertical) व्यास सबसे न्यून है। पुरुषों के तीन व्यास स्त्रियों के अपेक्षा कुछ अधिक होते हैं।

देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो नेत्रगोलक के दो भाग होते है। आगे के हिस्से में $\frac{1}{6}$ भाग जो अवस्थित है और जो घड़ी के कांच के समान दिखता है उसे कृष्णमण्डल कहते हैं यह पारदर्शक है। पीछे रहा हुआ $\frac{5}{6}$ भाग जो अपारदर्शक है उसे नेत्र का वाह्य पटल कहा जाता है। दृष्टिमण्डल का आयाम यदि कनीनिका का आयाम माना जाय तो आधुनिक ग्रन्थों में यह लिखा है कि कनीनिका व्यास सब मनुष्यों में एक सा नहीं होता लगभग २.५ मि० मी० से ६ मि० मी० तक का होता है। कृष्णमण्डल का आड़ा व्यास ११.६ मि० मी० का होता है।

नेत्र का भाग—सुश्रुत ने नेत्र रचना तथा रोगाधिष्ठान-वर्णन की इच्छा से नेत्र को तीन भागों में बांटा है। मण्डल, सन्धि और पटल। इनमें मण्डल पांच, सन्धियां छः तथा पटल भी छः होते हैं। मण्डल को पाश्चात्य ग्रन्थोक्त परिभाषा के अनुसार (circles), सन्धियों को (Junctions) और पटलों को (Layers Tunic) कहा जाता है। नेत्र में ये मण्डल क्रमशः एक के बाद दूसरी पक्ष्म, वर्त्म, श्वेत, कृष्ण और दृष्टि नामक पाये जाते है।

मण्डल—इनकी संख्या पांच होती है।

१. पक्ष्म-मण्डल—(Inter marginal circular Area) अंग्रेजी नामकरण में (Eye Lashes) कह सकते हैं। ऊपर और नीचे की पलकों में जो पक्ष्म होते हैं वे मिलकर एक मंडल या गोलाकार आकृति सी बना देते है।

२. वर्त्म-मण्डल—(Palpebsal Area) ऊपर और नीचे के नेत्रच्छदों के

श्लेष्मावरण निर्मित श्वेत मण्डल कहा जाता है। वाहर से देखने पर जो नेत्र का श्वेत भाग दिखाई पड़ता है वह श्वेत मण्डल है। वास्तव में रोगों के वर्णन के प्रसंगों में जो रोगों का वर्णन आगे पाया जाता है उसमें केवल नेत्र श्लेष्मावरण की व्याधियों का ही वर्णन मिलता है। अस्तु, श्वेत मण्डल से निश्चित रूप से 'कजक्टाइवल सैंक' का ही ग्रहण करना चाहिए।

४. कृष्ण मण्डल—(Vueal Iris & Cornal Area) वाहर से देखने पर जो आँख में काला भाग दिखाई देता है उसे कृष्णमण्डल की संज्ञा प्राचीनों ने दी है। इसे आधुनिक भाषा में Cornal Circle कहा जा सकता है। नेत्रगोलक के अग्र भाग में जो काला सा पारदर्शक स्थान है उसे कृष्ण मण्डल कहा जाता है।

यह भाग समस्त चक्षु के ऊपर घड़ी का कांच जैसे एक गोल गेंद पर वैठाया गया हो, उसी प्रकार का प्रतीत होता है। वह पारदर्शक और चमकीला दीखाता है। कृष्णमण्डल वाह्य गोल है और नेत्र के वाह्य पटल के साथ चमकाया सा प्रतीत होता है। आगे देखने पर यह अण्डाकार विदित होता है। उसका आड़ा व्यास ११.६ मि. मी. तथा खड़ा व्यास १०.६ मि. मी. का होता है। इसके मध्य का १/३ भाग पूर्णतया वाह्य गोल शेष २/३ भाग चिपटा सा है। शेष भाग अन्तःगोल है। मध्य भाग में वह पतला और परिधि के भाग में कुछ मोटा होता है। युवावस्था तक कृष्णमण्डल पूर्णतया पारदर्शक रहता है फिर कितने मनुष्यों में वृद्धावस्था प्रारम्भ होने पर शुक्लमण्डल की परिधि का भाग अपारदर्शक और श्वेत होने लगता है। इस अवस्था को वृद्धावस्था जन्य श्वेत परिधि कहा जाता है। यह स्थित किसी प्रकार का रोग नहीं है परन्तु वृद्धावस्था जनित एक स्वाभाविक विकार है। इससे दृष्टि को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचती।

५. दृष्टि मण्डल (Pupillary circular Area)—इसको circle of pupile कह सकते हैं। इस मण्डल का संक्षिप्त वर्णन आधुनिक ग्रन्थों के आधार पर इस प्रकार का मिलता है। तारामण्डल एक प्रकार का पर्दा है। यह कृष्ण-मण्डल के पीछे जो जलमय रस का खण्ड है उसके पीछे लगता है। इसका रंग भारतवासियों में प्रायः काला और गोरे मनुष्यों में भूरा होता है। भारतवर्ष में किसी-किसी के नेत्रों में भूरे रग का दिखता है। जो लोग जन्म से रंग रहित

धारा से कुछ भीतर की ओर एक लम्बी परिखा-सी मालूम होती है। उसमें अनेक वार क्षुद्र शल्य पहुंचकर नेत्र में व्यथा पैदा करते हैं।

यह आवरण ऊपर की पलक को आच्छादित करके नेत्र-गोलक पर जाता है जिस स्थान पर पलक और नेत्र गोलक (Palpebal & Bulbur Counjunction) के ऊपर मढ़े श्लेष्मावरण का संगम होता है। उसी संगम को प्राचीनों ने वर्त्म शुक्लगत सन्धि के नाम से अभिहित किया है, इस स्थान पर पाश्चात्य उल्लेखो के आधार पर चार स्थानों में निम्न पुट बन जाते हैं।

(क) ऊर्ध्वपुट, ऊर्ध्वत्म कोण—(Superior Fornix)

(ख) अधः पुट, निम्न वर्त्म कोण—(Inferior Fornix)

(ग) मध्य पुट, मध्यवर्त्म कोण—(Medial Fornix)

(घ) पार्श्व पुट पार्श्ववर्त्म कोण—(Lateral Forniz)

शुक्ल कृष्णगत सन्धि—(Limpus) श्वेत मण्डल से (Sclera) 'स्कलेरा' का ग्रहण करके जहाँ पर उसका कृष्ण मण्डल (Cornea) के साथ संगम होता है उस स्थान को शुक्ल गत सन्धि (Corneoscleral Junction) कह सकते हैं। यहीं पर 'स्लेन' का जलमार्ग (canal of Schlemn) भी अवस्थित है।

४. कृष्ण दृष्टिगत सन्धि—(Pupillary Margin) यह कृष्ण मण्डल और दृष्टि मण्डल के बीच का संगम स्थल है। संभवतः इस संधि विशेष से सन्धान मण्डल (ciliary body) का वर्णन हो। तन्तुमय समूह या सन्धान मण्डल मुख्यतः तीन भागों से बना है :—

(क) तन्तुमय मण्डल या सन्धान कलयिका (ciliary dod)

(ख) तन्तुमय पुट या सन्धान दर्विका (ciliary processes)

(ग) तन्तुमय पेशी या सन्धान पेशिका (ciliary muscles)

५. कनीनकगत संधि (Inter canthus)—डल्हणाचार्य ने कनीनक को नासा समीपस्थित सन्धि विशेष बतलाया है। यह भाग नासा के समीप दोनों वर्त्मों के मिलने से बनता है। अंग्रेजी में यह 'इनर कैन्थस' कहलाता है।

६. अपांग सन्धि (Outer canthus)—सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने इस सन्धि की स्थिति भ्रू (भों) के पुच्छ के अन्तः भाग में स्थित माना है। यह दोनों वर्त्म बाहर के सगम स्थल का द्योतक है। अंग्रेजी में इसे 'आउटर कैन्थस' कहते हैं।

२. रक्तवाहिनीमय रंजित पटल (Vascular Pigment tunic) तारा मण्डल (Iris) नेत्र मध्य पटल या कृष्ण पटल (Choroid) संधान मण्डल (ciliary body)

३. नेत्रान्तर नाड़ी पटल (Nervous tunic) तथा दृष्टि वितान [Retina]

पटलों की विस्तृत विवेचना—आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि कुल छः पटल होते हैं। उनमें दो पटल वर्त्म में और शेष चार नेत्र गोलक की रचना में पाये जाते हैं।

वर्त्मपटल—स्थूल दृष्टि से विचार करने पर ऊर्ध्वाधः भेद से ऊपर और नीचे के दोनों वर्त्म दो पटल हो जाते हैं, एक ऊपर का पलक और दूसरा नीचे का। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करे तो वर्त्म पटल वाह्य तथा आभ्यन्तर भेद करना अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है।

बाह्यवर्त्म (Papebral layer or external) तथा आभ्यंतर वर्त्म (papebral layer internal or Conjuctiv) –भेद से दो वर्त्म पटलों का मानना अधिक संगत प्रतीत होता है। पलक के ऊपरी स्तर चर्म एवं माँस का निर्मित रहता है, इसमें वसाग्रन्थि, निमीलना पेशी, पक्ष्ममूल ग्रन्थियाँ तथा पक्ष्म [बरौनी या Eyelashes) लगे रहते हैं। आभ्यान्तर स्तर पर या पटल एक पतली श्लेष्मलकला से निर्मित रहता है। इसको (Conjunctiva) कहते हैं। इसमें से एक श्लेष्मल द्रव निकल कर पलकों को मृदु और सिक्त किये रहता है जिससे आंखों के खोलने और वन्द करने में आसानी रहती है। इसमें अश्रु प्रणालियां एवं अश्रु ग्रन्थि रहती है जिनका मुख कनीनक सन्धि में खुलता है जिसे प्रणाली मुख या [Panctum] कहते हैं।

पलकों का प्रधान कार्य नेत्र गोलक की रक्षा करना है। वाहरीक्षत, आघात, धूल, कृमि या कीट आदि से नेत्र की रक्षा इनका कार्य है। नेत्र को यथावश्यक स्निग्ध रखना यथा समय खोलना या बन्द करना भी इनका कार्य है।

नेत्र गोलक के पटल—तेजो जलाश्रित या वाह्य पटल—प्रथम पटल है इसे श्वेत पटल भी कहते हैं। नेत्र गोलक के सम्मुख दिखाई देने वाला पलकों के बीच का श्वेत मण्डल कहलाता है।

इस पटल के दो भाग होते हैं—शुक्ल पटल (Sclera) यह नेत्र गोलक

नामों से अभिहित किया है। जैसे कुमारिका, पन्नरूपा कुमारिका, तारका, तारिका या तारा आदि। इस तारा की बनावट में छिद्रमय भाग को व्यवहार में पुतली कहा जाता है और इसके पाश्वर्गीय शेष भाग को कृष्ण होने से कृष्ण मण्डल या तारानुमण्डल (Iris) कहा जाता है। तारा से समय 'आयारिस' के भाग को न लेकर केवल विवराकृति प्युपिल या पुतली को ही ग्रहण करना चाहिए। कृष्ण मण्डल का ⅓ दृष्टि या पुतली होती है। कृष्णात् सप्तमिच्छन्ति दृष्टि-दृष्टि विशारदा।

तारानुमण्डल (आयारिस) में रजक, धातु की अधिकता होती है। इसमें रक्त वाहिनियों, नाड़ियों और मांस पेशियों का समन्वय रहता है। कर्णिका (cornea) और तारामण्डल (Iris) के बीच में एक अवकाश रहता है जिसे पूर्व वेश्म (Anterior chamber) कहते हैं और इसमें तेजो जल अर्थात् एक्व सह्य मा भरा रहता है। तारा मण्डल के पीछे संधान मण्डल एवं कांच (Lens) के बीच में एक अवकाश रहता है जिसे पश्चिम वेश्म (Posterior chamber) कहा जाता है। इसमें भी एक तेजो-जल ही भरा रहता है जिसे 'विट्यिसह्यू मर' कहते हैं—इस द्रव की अधिकता से अधिमंथ नामक रोग होता है।

तारानुमण्डल में संयोजक धातु, रक्त वाहिनियों तथा साम्वेदनिक नाड़ी सूत्रों की बहुलता होती है। फलतः इसमें संवेदना ग्रहण की शक्ति तीव्र होती है—नेत्र की रक्षा की दृष्टि से यह यथा-समय संकोच एवं विस्तार करती हुई पुतली को छोटी बड़ी यथावश्यक करती रहती है। धूप में यह संकुचित हो जाती है। छाया में विस्तृत हो जाती है। 'संकुचत्यातपेऽत्यर्थं छायायां विस्तृतो भवेत्।'

संधान मण्डल या तारानुमण्डल (ciliary Body) यह एक कृष्ण वर्ण, त्रिकोणाकार, विषम रचना है जो तारानुमण्डल (iris) के चारों ओर पाया जाता है एवं वलयाकार अवयव है जो स्थानिक मांस पेशी सूत्रों का बना होता है। इसके दो भाग होते हैं। बाह्य तथा आभ्यन्तर। बाह्य भाग श्वेत पटल से लगा रहता है और भीतरी पूर्व वेश्म में 'आयारिस' से लगा रहता है। इस का शीर्ष भाग कृष्ण मण्डल (Choroid) से मिला रहता है।

कृष्ण मण्डल (choroid)—रक्त वाहिनियों के संयोग से बना हुआ यह एक

रक्तमय पटल है। यह पटल श्वेत पटल के नीचे चारों तरफ पाया जाता है और आगे की ओर कांच मणि (lens) तक पहुंचता है और वहाँ पर कई प्रवर्द्धनों के रूप में कांच के किनारों पर प्रवर्द्धन (ciliary processes) कहलाते हैं। भीतर में पीछे की ओर यह दृष्टि पटल से दृढ़ता के साथ संसक्त रहता है। इसमें चार स्तरें पाई जाती हैं—

१. अविकृष्ण मण्डल (Supra-choroid)

२. रक्तवाहिनीस्तर

३. रक्तवह केशिकास्तर

४. स्थितिस्थापक आवरणस्तर

तृतीय पटल या मेदाश्रित पटल या मेदस्पटल इस पटल में दो द्रव और कांचाकी गणना की जाती है। काँच (lens) के पीछे एक मेदस कला (Hyaloid membrane) के द्वारा आवृत एक प्रकार में दो द्रव जो स्वच्छ, स्फटिकोपम गाढ़ा होता है और जो नेत्र गोलक के $\frac{3}{3}$ भाग में भरा रहता है। इसे मेदाश्रित पटल कहा जा सकता है। इस मेदस द्रव के बीच एक लंबी पतली नलिका पाई जाती है जो लसीका से पूर्ण रहती है और जो आगे कांच पृष्ठ से और पीछे दृष्टि नाड़ी के प्रवेश स्थान तक होती है, इसे मेदस द्रवान्तरी प्रणाली (Canalis Hyaloidens) कहते हैं।

मेदस पटल से दृष्टि पटल को सहायता मिलती है मेदस पटल में महत्त्व का दूसरा अवयव कांच या दृष्टि मणि (lens) का होता है।

कांच की सामान्य रचना—देखने की क्रिया का यह एक प्रधान घटक होता है। यह मेदस पटेल के आगे उसकी दृष्टि मण्डल धानिका (Fossa Palellaris) में लगा रहता है, इसके सामने तारा या उपतारा (Pupil of iris) का भाग रहता है। यह कांच चिपटे मोती के आकार का; किन्तु युगलोन्नतोदर (Biconvex) और पारदर्शक होता है। इसमें कई स्तर (layers) पाये जाते हैं। कांच एक प्रकार की कला द्वारा (Hyalin membrane) से पूर्णतया आवृत पाया जाता है जो सामने मोटी और पीछे की ओर पतली होती है। इसको कांच कोष (lens capsule) कहते हैं। कांच अपने स्थान पर लटकने वाले बन्धनों (Suspensary ligaments) से स्थिर रहता है ये बन्धन संधान मण्डल (ciliary Body) के परिवर्धित सूत्रों के समूह रूप में रहते हैं।

कांच (Lens) कई स्तरों का बना होता है—इसके मध्य का मणरडलाक

स्तर (Nucleuslentis) कठिन एवं दृढ़ होता है। कांच के स्तर जैसे-जैसे भीतर को होते हैं, कठिन और पारदर्शक होते हैं। कांच की रचना में शिरा धमनी या नाड़ी प्रतान नहीं पाये जाते इसका पोषण इसके चारों ओर पाये जाने वाली लसीका द्वारा होता है। कांच की पारदर्शकता सदैव बनी रहती है, क्योंकि इसके सभी स्तर दृढ़ होते हुए भी एक समान पारदर्शक होते हैं। आयु की वृद्धि के साथ वृद्धावस्था में या किसी रोग विशेष के कारण अल्प आयु में भी इनकी पारदर्शकता कम होने लगती है एवं धुँधलापन आने लगता है, जिस से भविष्य में मोतियाबिन्द या लिंग नाश नामक रोग पैदा हो जाता है जिसमें देखने की क्रिया पूर्णतया लुप्त हो जाती है।

चतुर्थ पटल—अक्षिपटल या दृष्टि पटल—सुश्रुत ने 'चतुर्थ त्वक्षि चापरम्' अर्थात् आँख में पाये जाने वाला चौथा पटल दूसरा ही है। कहीं पर चतुर्थ त्वस्थि चापरम् ऐसा भी पाठ पाया जाता है, जिसका अर्थ होता है कि चौथा पटल अस्थि के आश्रित रहता है। इनमें प्रथम पाठ ही युक्तियुक्त है जिसमें अक्षिपटल या दृष्टि पटल वर्णन प्रासंगिक है।

दृष्टि पटल, कृष्णपटल के नीचे का स्तर है। यह दर्शन व्यापार में सर्वाधिक महत्व का पटल है। यह बात नाड़ी सूत्रों का बना होता है अतः उसे nervous tunic कहा जाता है। दृष्टि नाड़ी (Optic nerve) नेत्र गोलक के पश्चात् पृष्ठ का भेदन करके भीतर प्रवेश करती है और यहाँ पर फैलकर नाड़ियों का जाल फैलाकर इसके विस्तार को बढ़ाती हैं। इस नाड़ी का सम्बन्ध नेत्र कोटर से नीचे मस्तिष्क तक होता है।

दृष्टि पटल में तीन प्रधान अवयव होते हैं—

१. दृष्टि वितान (Retina) २. पीत विन्दु (Macula Iutia)

३. नेत्र बिम्ब (Optic Dis or optic papilla)

दृष्टिवितान—(Retina)—अणुवीक्षणात्मक अध्ययन से यह कई स्तरों का बना होता है। संक्षेप में १० स्तर बतलाये गए हैं। उन स्तरों में नाड़ी कोषाणुओं की अधिकता पाई जाती है। इस पटल के महत्वपूर्ण भाग वे हैं जिन में दण्ड एवं शंकु (Rods and cones) पाये जाते हैं।

पीतविन्दु—दृष्टि पटल के पीछे के भाग पर एक छोटा सा उभार है जिसकी परिधि $\frac{1}{24}$ इन्च होती है यह वर्ण में पीला होता है यह बीच में कुछ दबा हुआ सा होता है। इसके पीत रंग के उभार को पीत विन्दु कहते हैं

५. रजोनिषेवनात—रज अनुरूप मिट्टी, कंकर धूल इत्यादि के आंखों में गिर जाने से अथवा रजस्वला स्त्री का निरन्तर रूप से सेवन करना या रज का अंग किसी भी कारण से आँखों इत्यादि में पहुंचने से अर्थात संक्रमण द्वारा नेत्र रोग सम्भवित होते हैं।

६. धूम निषेवेणात—आंखों में किसी भी प्रकार का धुँआ लगने से अथवा गाँजा इत्यादि के धूम्रप ानसे।

७. छर्दि विघातात—उलटी या छर्दि एवं असन्न वमन के वेग को रोकने से।

८. वमन अतियोगात—अत्यधिक दोष ऋतु वलदि को विचारे बिना ही मात्रा से अधिक वमन होने से।

९. द्रवात—द्रव अर्थात् तरल पदार्थों के काफी भाग में सेवन से।

१०. अन्नात—अचक्षुष्य अन्न सेवन से यथा गुरु विदाही एवं संयोग विरुद्ध भोजन इत्यादि।

११. निशिसेविनात—रात्रि में जागरण करके कार्य करते रहने से अथवा रात्रि में द्रवान्न का या द्रव और अन्न का प्रकृति विरुद्ध प्रयोग करना।

१२. विडनिग्रहात—मत्रमूत्र एवं उदान अथा अपान वायु के वेगों।

१३. मूत्र निग्रहात—को स्वत: रोकने से या किन्हीं कारणों द्वारा

१४. वातनिग्रहात—अवरोध होने से।

१५. प्रसक्तकोपात—लगातार कोप से।

१६. प्रसक्तरोदनात—लगातार रोते रहने से

१७. प्रशस्त शोकनात—निरन्तर शोक ग्रस्त रहते से।

१८. शिरोभिघातात—सिर में चोट के लगने से।

१९. अतिशयमद्यपानात—अत्यन्त मद्यपान करने से।

२०. ऋतुना विपर्ययेण—ऋतु के उल्टे से या ऋतु सात्म्य के अभाव होने पर यथा-वर्षा में नेत्र पोथ की इत्यादि।

२१. क्लेशात—नित्य प्रति गृहस्थ एवं बाहरी दुःखों के होने से।

२२. अभिघातात—अभिघात रूप चोट के लगने से स्वतन्त्र रूप से या परतन्त्रतया।

२३. अति मैथुनात—अत्यधिक कामरूपी स्त्री सेवन से इसी से शारीरिक

वातादि दोषानुसार वर्गीकरण करते हुए कहा गया है कि वात जन्य दस रोग है यथा: हताविमन्थ, निमिष, गम्भीरका दृष्टि, वातहतवर्त्म, ये चारों असाध्य कहे हैं। वातजन्य कांच याप्य है। शुष्काक्षिपाक, अधिमन्थ, अभिष्यन्द मारुत पर्याय और अन्यतोवात में वातज पांच रोग साध्य हैं।

पित्तज रोग भी दस हैं। उनमें ह्रस्वजाड्य और जलस्राव नामक दो रोग असाध्य हैं। परिमलायि कांच और नीलकांच यह दो रोग याप्य हैं। पित्तजसाध्य अभिष्यन्द, अधिमन्थ, अम्लाध्युषित दृष्टि, शुक्तिका, पित्तविदग्ध दृष्टि और धूमदर्शी साध्य हैं।

कफज नेत्र विकार तेरह कहे गये हैं। इन में कफज स्राव असाध्य है। कफज कांच याप्य है। अभिष्यन्द, अधिमन्थ, बलास ग्रन्थित, श्लेष्मविदग्ध दृष्टि, पोथकी, लगन, कृमिग्रन्थि, परिक्लिन्न वर्त्म, शुक्लअर्म, पिष्टक, श्लेष्मोपनाह साध्य हैं।

रक्तजन्य रोग सोलह हैं। उनमें रक्तस्राव, अजका, शोणितार्श क्षतशुक्र यह चार असाध्य हैं। रक्तज काच याप्य है। अधिमन्थ, अभिष्यनन्द, क्लिष्ट-वर्त्म, शिराहर्ष, शिरोत्पात, अञ्जना, सिराजाल, पर्वणी, अव्रणशुक्र, शोणितार्य अर्जुन ये रोग साध्य हैं।

सर्वजन्य रोग पच्चीस हैं। पूयस्राव, नाकुलान्ध्य, अक्षिपाकात्य, अलजी नामक रोग असाध्य हैं। काच पक्ष्मकोप ये रोग याप्य हैं। वर्त्मबन्ध, सिरा-पिड़िका, प्रस्तारि अर्म, अधिमांसार्म, स्नायु अर्म, उत्साङ्गिनी, पूयालस, अर्बुद श्यावकर्दम, श्याववर्त्म, अशेवित्र्म शुष्कार्श, शर्करावर्त्म, सशोफपाक, अशोफपाक, बहलवर्त्म, अक्लिन्नवर्त्म कुम्भिका और विषवर्त्म यह रोग साध्य हैं।

बाह्यज रोग दो हैं सनिमित्तज एवं अनिमित्तज। यह दोनों असाध्य हैं।

दूसरी प्रकार से रोगों का वर्गीकरण करते हुए सुश्रुत ने आश्रय भेद से वर्णन किया है। वे निम्न प्रकार हैं—

(१) सन्धिगत रोग नौ (९) हैं।
(२) वर्त्मगत रोग इक्कीस (२१) हैं।
(३) शुक्लगत रोग ग्यारह (११) हैं।
(४) कृष्णगत रोग चार (४) हैं।
(५) सर्वगत रोग सत्रह (१७) हैं।

उपचार करना चाहिए —

१. रक्तविस्रावण,

२. उपनाह

३. अक्षिपाक की पूर्ण चिकित्सा, (इसका वर्णन आगे है) आधुनिक चिकित्सक तीव्रावस्था में शोथ नाशक स्वेदन कराते हैं सल्फा की औषधियाँ देते हैं। यदि शोथ नहीं मिटता तो शस्त्र कर्म कराते हैं। जीर्णावस्था में तृणा-गुहा द्रव्यों से प्रक्षालन कराते हैं। शोधन एवं रोपण की क्रियाएँ कराते हैं। यदि इन से लाभ नहीं होता तो अश्रुाशय को शल्यकर्म द्वारा निकाल देते हैं।

२. उपनाह :—

"दृष्टि सन्धि में बड़ी, न पकने वा अल्प पकने वाली कण्डू बहुल एवं वेदना रहित ग्रन्थि को उपनाह कहा जाता है।"

इन लक्षणों को देखकर हम कह सकते हैं कि यह एक की ग्रन्थि है और यह अश्रुजनक पिण्डों में होती है अतः हम इसे अश्रुजनक पिण्ड ग्रन्थि (Lacrymal eyst) कह सकते हैं।

इसकी चिकित्सा निम्न प्रकार की जाती है—

१. लेखन—पिप्पली मधु और सैन्धव द्वारा

२. छेदन—मण्डलाग्र शस्त्र से सम्पूर्ण का छेदन करें।

३—६ स्राव—

"वातादि दोष अश्रु मार्ग से सन्धियों में पहुंच कर वेदना रहित स्रावों को कनीनिका प्रदेश में करते हैं। इन्हीं स्रावों को कोई नेत्र नाड़ी कहते हैं। यह चार प्रकार के होते हैं।

(क) पूयस्राव:— सन्धि में पाक होने पर पूय बहे उसे पूयस्राव कहते हैं।

(ख) श्लेष्म स्राव—जो स्राव श्वेत-सान्द्र-पिच्छिल और वेदना रहित हो।

(ग) रक्त स्राव—रक्तमिश्रित होता है उग-अधिक एवं पतला स्राव होता है।

---

१. "ग्रन्थिर्नाल्पो दृष्टिसन्ध्यपाकः कण्डूप्रायो नीरुजस्तूपनाह :।"

उत्पन्न शोथ है [Keretitis Marginalis]

इसकी चिकित्सा बताते हुए सुश्रुत में लिखा है कि "कुशल चिकित्सक सन्धि स्थित पर्वणी का सर्वप्रथम स्वेदन करें। फिर 'बडिश' द्वारा अग्रतृतीयांश को पकड़कर खींच लेवे। पुनः अग्रभाग के आधे भाग को चाकू से काट देवें। अधिक कटने पर अश्रु नाड़ी होने का भय रहता है। रोग का जो अंग शेष रह जाए उसके नाश के लिए सैन्धव एवं मधु का प्रतिसारण (लेखन) लाभ करता है।"

(८) अलजी

"कृष्ण और शुक्ल की सन्धि में पर्वणी के लक्षणों के समान अलजी उत्पन्न होती है।"[१]

यह भी पर्वणी की ही अवस्था है किन्तु इसे असाध्य कहा गया है—अतः जब वह शोथ बहुत बढ़ जाती है तो असाध्य हो जाती है। अतः हम इसे 'हाइपोपियन-अलसर' कह सकते हैं

सम्प्रति शालाक्यविद इन अवस्थाओं का भी उपचार करते हैं।

[९] कृमि ग्रंथि

पलकों में और बालकों में कण्डू होती है। ये कृमि नाना प्रकार के आकार के वर्त्म एवं शुक्ल की सन्धि में घूमते हुये आँखों को दूषित करते हैं। इन क्रिमियों से क्रिमिग्रन्थि नामक रोग उत्पन्न होता है।"

इसकी चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि सम्यक् प्रकार स्वेदन कराना चाहिए और फिर ग्रन्थियों का भेदन करना चाहिए। प्रतिसारण करना चाहिये और त्रिफला, तुत्थ, कासीस और सैन्धव से रस क्रिया बना कर अंजन करना चाहिए।

आजकल भी इनको पतले सन्देश से पकड़ कर निकलने का विधान बताया गया है और प्रतिसारण के लिए 'कैलोमल' और 'एमोन्येटिड-मर्करी' का प्रयोग किया जाता है।

प्रश्न—वर्त्मगत रोगों का विवरण लिखिए ?

---

१. "जाता सन्धौ कृष्णशुक्लेऽलजी स्यात्तस्मिन्नेव ख्यापिता पूर्वलिङ्गैः!"

उत्तर—आचार्य सुश्रुत ने वर्त्म [eyelids] का आश्रय लेकर उत्पन्न होने वाले लोगों की संख्या इक्कीस बताई है। इन रोगों की सम्प्राप्ति बताते हुए उन्होंने लिखा है—"जब पृथक्-पृथक् वातादि दोष अलग-अलग अथवा समस्त रूप में अतिशय प्रकुपित होकर वर्त्म में स्थिति होते हैं, तब मांस और रक्त को बढ़ाकर वर्त्म में आश्रित रोगों को शीघ्र उत्पन्न करते हैं।"[1]

अब हम क्रमशः उन रोगों का वर्णन करेंगे।

(१) उत्संगिनी—'जो पिडिका पलक के अन्दर मुख किए हुए बाहर की की ओर उभरी हुई प्रतीत होती है। यह पलक के नीचे उत्पन्न होती है। इसको उत्सङ्गिनी कहा जाता है।"

यह वास्तव में वर्त्म की ग्रंथि का शोथ है। इसके लक्षण आधुनिक शालाक्य तन्त्र में वर्णित रोग विशेष जिसे 'चैलिजियन' (Chalizion) कहते हैं—से समानता रखते हैं। यह महीनों तक रहने वाली पिडिका है जो प्रायः अधोवर्त्म में होती है, इसमें किसी प्रकार की वेदना नहीं होती।

इसकी चिकित्सा के दो विधान हैं—

(क) स्वेदन और प्रतिसारण

(ख) भेदन अथवा छेदन

सम्प्रति भी वोरिक से स्वेदन करते हैं और कुछ औषध द्रव्यों का प्रतिसारण भी करते हैं। बढ़ी हुई अवस्था में क्षारकर्म एवं अग्निकर्म भी कराते हैं।

(२) कुम्भक:—"वर्त्म में होने वाली जो पिडिका कुम्भी के बीजों के समान होती है, फूटने के पश्चात पुनः फूल जाती है, उसे 'कुम्भीक' कहा जाता है।"

यही भी वर्त्म की ग्रन्थियों का शोथ है। इसका उपचार भी उत्संगिनी के समान बताया गया है।

---

१. 'प्रथम् दोषाः समस्ता वा यदा वर्त्मव्यपाश्रयाः।
सिराव्याप्यावतिष्ठन्ते वर्त्मस्वाधिक मूर्च्छिताः॥
विवद्ध्य मांसं रक्तं च तथा वर्त्म व्यपाश्रयान्।
विकाराज्जनयन्त्याशु········।"

(३) वर्त्मशर्करा—"सूक्ष्म घनी पिड़िकाओं से जो कर्कश एवं स्थूल पिड़िका घिरी रहती है उसे 'वर्त्म शर्करा' कहा जाता है ।"

इसकी समता माइबोमियन पिन्डों में शुष्क रस के संग्रह (Infraction of Meibomian gland) से की जा सकती है । यह एक सन्निपातज विकार है और साध्य है ।

इसकी चिकित्सा बताते हुये कहा गया है कि 'लेखन' कार्य करना चाहिये भेदन भी कर सकते हैं और फिर लेखन करा लेवे ।

(५) अर्शोवर्त्म—'खीरे या ककड़ी के बीजों के समान मन्द वेदना वाली, सूक्ष्म और खर पिडिका जो वर्त्म में स्थित रहती है, उसे अर्शोवर्त्म कहते हैं ।"

यह त्रिदोषज विकार है और साध्य है । इसकी चिकित्सा निम्न सिद्धान्तों पर की जाती है—

(क) वर्त्म का स्वेदन

(ख) मंडलाग्र शस्त्र से भेदन

(ग) प्रतिसारण—भेदन के पश्चात सैन्धव कासीस पिप्पली से ।

(घ) अग्नि दहन एवं क्षार कर्म

(५) शुष्कार्श—"लम्बे अंकुर के समान, खर, कठिन, अतिकष्टदायक पलक में उत्पन्न यह रोग शुष्कार्श कहलाता है ।"

यह भी त्रिदोषजन्य साध्य रोग है और इसकी चिकित्सा अर्शोवर्त्म के समान कही गई है ।

(६) अंजनामिका—'दाह-तोद युक्त, ताम्रवर्ण की, कोमल, मन्द-वेदना वाली, सूक्ष्म पिडिका जो पलकों में होती है—उसे अंजनामिका कहा जाता है ।

यह रोग अन्जन लगाने के स्थान पर उत्पन्न होता है और इसके उत्पन्न होने के पश्चात अन्जन नहीं लगाया जा सकता इसलिए इसे हम अन्जनहारी भी कहते हैं ।

यह रोग 'म्टाई' (stye) नामक रोग का पर्याय है । इसमें पिडिका वालों

वताया गया है ।

१०. वर्त्म कर्दम—"क्लिष्ट वर्त्म की अवस्था में ही पित्त से युक्त हो रक्त यदि विदाह उत्पन्न कर देवे तो वर्त्म आर्द्र होकर क्लिन्न हो जाता है । इसी के कारण इसको भी चड़युक्त वर्त्म या कर्दम वर्त्म संज्ञा दी जाती है। यह सन्निपातज विकार है किन्तु साध्य है । इसे अंग्रेजी में Non-ulcerative Blepuntis कहा जाता है ।

इसकी चिकित्सा भी लेखन के द्वारा की जाती है।

११. श्यामवर्त्म—"जो वर्त्म बाहर और अन्दर से श्यामवर्ण का हो शोथ एवं वेदनायुक्त हो दाह-कंडु-क्लेदयुक्त हो उसको श्यामवर्त्म कहा जाता है ।"

यह सव्रण वर्त्मशोथ (ulcerative Blepliritis) है। यह भी सन्निपातिक साध्य विकार है। इसकी चिकित्सा भी लेखन के द्वारा की जाती है।

१२. क्लिन्न वर्त्म—जो वर्त्म वेदना रहित, बाहर से शोथयुक्त, अन्दर से गीला हो, जिसमें स्राव होता है, कंडु और चुभन की दर्द अधिक होती है, उस रोग को क्लिन्न वर्त्म कहा जाता है ।

यह कफज साध्य रोग है और लेखन कर्म द्वारा चिकित्सा की जाती है।

१३. अक्लिन्न वर्त्म—जिस रोगी के पलक बार-बार धोने पर भी चिपक जाते हैं और उनमें पाक नहीं होता, उस रोग को 'अक्लिन्न वर्त्म' कहा जाता है।

यह एक सन्निपातज विकार है और साध्य है । इसकी चिकित्सा लेखन कर्म द्वारा की जाती है।

विदेह ने सुश्रुत के अक्लिन्न वर्त्म को पिल्ल रोग के नाम से वर्णित किया है।

वास्तव में देखा जाए तो यह भी पलकों की शोथ का एक भेद है और क्लिन्न वर्त्म भी इसी प्रकार पलकों की शोथ है ।

१४. वातहत वर्त्म—"सन्धि के ढीले होने से बिना क्रिया के जिसके पलक बन्द नहीं होते, कभी वेदना होती है कभी नहीं। उस विकार को वातहतवर्त्म कहा जाता है।"

यह रोग वातजन्य है और असाध्य है। वास्तव में देखा जाए तो यह विकार तब होता है जब कि संकोचायाम करने वाली मांस पेशी की नर्व सप्लाई नष्ट हो जाये और होता भी यही है कि इस रोग की उत्पत्ति सातवीं क्रेनियल नर्व का आघात (paralyses of the 7th cravial nerve) हो जाता है। इसे (Ptosis) कहा जाता है।

१५. वर्त्म-प्रबुंद—जिस रोगी के पलक के अन्दर के भाग में कष्टदायक परन्तु वेदना रहित ग्रन्थि के समान गांठ हो जाती है उसको हम वर्त्म अर्बुद कहते हैं। इसमें थोड़ी सी रक्तिमा होती है।

यह विकार पित्त एवं रक्त के कारण उत्पन्न होता है। साध्य विकार है। इसका छेदन करना चाहिए।

इस रोग को हम एन्जीयोमा (Angioms) कह सकते हैं।

१६. निमेष—"पलक में स्थित निमेषिणी सिरा में पहुंची हुई वायु जब पलकों को अतिशय रूप में चलाती है तो उस विकार को निमेष कहा जाता है।"

यह एक वातज विकार है और असाध्य होता है।

१७. वर्त्मार्श—"पलक में स्थित कोमल अंकुर बार-बार काटने पर जब बढ़ जाते हैं, दाह एवं कंडु से युक्त रहते हैं, उस रोग को वर्त्मार्श कहते हैं। वह रक्तजन्य विकार है।"

इस रोग का पर्याय वार्ट (Warts) नामक रोग हो सकता है।

इसकी चिकित्सा में छेदन कर्म बताया गया है। किन्तु काट देने के बाद भी यह पुन: उत्पन्न हो सकते हैं। अत: काट कर दहन (अग्नि अथवा क्षार द्वारा) कर देना चाहिए।

१८. लगन—'न पकने वाला, कठिन, स्थूल, वेदना रहित पलक में उत्पन्न बेर के समान ग्रन्थि को लगन कहा जाता है। इसमें कंडू और पिच्छिलता रहती है।'

यह भी पलक के सौम्य अर्बुद है। इसे कफज कहा गया है। साध्य रोग है और भेदन किया जाता है।

१९. विषवर्त्म—"जो वर्त्म शोथयुक्त एवं सूक्ष्मछिद्रों से युक्त हो और बहुत से छिद्र भरे हुये हों जैसा कि बिष में जल भरा रहता है उस विकार को हम विषवर्त्म कहते हैं।

यह त्रिदोषज विकार है और साध्य है। इसकी चिकित्सा भेदन कर्म द्वारा की जानी है। इस रोग का पर्याय आधुनिक शालाक्य तन्त्र में कौन सा रोग हो सकता है, नहीं कहा जा सकता।

२०. पक्ष्मकोप—"पक्ष्माशय में पहुंचे दोष पलकों के बालों को आगे से तीक्ष्ण और कर्कश बना देते हैं, इनकी रगड़ लगने से आँखें दुखने लगती हैं। बार-बार बालों को उखाड़ने से रोगी को सुख मिलता है। रोगी वायु, धूप, अग्नि से द्वेष करता है। इस रोग को पक्ष्मकोप कहा जाता है।

इस रोग को साधारण भाषा में परवल कहा जाता है। इस अवस्था में बालो की दशा स्वाभाविक नहीं रहती और गोलक के अन्दर की ओर नीचे की ओर हो जाता है, इन बालों की रगड़ से जल स्राव होता है और व्रण भी बन सकते हैं। इस रोग को अंग्रेजी में 'ट्रिकियेसिस' कहा जाता है। और यदि बाल की एक पंक्ति निकलती हो तो (स्ट्रीकेमोसिस) कहा जाता है।

इस रोग की चिकित्सा बताते हुए इसे याप्य रोग कहा गया है। याप्य होने से चिकित्सा करने पर ठीक हो जाता है चिकित्सा छोड़ने पर पुनः हो जाता है। इस रोग की चिकित्सा में चार उपक्रम बताए हैं।

१. भेषज—इसमें विरेचन, आश्चोतन, धूम, नस्य, लेप, स्निग्धांजन एवं रस क्रिया का विधान बताया है।

२. शस्त्रकर्म —उपपक्ष्मोत्पाटन करना चाहिए और वर्त्म में से विशेष विधि द्वारा यव के आकार का चर्म का भाग तिर्यक शस्त्र से काटा जाता है। फिर व्रण पर घृत—मधु का लेप किया जाता है।

३. क्षार चर्म—

४. अग्निकर्म—

आधुनिक चिकित्सक अग्नि द्वारा भी दहन करते हैं।

२१. पोथकी—"भारी, खुजली और स्राव से युक्त, लाल सरसों के समान

इसकी चिकित्सा में पैत्तिक अवस्था नाशक क्रियाओं को करने का उपदेश दिया गया है। आँख में आश्चोतन करने को कहा है और तदर्थ ईख का रस, दूध, मधु का प्रयोग कर सेंक करने को बताकर अम्ल द्रव्यों से आश्चोतन का विधान बताया है। कई प्रकार के गितहन अञ्जन भी लाभ करते हैं।

आधुनिक चिकित्सक इस अवस्था में स्निग्ध और पौष्टिक आहार देते हैं और टंकणधावन से प्रक्षालन करते हैं। रस कर्पूर का प्रयोग एवं पीले मरहम का प्रयोग किया जाता है।

(८) पिष्टक—चावलों की पिठी के समान श्वेत, पानी के समान निर्मल, उठा हुआ बिन्दु होता है जो गोल होता है, उसे पिष्टक कहते हैं। यह कफजन्य विकार है और साध्य है।[1]

इस रोग की समता आधुनिक शालाक्य ग्रन्थों में वर्णित पीतबिन्दु (Pinguecula) नामक रोग से करते हैं।

इसमें श्लेष्माभिष्यन्द के समान चिकित्सा करनी चाहिए। अञ्जन का प्रयोग लाभ करता है।

(९) अनुलोम-विलोम रूप—फैले सिरा समूहों के कारण जाला की भांति कान्ति वाला कठिन सिराओं युक्त बड़ा, ईषत् रक्त एवं सिराओं के सन्तान युक्त सिराजाल कहलाता है। यह रक्तज एव साध्य है।[1]

इस रोग का पर्याय नेत्र बाह्यपटल शोथ (Scleritis) को कहा जा सकता है।

प्राचीन ग्रन्थो में सिराजाल की चिकित्सा अर्म के समान करने को कहा गया है। बडिश से मोटी-मोटी शिराओं को ऊपर उठा कर मन्डलाग्र से उनको काट देना चाहिए। फिर लेख्याञ्जनों से प्रतिसारण करना चाहिए।

(१०) सिराज पिड़का—"शुक्ल भाग मे कृष्ण भाग के समीप श्वेतवर्ण की पिड़िकाएँ निकलती हैं जो सिराओं से आवृत रहती हैं—उसको सिराज कहा जाता है।"[2]

---

१. उत्सन्न सलिलनिभोऽथ पिष्ट शुक्लो बिन्दुर्यो भवति स पिष्टकः सवृतः।
जालाभः कठिन सिरो महान् सरक्तः सन्तानः स्मृतः इह जालसंज्ञितस्तु।

२. शुक्लस्याः सितपिडिकाः सिरावृता या
स्ता विद्यादसित समीपजाः सिराजाः॥"

इस अवस्था का उपचार छेदन कर्म बताया है जो अर्म के समान कहा गया है।

(११) बलासक—श्वेतभाग में जल बिन्दु के समान, कासी की भांई से युक्त, कठिन, वेदना-रहित बलासक कहलाती है।[१]

इस अवस्था में पौष्टिक आहार एवं प्रकाश युक्त स्वच्छ स्थान पर रखने का उपदेश दिया गया है। वमन एवं विरेचन कराना चाहिए और क्षाराञ्जनों का प्रयोग करना चाहिए।

प्रश्न—कृष्णगत रोगों का वर्णन कीजिए ?

उत्तर—नेत्र के कृष्ण भाग में होने वाले रोगों का वर्णन करते हुए आचार्य सुश्रुत ने चार रोगों का वर्णन किया है वे हैं—

(१) **सव्रण शुक्र**—"कृष्णभाग सुई से विद्धा हुआ और अन्दर को दबा प्रतीत होता है। अति उष्ण स्राव होता है और वेदना होती है। इस रोग को सव्रण शुक्र कहते हैं।"[२]

आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि जो सव्रण शुक्र दृष्टि के समीप न हो, बहुत गहराई में स्थित न हो, अत्यधिक अश्रु स्राव न हो, वेदना न हो या अल्प-वेदना हो तथा दो शुक्रक्षत स्थान न हों तो चिकित्सा करने से कदाचित् लाभ हो सकता है। और यदि उस स्थान की धातुओं के विदीर्ण होने से छिद्र हो गया हो। आच्छिन्न मांस सदृश उठे हुए मांस से आवृत हो गया हो, चचल सिराओं से जो युक्त हो। जो दृष्टि का निरोध करता हो, दो पटलों में आश्रित हो, जिसका प्रान्तभाग लाल हो और जो चिरकालजात हो वह सव्रण शुक्ल असाध्य होता है।

इसके अतिरिक्त उष्ण अश्रु का बहुत स्राव बहता हो, मूँग की दाल के बराबर जो शुक्र हो तथा शुक्रक्षत तीतर पक्षी की आभा वाला हो तो भी असाध्य समझना चाहिए।

---

१. "कस्यांभो भवति सितेऽम्बु बिन्दु तुल्यः
स क्षेयोऽमृदुररूजो बलासकाख्यः !!"

२. निमग्न रूपं हि भवेत्तु कृष्णे, सूच्येव विद्धं प्रतिभाति भद्रं।
स्रावं स्रवेदुष्णाभतीव रूक्च तत सव्रणं शुक्रमुदाहरन्ति ॥

(७) अम्लाध्युषितदृष्टि—अम्ल एवं विदाही भोजन के खाने से आंख सम्पूर्ण रूप से शोथ युक्त, रक्तिमा एवं नीलिमा से ढकी हुई होती है। इस प्रकार की आँख को अम्ला युषित दृष्टि से व्याप्त समझना चाहिए।

इसकी चिकित्सा पित्ताभिष्यन्द के समान कही गई है।

(८) सिरोत्पात—"वेदनारहित अथवा वेदना सहित आंखों की रेखाओं का ताम्रवर्ण का होना। यह रेखाएं बार-बार चारों ओर से लालिमा रहित हो जाती हैं। इस रोग को सिरोत्पात कहते हैं।"

(९) सिराहर्ष 'अज्ञानवश सिरोत्पात की उपेक्षा करने पर सिराहर्ष रोग होता है। इस में ताम्रवर्ण, गाढ़ा, निर्मल अश्रु बहता है। रोगी देख नहीं सकता।'

इसकी चिकित्सा रक्तज अभिष्यन्द के समान करनी चाहिए।

प्रश्न—तिमिर एवं लिंग नाश का सभेद वर्णन कीजिए।

उत्तर—दूषित हुए दोष सिराओं द्वारा बहुत अन्दर तक प्रविष्ट होकर दृष्टि में प्रथम पटल के अन्दर स्थित हो जाते हैं। तब रोगी सब रूपों को धुंधला सा देखता है।

दोष के दूसरे पटल में पहुंच जाने पर (भेद में आश्रित होने पर) दृष्टि पटल की अपेक्षा अधिक मलिन हो जाता है। रोगी आंखों के सामने मक्खी मच्छर, बाल जाले से मण्डल, पताकायें, मृगतृष्णा की भांति, कर्णकुण्डल, नक्षत्र आदि—अस्थिर नाना प्रकार की वस्तुएँ वर्षा, अभ्र (बादल) अन्धकार को देखता है। दृष्टि के विभ्रम होने से समीप की वस्तु को दूर और दूर की वस्तु को समीप में स्थित मानता है। बहुत कोशिश करने पर भी सुई के नाके को नहीं देख सकता (सुई में धागा नही डाला जा सकता)।

दोष के तीसरे पटल में स्थिति हो जाने पर रोगी ऊपर देख सकता है, परन्तु नीचे नहीं देख सकता। बड़े भारी रूपों को भी कपड़े से ढंका अनुभव करता है। कान, नाक, आँख से युक्त होने पर भी मनुष्य इनको कान-नाक आंख से हीन मानता है। दोष के दृष्टि के निचले भाग में स्थित होने पर समीपस्थ वस्तु को नहीं देखता। दोष के पार्श्व में स्थित होने पर पार्श्व की वस्तु को नहीं देखता। दोष के दृष्टि में चारों ओर स्थिति होने पर वस्तु को संकुचित हुआ देखता है। दोष के दृष्टि के मध्य में स्थित होने पर एक वस्तु

के दो भाग गिनता है। दोष के दो स्थानों पर स्थित होने पर वस्तु को तीन प्रकार से (तीन भागों में) देखता है। दोष के चंचल होने पर अनेक प्रकार से—अनेक रूपों में देखता है। इस दोष को तिमिर कहते हैं।

चौथे पटल में पहुंचे दोष दृष्टि को सम्पूर्ण रूप में रोक देते हैं इसको लिंग नाश कहते हैं। इस लिंग नाश में—अन्धेरा आने पर इस बड़े रोग के बहुत न बढ़ने पर, रोगी चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, अन्तरिक्ष, विद्युत, निर्मल तेज (अग्नि आदि). चमकने वाले दूसरे रूपों को देखता है।

इसी लिंगनाश को नलिका, काच नाम से कहते हैं।

वायु के कारण तिमिर में—मनुष्य रूपों को घूमता हुआ, मलिन (धुंधयाला), लाल वर्ण का और टेढ़ा-मेढ़ा देखता है।

पित्तज तिमिर में— सूर्य, जुगुनू, इन्द्रधनुप, विद्युत के समान या मोर की पिच्छा की भांति विचित्र. जीला-कला देखता है।

कफज तिमर में—रूपों को चिकना, श्वेत, श्वेतचंवर के समान शुक्ल, श्वेत बादल की भाँति देखता है। स्थूल रूपों को देखता है बादलों रहित आकाश में भी बादलों का जाना देखता है, चारों ओर जल से भरे हुए श्वेत, स्तिमित (जड़ बने) रूपों को देखता है।

रक्तज तिमिर में लाल, अन्धकार युक्त, नाना प्रकार के हरे, श्यामवर्ण या कृष्ण, धुवें से धुंधयालेपन रूप देखता है।

सन्निपातज तिमिर में—नानावर्ग के विप्लुत (सब जगह बिखरे) बहुत (संख्या में कई) या दो में फटे, सब रूपों को हीन या अधिक अगों वाला चमक (नाटक) को चारों ओर देखता है।

रक्त के तेज (प्रसाद) से मिला पित्त परिम्लादि रोग उत्पन्न करता है, इससे रोगी को दिशायों पीली दिखती हैं, उसे उगता हुआ सूर्य चारों ओर दीखता है। वृक्ष जुगुनूओं से भरे प्रतीत होते हैं—चमक दिखाई देती है। (जिस तिमिर में राग-रंग आ जाता है, उसे काच कहते हैं। जिसमें राग नहीं आता, उसे परिम्लादि कहते हैं। जिसमें थोड़ा दिखाई दे—वह लिंगनाश है।)

राग-रंग दृष्टि से ६ प्रकार का लिंगनाश है—आगे कहता है।

अरुण रंग वायु के कारण से, श्वेतरंग कफ से, लाल रंग रक्त से उत्पन्न होता है मोटे काँच (शीशा) के समान, आग के समान (लाली लिए) घटने

वाला, तथा थोड़ी सी नीली झाँई का मन्डल होता है। कभी दोषों के क्षय से. स्वयं ही दृष्टि आ जाता है।

वायु के कारण, अरुण वर्ण , चंचल और कठोर होता है। पित्त के कारण मण्डल ईषत, नीला, कांसी की झाँई का या पीला होता है। कुछ के कारफ मोटा चिकना, शंख-कुन्द (मोगरे का फूल), और चन्द्रमा के समान श्वेत, हिलते हुए कमल पत्र पर रक्खे हुए पानी के बूंद के समान श्वेत, धूप में बहुत सिकुड़ने वाला और छाया में फैलने वाला मण्डल होता है। आँख के मलने पर यह मण्डल फैलता है। रक्तजन्य मण्डल कमल पत्र की चमक का या मूंगे की चमक का होता है। त्रिदोषजन्यलिंगनाश में दृष्टि में रंग नाना प्रकार के होते हैं। इन सब में अपने-अपने दोष के अनुसार दोषों के लक्षण होते हैं।

यह रोग आँखों का प्रसिद्ध विकार है। तिमिर प्रथम अवस्था है और लिंगनाश पूर्ण अवस्था है। इस रोग को साधारण भाषा में मोतियाबिन्द कहा जाता है तिमिर को Progressive cataract कहते हैं और लिंगनाश को Matuted Catatract कहते हैं।

तिमिर काच और लिंगनाश एक ही रोग के अवस्था भेद हैं। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में उपचार भी भिन्न-भिन्न हैं।

प्रथम अवस्था जिसे तिमिर कहते हैं उसका उपचार निम्न सिद्धान्तों पर बताया गया है—

१. घृतपान २. पुटपाक
३. तर्पण ४. नस्य
५. सिरामोक्षण ६. अञ्जन

श्लैष्मिक लिंगनाश की चिकित्सा—(सुश्रुत ने इसकी चिकित्सा निम्न प्रकार से दी है) इस कर्म के करने से पूर्व दृष्टि की परीक्षा में लिंगनाश (Lens) को देखें-यदि इसमें—अर्धचन्द्रकार, स्वेदनबिन्दु, मोती का गोल आकार दिखाई दे, लिंगनाश कठोर हो, या विषम हो, बीच में पतला (किनारे पर मोटा), इसमें रेखायें दिखाई देती हों, बहुत चमकता हो, वेदना हो या रक्त हो, तो इसमें शस्त्र कर्म न करें।

रोगी को स्नेहन स्वेदन देकर, साधारण (न बहुत गरम न अधिक ठण्डे—मार्गशीर्ष या चैत्र में) काल में—रोगी का बाँध कर बिठा दें। रोगी से कहें

गम्भीरिका।

उत्तर—पित्तविदग्धदृष्टि विकृत हुआ पित्त दृष्टि में पहुंच कर दृष्टि मण्डल को पीत कर देता है। इसी प्रकार के रोगी को प्रायः पीला दिखाई देता है। यदि दोष का अवस्थान तृतीय पटल में हुआ तो रोगी को दिन में दिखाई नहीं पड़ता। केवल रात में वह रोगी देख सकता है इसका कारण यह है कि रात का समय शीतल होता है और शीत के कारण पित्त कम हो जाता है।"

इस रोग को साधारण भाषा में दिवांध्य कहा जाता है।

इसकी चिकित्सा बताते हुए आचार्य सुश्रुत ने कहा है कि पित्तनाशक नस्य सेक, अंजन, लेप, पुटपाक एवं तपर्ण कराने चाहिये। इस अवस्था में रक्ताव-सेचन या सिरावेध नहीं कराना चाहिए। इस में त्रिफलाघृत का पान कराना चाहिए। आचार्य ने पित्तनाशक अनेक अञ्जन योगों का वर्णन किया है।

(२) श्लेष्मविदग्ध दृष्टि—"श्लेष्म दोष से विकृत हुई दृष्टि वाला व्यक्तिय सभी चीजों को सफेद देखता है। जब तीसरे पटल में दोष पहुंच जाते हैं तो हम पाते हैं कि वह रात को देख नहीं सकता। दिन के प्रकाश या सूर्यसी रोशनी में वह देख सकता है।"

यह रोग 'रात्रयंधता' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कफनाशक द्रव्यों से नस्य, सेक, अञ्जन, लेप, पुटपाक एवं तपर्ण का प्रयोग किया जाता है।

इसमें त्रिवृतघृत अथवा पुराणाघृत का पान लाभ करता है। इसमें भी अनेक अञ्जन के योग बताए गए हैं।

३. धूमदर्शी—"शोक, ज्वर, आयास, शिरः शूल आदि कारणों से जिस व्यक्ति की दृष्टि अभिहत हुई है। वह सभी पदार्थों को कुहरे से आच्छन्न या धूम से ढका हुआ देखता है। उस अवस्था को धूमदर्शी कहते हैं। यह पित्तज विकार है और साध्य है।

इसकी चिकित्सा बताते हुए कहा गया है कि घृतपान, विरेचन कराना चाहिये। इसमें भी पित्तज अभिष्यन्द अथवा रक्तज अभिष्यन्द के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

४. ह्रस्वजाड्य—"यह एक ऐसा विकार है जिसमें रोगी दिन में बड़ी कठिनाई से देखता है। और प्रकृत वस्तु के आकार से उनको छोटा करके देखता है।"

जिससे दृष्टि निर्मल होकर प्रफुल्लित हो जाती है उसे प्रसादनांजन कहते हैं।

अञ्जन लगाने के लिए दस अंगुल लम्बी शलाका का प्रमाण बताया है। बीच में पतली और दोनों किनारों पर मुकुल के आकार की होती है।

लेखनार्थ अञ्जन निर्माण में मधुर रस को छोड़कर शेष पांच रस युक्त द्रव्यों का प्रयोग करें। वात में अम्ल लवण, पित्त में कषाय तथा कफ में कटु तिक्त कषाय रस उपयुक्त होते हैं। एतर्थ तांबे से बनी शलाका का प्रयोग करना चाहिये। नेत्र विशद लघु स्राव रहित क्रिया पटु निर्मल और शान्ति हों तो सम्यक् योग समझना चाहिए। अति योग में वक्रता, कठिनता, दुर्वर्ण, स्राव और रुक्षता आदि मिलता है इसमें संतर्पण और वात नाशक चिकित्सा करें। हीन योग में पीड़ा सी उत्पन्न होती है। इसमें धूमनस्यादि द्वारा दोषों को निकालना चाहिये।

रोपण अञ्जन में कषाय और तिक्त द्रव्यों में थोड़ा सा घृत डालकर प्रयोग किया जाता है। इसमें लोहे की शलाकों का प्रयोग करें अथवा हाथ की स्वच्छ अंगुली का प्रयोग करें।

प्रसादनांजन में मधुर द्रव्य एवं स्नेह का प्रयोग करना चाहिए। उसके लिए सोने की अथवा चांदी की शलाका का प्रयोग करना चाहिए।

इन दोनों (रोपण तथा प्रसादन) में नेत्र स्निग्ध वर्ण एवं बल से प्रफुल्लित दोषों से रहित हों तब सम्यक् योग जानें।

त्रिविध कल्पना—अञ्जन चाहे रोपण, लेखन अथवा प्रसादन किसी भी कार्य के लिए प्रयुक्त करना हो, उसके कृत्य की तीन विधियां हो सकती हैं।

महाबलिष्ट रोगों में गुटिकांजन (औषधी वर्ति बनाकर प्रयोग करना) मध्यबल रोगों में रस क्रियांजन (द्रव पदार्थ में पिसा हुआ) तथा हीन बलों में चूर्णांजन उपयुक्त होता है।

अयोग अंजन—अति तीक्ष्ण अत्यधिक भारी, मृदु, अति अधिक अति सरल, अति घन एवं अति कर्कश, अति शीतल एवं अति तप्त किसी प्रकार की कल्पना से निर्मित अञ्जन प्रयोग नहीं करना चाहिए।

प्रश्न—तर्पण, पुटपाक एवं सेक के विषय में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर—शरीर एवं सिर का भली तरह शोधन हो चुकने के पश्चात् अन्न

इस अवस्था में पुटपाक से द्विगुण समय लगता है। पुटपाक का समय तर्पण के काल से द्विगुण बताया गया है।

शिरोग विज्ञान

प्रश्न—सिर का स्थूल एवं सूक्ष्म परिचय प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—सिर जो ऊपर से दिखाई देता है वह अस्थियों का ढाँचा है। उस में कितनी ही इन्द्रियों का अधिष्ठान है। यह ढांचा बाइस अस्थियों के द्वारा बनता है। ये अस्थियां निम्न हैं—

१. पश्चात् अस्थि (Occipitai Bone)
२-३. (Temporal Bones)
४-५. पार्श्वकास्थि (Pasietal Bones)
६. ललाटास्थि (Frontal Bone)
७. जतुकास्थि (Sphenoidal Bone)
८. झर्झरास्थि (Ethomoidal Bone)
९-१०. अधशुक्तिकास्थि (Inferior nasal couches)
११-१२. अश्रु अस्थि (Lacrimal Bones)
१३ १४. नासिकास्थि (Nasal Bones)
१५. नासाफलकास्थि (Vomer Bone)
१६-१७. ऊर्ध्वहन्वास्थि (Maxillany Bones)
१८-१९. तात्वास्थि (Palatiuce Bones)
२०-२१. कायोलास्थि (Zygowatic Bones)
२२. अधोहन्वास्थि (Mandible)

यह अस्थियां आपस में सन्धियां बना कर जुड़ी रहती हैं।

इन्हीं से सम्बन्धित रीढ़ की हड्डी नामक अंग होता है जिससे सुष्मणकांड (Spinal Cord) रहता है। यह २६ अस्थियों के योग से बना होता है। यह अस्थियां बीच में खोखली होती हैं जिनमें से सुष्मणा नीचे को आ जाती है।

अस्थियों के बने ढांचे में मस्तिष्क रहता है जिसके मुख्य रूप से दो भाग होते हैं।

और मुकुलाकार है जो ऊपर से अधिक चौड़ा है यह अग्रभान्तरा व पश्चिमांतरा सीता के द्वारा दो भागों में विभक्त है। प्रत्येक अर्धभाग में पुनः दो सीताओं के द्वारा तीन विभाग बने हैं। पूर्वभाग को मुकुलिका (Pyramid) कहते हैं। ऊपरी भाग में उटे हुए भाग को लत्रलिका (Olihary Body) कहते हैं। पश्चिम भाग का ऊपरी हिस्सा अधर वृन्तिका (Rasti Form Body) बनाता है। वह भी शुभ्र वस्तु व धुसरवस्तु का बना हुआ है। इनमें प्रत्यावर्तित क्रिया के अनेक केन्द्र होते हैं। यथा लालास्राव, चूषण, चर्वण, निगलना, वमन, मांस चीमना, निमेष, कनीनिका की गतियां, भाषण, हृदय क्रिया, पाचन .था सात्मीकरण आदि क्रियाओं पर नियन्त्रण करता है।

उष्णीषक (Pons)—यह पश्चिम मस्तिष्क का वह भाग है जो कि धम्मिल्लक के आगे और सुषुम्ना शीर्षक तथा मस्तिष्कमृणलकों के बीच में रहता है। बाहर से यह अनुप्रस्थ नाड़ी सूत्रों का बना होता है। इसके द्वारा ही विभिन्न भागों से नाड़ी वेग आते है। इन उष्ण सूत्रों के नीचे गम्भीर सूत्र होते है।

इनके अतिरिक्त pous की धूसर वस्तुयें पाँचवीं, छठी व सातवीं नाड़ी कन्दिकायें तथा श्रुति नाड़ी की कन्दिकायें रहती हैं।

लघुमस्तिष्क वा धम्मिल्लक (cerebellum)—यह करोटि के पश्चिम महाखात में पश्चिम पिण्डिका के नीचे तथा सुषुम्ना शीर्षक के पीछे रहता है। इसके तीन भाग होते हैं। दो पार्श्व और एक मध्य। पार्श्वभाग Hemisphrls (पक्षपिंड) और मध्यभाग vermis (शलभिका) कहलाता है। इसका भीतरी भाग प्राण गुहा की छत बनाता है। यह उत्तर, मध्यम तथा अधर वृन्तिकाओं (superia, middle, and Inferia peducles) के द्वारा मस्तिष्क, उष्णीषक तथा सुषुम्ना शीर्षक में सम्बन्ध रहता है। इसकी रचना मस्तिष्क की तरह है। इसका कार्य शरीर को सन्तुलित करना है। यह Elourens theory है। वीर मिचेल नामक विद्वान का मत है कि लघु मस्तिष्क पेशियों में बल तथा शक्ति प्रदान करता है। लुसियानी नामक विद्वान का मत है कि यह पेशी संकोच को बनाये रखता है, कार्य के समय पेशी को दृढ़ रखना, कार्यकाल में पेशी को शक्तिशाली बनाए रखता है।

मध्यम मस्तुलुंगपिंड (Mid-brain)—यह अग्रिम तथा पश्चिम मस्तुलुंग पिण्डों को मिलाने वाला सबसे छोटा भाग है। इसके दोनों पार्श्वों में

(१) उत्तेजनाओं का ग्रहण (२) ज्ञान का संचय (३) चेष्टा का उत्पादन ।

मस्तिष्क के तीन क्षेत्र

(१) चेष्टा क्षेत्र (Motor Arers)—यहां से ऐच्छिक वेगों का प्रारम्भ होता है ।

(२) संज्ञा क्षेत्र Sensory Arers)—इनका सम्बन्ध संज्ञाओं के ग्रहण से है ।

(३) संयुज क्षेत्र (Association)—ये उच्च मानसिक प्रक्रियाओं के अधिष्ठान हैं ।

The Craniar Nerves—मस्तिष्कीय नाड़ियां या नाड़ी तन्त्र cranial nerves के बारह जोड़े हैं जिनके निम्न नाम हैं ।

1. Olfactory
2. Optic
3. Oculomotor
4. Trochlear
5. The Trigminal
6. Abducent
7. Facial
8. Auditiory
6. Glosso Pharyugeal
10. Vagus
11. Accessory
12. HyPoglossal

ये दो प्रकार की होती हैं । पहली motor या efferent दूसरी Sensory या afferent होती है ।

1. Olfactory nerve—इससे सूघंने का कार्य होता है जिस की २० शाखायें हैं ।

2. optic nerve—इससे देखने का कार्य होता है जोकि Eyeball पर फैली है ।

3. Oculomotor Nerve—यह तमाम oculer पेशियों में फैली रहती है सिवाय obliqus superior और Rectus lateralis पेशियों में ।

4. Trochlear Nerze यह Cranial nerve की आवश्यक शाखा है जोकि eyeball के Superior oblique मांसपेशी तक फैली रहती है ।

5. The trigeminal nerve—यह सबसे लम्बी nerve है । यह मुख, खोपड़ी, चेहरा, दांतों तथा नाम गुहा के लिये Sensory और चबाने की मांसपेशियों के लिए moter nerve है । आगे चलकर इसकी तीन शाखाएं opthelnic maxillary mandilinber हो जाती है ।

को कम और रात्री को अधिक होता है तथा बांधने एवं सेकने से दर्द में शांति मिलती है। मस्तिष्क की त्वचा और मांस में दर्द होता है, माथा और भों की त्वचा को हिलाने से अधिक दर्द मालूम होता है। शारीरिक निर्बलता नाजुक प्रकृति, उपदेश, गठिया रोग इत्यादि कारण से रक्त दूषित होने पर हो जाया करता है।

२. पैत्तिक शिर दर्द (Billiaus Headache) यह दो प्रकार का होता है जोकि यकृत के दूषित होने पर होता है—जब दर्द बराबर होता है। तब आमाशय की निर्बलता से और यदि दर्द होकर थोड़ी देर बन्द हो जाता है तब भोजन की गड़बड़ी से होता है। यह रोग बदहजमी गर्म पदार्थों के अधिक सेवन इत्यादि कारणों से यकृत दूषित होकर पित्तज शिर दर्द होता है जब पित्त आमाशय में गिरता है तब शिर दर्द हो जाता है, जी मिचलाना, वमन होना, मुख का स्वाद कड़वा मालूम होना, प्यास अधिक लगना, कनपटी की नसों का फड़कना, मस्तिष्क का अंगार की तरह गर्म रहना, नाक व आँखों में दाह रहना आदि लक्षण होते हैं। पित्त की वमन अथवा दस्त हो जाने से दर्द में आराम हो जाता है।

(३) कफज सिर दर्द—यह सर्दी के कारण से पैदा होता है सिर भरा हुआ सा मालूम होता है, मस्तिष्क के श्लेष्मिक में ठण्डक पहुंचते ही यह दर्द मन्द-मंद एवं भरा हुआ सा होता है।

४. सन्निपातज सिर दर्द—वात, कफ, पित्त तीनों दोषों के कुपित हो जाने से इन्हीं दोषों के लक्षणों के युक्त यह दर्द होता है, दर्द बहुधा सन्निपातज, निमोनिया आदि रोगों में हुआ करता है।

५. रक्तज सिर दर्द—यह कई प्रकार का होता है—रक्त संचय से सिर में दर्द होना—इस रोग में मस्तिष्क की नसों में रक्त भर जाता है। पहला धमनी (Artery) में रक्त संचय होने से होता है। इसका कारण हृदय के बायें कोष्ठ का मोटा होना फुफ्फुस और हृदय का रोग, व्यायाम न करना, मद्य का सेवन, कब्ज का रहना आदि है। इसमें प्रदाह युक्त सिर दर्द रहता है। दूसरा सिरा (Vein) में रक्त संचय होने से होता है। इसका कारण स्त्रियों में मासिक धर्म की अनियमितता, प्रदर, शारीरिक निर्बलता, रक्त विकार, भोजन की गड़बड़ी है। इसमें सिर भरा हुआ थोड़ी-बहुत पीड़ा, चेहरा मुरझाया हुआ, आँखें लाल और नाड़ी की गति तीव्र होती है। यही पीड़ा

सञ्चित हो जाता है तब उसमें पूप पैदा होकर कृमि हो जाया करते हैं, जिससे मस्तिष्क में खुजली, काटने की तरह दर्द तथा रोचने, फड़कने की तरह दर्द नाक में राध या रुधिर का आना आदि यह रोग छतीसगढ़ की जातियों में बहुमत से देखने में आता है जिससे यह सन्देह किया करते हैं कि कान के अन्दर वगई (वधई, कुकरोठी जो कुत्तों के कान या शरीर में रहते हैं) घुस गई और वही कीड़ा सिर में चला गया हो और वहाँ बच्चे पैदा कर डाले, किवदन्ती की कई तर की बात करते हैं परन्तु विश्वसनीय नहीं है क्योंकि कान के अन्दर वह कीड़ा घुसकर जिन्दा नहीं रह सकता क्योंकि वहां कीड़े को हवा नहीं मिल सकती।

८. सूर्यावर्त—यह एक विचित्र प्रकार का दर्द है जो प्रातःकाल सूर्योदय के समय दर्द प्रारम्भ होता है और ज्यों-ज्यों समय बढ़ता है दर्द भी बढ़ता जाता है, मध्याह्न काल १२ बजे तो दर्द बहुत जोरों का हो जाता है और मध्यान्ह के बाद से दर्द भी कम हो जाता है और सायंकाल को दर्द बिल्कुल बन्द हो जाता है।

अनन्तवात—यह बड़ा दुष्ट रोग है। वात, पित्त, कफ तीनों दोषों को कुपित करके मन्दा नाड़ी को पीड़ित कर भौंहें, कनपटी, नेत्र इनमें तीव्र वेदना उत्पन्न कर देता है। गंड स्थान के समीप कपकपी होने लगती है ठाड़ी, जकड़ जाती है, आंख, भृकुटी और शंख प्रदेश में भी तीव्र वेदना होती है।

१०. अर्धविभेदक (Sick Beadache) (आधाशीशी)—यह रोग अति मैथुन, रूक्ष एवं वादी भोजन, मल मूत्रादि के वेगों को रोकने, अनिद्रा, रात्रि जागरण, रक्त की खराबी, अत्यन्त परिश्रम करना, अधिक धूप का सेवन करना, स्त्रियों में अनयमित मासिक धर्म का होना गुल्म। इत्यादि कारणों से पैदा होता है। दर्द होने के प्रथम तबियत सुस्त, आँखों के सामने चिनगारियां उड़ते हुए मालूम होना, सिर का घूमना आदि होता है। फिर दर्द शुरू हो जाता है। प्रथम भौं और कनपटी में पीड़ा होती है फिर धीरे-धीरे दर्द बढ़ जाता है। यहां तक कि सिर भन्ना जाता है। रोशनी और आवाज सहन नहीं होती, कानों में बाजे जैसे शब्द सुनाई देते हैं। चेहरा फीका पड़ जाता है। जी मचलता है, उबकाइयां आती हैं। यह दर्द सिर के आधे ही भाग में रहता है। यह दर्द जब बढ़ जाता है तब किसी-किसी में आंख कमजोर हो जाती है।

दूध को मथ कर निकाले घी का नस्य देवें। अथवा जांगल पशु पक्षियों की वसा नस्य में उत्तम है।

(४) कफजन्य शिरोरोग को कफनाशक शिरोविरेचनादि द्रव्यों से शान्त करें। इसके लिए शिरोविरेचन, तीक्ष्णवमन, तीक्ष्ण गण्डष मुख में रक्खें। शुद्ध घी पिलायें, बार-बार स्वेद देवें। स्निग्ध हुए रोगी के सिर को मधुक सार (महुये की लकड़ी के चूर्ण से हिंगोर की छाल के या मेषश्रृंगी के चर्ण से वैद्य विरेचित करें।

(५) त्रिदोषजन्य शिरोरोग में त्रिदोष नाशक विधि बरतें।

इसमें विशेषकर पुरातन घृत का (दस साल पुराने) पान उत्तम कहा जाता है।

(६) क्षयजन्य शिरोरोग में रक्त आदि धातु का क्षय निश्चय करके बृहंण चिकित्सा करनी चाहिए। वातघ्न (भद्रदार्व्यादि) तथा काकोल्यादि मधुर द्रव्यों से सिद्ध घृत पान और नस्य में उत्तम है। क्षयकास नाशक घृत (दुलीर शुक्ति चटकैणलागन आदि से कहा) इसमें अतिराम पथ्य है।

(७) जिस रोगी के शिर को कृमि खाते हों। उसकी चिकित्सा के लिए रक्त का नस्य देवे इसमें कृमि मदयुक्त हो जाते हैं, रक्त के गन्ध से मत्त होकर कृमि इधर-उधर से नाक से बाहर आ जाते हैं।

इसके पीछे कृमियों को शिरोविरेच से बाहर करना चाहिए। इसके लिए छोटा सुहांजना (कटुसहजन) के बीज, कांस, नील मिलाकर नस्य देवें या (विडंग, मारिच, अमामार्ग आदि से देवें) कृमिनाशक द्रव्यों को मूत्र में पीस कर अवथीउन नस्य देवें। बड़ी मछली (सूखी मछली जो नमक में रखकर बेची जाती है) एवं कृमिघ्न वस्तुओं से मिलाकर धूम देवें।

(८) सूर्यावर्त में नस्य आदि चिकित्सा करें।

भोजन में मुख्यतः जाँगलमांस, दूध से बने खाद्य पदार्थ, घृत देवें।

(९) अर्धविभेदक में भी यही उपचार करें, तथा स्नेह, सिरावेध, अवपीड़क आदि जो योग्य उपचार हो वह भी करें। सूर्यावर्त्त और अधावें भेदक में शिरीपमूल एवं कल से अवपीड़न नस्य देवें। वाँस की जड़ और कर्पूर इनसे अवपीड़न नस्य देवें। वांस की जड़ और कर्पूर इनसे अवपीड़न नस्य दें।

रोगियों को तथा बालक, वृद्ध, दुर्बल, विरिक्त आस्थापित, जागरित, गर्भिणी, रूक्ष, क्षीण, छाती में घाव वाला तथा जिसने मधु-घृत. दधि, दुग्ध, मछली, शराब यवागु खाये या पीये हों तथा जिसके देह में कफ बहुत कम रह गया हो उसे धूम्रपान नहीं करना चाहिए।"

इन अवस्थाओं में प्रयोग किया गया धूम्रपान रक्त पित्त, अन्धापन, बहरापन, तृषा, मूर्च्छा, मद और मोह उत्पन्न करता है। इन उपद्रवों के हो जाने पर घृतपान, नश्य, आलेपन और परिषेकादि शीतल क्रिया हितकारी है।

धूम्रपान भेद

यहां धूम्रपान सुश्रुत ने पांच प्रकार का बतलाया है।

१. प्रायोगिक २. स्नेहिक ३. वैरेचनिक ४. कासघ्न ५. वमनीय

धूम्रवर्ति

इन पांचों प्रकार के धूम्रपान के लिए अलग-अलग द्रव्य बताते हुए धूम्र-वर्ति बनाने को लिखा है। इस धूम्रवर्ति के निर्माण के लिए एक बारह अंगुल का सरकण्डा लेकर पानी में भिगो लिया जाता है और फिर उस पर अभि-द्रव्यों को पीसकर लेपन करते हैं। यह लेपन इस विधान से किया जाता है कि पाँच बार के लेपन से वह वर्ति अंगुष्ठ परिमाण मोटी हो जाए और बीच (मध्य भाग) की मोटाई से किनारों की मोटाई कम रहे। इसे छाया में सुखा कर सरकण्डा निकाल लेवें और धूम्रनेत्र में खपाकर दूसरे सिरे से अग्नि लगा धूम्रपान करें।

प्रायोगिक धूम्रवर्ति निर्माणार्थ कुष्ठ और नगर को छोड़ कर शेष एलादि वर्ग के द्रव्य ग्रहण करने को कहा है जो सुश्रुत सू० अ० ३८ में लिखे अनुसार निम्न होंगे—

"इलायची, जटामासा, गधैल, तज, पमडा, नागकेशर, प्रियंगु, हरेणु, व्याघ्र नख, शुक्ति, लाल कनेर, थूनेर श्रीवेष्ठ, दाल चीनी, चोरक, नेत्रवाला, गूगल, राल, तुरुष्क, कुन्दरू, अगर स्पृक्का, उशीर देवदारु और केशर।"

स्नेहिक धूम्रवर्ति में स्नेह वाले फूलों का सार, मोम, राल, गूगल इत्यादि स्नेहन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।

वैरेयानिक धम्र में ओंगा, सहजंना, सूर्यवल्ली, पीलू, पीपल और शिरो-विरेचन द्रव्य काम आते हैं। शिरोविरेचन द्रव्य बताते हुए सुश्रुत सू० अ० ३९ में लिखा है—

तो नेत्रों के रोग हो जायेंगे।

काल कार्य मर्यादा

विष्टा, मूत्र, छींक, उपित और मैथुन के अन्त में स्नेहिक धूम्र देवें। इस स्नेहिक धूम्र द्वारा वात रोग नष्ट हो जाते हैं क्योंकि इसमें चिकनाई और उल्हास होता है। बलवान रोगी को स्नेहिक धूम्र की मर्यादा तब तक की है जब तक कि आँखों से आँसू टपकने लगें।

स्नान, वमन, दिवास्वप्न के अन्त में वैरेचन धूम्र देवें। इसके प्रयोग से कफ पतला हो जाता है। कारण है कि इसमें रूक्षता तीक्ष्णता, उष्णता तथा विशदता होती है। इसका प्रयोग तब तक कराये जब तक दोष झरता रहे। दिन में तीन चार बार भी प्रयोग कर सकते हैं।

दन्तप्रक्षालन, स्नान, नस्य, भोजन और शस्त्र कर्म के अन्त में प्रायोगिक धूम्रपान करावें। यह कफ को पतला कर निकाल देता है कारण कि यह स्नेहिक तथा वैरेचनिक दोनों के गुणों से युक्त होता है। इसे मुख और नासिका से तीन-तीन ऊँचे सांस खींचकर पीना चाहिए।

कासघ्न धूम्रग्रास लेने के पीछे या ग्रासों के बीच-बीच में देवें। यह दिन में तीन-चार बार प्रयोग कर सकते हैं।

वमनीय धूम्र से पूर्व तिल औरहचखर्तो का विवाणु देना चाहिए।

धूम्रपान का उपयोग—१—खांसी, श्वास, पीनस, स्वरभंग, रतिगंध, पाण्डुता केश दोष, कर्ण स्राव, मुखस्राव, नेत्र स्राव, खुजली दर्द, जड़ता, तन्द्रा और हिचकी यह रोग धम्रपान करने वाले को छू भी नहीं सकते।

क्या ही अच्छा हो कि आज के कास श्वास पीनस के दोषों से परिसंतप्त मानव समाज को आचार्योक्त सिद्धान्तों के अनुसार आधुनिक (Up-to-date) रूप रेखा के सिगरेट और सिगार बना कर सर्व सुलभ एवं सर्व प्रचलित कर लाभ पहुंचाया जाए। क्या ऐसा करना आयुर्वेदिक अनुसन्धान में एक विशिष्ट कड़ी जोड़ना नहीं होगा।

---

१. "कासः श्वासः पीनसो विश्वस्वं पूतिगंधः पांडुता केश दोषः।
कर्णऽस्याक्षिस्राव काडवर्ति जाड्ए, तन्द्रा हिक्का धूम्रपं न स्पृशति।"
(अष्टांग हृदय, सू अ० २१)

प्रतिषेध तथा शरीर स्थान में कहे गए (गर्भवक्रान्ति आदि) विषयों को कुमार-तन्त्र कहा जाता है।"[1]

इन दोनों ही परिभाषाओं में यह बात स्पष्ट की गई है कि बालक के उपचार के साथ ही गर्भ, प्रसूतावस्था का भी वर्णन इसी तन्त्र में किया जाता है। प्रथम परिभाषा में स्तन्यशोधन के लिये कहा है जो कि प्रसूता के लिए है, दूसरी परिभाषा में योनिव्याप्त रोगों का और शरीर स्थान में वर्णित गर्भ-प्रसूत एवं रजः वीर्य का वर्णन भी कौमारभृत्य का विषय बताया है। यही सब विषय प्रसूति तन्त्र नाम से आज कहे जा रहे हैं।

इस बात का, कि कौमारभृत्य का ही एक भाग प्रसूति तन्त्र है—और भी प्रमाण देख सकते हैं। हारीत संहिता में कहा गया है कि—

"गर्भोपक्रम, सूतिका परिचार्या तथा बाल रोगों का शमन ये सभी विषय (आयुर्वेद के) प्रधान अंग कौमारभृत्य के ही हैं।"[2]

इस प्रकार इन सभी विषयों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि आयुर्वेद का अंग 'कौमारभृत्य' एक बड़ा विषय है जिसमें अन्य विषयों के साथ प्रसूत विषयकों का ज्ञान भी समाविष्ट हो गया है।

आधुनिक समय में जो साहित्य बन रहा है उसके अनुसार उक्त सभी विषयों को प्रधान रूप से तीन अंगों में विभक्त किया जा सकता है। वे तीन अंग निम्न हैं—

१. प्रसूतितन्त्र

२. योनिव्याप्त चिकित्सा

३. बाल रोग चिकित्सा

प्रसूतितन्त्र के दो भाग किए जाते हैं—

(क) प्रकृत खण्ड

---

१. 'नकग्रहाकृतिज्ञानं स्कन्दस्या च निषेधनम्।
अपस्मारशकुन्योश्च रेवत्याश्च पुनः पृथक्॥
पूतनायास्याऽन्धायाः शीतपूतन मण्डिका।
नैगमेष चिकित्सा च ग्रहोत्पत्तिः सयोनिजा॥
कुमारतन्त्रमित्येतच्छारीरेषु च कीर्तितम्।

२. गर्भोपक्रमविज्ञानं सूतिकोपक्रमस्तथा।
बालानां रोगशमनं क्षेयं बालचिकित्सितम्॥

(ख) विकृति खण्ड

प्रथम खण्ड में स्त्री के जननांगों की विवेचना, रज: आदि का विवरण, गर्भाधान एवं गर्भ विषयक ज्ञान, गर्भिणी प्रकरण, प्रसूतावस्था आदि विषयों का बोध कराया जाता है। यह सभी स्वाभाविक कर्मो के अनुसार होता है।

विकृति खण्ड में गर्भकालीन रोग, सूतिका काल के रोग, सूतिका काल के रोगों का वर्णन किया जाता है।

योनिव्याप्त चिकित्सा करके जो आधुनिक समय में चिकित्सांग प्रचलित है, उसमें स्त्री के जननांगों से सम्बन्ध रखने वाले रोगों का तथा केवल प्राय: स्त्रियों को पाए जाने वाले रोगों का ही वर्णन होता है।

वालरोग चिकित्सा में शिशुपालन एवं शोशवावथा में होने वाले रोगों का वर्णन किया जाता है।

अत: हम कह सकते हैं कि 'कौमारभृत्य' आयुर्वेद का एक प्रधान अंग है। उसी में प्रसूति तन्त्र आयु सम्बन्धित विषय भी सामविष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न—शुद्ध रज एवं वीर्य के स्वरूप का निरूपण कीजिये ?

उत्तर—गर्भ के कारक भावों से रज एवं वीर्य का वहुत महत्त्व है। स्त्री के रज होता है, इसे पुष्प, असृक्, शोणित, आर्तव, मासिक स्राव आदि नामों से संम्वोधित किया जाता है। पुरुष के वीर्य को शुक्र भी कहा जाता है, रेतस भी कहते हैं।

पुष्प का वर्णन करते हुए शास्त्रों में इसके दो भेद वताए हैं—अन्त: पुष्प और वहि: पुष्प, यहां पर हम वहि: पुष्प ही ग्रहण करते हुये उसके स्वरूप के विषय में ही लिख रहे हैं।

शुद्ध आर्तव के विषय में सुश्रुत संहिता में निम्न सूत्र दिया है—

"जो आर्तव खरगोश के रक्त के समान वर्ण में एवं घनता में होता है अथवा लाक्षा-रस के समान होता है। जो आर्तव वस्त्र को रचाता नहीं (अर्थात् वस्त्र पर लग जाने से यदि उस वस्त्र को गर्म पानी से धोया जाए तो दाग नहीं लगता) वह आर्तव शुद्ध होता है।"[1]

"जो आर्तव गुंजा फल, पद्म अथवा इन्द्रगोप के वर्णन का हो, वह शुद्ध कहलाता है। जो आर्तव एक मास के पश्चात् उपस्थित हुआ हो, पिच्छिलता

१. "शशासृक् प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षा रसोपमम्।
तदार्तव प्रशंसन्ति यद्वासो न विरंजयेत्।।" (सुश्रुत)

से हीन, दाह एवं अर्ति से रहित हो पाँच दिनों तक रहने वाला हो, मात्रा में न बहुत अधिक हो, न बहुत कम हो, वह आर्तव शुद्ध कहा जाता है।"[१]

वास्तव में देखा जाये तो इन दो सूत्रों में ही स्वाभाविक आर्तव विषयक सभी शालाक्यों का समावेश कर दिया है जिसकी व्याख्या इतर ग्रंथों में विस्तार से प्राप्त होती है।

इन सभी बातों को जाने लेने के पश्चात् यदि आर्तव के संघटन के विषय में कुछ जान लिया जाय तो अच्छा रहे। मासिक स्राव में मुख्य रूप से निम्न तीन चीजें रहा करती हैं—

(१) रक्त

(२) गर्भाशय की श्लेष्मिक कला का स्राव

(३) गर्भाशय एवं योनि के शीर्ण हुए कोष (सेलें)

जीव रक्त एवं आर्तव रक्त एक समान नहीं होते, इनमें अन्तर होता है। आर्तव रक्त में साधारण रक्त की अपेक्षा खटिक अधिक मात्रा में होता है। साधारण रक्त की भांति आर्तव रक्त जमता नहीं। यदि आर्तव रक्त जमने लगे तो समझना चाहिये कि वह विकारग्रस्त है। इस विषय में कि आर्तव रक्त क्यों नहीं जमता, कई मत हैं। कुछ का कहना है कि फाईब्रिन नामक एक विशेष तत्व होता है जोकि रक्त को जमाता है—आर्तव रक्त में वह तत्व नहीं होता, इसलिये वह जमता नहीं है। एक और बात बताई जाती है कि यह रक्त गर्भाशय में जमता है किन्तु गर्भाशय ग्रन्थियों से एक विशेष प्रकार का स्राव उत्सर्गित होता है जोकि उस रक्त को पिघला देता है और फिर वह रक्त पतला रहता है उस स्राव का नाम 'फाइब्रोलाइसिन' कहा गया है। इस प्रकार आर्तव के रक्त की दो विशेषताएँ होंगी।

इस प्रकार आर्तव विशेप प्रकार के रक्त, श्लेष्मा एवं कोषों से युक्त, प्रत्येक मास नियत काल तक स्त्रियों के योनि मार्ग से निकलता है।

शुक्र वीर्य—पुरुषों की वीर्य नामक सप्तम धातु गर्भाधान में सहायक

---

१. "गुंजाफल सवर्ण च पद्मलक्तक सन्निभम्।
इन्द्रगोप संकाशमार्त्तवं शुद्धमेवतत्॥
मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पंचराजानुवन्धि च।
नैवातिबहुनात्मल्यं तदार्त्तव शुद्धमादिशेत्॥ (चरक)

कही गई है। शुद्ध शुक्र के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—

"स्फटिक मणि के समान श्वेत (जरा सी नीली झाईं लिए हुए) द्रव (तरल) स्निग्ध (चिकना) मधुर (विपाक में) मधु के समान गन्ध वाला शुक्र (वीर्य) शुद्ध होता है। कई आचार्यों का कहना है कि शुद्ध वीर्य तिल तैल और मधु के समान वर्ण का होता है तथा घट्ट होता है। ऐसा वीर्य प्रजा उत्पादन में समर्थ है।"[1]

और भी कहा गया है कि—

"स्निग्ध, घन, पिच्छिल, मधुर, अवदाही और स्फटिक के समान वर्ण वाला शुक्र होता है।"[2]

ऐसी मान्यता है कि स्फटिक मणि के समान श्वेत वर्ण का शुक्र गौरवर्ण सन्तान उत्पन्न करता है। तैल वर्ण शुक्र कृष्ण वर्ण और मधु वर्ण शुक्र श्याम वर्ण सन्तान उत्पन्न करता है।"

यदि शुक्र के संघटन का विचार किया जाए तो हम पाते हैं कि इसमें शुक्र कीट एवं स्राव रहा करता है। यदि शुक्र कीट की रचना की ओर अवलोकन करें तो उसका स्वरूप निम्नवत् कहा गया है :—

'शुक्राणु' एक छोटा सा कोषाणु है जिस की लम्बाई $\frac{1}{300}$ इन्च (·०५ मि० मी०) की होती है। इसके तीन भाग होते हैं—

१. सिर २. ग्रीवा ३. पुच्छ

एक लम्बा सा अक्षसूत्र इसकी पूरी लम्बाई में शरीर और पुच्छ भाग तक दौड़ता है और इसके बाहर एक गोलाकार स्प्रिंगदार रचना का प्रबन्ध रहता है।

इसका सिर का भाग तीक्ष्ण धार वाला होता है, इस भाग को शिरः पिधान कहा जाता है। जब मैथुन करने से शुक्राणु स्त्री के जननांगों में जाकर

---

१. "स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च।
शुक्रमिच्छन्ति, केचित्तु तैल क्षौद्रनिभं तथा॥" (सुश्रुत)

२. "स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च।
रेतः शुद्धं विजानीयात् श्वेतं स्फटिक सन्निभम्॥" (चरक)

भ्रमण करता है तो इस सिर की तीक्ष्णता से ही यह स्त्री बीज को छेद कर उसमें प्रविष्ट हो जाता है।

शुक्राणु की पूंछ पर कुछ लोम होते हैं—यह गतिशील होते हैं। इनकी से शुक्राणु $\frac{1}{१०}$ इंच प्रति मिनट के वेग से चलता है।

शुक्राणु का सिर पूंछ जहां पर मिलती हैं वहां एक दबा हुआ सा स्थान होता है, उस भाग को ग्रीवा कहा जाता है।

यह बात ध्यान रखना भी आवश्यक कि शुक्राणु तीक्ष्ण अम्लता, अधिक क्षारीयता एवं अधिक उष्णता में जीवित नहीं रह सकता।

प्रश्न—दुष्ट शुक्र एवं दुष्ट आर्तव के लक्षण एवं चिकित्सा लिखिए ?

उत्तर—आचार्य सुश्रुत ने शारीरस्थान में में इनका वर्णन किया है। वहाँ कहा गया है कि—

"वात, पित्त, कफ से दूषित, रक्त से दूषित (रक्त मिश्रित या रक्तिमा युक्त); कुणप (मुर्दे की गन्ध वाला अथवा जिसमें शुक्रकीट मृत हो गये हों), ग्रन्थित (गांठ वाला), पूति (दुर्गन्ध वाला), पूय (मवाद-पस युक्त), क्षीण (जिनका वीर्य क्षीण हो गया है), जिनके वीर्य में मल मूत्र की गन्ध आती है, ऐसे पुरुष संतानोत्पत्ति में समर्थ नहीं होते।

वायु के कारण शुक्र के दूषित होने पर वीर्य में लाल-काला वर्ण तथा वातजन्य—तोद, भेद आदि वेदनायें होती हैं। पित्त के कारण शुक्र के दूषित होने पर श्वेत वर्ण तथा कण्डू आदि वेदनायें होती हैं। रक्त के कारण दूषित शुक्र में मुर्दे के समान गन्ध तथा मात्रा में अधिक एवं रक्तवर्ण और ओष-चोष आदि वेदनायें होती हैं। कफ और वायु से दूषित वीर्य ग्रन्थि रूप (बहुत गांठ वाला) हो जाता है। पित्त और कफ के कारण से दूषित वीर्य दुर्गन्ध युक्त तथा मवाद मिश्रित होता है पित्त और वायु के कारण से वीर्य क्षीण हो जाता है। सन्निपात के कारण वीर्य में मूत्र और मल की गन्ध आने लगता है।

इनमें कुणप-ग्रन्थि-पूति-मय-क्षीणवीर्य वाले व्यक्ति कष्टसाध्य हैं। मूत्र-मलमिश्रित वीर्य वाले व्यक्ति असाध्य हैं। शेष, वात, पित्त, कफ, रक्त से दूषित वीर्य वाले व्यक्ति साध्य हैं।

इनमें से आदि के (वात, पित्त, कफ) तीन शुक्रदोषों की स्नेहन-स्वेदन द्वारा (वमन, विरेचन, निरूहन-अनुवासन उत्तरवस्ति) तथा विशेष गुण का

और रसायन औषधियों से उत्तर-वस्ति द्वारा (दोषों के अनुसार) चिकित्सा करनी चाहिए।

कुणप गन्ध शुक्रदोष में वैद्य को चाहिए कि रोगी को धाय के फूल, खदिर (खैर की छाल), अनार की (छाल) तथा अर्जुन की छाल से साधित घृत अथवा सालसादिगण के कल्क एवं क्वाथ से साधित घृत रोगी को देना चाहिए। ग्रन्थिभूत (गाँठदार) वीर्यदोष शठी (कचूर) द्वारा सिद्ध अथवा पलाशभस्म (पलाश की राख या पलाशक्षारजल) में साधित घृत पिलाना चाहिए। पूप नामक वीर्य दोष में परुपकादि या वरादिगण द्वारा साधित घृत रोगी को देना चाहिए। मल-मूत्र गन्धि शुक्रदोष में चित्रक खस और हींग से साधित घी का प्रयोग करना चाहिए। शुक्रदोष से पीड़ित व्यक्ति को प्रथम स्नेहन, वमन, विरेचन, निरूहन अनुवासन आदि कर्म करने के पश्चात् उत्तर-वस्ति का यथाविधि प्रयोग करना चाहिये।

आर्तव भी वात, पित्त, कफ इन तीन दोषों से, रक्त से, द्वन्द्वों से (वात पित्त, पित्तक कफ, पित्त-कफ) और सन्निपात रूप से दूषित होने पर प्रजोत्पादन में असमर्थ होता है। रस आर्तव में भी दोषों के अनुसार वर्ण और वेदनाएं समझनी चाहियें।

इनमें भी कुणय, ग्रन्थि, पूति, पूय, क्षीण मूत्र, मल सदृश आर्तव असाध्य हैं और शेष साध्य हैं।

आर्तवशुद्धि के लिए उत्तरवस्ति पर्यन्त कही चिकित्सा करनी चाहिए। वात, वित्त, कफ और रक्तजन्य आर्तवदोषों के लिए स्नेहन आदि कर्मों के साथ साथ कल्क, पिचु, पथ्य, आचमन (योनि प्रक्षालन—वातादि दोपहर क्वाथ द्रव्यों से वने) का प्रयोग करना चाहिये। आर्तव के अधिक घट होने पर पाठा, त्र्यूषण (त्रिकटु) और वृक्षक (इन्द्र जौ) इनका क्वाथ पीना चाहिये। यदि आर्तव दुर्गन्धित, पूय के समान अथवा मज्जा के तुल्य हो तो भद्रश्रिय (हरि चन्दन व्यवहार में देवदारु) और चन्दन (श्वेत चन्दन) इनका क्वाथ पिलाना चाहिए। वातादि एकदोपजनित आर्तव की शुद्धि के लिए शुक्र दोषनाशक पूर्वोक्त स्नेह-स्वेदादि कर्म तथा योग (रसायन, वाजीकरण, मूत्र, (दोपनाशक प्रयोग)—दोपों के अनुसार—प्रयोग करना चाहिए। आर्तव पीड़ा में—भोजन के लिए शालि साठी-हेमन्त धान्य, जो मद्य तथा पित्तवर्धक मांस हितकारी है।

प्रश्न—आर्तव किसे कहते हैं ?

उत्तर—आर्तव के सम्बन्ध में प्राचीनों की दृष्टि से विचार करने से ज्ञात होता है कि आर्तव, रज, असृक रक्त, और वीज नाम से गर्भाशय के किसी स्राव का वर्णन किया गया है। जिसे कहीं कहीं शुक्र या स्त्रीशुक्र के नाम से भी वतलाया गया है। वात्स्यायन ने वहि:पुष्प और अन्त:पुष्प नामक दो भाग कर दिये हैं। इनमें वहि:पुष्प चरक की दृष्टि से गुंजा, पद्म, लाक्षा, या वीरवहूटी के रंग का तथा सुश्रुत के विचार से खरगोश के रक्त के वर्ण का या लाक्षारस की उपमा दिये जाने योग्य लाल वर्ण का होता है। सुश्रुत ने एक स्थान पर स्पष्ट किया है कि आर्तव (वहि:पुष्प) रक्त के लक्षणों वाला ही होता है। अष्टांगसंग्रहकार वृद्धवाग्भन भी इसी विचार को मानते हैं। सुश्रुत शारीरस्थान में आर्तव के स्वरूप का वर्णन करते हुए वतलाते हैं कि शशासृक प्रतिम या लाक्षारसग्येम कहने के उपरान्त उसको पूर्णतः लाल समझना ठीक नहीं वल्कि वह ईषत्कृष्ण होता है तथा उसमें से हल्की गन्ध भी आती है।

यह वहि:पुष्प अन्न से प्राप्त रस नामक धातु द्वारा पुरुषों की शुक्रधातु की तरह लगभग एक मास में वनता है। यह एक मास का काल प्रायः सभी आचार्यों ने एक स्वर से माना है। इसी कारण आर्तवस्राव लोक में मासिक धर्म या माहवारी के नाम से प्रसिद्ध है। कश्यप कहता है कि जव लड़की वाला रहती है तव तक उसकी योनिपूर्ण प्रगल्भ न होकर हीन होती है अतः रस से उसके शरीर में रक्तधातु या आर्तव वनता है वह उसके शरीर के पोषण में ही खर्च होता है। अतः उस काल में (१२ वर्ष की अवस्था तक) उसे मासिक धर्म नहीं होता। पर जव लड़की १२ वर्ष की हो जाती है तव पूर्वकाल से ही प्राप्त—दैवात् रसधातु से निर्मित रक्त काया (योनि का रिक्त भाग) एवं योनि दोनों का पहुंचने लगता है। इस प्रकार धातुओं का परिपूरण और मासिक धर्म की समय-समय पर एक-एक महीने वाद प्रवृत्ति देखी जाती है। वाला के वारह वर्ष की अवस्था को अरुणदत्त प्रायिक मानता है और कहता है कि ११ वर्ष की अवस्था में ही रजोदर्शन हो सकता है इस सम्वन्ध में सुश्रुत की आयुर्वेद रहस्यदीपिका नामक टीका में आचार्य घाणेकर लिखते हैं

"आर्तव रक्तमय स्राव है जो स्त्री जव जवान होने लगती है तव उसके

गर्भाशय से प्रतिमास वहने लगता है। आर्तव का पहली बार निकलना रजो-दर्शन कहलाता है। रजोदर्शन इस बात का चिह्न है कि स्त्री अब जवान होने लगी है। उस समय से स्त्री के शरीर पर यौवन के चिन्ह अधिक दृष्टिगोचर होने लगते हैं और भीतर बीजकोष से पक्व बीज बाहर आने लगते हैं।

यद्यपि यह आर्तव रस धातु का सात्म्यीकरण द्वारा प्राप्त स्वरूप है परन्तु 'सुश्रुत' इसे रक्त से बहुत अधिक भिन्न नहीं मानता। अपितु इसकी प्राप्ति 'धमनीभ्यास' से बतलाता है। दोनों धमनियों से इस प्रकार जो रक्त प्राप्त होता है वह यदि ईषत्कृष्ण एवं विगन्ध हो तो 'आर्तव' हो जाता है इस परि-वर्तन के लिए हमें आधुनिक दृष्टि से गर्भाशय के अन्तरावरण के आर्तवचक्र काल के परिवर्तन दे ने पड़ेंगे जिनका वर्णन हम इसी अध्याय में आगे करेंगे। पीछे 'विश्वामित्र' का एक वाक्य हम छोड़ आये हैं जो बतलाता है कि प्राचीनों को बहिःपुष्प और अन्तःपुष्प की कल्पना थी बहिःपुष्प भी सूक्ष्म केश प्रती-काश शिराओं द्वारा निर्धारित होता था और अन्तःपुष्प भी केश सदृश पतली बीज वाहिनी द्वारा आता था। दोनों महीने-महीने भर बाद होते थे। बहिःपुष्प एक रूप में और अन्तःपुष्प बीज रूप में गर्भाशय की परिपूरण करते हैं। बीज से गर्भ बनकर गर्भाशय भरा जाता था या शोणित स्राव द्वारा साधारणतः प्रति-मास गर्भाशय भरा हुआ रहता था। यह कल्पना बिना सूक्ष्म विवेचन के असम्भव ही समझनी चाहिए।

आचार्यों ने आर्तव नाम से जहां कालक्रमानुसार गर्भाशय से टपकने वाले रक्त का ग्रहण किया है वहाँ 'अन्तःपुष्प' या बीज का भी ग्रहण किया है। 'रक्त लक्षणमार्तव गर्भ कृच्छ' में आर्तव को गर्भकृत मानना आर्तव के बीज के लिए ही हो सकता है।

सुश्रुत शरीर के दूसरे अध्याय के ३८वें सूत्र में एक रूपक दिया गया है कि जैसे घृत का एक पिण्ड अग्नि के सानिध्य से आने से गल जाता है वैसे ही पुरुष के समागम से स्त्री का आर्तव भी अपने स्थान से विसर्पण कर लेता है। 'घाणेकर' आर्तव के दोनों रूपों को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि—

'इसलिये स्त्री आर्तव के दो भाग होते हैं। एक भाग वह होता है जो स्त्री गर्भाशय और योनि की सफाई करके योनि को मैथुन के लिए सुख संवेदनीय, गर्भाशय और योनि को शुक्राणुओं के लिए निष्कण्टक और गर्भाशय को गर्भ के अवस्थान के योग्य बनाता है। दूसरा भाग वह है जो प्रत्यक्ष गर्भोत्पत्ति में

भाग लेता है। पहले को आर्तव शोणित या वहि:पुष्प कहते हैं दूसरे भाग के लिए आर्तव, शोणित ये ही शब्द प्रयुक्त होते हैं उसको अन्त:पुष्प कहते हैं।'

प्रश्न—आर्तव चक्र का वर्णन कीजिए और स्पष्ट कीजिए कि आर्तव उत्पत्ति के क्या २ लक्षण हैं ?

उत्तर—आधुनिक पाश्चात्य ग्रन्थों में गर्भाशय की श्लैष्कावृत्ति के परिवर्तन के अनुसार रज:स्राव के चार प्रमुख विभाग किया मिलता है। १. विश्रान्तिकाल २. संचयकाल का स्रावपूर्णकाल ३. स्रावकाल ४. स्रावांतरकाल।

विश्रान्तिकाल—छ: दिनों का होता है। श्लैष्मकावृत्ति के स्रवित हो जाने के पश्चात नवीन कला के निर्माण होने पर यह प्रारम्भ होता है। इसमें अन्त: कला धीरे २ मोटी पड़ जाती है। ग्रन्थियाँ कड़ी और टेढ़ी मेढ़ी हो जाती हैं और स्थानिक रक्तमयता वढ़ जाती है।

संचयकाल—यह काल पंद्रहवें दिन से लेकर पुन: रजोदर्शन होने तक १४ दिनों का होता है। अर्थात आगामी रज:स्रावकाल के पहले वाला चौदह दिन का काल होता है। इस काल में क्षेत्र वस्तु ग्रन्थियों एवं श्लैष्कावृत्ति सभी में परिवर्तन होता है। सबों का संयुक्त प्रभाव गर्भाशय की मोटाई पर पड़ता है, श्लेष्म-स्राव भी होने लगता है, रक्त संचार भी वढ़ जाता है। इस प्रकार गर्भाशय की श्लेष्मधरा कला की मोटाई स्वाभाविक $\frac{1}{२}$ इन्च से दुगुनी अर्थात $\frac{1}{४}$ इंच हो जाती है एवं गर्भाधान होने पर यही कला और भी मोटी होकर चौगुनी हो जाती है और अब उसका नाम वदलकर 'गर्भधरा कला' हो जाता है, यह संपूर्ण क्रिया निम्न क्रम से होती है।

क्षेत्र वस्तु तथा ग्रन्थियों में परिवर्तन ये बहुत वढ़ जाते हैं एवं शोथयुक्त होने के कारण एक दूसरे से पृथक हो जाते हैं। अधिकांश कोपाणु इतने मोटे पड़ जाते हैं कि गर्भधर कोपाणुओं का रूप धारण कर लेते हैं। काल के प्रारम्भिक सप्ताह में ये लम्बे विस्तृत कठिन होते हैं तथा श्लैष्मिक तन्तुओं के द्वारा एक दूसरे से पृथक होते हैं। यह परिवर्तन श्लैष्यकावृति के मध्य भाग में बहुत अधिक होता है। रक्त वाहिनी गत परिवर्तनों में जैसे-जैसे रज:स्राव काल नजदीक आता जाता है इसकी रक्तमयता वढ़ती है यहाँ तक कि ये एक दूसरे से बहुत समीप हो जाती हैं। काल के अन्त में स्राव श्वेतकण सहित वाहर निकलने लगता है।

स्रावकाल—यह काल चार से पाँच दिनों का होता है। रक्त और श्लेष्मा का स्राव के द्वारा यह अपना आगमन प्रदर्शित करता है। रक्त प्रथम क्षेत्रवस्तु में आता है, स्राव के पूर्व गर्भाशय के श्लैष्मिकावृत्ति के चक्रवत धमनियों में से गमन करता है। स्राव के कुछ घंटे पूर्व से चक्रवत धमनियाँ संकुचित हो जाती हैं। जिससे धमनी पर दबाव पड़ता है। यह धमनीगत दबाव स्राव पर्यन्त विद्यमान रहता है, समय-समय पर धमनियाँ विस्तृत भी हो जाती हैं तथा जब रक्त परिभ्रमण उनमें पुनः शुरू होता है तब उनकी दीवालें जो पहले से ही कमजोर होती हैं उन्हें विदीर्ण कर रक्त बाहर आने लगता है। इस प्रकार सम्पूर्ण श्लैष्मकावृत्ति का ऊपरी भाग ढीला हो जाता है तथा छोटे २ टुकड़ों में विभाजित होकर निर्मोक के रूप में रक्त के साथ बाहर नहीं होता, बल्कि विभिन्न स्थानों में पृथक २ समय पर होता है साथ ही चार पाँच दिनों में अपिस्तर का पूरा ऊपरी भाग एवं क्षेत्रवस्तु का अत्यधिक ऊपरी भाग भी निकल जाता है। ये पूरी क्रियायें नियमित रूप से स्वाभाविक और वेदना रहित होती हैं। इस काल के तीन उपविभाग किये जाते हैं यह विभाजन लाक्षणिक दृष्टि से है—

आदिकाल—यह काल कुछ घंटों का होता है। इसमें श्लेष्म कला का स्राव बढ़ जाता है, शरीर में भारीपन और ह्ल्लास मालूम होता है। इसके बाद शीघ्र ही रक्त का वास्तविक स्राव शुरू हो जाता है।

मध्यकाल—इस काल में रक्त स्राव के साथ श्लेष्मल कला के टुकड़े स्रावित होते हैं एवं कुछ पीड़ा भी होती है। यह दो से तीन दिनों तक रहता है।

अन्तिमकाल—यह स्राव काल की अन्तिम अवस्था है, एक दो दिनों तक रहती है। रक्त का स्राव धीरे २ कम होने लगता है, श्लेष्मा का स्राव भी उसी प्रकार धीरे २ कम हो जाता है।

स्रावोन्तरकाल—इस काल में श्लैष्मिकावृत्ति की स्थूलता में कमी हो जाती है। इसकी मोटाई घट कर १ मिलीमीटर ($\frac{1}{20}''$) के लगभग रह जाती है। दो दिनों के पश्चात जैसे-जैसे इसकी पूर्ति हो पाती है तथा विश्रांति काल पूर्व रूप के समान दिखलाई पड़ती है। श्लैष्मिकावृत्ति के आंतरिक भाग से पुनर्जनन शुरू होता है, रक्तवाहिनियाँ स्वाभाविक स्थिति में आ जाती हैं और रक्त अवशेष में जो क्षेत्रवस्तु में रहता है प्रचूपित हो जाता है।

ये चारों काल प्रतिमास स्वक्रमानुसार परिपूर्ण होकर निरन्तर जारी रहते हैं। जब तक कि गर्भ-धारण न हो या कोई अस्वाभाविक व्यतिक्रम न आ जाय इस क्रम में कोई व्यवधान नहीं पड़ता है।

आर्तव आने के कारण

रजोधर्म के हेतु या रजोत्पत्ति स्त्री विषयक आयुर्वेदीय शास्त्रों में सबसे अधिक महत्त्व दिया जाने वाला यही एक विषय है। प्राच्य और पाश्चात्य सभी शास्त्रों ने प्रायोगिक, लाक्षणिक और काल्पनिक सिद्धांतों द्वारा इस विषय का विस्तृत विवेचन किया है। आहार रस से उत्पन्न यह आर्तव रक्त ऋतु काल में स्वस्थ एवं युवती-स्त्री की योनि से तीन चार दिनों तक प्रवृत्त होकर रज की संज्ञा प्राप्त करता है। यह स्वयं आहार रस का परिणाम है, न कि रस धातु का, ऐसा भी अरुणदत्त का मत है। 'केदार कुल्पा' न्याय के पक्ष में यह तो सर्व मत से सिद्ध है, कि आर्तव रक्त ही नहीं अपितु शरीरस्थ रक्त भी आहार रस का ही परिणाम है। इस प्रसंग में कुछ विद्वानों ने अरुचि प्रकट की है, पर वास्तव में तो निवृत्ति और निर्माण काल में भेद दिखलाने के लिए यह पुनरुक्ति की गई, ऐसा कुछ लोगों का मत है और यह रजोरूप रक्त रसजन्य होते हुए भी धातु शोणित के समान शीघ्र उत्पन्न नहीं होता अपितु शुक्र के समान प्रत्येक मास में ही इसकी उत्पत्ति होती है। रस की उत्पत्ति एक दिन में हो जाती है इसके अनन्तर छओं धातुओं के निर्माण में क्रमशः पांच २ दिन लगते हैं इस प्रकार एक मास के अनन्तर पुरुषों में शुक्र और स्त्रियों में इस रस से आर्तव बनता है।

जब आहार रस से ही आर्तव बनता है तब तो जीवन के प्रारम्भ से होना चाहिये फिर १२ और ५० की मर्यादा क्यों ? इसका उत्तर शास्त्रकारों ने बड़े ही सुन्दर ढंग से दिया है यथा मुकुलस्थ पुष्प में गन्ध है या नहीं इसके उत्तर में यही कहना ठीक है यद्यपि प्रत्यक्षतः उसकी उपलब्धि नहीं होती क्योंकि इस समय यह अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यक्त रूप में स्थित रहता है जो कि कालान्तर में वय, स्वभाव, काल के परिणाम से निवृत्त पत्र होकर पुष्प के रूप में व्यक्त होता है इसी प्रकार स्त्रियों में वय परिणाम से शुक्र का प्रादुर्भाव होता है। रोमराजियों की उत्पत्ति होती है, रोमराज्यादिको का प्रादुर्भाव होता है और आर्तव का प्रादुर्भाव होने पर धीरे २ स्तन, गर्भाशय और योनि आदि की वृद्धि होती है यह सुश्रुतकार का मत है।

इसी से मिलता जुलता कश्यप ऋषि का मत है जो बहुत कुछ आधुनिक उपपत्तियों के साथ साम्य रखता है। पुष्प के मध्य में ही फल की अभिनिवृत्ति होती है, पर प्रयत्न के अभाव में उसकी उपलब्धि नहीं होती। उसी प्रकार स्त्री पुरुष में शोणित-शुक्र की उत्पत्ति कालापेक्षित है। सोलह वर्ष में दोनों के परिपक्व होने के काल का पूर्ण हो जाता है पर आहार विशेष से उसमें विशेष अन्तर हो सकता है। आहार और प्रयत्न को ध्यान में रखते हुए हम अत्यंत औचित्य और सरलता के साथ आधुनिक शास्त्रों के आगे बढ़ सकते है यथा घृत लिप्त भांड को अग्नि पर चढ़ाने से पिघल जाता है। उसी प्रकार पुरुषों के साथ समागम करने पर स्त्रियों का आर्तव विसर्पित होता यहां पर आर्तव शब्द से स्त्री बीज लिया है रज की उत्पत्ति रस से रक्त की तरह शीघ्र ही होती है। कुछ लोग ऐसा कहते है, परन्तु यह कथन ठीक नहीं है। 'विसर्पित आर्तव' इत्यादि में भी स्त्रियों का आर्तव पुरुषों के समागम से विसर्पित होता है। यहीं पर विश्वामित्र के वाक्य को उद्धृत करना असंगत नहीं होगा। सूक्ष्म केश के समान जो बीज रक्त (रज) वाहिनी सिरा है यह एक मांस में गर्भाशय की पूर्ति करती है तथा बीज को ग्रहण करने योग्य बनाती है।

यहां पर दो मूलभूत तथ्यों का स्पष्टीकरण परमावश्यक है प्रथम तो आर्तव स्राव बीजकोष की सक्रिय-क्रियाओं की उपस्थिति पर निर्भर है और दूसरा बीज कोष और गर्भाशय का सम्बन्ध नाड़ी द्वारा न होकर रक्तोत्पन्न आंतरिक स्रावों द्वारा होता है, गत कई वर्षों में इस विषय पर काफी अन्वेषण हुए, परन्तु समाधान की जटिलता बढ़ती ही गई और अधिकाधिक बढ़ती ही जा रही है। यद्यपि रजोधर्म के कारणों पर कुछ निर्णयात्मक तथ्य प्रकाशित हुए फिर भी यह निश्चित है कि विषय अत्यंत जटिल है और आगे कार्य होने का विस्तृत क्षेत्र अवशिष्ट है।

यह निश्चित हो चुका है कि बीजकोष में दो भिन्न प्रकार के स्राव उत्कृष्ट होते हैं। प्रथम का परिपक्व बीज-पुटक में निर्माण होता है, उसे ऋतु संजनन रस कहते हैं। निम्न श्रेणी के पशुओं में इसका कार्य कामोत्तेजना जागृत करना होता है और स्त्रियों में इसके कारण गर्भाशय के आकार तथा रक्त-संचार में किंचित अभिवृद्धि होती है। बीजोत्सर्ग के बाद पुटक पीतपिंड का निर्माण करता है, जो कि ऋतु संजनन नामक रस के स्राव को सतत बनाये रखता है

परन्तु यहां पर के कोषाणु समूह एक दूसरे प्रकार के स्राव का उद्रेचन करते हैं जिसे क्षेत्र संजनन रस कहते हैं। वह गर्भाशय की श्लेष्मल कला की स्राव की शक्ति को उत्तेजित करता है और रज:पूर्वीय सभी क्रियाओं का नियंत्रण करता है तथा गर्भाशय को गर्भाधान के लिए तैयार करता है।

दूसरा मूलभूत सिद्धांत है बीजकोष की समस्त स्रावी क्रियायें पोषणिका ग्रन्थि के पूर्वखण्ड से नियंत्रित होती हैं। यह महत्त्वपूर्ण रचना शरीर के अप्रवेश्य गम्भीर और गुप्त स्थान में अवस्थित है। इसके अनेक स्राव होते हैं। उन में से एक महत्त्व का स्राव बीजकोष का अभिवर्द्धक स्राव है, ये स्राव जो बीजकोष की क्रियाओं पर नियंत्रण रखते हैं बीज गर्भानुगुण रस कहलाते हैं। ये एक हैं या अनेक, इस सम्बन्ध में काफी काल तक मतभेद रहा। परन्तु अब यह प्राय: निश्चित सा हो गया है कि पोषणिका ग्रन्थि के पूर्वखण्ड के क्षारप्रियिक कोषाणुओं सेदो प्रकार के बीजगर्भानुगुण रस नि:सृत होते हैं। इनमें प्रथम तो पुटकीय अभिवृद्धि का कार्य करता है इसलिए पुटकोत्तेजक कहलाता है। दूसरा पीतपिंड का निर्माण करता है। इसलिए पीतपिंडकर स्राव कहलाता है। पुटकोत्तेजक रस और वर्द्धमान बीजपुटक की कणिकाभ-कोषाणुओं में ऋतु-संजनन रस के निर्माण को उत्तेजित करता है। पीतकोषक रस परिपक्व बीजपुटक का बीजागम कराता है और फटे हुए पीत कोषाणुओं की अभिवृद्धि करके पीतपिंडीय कोषाणुओं से क्षेत्र संजनन रस का स्राव कराने में समर्थ होता है।

पूर्व पोषणिका और बीजकोष की क्रियाओं में परस्पर विरोध देखा गया गया है। ऋतु संजनन रस की अधिक मात्रा रक्त में होने पर पूर्व पोषणिका से नि:सृत बीज गर्भानुगुण रस का उत्पादन कम हो जाता है, जिससे बीजकोष के ऋतुसंजनन रस का स्राव भी न्यून हो जाता है। तथा यह कम होकर पूर्व पोषणिका को पुन: उत्तेजित करता है।

आधुनिक अनुसंधानों से ज्ञात हुआ है कि अगर्भा स्त्री में बीजकोषीय स्राव की सारी क्रियायें पूर्व पोषणिका से नियंत्रित होती हैं। परन्तु गर्भावस्था में में यह कार्य अपरा बहिर्जरायु स्तर से होता है। गर्भाधान के बाद पोषक स्तर से एक प्रकार का ऐसा स्राव निकलता है जो कि गर्भाशय के कोषाणुओं को गलाकर बीजवपन कराता है। साथ ही एक रस बीज से भी निकलता है जो पीतपिंड को बनाये रखता है। रज:स्राव पूर्व से रज.स्राव

काल तक की क्रिया ऋतुसंजनन रस के द्वारा सम्पादित होती है। क्षेत्र-संजनन रस की क्रिया के अनवरत रूप से चलने पर गर्भाशय अवसाद युक्त हो जाता है और उसमें पुनः संकोच नहीं होता और पीतपिण्ड का अपजनन प्रारम्भ हो जाता है।

प्रश्न – ऋतुकाल किसे कहते है? ऋतुमती के क्या लक्षण हैं और ऋतुकालचर्या क्या है?

उत्तर—रजोदर्शन के पश्चात् ऋतुकाल बारह दिन तक (ऋतु के प्रथम दिन और योनिसंकोच के कारण अन्तिम दिन छोड़कर) रहता है। कई आचार्यों का मत है कि रजोदर्शन न होने पर भी ऋतुकाल होता है। गर्भ स्थिति की योग्यता की परीक्षा के लिए ऋतुधर्म को अधिक महत्त्व नहीं देना चाहिए। मासिक धर्म के विना भी ऋतुधर्म रह जाता है।

ऋतुमती के लक्षण—जिस स्त्री का बदन मोटा तथा प्रसन्न हो जाये, आत्मा (शरीर) मुख और दांत (मसूड़े), विशेप रूप से क्लिन्न हो जाये, जो पुरुप की इच्छा करती हो; प्रिय वचन बोलती हो; कुक्षि, आँख और बाल शिथिल हो जायें; जिसकी भुजाएँ, कुच, श्रोणि, नाभि, उरू, जघन और नितम्ब में स्फुरण होता हो; जिसको हर्ष एवं उत्सुकता रहती हो; उसे ऋतुमती समझना चाहिये।

अष्टांग मैथुन से रहित ब्रह्मचारिणी स्त्री को चाहिए कि ऋतुकाल के प्रथम दिन से ही दिन में सोना, आँखों में अंजन, रोना, स्नान, अनुलेपन (चन्दन आदि का शरीर पर लगाना) अभ्यंग, नखों का काटना, दौड़ना, ऊंचे हंसना, बहुत बोलना, ऊंचे शब्दों का सुनना, अवलेखन (कंघी से सिर साफ करना), वायु का सीधा झोंका, परिश्रम करना छोड़ देना चाहिये। क्योंकि दिन में सोने से शिशु निद्रालु होता है, अंजन करने से अंधा स्नान और अनुलेप से दु:खशील, तेल की मालिश से कुष्ठी, नखों के काटने से दूपित नख वाला, भागने से चंचल, हँसने से श्यावदन्तक, श्यामवर्ण ओंठ, तालु, जिह्वावाला, बहुत बोलने से प्रलापी (बकवादी); ऊँचे शब्द सुनने से बहरा, सिर खुजाने से गंजा, वायु और परिश्रम के सेवन करने से गर्भ उन्मत्त (पागल) होता है। इसलिये इन बातों का त्याग करना चाहिये।

कुशा को बिछाकर उसके ऊपर सोने वाली, हाथ-मिट्टी के पात्र अथवा पत्ते पर हविष्य (घी मिश्रित शालिधान्य या दूध में संस्कृत गेहूं आदि को)

का भोजन करने वाली स्त्री तीसरे दिन पति दर्शन करे। चौथे दिन स्नान करके शुद्ध हुई स्त्री उत्तम वस्त्र तथा सुन्दर वस्त्र धारण करके; मंगल पाठस्वस्तिवाचन करने के पश्चात् पति का दर्शन करे।

चूँकि ऋतुस्नाता स्त्री जिस प्रकार के पुरुष का दर्शन सबसे पहले करती है, उसी प्रकार के पुत्र को उत्पन्न करती है। इसलिए सबसे प्रथम पति के दर्शन करने चाहिये। इसके पश्चात् वैदिक कर्म को जानने वाला याज्ञिक-पुत्रेष्टि विधि को (चरकोक्त-तन्त्राचार्यों द्वारा) आरम्भ करें। इस कर्म के उपरान्त बुद्धिमान पति वक्ष्यमाण कार्य को करे।

प्रश्न—अनार्तव के कारण, लक्षण एवं चिकित्सा लिखिए ?

उत्तर—इसे आर्तवक्षय भी कहते हैं। आर्तवक्षय, अनार्तव, आर्तवादर्शन अथवा नष्टार्तव के सम्बन्ध में प्राचीन काल में ज्ञान तो था पर इस विषय पर जो पुस्तकें वा ग्रंथ हम अवलोकन करते हैं वे प्रसूतितन्त्र के न होकर कार्य-चिकित्सा (चरक संहिता) वा शल्य-शालाक्य चिकित्सा (सुश्रुत संहिता) के हैं अतः उनमें इस विषय पर अत्यल्प वर्णन मिलता है।

जो भी वर्णन मिलता है उसके आधार पर यह पता चलता है कि स्त्री के आर्तव का क्षय स्वभावस्था में तथा स्तन्यकाल में तो होता है, इनके अतिरिक्त विकृति के कारण भी हो सकता है। उस दशा में यथोचित काल पर या तो आर्तवस्राव पूर्णतः नहीं होता अथवा अल्प मात्रा में होता है। उस काल में भी स्त्री कटु, अमल वा लवण, अम्लरसयुक्त, विदाहकारक और गुरु पदार्थ फल, शाक और अनुपानों की इच्छा करती है।

इस आर्तवक्षय के निम्न कारण होते हैं।

५. अतिसंशोधन, २. अतिसंशमन, ३. वेगविधारण, ४. असात्म्यान्नसेवन ५. मनस्ताप, ६. व्यायाम, ७. अनशन, ८. अति मैथुन, ९. दोषों से मार्ग का अवरोध।

प्रथम सगर्भावस्था, द्वितीय प्रसूतावस्था, तृतीय रजोनिवृत्तावस्था और चतुर्थ बाल्यावस्था में प्रायः स्त्री-योनि से आर्तवस्राव नहीं होता। अनार्तव के इन प्रकारों को स्वाभाविक अनार्तव कहते हैं। इनके अतिरिक्त शेष सभी अनार्तव को वैकारिक अनार्तव कहते हैं।

स्वाभाविक के अतिरिक्त जो अनार्तव होता है उसे द्वितीयक अनार्तव कहते हैं। इसके दो हेतु-समूह होते हैं। एक को 'शारीरिक हेतु-समूह कहते

हैं। और दूसरे को 'स्थानिक हेतु-समूह' कहते हैं। एक 'शस्त्रजन्य हेतु-समूह' भी इसका कारण होता है।

शारीरिक हेतु समूहो में १. रक्तक्षय २. राजयक्ष्मा। ३. विलम्बित स्तन्यकाल। ४. चिरकालिक विषता विशेषत: ओकेन या अहिफेन सेवन करने से उत्पन्न विषता। ५. सज्वरता भी द्वितीयक अनार्तव के कारण हो सकते हैं। चिरकालीन रोग जैसे। ६. कर्कटार्बुद्र। ७. वृक्वशोथ। ८. मधुमेह उन्माद। ९. ग्रेव के रोम। १०. (acromegaly) की अंतिम अवस्था। ११. एडीसन का रोम। १२. अधिवृक्क ग्रन्थियो के अर्बुद। १३. पीयूषग्रंथि के क्षारग्राही सुषिरार्बुद १४. परिस्थितजन्य परिवर्तन। १५. जलवायु के परिवर्तन तथा दुष्पोषण के कारण भी स्त्रियों में अनार्तवता देखी जा सकती है।

चिकित्सा—सर्वदा सर्वभावनां सामान्य वृद्धि कारणम्, जिसके अनुसार समस्त भावों की वृद्धि का कारण 'सामान्य' वतलाया गया है। सामान्य का अभिप्राय यहां समान गुणयुक्त लेना चाहिए। आर्तवक्षय का अभिप्राय शरीर से शुद्ध रक्त की कमी, रक्त की कमी का कारण रक्त की कमी का अर्थ आहार की कमी या आहार की यकांछी परिपाक, शोषण और सात्म्यीकरण में गड़बड़ी। इसके लिए उत्तमोत्तम सर्वघटक सम्पन्न रक्त निर्मापक आहार प्रदान करना।

जिस २ घटक की शरीर में कमी होती है रोगी उसी की कामना करता है। यदि उसे यह वस्तु प्रदान कर ही जाती है तो उसकी कमी दूर हो जाती है। इस सिद्धान्त का पर्याप्त ज्ञान कर लेने पर पाश्चात्यों द्वारा पीति व वीजि के प्रयोग का सिद्धान्त सहज ही समझ में आ जाता है। इन उद्वेचनों में जिसकी भी कमी हो उसका सेवन करना चिकित्सा का प्रथमतम सिद्धान्त है जिसे आयुर्वेद अति प्राचीन काल से वतलाया चला आता है।

रक्त निर्मापक घटकों की प्राप्ति के लिए पौष्टिक भोजन, शुद्ध जल, शुद्ध वायु और शुद्ध मानसिक वातावरण के रखने के साथ-साथ कोष्ठ की पूर्णतया शुद्धि भी आवश्यक होती है। अत: किसी भी अनार्तव पीड़िता को आरोग्यवर्द्धिनी वटी, या यष्टयादिचूर्ण वा पंचसकारचूर्ण देकर या शुद्ध रण्डतैल या लिक्वड पैराफीन मिलाकर विरेचन कराना चाहिये। और अधिक सैद्धान्तिक विचारवादी बनने के लिए स्नेहन और स्वेदन कर्म्मपूर्व मे करा सकते है। जब इस प्रकार कोष्ठ शुद्धि हो चुके और पाचकांम शुद्धरस निर्माण

में समर्थ हो सके उस समय पौष्टिक पदार्थ और चिकित्सा की दृष्टि से प्रस्तुत औषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

मृग, बकरी, भेड़ या सूकर का रक्त, दधि, खट्टे फल (किसी के मत से मधु, घृत, (या उपरोक्त शब्दों से सिद्धघृत), जीवनीय द्रव्यों से सिद्ध दुग्ध, मछली, कुलथी का साग, कांजी, तिल, उड़द, सुरा, गोमूत्र, उदश्वित (आधा जल डालकर) मथा हुआ दही। और सिरका खान-पान की दृष्टि से प्रयुक्त करना चाहिये।

पाश्चात्य दृष्टिकोण से आजकल ईस्टरील (स्टिल वीस्टरोल) का कोई अन्य ईस्ट्रीजन मुख द्वारा देना चाहिये। पहले कृत्रिम प्रकार से बनाये गये ईस्ट्रीन सत्वों स्टिलबीस्ट्रोल, हैक्सीस्ट्रोल, अपनीस्ट्रोल का प्रयोग करना चाहिये। जब इनसे लाभ न हो सके तो प्राकृतिक बीजकोष सत्वों का उपयोग किया जा सकता है। अनार्तव यदि क्षत्रश्रेणी का हो तो ६ मि० ग्राम दिन में दो बार से प्रारम्भ कर सकते हैं और यदि गम्भीर या प्रगलभ हो तो ५ मि० ग्राम में एक बार से प्रारम्भ करके ५ मि० ग्राम दिन में ३ बार तक दे सकते हैं।

यदि स्टिलबिस्टरोल के प्रयोग से विषता के लक्षण उत्पन्न होने लगें तो मुख द्वारा न देकन अन्तस्त्वक्वेन्ध से देना चाहिये।

इस औषधि की मात्रा व्यक्तिशः हुआ करती है अतः उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये।

प्रायः प्रयोग के १४वें दिन के अन्दर स्त्री को आर्तवस्राव शुरू हो जाता है। रक्तस्राव पूर्णतः प्राकृतिक है यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह ईस्ट्रीन के हटने से हुआ माना जा सकता है अतः तीन सप्ताह तक ईस्ट्रीन का प्रयोग करके चौथे सप्ताह में प्रति दूसरे स्टिलबिस्टरोल के साथ-साथ २-२ मि० ग्राम की मात्रा में प्रोजेस्टरीन (पीति) भी देना चाहिये।

ईस्ट्रीन का अत्यधिक प्रयोग कैंसर उत्पन्न कर सकता है। यह भय होने पर भी डरने का कोई कारण नहीं क्योंकि स्त्रियों में ईस्ट्रीन सदैव पर्याप्त मात्रा में रहने पर भी वे सब कैंसर से पीड़ित नहीं होती। फिर भी यदि ईस्ट्रीन या उसके किसी यौगिक के प्रयोग के समय के आर्यस्तर को ल्यूफील के घोल से अनुरंजित करके देखा जाय और वह ग्लाइकोजन की उपस्थिति से बभ्रु देखा जावे तो कैंसर के होने की कदापि सम्भावना नहीं हो सकती।

प्रश्न—कृच्छार्तव के कारण, लक्षण एवं चिकित्सा लिखिए।

उत्तर—ज्यों-ज्यों सभ्यता की वृद्धि हो रही है आर्तवस्राव के साथ में शूल भी बढ़ता जा रहा है। हिन्दू धर्मशास्त्र में रजस्वला स्त्री से काम लेने का निषेध किया गया है। उसे एक विशेष प्रकार से जीवन निर्वाह करने के लिये नियम बनाये गए हैं जो आधुनिक-कालीन व्यक्तियों को कुछ दुष्कर ज्ञात होते हैं, परन्तु उन नियमों का पालन करने वाली हिन्दू ललनाओं को आर्तव-कृच्छता जितनी कम होती है उसकी अपेक्षा आधुनिक अनेक व्यसनों से ग्रस्ता बहुधन्धी नवयुवती में यह प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ी ही है इसका चित्रण करते हुए 'शा' लिखता है कि—

गम्भीरस्वरूप की आर्तवकृच्छ्ता एकान्तवासिनी नवयौवना रमणियों में अधिक प्रचलित है जो प्राय: बैठे रहने का कार्य करती हैं अथवा जिनका कुछ आर्थिक महत्त्व रहता है उनको यह व्यथा विशेष सताती है क्योंकि वे रुग्ण ऋतुकाल में एक वा अधिक दिन तक कुछ न कुछ परिश्रम करती रहती हैं जिसके कारण आर्तवस्राव सुचारु रूप से नहीं हो पाता।

पश्चिम अन्ततोगत्वा पूर्व के वैज्ञानिकों द्वारा वर्षों से प्रचलित एवं युगों से परीक्षित सिद्धान्तों पर आवेगा यह उपरोक्त वक्तव्य से झलकता है।

आधुनिक काल में आर्तवकृच्छ्ता तीन प्रकार की मानी जाती है।

अ—पेश्याक्षेपजन्य कृच्छ्रार्तव।

आ—रक्ताधिवन्यजन्य कृच्छ्रार्तव।

इ—कलाविदारक कृच्छ्रार्तव।

आयुर्वेद ने 'उदावर्त्तायोनि' नामक जो रोग दिया है वह आर्तवकृच्छ्ता ही है।

उसके लक्षण इस प्रकार लिखे गये हैं कि—

वेगपूर्वक उदावर्तन वायु के द्वारा गर्भाशय का होना है जिसके कारण स्त्री बड़े कष्ट से आर्तव स्राव करती है। आर्तव के विमुक्त होते ही वह तत्क्षण सुख लाभ करती है। क्योंकि इस रोग में आर्तव का गमन नीचे योनि की ओर न होकर गर्भाशय ग्रीवा पर मार्ग के संकुचित या अवरुद्ध हो जाने से आर्तव का गमन ऊर्ध्व दिशा में होने लगता है (जैसा आगे पेश्याक्षेपीय आर्तवकृच्छ्ता के वर्णन में बताया जायगा) अत: इसे उदावर्तनी योनि बुद्धिमान कहते हैं।

अ—पेश्याक्षेपजन्य कृच्छ्रार्तव—तीनों प्रकार के कृच्छ्र्तवों में इस प्रकार का बाहुल्य प्रायश: देखा जाता है। जब स्त्री का आर्तवस्राव के अन्य प्रकार के

उपद्रव न मिलकर केवल शूल हो तो समझना चाहिये कि यह पेश्याक्षेपजन्य कृच्छ्रार्तव ही है, क्योंकि रक्ताधिक्यजन्य कृच्छ्रार्तव में शूल उतना नहीं होता है जितना कि श्रेणी के अन्य अंगों का शोथ, रक्तस्रावाधिक्य कटिशूल, उदरशूल आदि लक्षण अधिक मिलते हैं।

पेश्याक्षेपजन्य कृच्छ्रार्तव से पीड़िता स्त्री को आधा से एक घण्टे तक पीड़ादायक शूल उठता है। थोड़ी देर बाद वह शूल शान्त हो जाता है और कुछ उपरांत पुनः उठता है। प्रायः यह शूल ऋतु-काल से एक दिन पूर्व प्रारम्भ होता है और बहुत ही कम रुग्णायें देखी गई हैं जिन्हें यह शूल आर्तव-स्रावविकास के दूसरे दिन पाया गया हो। शूल की उग्रता विभिन्न स्त्रियों में भी भिन्न २ समय पर भिन्न प्रकार की देखी जाती है। स्त्रियाँ शूल के वेग आने पर अचेतन और अवपतित तक देखी जाती हैं तथा कुछ को वमन आती रहती है। हृल्लास तो प्रायः करके देखा जाता है। कभी २ थोड़ा गतिस्थैर्य होने पर तीव्र शूल का प्रादुर्भाव देखा जाता है। कभी २ उग्र रोग का प्रारम्भ शनैः शनैः होता है। कटि और निम्न उदर भाग में शूल मिलता है और वक्षंग और ऊरु, प्रदेश तक शूल जाता है। शूल प्रथम दिन जितना होता है उसके आगे कम होता चला जाता है।

पेश्याक्षेपजन्य कृच्छ्रार्तव का आरम्भ कुछ स्त्रियों में यौवन के प्रथम चरण १६-१७ वर्ष की अवस्था में होता है। कुछ बालाओं में (१२ वर्ष की लड़कियों में) आर्तव के आरम्भ होने के समय भी देखा जाता है। पर प्रायः रस काल में उसका यह वेग नहीं मिलता और षोडशी या अठारह बरस की तरुणियों में उभार के साथ शूल का भी प्रारम्भ होता है। 'शा' का कथन है कि पेश्याक्षेप-जन्य कृच्छ्रार्तव ३५ वर्ष की अवस्था तक की स्त्रियों में ऋतुकाल के प्रथम दिन कुछ कष्ट रहता हुआ रजोनिवृत्तिकाल तक भी देख सकते हैं।

पेश्याक्षेपजन्य कृच्छ्रार्तव का शमन विवाह होने के पश्चात् बहुधा अवस्था के सुधार एवं मैथुनादि प्रसंग के बाद समाप्त हो जाया करता है। पर जिन्हें रह जाता है उन्हें पहले गर्भ के साथ चला जाता है। पर जिन्हें एक बालक या बालिका उत्पन्न होने के उपरांत पर्याप्त काल तक गर्भधारण नहीं होता उन्हें यह रोग पुनः हो सकता है।

पेश्याक्षेपजन्य कृच्छ्रार्तव से पीड़ित तरुणियों के द्वारा समस्त ऋतुकाल में जो आर्तव राशि शरीर के बाहर उत्सृष्ट करनी पड़ती है वह स्वाभाविक से सर्वदा कम ही रहती है अधिक नहीं। कभी-कभी जब स्त्री आर्तव में

स्कंदित रक्त निकाल देती है तो उसके साथ-साथ शूल समाप्त हो जाता है ऐसा इतिवृत्त भी मिलता है।

पेश्याक्षेपजन्य कृच्छार्तव क्यों होता है ? यह प्रश्न बहुधा वैद्य के मस्तिष्क में आता है। इसका संतोषजनक उत्तर देना अभी भी सम्भव नहीं है फिर भी दो प्रकार की विकृतियां बतलाई जाती हैं—

१. रचनागत

२. क्रियागत

रचनागत विकृतियों में निम्न आती हैं—

अ—गर्भाशय का पुर्ननिर्माण—यदि गर्भाशय की यथोचित निर्मित होकर यह दुर्निमित होगा तो गम्भीर स्वरूप का कृच्छार्तव उत्पन्न हो जाता है। प्राय: यौवन का आरम्भ होते ही शिशुरूप का जो गर्भाशय वाला में प्राय: जाता है वह वृद्धि करने लगता है। पर यदि वह किसी कारण विशेष से प्रवृद्ध न होकर ज्यों का त्यों रह जावे तो उसे कृच्छार्तव होना स्वाभाविक हो जाता है तथा आर्तवराशि बहुत कम हो जाती है। यदि गर्भाशय गर्भिकावस्था में ही रहे एवं उसमें तनिक भी बढ़ने की प्रवृत्ति न हो तब तो रज स्राव रुग्णाओं में गर्भाशय न विशेष शिशुस्वरूप का होता है तथा गर्भिकावस्था में भी नहीं रहता पर कुछ दुर्निमित अवश्य रहता है तब पेश्याक्षेपजन्य आर्तवकृच्छता अवश्य पाई जाती है।

आयुर्वेदीय 'सूचीमुखीयोनि' नामक रोग से पीड़िता स्त्री भी पेश्याक्षेपजन्य कृच्छार्तव से व्यवस्थित हो सकती है। दुर्निमित गर्भाशय और सूचीमुखीयोनि एक ही समझनी चाहिए। सूचीमुखी शब्द योनि गर्भाशयग्रीवा और गर्भाशय तीनों के संकोच की सूचिका है जब कि प्रथम शब्द पूर्णभाव का प्रतिबोधक नहीं है। क्योंकि दुर्निमित गर्भाशय की समस्या की गर्भाशयग्रीवा एवं योनि (वैंजाइना) दोनों भी संकुचित रहती हैं।

अ—गर्भाशय का निर्माण कभी-कभी गर्भाशय का निर्माण स्वरूपदृष्टया विचित्र होता है। द्विश्रृंगीय या पटीयुक्त प्रकार के गर्भाशय कुनिर्मित के उदाहरण हैं इनमें भी आर्तव कृच्छता देखी जाती है।

इ—गर्भाशय की कुस्थिति पेश्याक्षेपजन्य कृच्छार्तव्य से व्यथिता रुग्णाओं के गर्भाशय का दर्शन करने पर ज्ञात हुआ है कि कई स्त्रियों के गर्भाशय स्वाभाविक से अधिक अग्रवार्तित मिलते हैं। इस गर्भाशय के प्रकार को शंखाकृतिक

गर्भाशय कहते हैं। गर्भाशय के सहज पृष्ठवर्त्तन में भी पेश्याक्षेपजन्य कृच्छार्तव का लक्षण देखा जाता है। गर्भाशय के पार्श्ववर्तन के उदाहरणों में भी यह आर्तव कृच्छता देखी जाती है।

ई—गर्भाशय पेश्यावरण की पेश्यपचयता यह दुर्निर्मित गर्भाशय का ही एक प्रमुख रूप है जबकि गर्भाशय के पेश्यागण का अनैच्छिक पेशी भाग स्वाभाविक से कम पाया जाता है। 'शा' का कथन है कि इस प्रकार पेश्यपचयित गर्भाशय में संकोच की शक्ति भी कम होती है। इसके कारण गर्भाशयग्रीवा के मार्ग से आर्तव के बाहर निकलने के बजाय वह गर्भाशय पिण्डगुहा में भरा रहता है और गर्भाशय पिण्ड पर तनाव डाल कर विशिष्ट प्रकार के शूल को उत्पन्न करता है।

क्रियागत विकृतियों में निम्न आती है :—

अ—ध्रुवत्व की अल्पता स्वाभाविकतया नियम यह है कि जब गर्भाशय पिंड संकोच करता है तो गर्भाशयग्रीवा में विस्फचेट होता है तथा जब गर्भाशयग्रीवा का संकोच होता है तब गर्भाशयपिण्ड में विस्फारण देखा जाता है। इस स्थिति को स्वाभाविक ध्रुवत्व कहते हैं। जब यह ध्रुवत्व दुर्लभ हो जाता है तो एक ध्रुव के संकोच पर एक दूसरे का विस्फाट यथा मात्रा न होकर अत्यल्प होता है। जब इस ध्रुव में अल्पता आ जाती है तो आर्तव को गर्भाशयग्रीवा के मार्ग से निकलकर बढ़ने में असुविधा हो जाती है और पेट में विषम आक्षेप आकर आर्तव कृच्छता उत्पन्न कर देता है।

आ—आर्तवस्राव की अस्वाभाविकता जब रक्त संहितद्रावक तत्व की स्त्री के रक्त में कमी आ जाती है तो आर्तव का द्रव रूप में रहना अंशतः समाप्त हो जाता है और अनेक रक्त स्कन्द उत्पन्न होकर गर्भाशयग्रीवा के मार्ग को अवरुद्ध कर देते हैं जिससे आर्तव गर्भाशय गुहा में रुक कर शूलोत्पत्ति करता है।

पेश्याक्षेपीय कृच्छार्तव का निदान करते समय यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इसका शूल आर्तवस्राव के एक दिन पूर्व या कुछ पूर्व प्रारम्भ होता है। शूल तीव्र स्वरूप का होता है स्त्री नवयौवना होती है। इतना ज्ञान होने पर गुदा मार्ग से परीक्षा करके यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिये कि गर्भाशय तीव्र अग्रवर्तित या पृष्ठ या पार्श्ववर्तित नहीं है। फिर गर्भाशय के आकार का

पता लगाना चाहिए। क्योंकि गर्भाशय जितना अधिक लघ्वाकृतिक होगा शूल भी उतना ही अधिक होगा तथा उतनी ही देर में लाभ होगा।

आ—रक्ताधिक्यजन्य कृच्छार्तव—यह पूर्वार्तवावस्था के शूल की भाँति आता है जिसके कारण शूल उदर के निचले भाग में या पृष्ठ भाग में होता है। आर्तवस्राव के ३ से ५ दिन पूर्व यह शूल प्रारम्भ होता है और स्राव के आरम्भ होते ही समाप्त हो जाता है।

रक्ताधिक्यजन्य कृच्छार्तव सदैव श्रोणी की विकृति का द्योतक समझना चाहिये। खास कर बीजवाहिनी कोपीय शोथ परावरणिक शोथ श्रोणी संसक्रिया प्रायः करके इस रोग को उत्पन्न करती है। क्योंकि इन रोगों में बीज ग्रन्थियां रक्तमय हो जाती है और उसको शोथयुक्त क्षत आवृत कर लेते हैं। इस कारण वे तन जाती व शूल करने लगती हैं।

गर्भाशय के वृहत पेश्यार्बुदों बीज ग्रन्थियों की वभ्रु सद्रवग्रन्थियाँ एवं उन्हीं के सुपिर पेश्यार्बुदों रक्ताधिक्यजन्य कृच्छार्तव प्रधानतया देखा जाता है।

ई—कलाविदारक कृच्छार्तव—यह कृच्छार्तव पेश्याक्षेपीय कृच्छार्तव का अन्यतम स्वरूप होता है। इसमें गर्भाशय की अन्तरावरण या अन्दर की कला विदीर्ण होकर आर्तव के साथ निकलती है। कभी-कभी तो गर्भाशय गुहा की कला का एक निर्मोक भी निकलता देखा जाता है।

कलाविदारक कृच्छार्तव का प्रधान कारण अन्तरावरण से उत्सृष्ट होने वाले अभिपाचिक किएव का प्रभाव ज्ञात होता है।

इसका एक प्रकार कन्याओं में देखा जाता है। दूसरा प्रकार स्त्री में प्रसवोपरांत गर्भाशय में उपसर्ग लगने के कारण देखा जाता है शूल विदीर्ण कलायों के गर्भाशय से मुक्त होते समय गर्भाशय पेशी के अत्यधिक संकुचित होने के कारण प्रारम्भ होता है। पहले-पहले शूल साधारण होता है पर कला की मुक्ति तथा उसके बाहर निकलते समय तो वह अत्यधिक बढ़ जाता है। कला के साथ-साथ जो रक्तस्राव होता है वह स्वल्प मात्रा में देखा जाता है।

निर्मोक का आकार पूर्णतः सघन या गर्भाशय गुहा के आकार का त्रिकोणकारी अवकाश युक्त होता है। किसी-किसी कला में बीजवाहिनी का छिद्र वा गर्भाशय का अन्तर्मुख भी देखा जा सकता है।

अणुवीक्षणयन्त्र में देखने पर कला में तन्त्वि दिखलाई देती है। जिसके

श्वेत कण, लाल कण और गर्भाशय कला की ग्रन्थियां तथा वाहिनियाँ देखी जाती हैं।

वाहिनिसगर्भता या गर्भाशायिका गर्भपात के समय भी इसी प्रकार शूल के साथ कला वाहर निकलती है। दोनों में अन्तर जानने के लिये अणुवीक्षण यन्त्र का आश्रय लेना पड़ता है। गर्भपात की कला में वाह्यावरणांकुर और गर्भकला को वाएँ देखे जाते हैं जिनका कि कलाविदारक कृच्छार्तव की कला में अभाव देखा जाता है। प्रथम जहाँ सगर्भता के लक्षण मिलेंगे वहां मास-मास पर आर्तवस्राव होता हुआ इसमें देखा जावेगा।

आर्तवकृच्छता की चिकित्सा

रक्ताधिक्यजन्य कृच्छार्तव में आराम देना और शरीर उष्ण रखना आवश्यक होता है जिसके लिये उष्ण कटि स्नान या उष्ण योनि प्रक्षालन कराना चाहिये। श्रोणी संसक्तियों में विद्युत उष्मोपचार या आवश्यक शस्त्रकर्म कराये जा सकते हैं। इसकी शेष चिकित्सा तथा कलाविदारक कृच्छार्तव की चिकित्सा पेश्याक्षेपीय कृच्छार्तव के समान जाननी चाहिये जो इस प्रकार है—

पेश्याक्षेपीय आर्तवकृच्छता का वर्णन करते समय यह हम भली प्रकार से वतला चुके हैं कि कुमारी लड़कियों में होने वाला कृच्छार्तव एक या अधिक वच्चे उत्पन्न होने के पश्चात् या केवल विवाह होने पर मैथुन हो जाने से मानसिक शान्ति हो जाने के कारण दूर हो जाया करता है।

कुमारियों या नवयौवनाओं में प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वान योनि परीक्षा को अनुचित वताते हैं क्योंकि उसके पश्चात् कन्याएँ अपने प्रजननांगों के सम्वन्ध में अधिक चाव प्रकट करने लगती है अतः विगड़ भी सकती हैं पर यदि आर्तवकृच्छता के कारण अति भयंकर शूल उत्पन्न हो जावे तो फिर योनि परीक्षा के साथ-साथ आवश्यक शस्त्रकर्म भी कर सकते हैं। जव तक कि कायचिकित्सा अनुपयुक्त सिद्ध नहीं हो जाती या विकृति का विशेष आधार नहीं ज्ञात होता तव तक योनि परीक्षा 'सेविल' अनावश्यक मानता है।

योनि पर विशेष उपचार न करने के कारण 'शा' कुमारियों के कृच्छार्तव में साधारण कायचिकित्सा को अधिक महत्त्व देता है। 'सेविल' गुदामार्ग द्वारा परीक्षा करने को भी महत्त्वहीन समझता है और योनि परीक्षण यदि

करना ही पड़े तो संज्ञाहरण करने के उपरान्त करने की सम्मति देता है। साधारण उपचार में निम्न का समावेश किया जाता है।

१. खुली हवा में व्यायाम

२. कब्ज को दूर करने के लिये विरेचन।

३. रक्तक्षय नष्ट करने के लिए लौह प्रयोग,

४. जीवतिक्तियों से परिपूर्ण मिश्रित आहार,

५. प्राणयाम का प्रयोग,

६. अनुछमशील शीला लड़की को किसी कार्य में लगा कर स्वकी चिंता से निवृत्ति।

साधारण उपचार के साथ-साथ स्हौषधोपचार भी किया जा सकता है जो इस प्रकार हो सकता है।

रज: प्रवर्तिनीवटी सेकाभ्यंगापिच्वादि उष्ण और स्निग्ध तलवा स्नेह द्रव्यों से करने के लिए कहता है।

यदि स्त्री को अत्यधिक शूल हो तो शूलघन द्रव्यों का प्रयोग करा सकते हैं जैसे एस्पीन, फेनासिरीन, वेरामोन या कोडीन। इन द्रव्यों की प्राथमिक मात्राएं कुछ वड़ी दी जा सकती है परन्तु अधिक काल तक या अधिक वार इनका प्रयोग हानिप्रद और अनावश्यक जानकर जव विना इनके काम न वनता हो तभी इन्हें देना चाहिये।

जव अत्यधिक शूल हो रहा हो तव एट्रोपीन का प्रयोग इंजेक्शन द्वारा या मुख द्वारा लाभप्रद वतलाया है।

आधुनिक काल में 'वृषणसत्वं' (टेस्टोस्टरोन) का प्रयोग पेश्याक्षेत्रीय कृच्छ्रार्तव में लाभप्रद माना जाता है, इसे २५ मिलीग्राम की मात्रा में प्रतिदिन आर्तवस्राव के एक सप्ताह पूर्व देते हैं।

शस्त्रोपचार

ऊपर साधारणोपचार और औषधोपचार द्वारा कृच्छ्रार्तव को दूर करने का प्रयत्न दिखलाया गया है। ये प्रयत्न कुमारियों की आर्तव-कृच्छ्रार्तव में किये जाते हैं। पर जिन स्त्रियों की अवस्था २५ वर्ष से ऊपर होती है और जो आर्तव कृच्छ्रार्तव में पीड़ित होती है वहाँ एक विशिष्ट कर्म जिसे "गर्भाशयग्रीवाविस्फर" कहते हैं महत्त्वपूर्ण देखा जाता है।

आधुनिक काल में आर्तवकृच्छ्ता के अति गम्भीर होने पर दो शस्त्रकर्म और किए जा सकते हैं:—

१—स्वतन्त्रनाड़ीग्रंथ्युच्छेद

२—गर्भशयोच्छेद

स्वतन्त्रनाड़ी ग्रंथ्युच्छेद कर देने से यद्यपि रोग का कारण नहीं मिटता पर वेदनानुभूति का अभाव हो जाता है और वही तो आधुनिक चिकित्सा विद्वान चाहता है।

प्रश्न—आर्तवक्षय काल किसे कहते हैं ?

उत्तर—स्त्री को एक निश्चित अवधि तक ही मासिक स्राव आया करता है। बाला जब तरुण होती है तो उस के शरीर में कुछ इस प्रकार के परिवर्तन हुआ करते हैं कि उसे मासिक स्राव आने लगता है। वह आयु लगभग १६ वर्ष से आरम्भ होती है।

जब वृद्धावस्था आने को होती है स्त्री का यह मासिक स्राव आने का धर्म समाप्त हो जाता है। इस इस अवस्था को आर्तवक्षय काल कहा जाता है।

प्रश्न—अत्यार्तव के कारण, लक्षण उपद्रव व चिकित्सा लिखो।

उत्तर—आयुर्वेदज्ञ एवं यूनानी हकीमों ने अत्यार्तव को प्रदर के समीपवर्ती (रक्तप्रदर) के नाम से लिखा है।

यह व्याधि स्त्रियों के रजो धर्म (ऋतु स्राव) के दिवसों में प्रकृति नियमों के अनुकूल ३ से ५ दिनों की अपेक्षा रक्त-स्राव अधिक काल पर्यन्त प्रवाहित होता है यानी ७ दिन से लेकर १५ अथवा २० दिन की अवधि तक रखे, महीने में २-३ बार दीख पड़े उसे अत्यार्तव के नाम से सम्बोधित करते हैं।

आर्तव का प्रवाह परिमाण से अधिक या कभी २ धक्के के धक्के एकाएक से रक्तस्राव हो पड़ता, एवं लगातार धारा प्रवाह से प्रवाहित होना ऋतुधर्म २-३ माह चढ़के अचानक शुरु हो जाने से गर्भ-स्राव की आशंका उत्पन्न कर देता है किन्तु चतुर चिकित्सक शीघ्र ही गर्भ चिन्हों के लक्षणों का मिलान कर ठीक पहचान व्याधि या गर्भ की कर लेते हैं। उपरोक्त अधिक तादाद में रक्त का गिरना विशेष भेद, आत्यार्तव संज्ञा के अन्तर्गत ही माना जाता है।

अत्यार्तव का कारण—

१. ऐसे रोग जिनके कारणों से रक्त फीका, पतला, उष्ण अथवा दूपित हो

जाने से।

२. कमल मुख एवं गर्भाशय के अर्बुद मस्सा, ग्रन्थियों में से या गर्भाशय के हट जाने से कमल मुख में दीर्घ शोथ होने से।

३. गर्भाण्ड और गर्भाशय में दरार पड़ने से।

४. ज्वर की तीव्रता से।

५. प्रसवान्तर जरायु का कुछ भाग गर्भाशय में रह जाना।

६. गर्भाशय का प्रसव समय में स्थान्तर होना।

७. अत्यंत एवं स्वल्प अपूर्ण मैथुन।

८. अधिक चटपटे एवं गर्म मसालेहार वस्तुओं के सेवन से।

९. कोमलांगी एवं कोमल प्रकृति वाली स्त्रियों की उष्ण प्रकृति से।

१०. अधिक नमक तेल गुड़ एवं गर्म पदार्थों के खाने से। यह व्याधि शीतल देशों में निवास करने वाली स्त्रियों की अपेक्षा गर्म देशवासिनी स्त्रियों में अधिकतर हो जाया करती है।

लक्षण एवं उपद्रव:—ऋतु, स्राव से परिमाण से अधिक एवं अधिक दिनों तक निकलने से स्त्री को अत्यन्त कमजोरी आ घेरती है। रक्त की कमी से शरीर पीला पड़ सफेद होने लगता है। पेडू और कमर में दर्द, आलस्य, मस्तक में पीड़ा, आँखों के सामने अन्धेरा आ जाना, चक्कर, थकावट का हो आना एवं कपाल की नसें उभर आना प्रवृत्ति लक्षण दीख पड़ते है।

उपद्रव—जब अधिक रक्तस्राव हो जाता है तब स्त्री अत्यन्त कृश हो जाती है उसकी नाड़ी नाड़ी क्षीण एवं उष्ण चलती है। रोगिनी मूर्च्छित एवं बेहोशी की हालत में पड़ी रहती है। रोग के पुरातन होने पर स्त्री अति क्षीण हो जाती है उसके पैरों में एवं चेहरे पर शोथ हो आता है थोड़ा सा परिश्रम करने पर ही दम उखड़ आती है। हृदय में धड़धड़ाहट एवं कमजोरी हो जाती है। जठराग्नि निर्बल, मलावरोध, वमनेच्छा, वात का प्रकोप होना, पेडू, कमर गर्भ अण्ड तथा सन्धियों में फाटन, तृषाधिक्यता, बेचैनी एवं व्याकुलता, भासित करती है।

पैर ठण्डे, शीतल चीजों की खाने में इच्छा, जाड़ा लगना आदि उपद्रव दीख पड़ते है।

अत्यार्तव की चिकित्सा—साम्प्रत समय में—भारतवासी नारियों को यह व्याधि अधिकतर देखी जा रही है। आयुर्वेद के अर्वाचीन और प्राचीन सभी

आचार्यो ने इस रोग को रक्त प्रदुर के नाम से विख्यात किया है।

इस रोग में स्त्री के गर्भाशय की जांच कर यह देखना चाहिए कि रक्त स्राव किन अवयवों से हो रहा है। यदि आभ्यन्तर के अवकाश में अर्बुद रसोली (मस्सा) या ग्रन्थी आदि कोई दुष्ट व्याधि जान पड़े तो उसको योग्य रीति से शस्त्रोपाचन द्वारा निकाल देना चाहिए। ऋतुस्राव के बीच के दिनों में मल शुद्धि ठीक २ होती रहे इस पर ध्यान देना चाहिये। योनि में शीतल जल की पिचकारी लगाना एवं शीतल जल का तर्डा देना, शीतल जल से स्नान करना चाहिए पेड़ू पर वर्फ मल सके तो उसमें कपड़ा भिगोकर योनि के ऊपर रखे। अगारे कलमी शोरा का तरेरा देना भी लाभप्रद है। स्पंज का टुकड़ा भिगो योनि में रखवाना, सुपाच्य शीतल भोजन का पेय देना अत्यार्तव में गुणप्रद है।

रक्त स्राव कम करने के लिए नाग केशर, चन्द्रकला, अशोक घृत शोणीता र्गलरस, अशोकारिष्ट, पुष्पानुग चूर्ण, त्रिफला चर्ण, कार्पास मूल क्वाथ सेवन कराना चाहिए। यदि रजोधर्म के समय अति रक्त स्राव जारी होता हो तो ऋतुकाल के ८ दिन पूर्व से औषधि शुरू करनी चाहिए यदि अनियमित ऋतुस्राव हो तो स्राव बन्द होने तक यही औषधि खिलाना चाहिए।

यदि जो स्त्री के अण्ड में रक्त का संग्रह जान पड़े तो पोटास ब्रोमाईड देना उत्तम है। टिंचर वयाना विसईन्डी का अत्यार्तव की पीड़ा को तथा रक्त स्राव को अधिक शमन करना है।

आयुर्वेद में वृद्ध वानरी चूर्ण अत्यार्तव रोकने में अव्यर्थ है नुस्खा आगे दिया जायेगा।

इसके अलावा धन्मत्तरीपर्ण बूटी के ३-४ पत्ते काली मिर्च ७ नग ठण्डे जल में पीस छान पिलाने से आशातीत लाभ होता है। पथ्यापथ्य—पुराने चावल का मुलायम भात गेहूं व घी सक्कर का पथ्य-हलुवा, अरारोट या सीखुर की लपसी, जेहूं की फुलकियाँ, भुने मूंग की दाल, पेठा, कुन्दरू, केला, रूरन, भीनपटोल इन फलों की साग सब्जियाँ चवंलाई नैनिया, गिलोय, हरा धनिया, सौम्य मसाला, सैंघ व दूध, घी, मक्खन, मीठी छाछ, मीठा अनार, दाख, अंगूर, आम, संतरा, मौसम्मी, फूल, दूध मिलाकर दलिया बनाना शक्कर डाल पीना, आंवले की चटनी आदि पथ्य है।

अपथ्य—अधिक गर्म या ठंडी या वासा, भोजन, वैंगन, राई, हींग,

लहसन, अदरख, मिर्च, चटपटी चीजें, खटाई, गुड़, खोपरा, ग्वार की फली चक्ली मटर, दाल, दाने, चूना, तमाखू पान, खाना पीना, परिश्रम, धूप अग्नि के सामने बैठना, चलना फिरना सीढ़ियों पर चढ़ना उतरना रात्रि जागरण सब मना है। चिन्ता फिक्र, मानसिक व्यथा आदि।

प्रश्न—प्रदर रोग किसे कहते हैं और उसकी क्या चिकित्सा करेंगे ?

उत्तर—सम्प्रति स्त्रियों में प्रदर रोग का बहुत जोर है। इस के दो भेद किए जाते हैं—रक्त प्रदर और श्वेत प्रदर। रक्त प्रदर उस अवस्था का नाम है जिसमें "योनिमार्ग से आर्तव अधिक मात्रा में निकले"[1] और श्वेत प्रदर उस अवस्था को कहते हैं जिस में योनिमार्ग से श्वेत, जलयुक्त एवं लेसदार द्रव प्रवाहित होता है।"[2] इस अवस्था को सोमरोग के नाम से भी वर्णित किया गया है। इसे सोम रोग इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें सोम (जल) की प्रधानता होती है। हम पहले श्वेत प्रदर के विषय में वर्णन करेंगे।

श्वेत प्रदर—इसको ल्युकोरिया के नाम से भी जाना जाता है। यदि विचार किया जाय तो हम पाते हैं कि स्वस्थावस्था में स्त्री की भग से लेकर गर्भाशय तक में वहां की श्लेष्मिक कला से थोड़ा थोड़ा स्राव हुआ करता है जो कि योनिद्वार को स्वच्छ, स्निग्ध और सपुष्ट बनाए रखता है। यही जब कुछ कारणों से वृद्धि को प्राप्त हो जाता है और शरीर की शक्ति को क्षीण करने लगता है तब इसे ही श्वेत प्रदर नामक रोग कह दिया जाता है।

यदि देखा जाय तो यह स्वयं स्वतन्त्र रोग नहीं है अपितु स्त्री के कुछ जननांगों की विकृति के कारण उत्पन्न होने वाला एक लक्षण है। प्रायः निम्न चार अंगों में विकृतियाँ होती हैं जिनके कारण श्वेत प्रदर उत्पन्न होता है।

(क) भग सम्बन्धी
(ख) योनि सम्बन्धी
(ग) गर्भाशय सम्बन्धी
(घ) डिम्ब प्रणाली सम्बन्धी

---

१. "रजः प्रदीयते यस्मात्प्रदरस्तेन कथ्यते।"
२. "आपः सर्वशरीरस्थः क्षुभ्यन्ति प्रस्रवन्ति च।"

(क-ख) भग तथा योनि सम्बन्धी विकार—

(१) उपसर्ग—ट्राइकोमोन्स वेजीनेलिस, यीस्ट आदि कीटों का उपसर्ग होने से।

(२) बालिकाओं के भग अथवा योनि शोथ से।

(३) मासिक धर्म की समाप्ति पर।

(४) विजातीय द्रव्यों का योनि में लगातार रखना।

(५) योनि की दीवार में अर्बुद होना।

इन सब में वहाँ की श्लेष्म कला शोथयुक्त हो जाती है।

(ग) गर्भाशय सम्बन्धी कारण दो प्रकार के हो सकते हैं—

(i) **गर्भाशय ग्रीवा सम्बन्धी—**

(१) गर्भाशय ग्रीवा का तीव्र शोथ। (२) गर्भाशय ग्रीवा की ग्रन्थियाँ। (३) गर्भाशय ग्रीवा के व्रण। (४) गर्भाशय ग्रीवा के अर्बुद।

(ii) **गर्भाशय शरीर सम्बन्धी—**

(१) गर्भाशय शोथ, (२) गर्भस्राव अथवा गर्भपात, (३) गर्भाशय के अर्बुद।

(घ) डिम्ब प्रणाली सम्बन्धी—

डिम्ब प्रणाली के शोथ के कारण, डिम्ब प्रणाली में अर्बुद होने के कारण यह रोग हो सकता है।

इन सब स्थानिक कारणों के अतिरिक्त प्रायः देखा गया है कि अधिक दुर्बलता में बार २ सन्तान उत्पन्न होने पर तथा अपथ्य सेवन करने से यह रोग होता है। मैथुन की नित्य क्रिया से भी इसकी अधिकता पाई जा रही है क्योंकि मैथुन कर्म से भी क्षोभ तो होता ही है।

प्रदर रोग में शरीर की प्राणशक्ति का ह्रास होता है। रुग्णा की कर्म इन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियाँ क्रिया रहित हो जाती हैं। मानसिक अवस्था भी ठीक नहीं रह जाती।

रुग्णा को योनि मार्ग से लेसदार स्राव होता रहता है जिसका रंग मैला मैला अथवा कभी २ रक्त मिश्रित होता है। सिर दर्द होना, हाथ पाँवों में जलन, आलस्य प्रायः पाये जाने वाले लक्षण हैं। शरीर में शिथिलता आ जाती है।

इसकी चिकित्सा दो प्रकार से की जा सकती है—

(क) स्थानिक उपचार।

(ख) शारीरिक उपचार।

स्थानिक उपचार कारण के अनुरूप करनी चाहिए। प्रजनन अंग के जिस अवयव में जो विकृति हो उसे दूर करने की चिकित्सा करनी चाहिए। शोधक उत्तरवस्ति का प्रयोग किया जाता है। आयुर्वेद में पञ्चक्षीरी वृक्षों का क्वाथ बना कर उससे उत्तर वस्ति देते हैं। किसी प्रकार के अर्बुद हों तो उन्हें दूर करें। व्रण हों तो उनका रोपण करने की चिकित्सा करें। बाह्य कारण को दूर करना चाहिए।

शारीरिक उपचार में स्त्री के रहन सहन को सुधारना चाहिये। हल्का व्यायाम, खुली वायु, साधारण भोजन एवं पुष्टिकारक पदार्थ लाभ करते हैं। यदि क्षीणता अधिक हो तो लोहभस्म आदि रक्तवर्धक द्रव्य देवें।

स्राव को कम करने के लिए आयुर्वेद में प्रदरान्तक लोह, सुपारी पाक एवं वसन्त कुसुमाकार लाभप्रद औषधि हैं। पुष्पानुग चूर्ण का प्रयोग भी एतदर्थ किया जाता है।

आधुनिक चिकित्सक कैल्सियम और आयोडीन के इन्जेक्शन लगाते है। इसी तरह अन्य सभी द्रव्य जिनमें कैल्सियम हो उनका प्रयोग कराया जा सकता है। आयुर्वेद में शंख, कपर्दिका, प्रवाल, शुक्ति, मुक्ता आदि सभी कैल्सियम प्रधान द्रव्य हैं। इनके प्रयोग से लाभ होता है।

अशोकारिष्ट नाम आयुर्वेद के प्रसिद्ध योग का प्रयोग भी एतदर्थ किया जाता है और वह लाभ भी करता है। स्वर्णवंग तथा वंग भस्म का प्रयोग भी कराया जा सकता है।

इस अवस्था में पथ्य पर अधिक ध्यान रखना होगा। हल्का भोजन, चावल, गेहूं, मूंग-मसूर-चने की दाल का प्रयोग कर सकते हैं। परवल, बथुआ, लौकी, चौलाई, पपीता, पालक, अद्रक, कटहल, धनिया, टिन्डा, घीया का प्रयोग शाक रूप में करना चाहिए। अनार, अंगूर, केला, सेव का प्रयोग किया जा सकता है। गाय और बकरी का दूध लाभ करता है।

दिन में सोना, रात में जागना, अधिक परिश्रम, उपवास अध्ययन, घाम में घूमना, क्रोध, शोक, अतिमैथुन, मद्य, मांस, तम्बाकू का प्रयोग, दही,

सिरका, मिर्च, खटाई का प्रयोग, गुड़, तैल, उड़द का प्रयोग छोड़ देना चाहिए। यह सब रोग को बढ़ाने के कारण हैं।

दूसरा प्रदर रक्त प्रदर कहलाता है। इस का वर्णन अत्यार्तव के प्रकरण में किया जा चुका है। वहीं पर देखना चाहिये।

प्रश्न—हिस्टीरिया (योषापस्मार) क्या है और उसकी चिकित्सा किस प्रकार की जाती है?

उत्तर—यह रोग प्रायः स्त्रियों को उत्पन्न होता है किन्तु कभी २ यह पुरुषों को भी उत्पन्न हो जाता है। इसका साम्य योषापस्मार से किया गया है—सो योषापस्मार नाम से किसी रोग का वर्णन किसी आर्ष ग्रन्थ में नहीं पाया जाता है। इस रोग में जो लक्षण पाए जाते हैं, उनका साम्य हम अपस्मार मूर्च्छा एवं उन्माद रोग के कुछ लक्षणों से कर सकते हैं।

उन्माद के लक्षण एवं हिस्टीरिया के लक्षण आपस में मिलते हैं किन्तु उनमें वेग के स्वरूप में बहुत अन्तर है। उन्माद का रोगी आक्षेप होने पर पतित नहीं होता और न ही शीघ्रता से होश में आता है, जबकि हिस्टीरिया का रोगी पतित हो जाता है और वेग के निकल जाने पर तत्काल बेहोश हो जाता है।

हिस्टीरिया रोग में प्रायः दो प्रकार के लक्षण पाए जाते हैं—

(१) आक्षेपविहीन अवस्था में।

(२) आक्षेप की अवस्था में।

आक्षेपविहीन अवस्था में—विवेक, शक्ति, ज्ञान विज्ञान का अभाव हो जाता है। रोगी बिना समझे बोलता है और अर्थहीन बातें करता है। उसको चोट लगाई जाए तो वह बचने की कोशिश करता है। वेग निकल जाने पर ज्ञान हो जाता है।

आक्षेप अवस्था में—रोगी को कुछ पूर्वरूप प्रकट होते हैं। उसकी आँखें चढ़ी हुई होती हैं। लालिमायुक्त होती हैं, जम्भाई आती हैं। हाथ पैरों में दर्द होता है, कब्ज रहता है, हाथ पाँव पटकता है और पेट में एक गोला सा बन जाता है। रुग्णा जब तक बेहोश नहीं हो जाती तब तक उसे ये सब होता रहता है। रुग्णा रोती है, चिल्लाती है, दांतों को कटकटाती है, नोचती है, इधर उधर की बातें करती है। तब मूर्च्छा आ जाती है।

मूर्च्छा १ से २ घंटे तक रहती है कभी-कभी एक दो दिन भी रह सकती है। किसी-किसी को ५-१० मिनट में मूर्च्छा खत्म हो जाती है। मूर्च्छा के समय में भिन्न-भिन्न स्त्रियों को अलग-अलग लक्षण उत्पन्न होते हैं।

हिस्टीरिया के लक्षणों का सम्बन्ध रुग्णा की अवस्था विशेष के अनुसार भिन्नता रखता है। यह रोग मानसिक निर्बलता के कारण उत्पन्न होता है। सुकुमारी प्रकृति की बालाओं को, कामवासनाओं में लिप्त रहने वाली स्त्रियों को तथा जिनका गृहस्थ जीवन सुखी नहीं ऐसी विवाहिताओं को यह रोगी होता है। जो व्यायाम नहीं करतीं, जिनका आहार-विहार अनुचित होता है, मासिक धर्म के विकारों से जो पीड़ित हैं उन सब को यह विकार उत्पन्न हो जाता है।

हिस्टीरिया रोग को मैंने अपने ही दृष्टिकोण से देखा है। मैं यह समझता हूं कि यह स्त्री की असहनशीलता का द्योतक है। कोई भी ऐसा काम अथवा कोई भी ऐसी अवस्था जो उसे पसन्द नहीं, आदि हो जाये तो उसके विरोध को प्रकट करने के हेतु यह दौरा पड़ता है। यह ऐसा दौरा नहीं जिसमें किसी प्रकार के खतरे की सम्भावना हो, क्योंकि यह दौरा उसी समय पड़ता है जब कि रुग्णा को यह ज्ञात हो कि उसे सम्भालने वाले हैं। अतः इसे हम स्त्री की सहनशीलता की कमी से उत्पन्न हुआ मान सकते हैं।

ऐसा देखा गया है कि जिस स्त्री के विवाह को कुछ समय बीत गया हो और बच्चे पैदा न हुए हों तो भी उसे हिस्टीरिया रोग हो जाता है।

इस रोग को कष्टसाध्य रोग कहा जाता है क्योंकि इसका उपचार करना बहुत कठिन होता है। तो भी चिकित्सा में कारण की खोज करके उसको दूर करना चाहिए।

यदि कुमारी को यह रोग हो तो विवाह कर देने से लाभ हो जाता है। विवाहित को हो तो बच्चा पैदा होने के पश्चात् स्वयं मिट जाता है। कुछ को फिर भी होता है उसमें मन को बल देने से लाभ होता है।

इसमें यह ध्यान रहे कि रुग्णा को किसी प्रकार का मानसिक आघात न लगे। उसे सान्त्वना देनी चाहिए। वात नाड़ी संस्थान को बल देने वाले द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। कोई विशेष औषध द्रव्य नहीं जो लाभ करने के लिए प्रत्येक अवस्था में दी जा सके। अवस्था के अनुसार उपचार करना चाहिए।

हिस्टीरिया के प्रकरण में यह लिख देना अनुचित न होगा कि माधव निदान नामक संग्रह ग्रन्थ में योषापस्मार नाम से एक रोग बताया है जिसके लक्षण निम्न प्रकार कहे गये हैं—

जिस रोग में शरीर और मस्तिष्क के बीच का सांवेदनिक और गत्यात्मक नाड़ी सूत्रों का सम्बन्ध टूट कर विचित्र लक्षण प्रकट होते हैं। जिस रोग के लक्षणों का परिचय रोगी को पहले से हो जाता है और वस्तुतः उसके कोई रोग नहीं होता। उस अवस्था को योषापस्मार रोग कहते हैं।

प्रश्न—गर्भ स्थापना किस प्रकार होती है, साँगोपाँग वर्णन कीजिये ?

उत्तर—गर्भ किसे कहते हैं—यह बात स्पष्ट हो जाने पर उसकी स्थापना को जानना सरल हो जाता है। गर्भ की जहाँ अनेक परिभाषाएँ कही गई हैं वहाँ हम सुश्रुत की परिभाषा को ही यहाँ लिखते हैं जिसमें कहा गया है कि 'गर्भाशय में शुक्रशोणित के मिलने पर आत्मा, प्रकृति एवं विकारों के मिलित रूप को गर्भ कहा जाता है।"[1]

इसके विषय में कहा गया है कि 'जिस प्रकार कि ऋतुकाल, क्षेत्र, अम्बु और बीज के संयोग से अंकुर उत्पन्न होता है, उसी प्रकार से विधिपूर्वक, ऋतुकाल, क्षेत्र, अम्बु और बीज के परस्पर मिलने पर गर्भ स्थापित होता है।"[2]

स्त्री और पुरुष के संयोग के समय वायु शरीर से तेज को उत्पन्न करती है। यह तेज वायु के साथ मिल कर शुक्र को क्षरित करता है। क्षरित शुक्र योनि में पहुंचता है। वहाँ आर्तव के साथ मिल जाता है। इसके पश्चात् आग्नेय तथा सोमगुण के सम्बन्ध से बना गर्भ गर्भाशय में पहुंचता है। इसके साथ में क्षेत्रज्ञ, वेदयिता, स्प्रष्टा, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता, पुरुष, स्रष्टा, गन्ता, साक्षी, धाता, वक्ता इत्यादि पर्यायवाचक शब्दों से कहा जाने वाला अक्षय, अचिन्त्य, भूतात्मा, अव्यय, रूप, सूक्ष्म इन्द्रियों के साथ या लिंग शरीर के साथ अपने कर्मों के अनुसार सत्त्व, रज, तम तथा देव, आसुर, पशु भावों

---

१. "अत्र हि शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकार।
सम्मूर्च्छितं गर्भ इत्युच्यते ॥" (सुश्रुत)

२" ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद्गर्भः स्याद्विधिपूर्वकम्।
ऋतुक्षेत्राम्बु बीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथा।" (सुश्रुत)

से युक्त हुआ वायु द्वारा प्रेरित होकर गर्भाशय में प्रविष्ट होकर स्थिति करता है।

गर्भाशय में स्थित इस गर्भ को वायु विभक्त करता है। तेज इसका परिपाक करता है, जल इसको नरम बनाता है, पृथ्वी इसको संगठित करती है और आकाश इसको बढ़ाता है। इस प्रकार बढ़ता हुआ यह गर्भ जब हाथ, पैर, जिह्वा, नासिका, कान, नितम्ब आदि अंगों से युक्त हो जाता है, तब इसे 'शरीर' कहते हैं।

आयुर्वेद में षड्भावों से गर्भ की उत्पत्ति बताते हुए निम्न भाव बताए हैं[1]—

(१) मातृज, (२) पितृज, (३) आत्मज, (४) सात्मज, (५) रसज, (६) सत्व।

त्वचा, रक्त, मांस, मेद, नाभि, क्लोम, यकृत, प्लीहा, दोनों फुफ्फुस और वृक्क, वस्ति, पुटीषाधान आमाशय, पक्वाशय उत्तरगुदा, स्थूलान्त्र, क्षुद्रान्त्र, वपा एवं वपावहन आदि माता से उत्पन्न होते हैं।

केश, दाढ़ी के बाल, नख, लोम, अस्थि, सिरा, स्नायु, धमनी, शुक्र आदि पिता से उत्पन्न होते हैं।

विभिन्न योनियों में उत्पन्न होना, आयु, आत्मज्ञान, मन, इन्द्रिय, प्राण, अपना, प्रेरणा, धारण, आकृति, स्वर वर्ण आदि की विशेषता, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मृति, अहकार एवं प्रयत्न आदि आत्मज भाव हैं।

आरोग्य, अनालस्य, अलोलुप्तता, इन्द्रियों की प्रसन्नता, स्वर, वर्ण-बीज की प्रशस्तता और सदैव प्रसन्न रहना सात्मज गुण है।

शरीर की अभिनिवृत्ति और अभिवृद्धि, प्राण के साथ अनुबन्ध, तृप्ति, पुष्टि, उत्साह ये रसज भाव है।

भक्ति, शील, शोच, द्वेष, स्मृति, मोह, त्याग, मात्सर्य, शौर्य, भय, क्रोध, शरीरोत्साह, तीक्ष्णता, मृदुता, गम्भीरता, अनवस्थितता और इसी प्रकार के अन्य विकार सत्व से उत्पन्न होते हैं।

---

१. मातृतः पितृतः आत्मतः सात्म्यतो रसतः सत्वतः हत्येभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यः गर्भः संभवति (चरक)

यह सार विवेचन आयुर्वेद के ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्तों के आधार पर लिखा है। यदि आधुनिक विज्ञान के आधार पर विचार किया जाए तो हम पाते हैं कि गर्भस्थाना में दो ही चीजें मानते हैं—

१. शुक्र कीट

२. डिम्ब

शुक्रकीट के विषय में हम पीछे लिख आए हैं। डिम्ब पूर्णतः गोलाकार कोषाणु है जिसका व्यास १/१२० इंच (०.२ मि० मी०) होता है। यह स्त्री की डिम्ब ग्रन्थि के विदीर्ण होने पर एक मास में एक निकलता है। यह स्त्री बीज (डिम्ब) गतिहीन होता है किन्तु कोप से उदरगुहा में आने पर बीजवाहिनी द्वारा के परव ां अंचलों से उत्पन्न हुई तरंगों में फँसकर उनकी ओर चलता है और वाहिनी में घुसता है। वाहिनी भीतर से लोयश होती है, इन लोमों की दशा और गति गर्भाशय की ओर होती है, इसके सिवाय वाहिनी में भी पुटःसरण गति होती है। इस पुटःसरण गति की सहायता से बीज धीरे-धीरे गर्भाशय की ओर चला जाता है।

शुक्राणु गति कर सकता है। मैथुन के पश्चात् इसकी योनि में गति आरम्भ हो जाती है और वह स्त्री बीज के ठीक विपरीत दशा में गमन करता है इस प्रकार इस शुक्राणु का डिम्ब के साथ संयोग बीजवाहिनी के मुख के पास ही होता है। जब शुक्राणु डिम्ब से मिलता है तो अपने तीक्षण शिरः पिधान के द्वारा डिम्ब में एक छिद्र बना लेता है। इसका सिर और ग्रीवा उसके अन्दर चली जाती है और पुच्छ बाहर ही प्रचूपित हो जाती है। इस मिलन के परिणामस्वरूप गर्भ का प्रारम्भिक रूप प्रजनन केन्द्र बनता है। इसकी वृद्धि होते होते पूर्ण गर्भ बन जाता है।

प्रश्न—गर्भ-शरीर का विकास किस प्रकार होता है ?

उत्तर—जैसा कि पीछे लिख चुके हैं कि शुक्रीट एवं डिम्ब के मिलने पर प्रजनन केन्द्र बन जाता है। उसके बनने के पश्चात गर्भशरीर का विकास आरम्भ होता है। विकास आरम्भ होने पर सर्व प्रथम एक कोपाणु के दो, फिर दो के चार, चार के आठ दस क्रम से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। यह इस तरह वृद्धि करते जाते हैं और एक गोल कोपाण समूह बन जाता है जिसका आकार सहतूत के आकार का होता है, उसे कलल कहा जाता है। इसमें बाहरी कोषाणु छोटे और भीतरी कोपाणु बड़े होते हैं।

कलल के ठीक प्रकार बन जाने पर उसके बीच में एक खोखली जगह बननी शुरू हो जाती है और उस खोखली जगह में धीरे-धीरे तरल भर जाता है। इस तरल के दबाव से बाहरी सेल भीतरी सेलों से अलग हो जाती है। इस अवस्था को बुदबुद कहते हैं।

अब उक्त सेलों के दो रूप बन जाते हैं—प्रथम तो वह एक हरे या दोहरे बाहरी सेल जो कि गर्भ में पोषण भाग लेते हैं—इसको पोषकस्तर कहते हैं और दूसरा भीतर की ओर गांठ जैसा बना कोषाणुओं का समूह जिससे गर्भ की वृद्धि होती है—इसको अन्तःकोषाणु समूह कहा जाता है।

यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि शुक्रकीट एवं डिम्ब का संयोग होने के पश्चात् वह गर्भाशय में पहुंचने का प्रयास करते हैं और वहाँ तक पहुंचने में एक सप्ताह का समय लग जाता है और इतने समय में उपर्युक्त परिवर्तन हो चुके होते हैं।

अब वह भाग गर्भाशय में पहुंचता है वहां पहुंचकर वह गर्भाशय की अन्तःस्तर के सम्पर्क में आता है। अब उस गर्भ के बाह्यकोषाणु गर्भाशय के अन्तःस्तर में एक छेद बनाते हैं और इस तरह उस छेद में से गर्भ अन्तःस्तर की मोटाई में सुरक्षित रहता है। फिर यह छिद्र एक स्कन्द के द्वारा बन्द हो जाता है और माता के गर्भाशय की अन्तःस्तर में गर्भ की वृद्धि और तेजी से होने लगती है।

अब गर्भ के अन्तर के कोषाणुओं में दो पोले स्थान बन जाते हैं। एक ऊपर की तरफ जिसे गर्भकोष कहते हैं और दूसरा नीचे की ओर जिसे मल्क-कोष कहते हैं। जहाँ यह दोनों आपस में मिलते हैं उस स्थान को गर्भस्थली कहा जाता है और वहीं पर गर्भ की उत्पत्ति होती है। अब गर्भकोष के बाहर के कोषाणुओं को बहिर्जनन स्तर कहा जाता है और मल्ककोष के कोषाणुओं को अन्तर जननस्तर कहते हैं। गर्भस्थली के प्रान्तभाग से एक और स्तर बननी आरम्भ होती है जिसे मध्यस्तर कहा जाता है।

इस प्रकार प्रजनन केन्द्र से कलल, कलल से बुदबुद और बुदबुद से तीन स्तरों की उत्पत्ति होती है जो कि प्रजनन स्तर कहलाती हैं।

यहाँ पर यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि मध्यस्तर के शीघ्र दो भाग हो जाते है (क) अन्दर वाला (ख) बाहर वाला (क) कौपिक मध्यस्तर यह

यह वहिर्जननस्तर से होता हुआ बुद्बुद के बाहरी कोषाणुओं के साथ फैलता जाता है और उसके साथ मिलकर गर्भ बाह्यावरण बनाता है।

(ख) परिधि मध्यस्तर—यह अन्त का भाग होता है। यह वहिर्जननस्तर से मिलकर आदिम वहिजरायु बनता है।

इन दोनों भागों के बीच में एक पोला सा बड़ा स्थान बन जाता है जिसे महावकाश कहा जाता है।

यह सारा निर्माण तो अन्त:कोषाणु समूह से हुआ। दूसरा कोपाण समूह बहि: है इसकी दो स्तरें होती हैं।

(क) वाह्यस्तर यह जिस अनुभव के साथ सम्पर्क करता है, उसे खाता और पचाता है। इसमें वहुत-सी मीगियाँ पाई जाती हैं और यह भिन्न-भिन्न कोपाणुओं में विभक्त नहीं होती।

(ख) अन्त:स्तर— यह स्तर भिन्न-भिन्न कोषाणुओं में विभक्त रहती है।

महावकाश नामक खाली स्थान को गर्भोदक भर देता है जिससे कोषाणुओं के आपस में मिलने पर गर्भ का अन्तरावरण वनता है जो गर्भ के वाह्यावरण के भीतर होता है। गर्भस्थली के मुड़ जाने पर निचले पोले स्थान का कुछ भाग उसके अन्दर आ जाता है जिससे अन्न प्रणाली की उत्पत्ति होती है।

तीन जननस्तर ही भावी सभी अवयवों की उत्पादक होती हैं—प्रत्येक के द्वारा निम्न अवयव वनते हैं :—

१. सामान्य बहिस्तर— वहिस्त्वक त्वचा मेदोग्रन्थि, स्वेदग्रन्थि, स्तन-ग्रन्थियों की उत्तम कला, स्तरिका, केश, नखा, लालग्रन्थियाँ मुख की श्लेष्मकलास्तारिका, दांत, दन्तच्छद, आंख एवं कान की उत्तानकलास्तारिका दृष्टिमणि, तारामण्डलयेशी सूत्र, मुख नासा गुदा और अंग की म्यूकोसा, अधरगुद, समग्र नाड़ी मण्डल, ज्ञानेन्द्रियों के नाड़ी तन्त्वात्मक भाग, पोपणिका ग्रन्थि।

२. मध्यस्तर—संयोजक धातु, रक्त, अस्थि, तरुणास्थि, दन्त। उदर्या-कला, उरस्या, हृदयधर कला, रक्तवहसंस्थान, रसवहसंस्थान, तारामण्डल, पेशी सूत्रों के अतिरिक्त अन्य सभी पेशियाँ प्लीहा, अधिवृक्क ग्रन्थि का वहिवस्तु, अन्त: जननाङ्ग, गर्भबीज, वृक्क तथा गवीनी।

३. अन्तस्तर अन्तवह स्रत की शेष सारी श्लेष्मल कला, मकृत, अग्नमाशय प्रभृति की उत्तानकलास्तारिका, चुल्लिका, उपचुल्लिका, बालग्रन्थियों की उत्तानकलास्तारिका, मूत्राशय तथा मूत्र मार्ग का प्रायः समग्र उत्तानकला-स्तारिका तथा श्वसन यन्त्र भी उत्तानकलास्तारिका।

इस प्रकार हम पाते हैं कि गर्भ शरीर का निर्माण ऊपर वर्णन किए गए तीन जननस्तरों के द्वारा होता है। नाभिनाल की भी उत्पत्ति इनके द्वारा ही होती है, जिससे गर्भस्थ शिशु आहार का ग्रहण करता है। जिसका वर्णन हमने अलग से किया है।

प्रश्न—गर्भवती के लक्षणों पर प्रकाश डालिए ?

उत्तर—गर्भवती के लक्षण बताते हुए प्राचीन साहित्य में काफी प्रकाश डाला गया है और आधुनिक समय में भी इस विषय पर बहुत साहित्य सृजन हुआ।

आचार्य सुश्रुत ने सद्योगृहीत गर्भा के लक्षण बताते हुए लिखा है कि "श्रम, ग्लानि, प्यास, जोड़ों में थकावट, शुक्रशोणित का प्रवृत न होना और योनि का फड़कना यह तत्काल गर्भ धारण की हुई स्त्री के हैं।" और गर्भिणी के लक्षण बताते हुए कहा है कि—"स्तनमुखों का काला होना, रोमराजी का उत्पन्न होना, आँखों की पलकों का बिना इच्छा के बन्द होना, बिना इच्छा के वमन होना, शुभ गन्धों से घबराहट होना, मुख से लालास्राव का बहना और अंगों में शिथिलता होना यह गर्भिणी के लक्षण होते हैं।"[२]

इसी प्रकार का वर्णन चरक एवं वाग्भट्ट में भी मिलता है। किन्तु यह इतना संक्षिप्त है कि गर्भ है कि नहीं इस बात का निश्चय नहीं हो सकता। आज के वैज्ञानिकों ने उसका विस्तार से वर्णन किया है उसी के आधार पर नीचे वर्णन कर रहे हैं। गर्भावस्था के परिवर्तनों को साधारण रूप से

१. तत्र सद्योगृहीतगर्भाया लिंगानी-श्रमो, ग्लानि पिपासा, सक्थिसदनं, तयोरबन्धः स्फुरण च योनेः।

२. "स्तन्यो कृष्णामुखता रोमराज्युद्‌गमस्तथा।
अक्षिपक्ष्मणी चाऽप्यस्याः संमील्येन्ते विशेषतः।
अकामतपृच्छर्दयति गन्धादुद्विजते शुभात्।
प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिंगमुच्यते।"

दो भागों में बांट सकते हैं—

(क) गर्भिणी में पाये जाने वाले लक्षण

(ख) गर्भिणी के अंगों में होने वाले परिवर्तन

(क) लक्षण :—

(१) **स्वभाव परिवर्तन**—कुछ संतान की उत्कट अभिलाषा वाली स्त्रियाँ गर्भावस्था में अधिक प्रसन्नता अनुभव करती हैं जबकि कुछ के स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ जाता है क्योंकि वह गर्भावस्था को नहीं चाहतीं।

(२) **प्रातः ग्लानि**—यह लक्षण डेढ़ मास के गर्भ होने पर प्रकट होता है और दो मास तक चलता है। इसमें सोकर उठने पर जी मिचलाना, उलटी होना आदि लक्षण हुआ करते हैं इसका असर कइयों को सारे दिन रहता हैं और कुछ को सायंकाल होता है। यह लगभग २५ प्रतिशत गर्भिणियों में होता है।

(३) **अफारा**—गर्भ के कई मास का हो जाने पर आंतों पर उसका दवाव पड़ने से यह लक्षण प्रकट हुआ करता है।

(४) **अम्लता का बढ़ना**—पाचन के अधिक होने से कुछ को गले में जलन होती है—इस अवस्था में क्षार का प्रयोग किया जाता है।

(५) **भार बढ़ना**—जल के अवरोध के कारण गर्भावस्था में शरीर का औसत भार ३० पौंड तक बढ़ सकता है। यह भार गर्भ के भार से कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

(६) **हृदय परिवर्तन**—गर्भावस्था में हृदय बढ़ने लगता है। हृदय के धड़कन की व्यथा प्रायः मिलती है। रक्त में जलीय भाग बढ़ जाता है।

(७) **मूत्र**—गर्भावस्था में रक्त में जल की अधिकता होती है तथा वृक्क में रक्त का संचार अधिक होता है अतः मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है।

(८) **त्वचा परिवर्तन**—त्वचा में भी परिवर्तन आते है। उदर पर किकिस पड़ जाते हैं।

(ख) अंगों से होने वाले परिवर्तन

(१) **गर्भाशय**—गर्भ के बढ़ने के साथ-साथ गर्भाशय के माप एवं भार में वृद्धि होती है और इसी के कारण उदर में वृद्धि होने लगती है। जहाँ गर्भावस्था के पूर्व गर्भाशय का माप ३"×२"×१" होता है—वहाँ यह बढ़कर १ ".×९"×८" तक का हो जाता है।

(२) गर्भाशय ग्रीवा—गर्भाशय ग्रीवा के तन्तुओं में कुछ परिपुष्टी मिलती है। इसमें रक्तवाहिनियाँ अतिशय वृद्धि को प्राप्त हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप गर्भाशय ग्रीवा बहुत मृदु हो जाती है।

(३) योनि—योनि प्राचीर का वर्ण अधिक काला पड़ जाता है। प्राचीर की अधोभाग की सिराएँ मोटी और कुटिल हो जाती हैं। इससे योनि में खरता बढ़ जाती है। इस अवस्था में योनि गत स्राव बढ़ जाता है।

(४) स्तन—गर्भाधान होने पर स्तन भी अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं। प्रायः तीसरे सप्ताह में ही स्तनों में कुछ तोंद और चुभन-सी होने लगती है। फिर भार बढ़ता है और बाहर से देखने पर बढ़े हुए दिखाई देते हैं। स्तन वृद्धि के साथ-साथ चुचूक भी बढ़ता है। पाँचवें मास में दबाने से एक स्राव निकलता है जिसे पीयूस कहा जाता है। इस अवस्था में स्तन मण्डल के चारों तरफ रंजक द्रव्य संचित होकर वर्ण परिवर्तन कर देते हैं।

इसके अतिरिक्त फुफ्फुस, नाड़ी संस्थान, पाचन संस्थान एवं वृक्क आदि में भी परिवर्तन होते हैं।

प्रश्न—गर्भ स्थिति के निर्णायिक लक्षण एवं चिन्हों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—गर्भ स्थिति के निर्णय करने में हमें तीन प्रकार के लक्षण एवं चिह्नों पर विचार करना होता है—

(क) हीन बल अथवा अनुमानिक
(ख) मध्य बल या सम्भाव्य
(ग) उत्तम बल अथवा स्त्यात्मक

(क) हीन बल अथवा अनुमानिक'—

(१) **आर्तव अदर्शन**—जिन विवाहिता स्त्रियों का प्रत्येक मास ठीक प्रकार से आर्तव आता हो उन्हें यदि आर्तव बन्द हो जाए तो वह गर्भवती समझने लगती है, ऐसी अवस्था में वह कुछ महत्व भी रखता है। किन्तु ध्यान रखना चाहिए कि अन्य अनेक अवस्थाओं में यह गलत भी होता है क्योंकि निम्न कारणों से भी आर्तव अदर्शन पाया जाता है—

(क) पाण्डु-क्षय एवं क्षीणता उत्पादक रोगों में
(ख) गर्भ की उत्कट इच्छा रखने वाली नवयुवती में
(ग) रजःक्षय काल में
(घ) स्तन्य काल में

अतः पूर्ण रूप से विचार करने के पश्चात् इस लक्षण पर विश्वास करना चाहिए।

(२) प्रातः ग्लानि—द्वितीय मास से चतुर्थ मास तक पाया जाता है। कभी-कभी अजीर्ण आदि में भी हो जाता है।

(३) स्तन परिवर्तन—स्तनों की स्थूलता, कृष्णमुखता, स्फुट सिराजाल आदि होना गर्भावस्था में पाया जाता है।

(४) उदर परिवर्तन—उदर की वृद्धि भी गर्भ का लक्षण है किन्तु गर्भाशयगत अर्बुद से पृथक् कर लेना चाहिए।

(५) वस्ति की क्षुब्धता—गर्भ में प्रारम्भिक एवं अन्तिम दिनों में मिलती है। इससे बार-बार मूत्रत्याग की इच्छा होती है।

(ख) मध्य बल अथवा सम्भाव्य लक्षण

१. गर्भाशय की आयाम वृद्धि गर्भ स्थिति में गर्भाशय की निरन्तर, अविषम और शीघ्र वृद्धि होती है।

२. गर्भाशय के आकार में परिवर्तन आरम्भ के कुछ सप्ताहों में इसका आकार गोल होता है।

३. "रैश्चेज का चिह्न" गर्भाशय प्रारम्भिक सप्ताहों में कोमल एवं मृदु हो जाता है।

४. हैगर का चिह्न ग्रीवा गाज का मध्य भाग विशेष मृदु हो जाता है। यह चिह्न डेढ़ मास से ढाई मास तक पाया जाता है।

५. गर्भाशय की आवान्तर कुंचन गर्भावस्था के आरम्भ से ही गर्भाशय में लहरें पैदा होने लगती हैं और तीसरे मास में वह बहुत स्पष्ट हो जाती हैं, तब योनि द्वार में दो अंगुली डालकर परीक्षा कर सकते हैं। इससे हर ५ (पांच)—१० (दस) मिनट के अन्तर पर इस तरह के संकोच की तरंग का अनुभव कर सकते हैं। जब गर्भाशय बढ़ जाता है और उदर गुहा में आ जाता है तब उदर पर हाथ रखने मात्र से ही बोध हो जाता है।

६. योनि स्पन्दन—योनि के पार्श्व के कणों पर स्पन्दन होता है। परीक्षक की अंगुलियों को यह स्पन्दन होता है। यह दूसरे या तीसरे मास में पाया जाता है।

७. फैक्युमियर का चिन्ह—इसमें योनि में रक्ताधिक्य के कारण योनि की श्लेष्मल कला वर्ण में नीलवर्ण की हो जाती है यह दूसरे या तीसरे मास के आरम्भ से ही प्रकट हो जाता है।

८. फ्लमे का चिन्ह—इसमें योनि के अधाभाग में सिरा कुटिलता पाई जाती है।

९. प्रत्याघात इस शब्द का अर्थ होता है गेंद का 'उछालना' वह एक फ्रेंच भाषा का शब्द है। इसमें गर्भ को गर्भाशय में निष्क्रिय गति कराते हैं। इसके दो विधान हैं—प्रथम बाह्य और दूसरे आभ्यन्तर।

वाह्य प्रत्याघात में स्त्री को पार्श्व में लिटा लिया जाता है, फिर उदर के ऊपर गर्भाशय के दोनों पार्श्वों पर हाथों को रखा जाता है। फिर नीचे वाले हाथ के ऊपर की तरफ गर्भ को फेंकते हैं फिर गर्भ के नीचे आने पर उसी हाथ पर प्रत्याघात का अनुभव करते हैं।

आभ्यन्तर प्रत्याघात में औरत को पीठ के बल चित लिटा देते हैं, उसके सिरस्कन्ध आदि के नीचे तकिया रखकर ऊँचा कर देते हैं। अब एक हाथ को परीक्षक स्त्री के उदर पर रखता है और गर्भाशय स्कन्ध को पकड़ कर रखता है और दूसरे हाथ की दो उंगलियों को योनि में डालता है। अब स्त्री को कहा जाता है कि लम्बा श्वास खींचे और फिर एक दो क्षण के लिए श्वास को रोक लेवे। अब उन अंगुलियों से गर्भ को ऊपर धकेला जाता है—इससे गर्भ उन अंगुलियों से दूर होकर ऊपर को गर्भोदक में चला जाता है। एक क्षण के वाद गर्भ पुनः उन अंगुलियों पर आकर लगता है। यही विधि ज्यादा अच्छी है।

१०. प्रायोगिक परीक्षण—मूत्र की परीक्षा करते हैं जिसमें पीयूष ग्रंथि के पूर्व भाग सदृश अन्तःस्राव की उपस्थिति मिलती है। इसे "इश्चीयम जाण्डेक प्रतिक्रिया" कहा जाता है। इसमें चूहियों के स्थान पर शशकों का प्रयोग अब करने लगे हैं।

(ग) उत्तम वल चिन्ह—कुछ ऐसे चिन्ह हैं जिनका होना—यह सिद्ध कर देता है कि अवश्य ही गर्भ है। यें निम्न हैं—

(१) हृच्छब्दों का सुनना और गिनना,

(२) गर्भ की चेष्टाओं का अनुभव करना,

(३) गर्भ के अंग प्रत्यंगों का स्पर्श न करना,

(४) क्ष-किरण द्वारा गर्भ का देखना,

(५) हृच्छब्दों का सुनना और गिनना—गर्भ के ऊपर यह शब्द सुनाई देते हैं जो इतने मन्द होते हैं कि उनकी ध्वनि इतनी तीव्र होती है जैसे तकिये के नीचे रखी हुई घड़ी की ध्वनि होती है। इसकी गिनती एक एक मिनट में १२० से लेकर १४० तक होती है। गर्भ की आयु के बढ़ने पर यह कम होती जाती है। इसके सुनने का सबसे अच्छा स्थान विटप सन्धि के ऊपर श्वेत रेखा पर होता है। इसे ही मध्य रेखा भी कहा जाता है। यहीं पर पर गर्भस्थ शिशु के हृदय के शब्द को ठीक प्रकार सुना जा सकता है।

(२) गर्भ की चेष्टाओं का अनुभव करना—चिकित्सक, देख कर, सुनकर या स्पर्श करके भ्रूण की चेष्टाओं का अनुभव करता है।

(३) उदर के ऊपर हाथों के स्पर्श से अथवा योनि द्वार में अंगुली प्रवेश कर भ्रूण के अंग प्रत्यंगों का निश्चय हो जाता है।

(४) यदि सन्देह रहे तो चौथा मास हो जाने पर क्ष-किरण की सहायता लेनी चाहिये। उससे भ्रूण के कंकाल का चित्र आ जाता है।

इस तरह गर्भ के निश्चय के लिये उपर्युक्त तीन प्रकार के लक्षणों को देखना होता है। इनमें निश्चयात्मक लक्षण सर्वश्रेष्ठ होते हैं। उन पर ही निर्णय किया जा सकता है।

प्रश्न—गर्भ की मासानुमासिक वृद्धि का वर्णन करते हुए प्रत्येक मास के पथ्यापथ्य का वर्णन कीजिए।

उत्तर—शुक्र और आर्तव का संयोग होने के पीछे प्रथम मास में कलल (बुदबुदाकार) रूप गर्भ होता है। दूसरे मास में शीत (कफ) और उष्म (पित्त) एवं अनिल (वायु) द्वारा पञ्चमहाभूतों के संघात का परिपाक होने पर गर्भ घन (ठोस) हो जाता है। यदि वह घन पिण्डाकार (गोल) हो तो पुरुष, यदि पेशी के आकार में (लम्बा चार कोनों वाला) हो तो स्त्री, यदि अर्बुद (सिम्बल के फूल) के आकार में हो तो नपुंसक समझना चाहिये। तीसरे महीने में दो हाथ दो पांव और सिर को बनाने वाली पिण्डकायें (निशान) बन जाते हैं, शेष अंगप्रत्यंगों का विभाग अति सूक्ष्म रहता है।

चौथे मास में सब अंग प्रत्यंगों की बनावट अधिक स्पष्ट हो जाती है। गर्भ हृदय के स्पष्ट होने (हृदय की धड़कन के स्पष्ट सुनाई देने) से चेतना (आत्मा-चैतन्यता) धातु स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि चेतनता का स्थान हृदय ही है। इसलिए चतुर्थ मास में गर्भ इन्द्रिय के विषयों में चाह (इच्छा) करने लगता है। अतः स्त्री को दो हृदय वाली होने से 'दौहृदिनी'' कहते हैं। दौहृद (गर्भवती) की इच्छा का प्रतिघात होने से सन्तान कुबड़ी, कुत्सित हाथों वाली, एक टांग से लंगड़ी, जड़, नारी, विकृत आंखों वाला अथवा अन्धी उत्पन्न होती है। इसलिए गर्भिणी की जिस २ वस्तु की इच्छा के पूर्ण होने से सन्तान वीर्यशाली और चिरायुष होती है।

गर्भवती स्त्री इन्द्रियों के जिस २ विषय का भोग करना चाहती हो, वैद्य को चाहिये कि गर्भहानि के भय से उन पदार्थों को लाकर गर्भिणी को देवे। गर्भवती स्त्री की इच्छा के पूर्ण होने से गुणशाली पुत्र उत्पन्न होता है। और स्त्री की इच्छा के पूर्ण होने से गर्भ अथवा अपने में (स्त्री में) ही विकार आ जाता है। गर्भवती स्त्री की जिन २ विषयों में पूर्ति नहीं होती, पुत्र की उन्हीं उन्हीं में विषयों में पीड़ा होती है। वही २ इन्द्रिय बच्चे की खराब रहती है।

जिस गर्भवती स्त्री को राजा के दर्शन की इच्छा होती है, वह धनवान और भाग्यशाली कुमार उत्पन्न करती है। जिस स्त्री को इकलपट्ट (क्षौमवस्त्र), तथा कौशेय (रेशमी) वस्त्र एवं आभूषण की चाह होती है वह अलकार प्रिय एवं सुन्दर पुत्र को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री की तपस्वियों के निवास स्थान में रहने की इच्छा होती है वह धर्मात्मा एवं संयमी पुत्र को उत्पन्न करती जिस स्त्री को हिंसक पशुओं को देखने की इच्छा होती है वह हिंसाशील पुत्र को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री को गोह के मांस खाने की इच्छा होती है वह सोने की इच्छा वाले एवं दौड़ने वाले पुत्र को उपन्न करती है। जिस स्त्री को गोमांस की इच्छा होती है वह बलवान एवं सब क्लेशों को सहने वाले पुत्र को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री को भैंस को मांस में अभिरुचि होती है वह शूरवीर लाल आंखों वाले तथा बालों वाले पुत्र को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री को वराह (सूअर) मांस की इच्छा होती है वह सोने वाले एवं शूर वीर पुत्र को उत्पन्न करती है। जिस स्त्री को मृग मांस में रुचि होती है वह

विक्रांत (उद्योग) जंघाल (जोर से दौड़ने वाला) तथा सदा वन में घूमने वाला पुत्र पैदा करती है। सृमर (मृग भेद या चंवर) माँस की इच्छा वाली चंचल मन वाली संतान को, तीतर की माँस की इच्छा वाली स्त्री डरपोक संतान को उत्पन्न करती है। इनसे अनुस्त न कहे पदार्थों में गर्भवती स्त्री जिस २ प्रकार की कामना करती हैं, वह उन्हीं पदार्थों के समान शरीर-आचार और स्वभाव वाली संतान को उत्पन्न करती है।

पूर्वजन्म के कामों के कारण से ही बालक का भविष्य (जन्म अगला शरीर) बनता है। इसी प्रकार दैवयोग (प्राक्तन कर्मों के कारण) से ही हृदय में दोहद (इच्छा) उत्पन्न होती हैं।

पांचवें मास में मन अधिक प्रबृद्ध हो जाता है (क्रियाशील हो जाता है) छटे माँस में सब अंग-प्रत्यंग का विभाजन अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। आठवें मास में ओज अस्थिर रहता है। इस मास में यदि बालक उत्पन्न हो जाये तो वह जीता नहीं क्योंकि इसके ओज को निर्ऋृति (राक्षस) छीन लेते हैं अतः मास और चावलों की बलि निऋृति के लिए देनी चाहिए। आठवें मास के बाद नवम-दशम-ग्यादह और बारहवें किसी एक मास में प्रसव हो जाता है। इसके आगे की गर्भ की विकृति समझनी चाहिये।

आधुनिक चिकित्सा के ग्रंथों में पाए जाने वाले लक्षणों का वर्णन किया है

प्रथम मास में—आर्त्तवादशन, स्तनों का भारीपन।

द्वितीय मास में—आर्तवादर्शन, प्रातर्ग्लानि, चूचुकों की कृष्णता, गर्भाशय वृद्धि, हेगर का चिन्ह।

तृतीय मास में—आर्तवादर्शन, प्रातर्ग्लानी, स्तनमण्डल की कृष्णता, स्तन से स्राव, ग्रीवा की मृदुता, ग्रीव और योनि का वर्णविपर्यय, गर्भाशय का बढ़कर श्रोणिकण्ठ रेखा तक पहुँचना।

चतुर्थ मास में आर्तवादर्शन, प्रातर्ग्लानि, स्तनों की कृष्णमुखता, पिण्डका-विर्भाव, ग्रीवा-मृदुता, योनिवर्ण-विपर्यय, गर्भाशय-ध्वनि, गर्भस्फुरण, गर्भप्रत्याघात, गर्भाशय का बढ़कर नाभि और भगसंधानिका की बीच में आ जाना।

पंचम मास में—गर्भहृच्छब्द, उदमण्डलनिर्माण, चतुर्थ मास में उक्त लक्षणों की उपस्थिति।

षष्ठ मास में—पूर्वोक्त लक्षणों के अतिरिक्त किक्किस और वर्णराजि। गर्भाशय का बढ़कर नाभि के शीर्ष तक पहुंचना।

सप्तम मास में—सभी उत्तम गुण वाले गर्भलक्षणों की अभिव्यक्ति। गर्भाशय का बढ़कर नाभि के तीन अंगुल ऊपर तक उठ जाना।

अष्टम मास में—गर्भाशय नाभि और अग्रपत्र के मध्य तक पहुंच जाना। नाल-ध्वनि की उत्पत्ति। उत्तम बल—लक्षणों की विद्यमानता।

नवम मास में—गर्भाशय का बढ़ते हुए अग्रपात तक पहुंच जाना। उत्तम बल लक्षणों की उपस्थिति।

दशम मास में—गर्भाशय कुछ नीचे को गिरकर पुनः अष्टम मास की सीमा तक आ जाता है। उत्तम बल-लक्षणों में सभी की विद्यमानता रहती है।

मासिक पथ्यापथ्य

१. **प्रथम मास में**—गर्भिणी को गर्भ का सन्देह होते ही, विना संस्कार किये ही ठण्डे दूध की मात्रा में समय २ पर सेवन शुरू करा देना चाहिए। फिर प्रातः और सायं सात्म्य भोजन का सेवन या मधुर, शीत और तरल आहार का सेवन कराना चाहिए। अष्टांगसग्रहकार ने लिखा है कि प्रारम्भ की बारह रातों तक शालिपर्णी और पलाश से शृत दूध से उत्पन्न घी का सेवन करे और अनुमान में स्वर्ण और चाँदी की उपस्थिति में खौलाए हुए जल को ठण्डा करके पीना चाहिए। पाँचवें मास तक गर्भवती को दोषोत्पादक आहार-विहार का विशेषतः त्याग कर देना चाहिए।

२. **द्वितीय मास में**—मधुरौषधियों से सिद्ध क्षीर का सेवन गर्भवती करे। इसमें मधुर-शीत और द्रवप्राय अन्न का ध्यान रखना चाहिए।

३. **तृतीय मास में**—मधु और घृत मिलाकर क्षीर का सेवन करना चाहिए। मधुर-शीत द्रवप्राय आहार तथा दूध के साथ साठी चावल का भात देना चाहिए।

चतुर्थ मास में—दूध और मक्खन का सेवन, जांगल मांस का प्रयोग और हृद्य अन्न देना चाहिए। कुछ लोगों के मत से दही और साठी का भात

पथ्य है।

पंचम मास में—दूध और घी दूध और घृत मिश्रित खाद्य साठी का भात और दूध देना चाहिए।

षष्टम मास में—मधुर औषधियों से सिद्ध और घृत का गोक्षुर से सिद्ध घृत का मात्रा के अनुसार पिलाना या यवागू का खिलाना या घी के साथ साठी का भात खिलाना चाहिए।

सप्तम मास में—छटवें महीने के अनुसार ही वरतना चाहिए। पृथक् पर्णी से सिद्ध घी का प्रयोग करे।

अष्टम मास में—गर्भवती को दूध में बनाये यवागू का घी मिलाकर सेवन करना चाहिए। भद्रकाव्य ने इस पथ्य को दोषपूर्ण बताया है उनके विचार इसमें पैंगल्थ (आँखों की जन्मजात ईषतपीतता) दोष की सम्भावना गर्भ में होने की रहती है। परन्तु इसका विरोध करते हुए आचार्य चरक ने इस पथ्य की प्रशंसा की है और वतलाया है कि इससे गर्भ को कोई हानि नहीं होती, प्रत्युत गर्भ निरोग रह कर वल, वर्ण, स्वर, संहनन आदि से युक्त होकर श्रेष्ठ सन्तान के रूप में पैदा होता है। इस मास में स्निग्ध यवागू और मांस का प्रयोग भी करने को लिखा है। अस्थापन में वेर (वदर) के कषाय में वला अतिवला, शतपुष्पा, मांस, दूध, दही, मस्तु, तेल, नमक, मैनफल, मधु और घृत संयुक्त करके देना चाहिए। इससे पुराने मल की शुद्धि और वायु का अनुशासन हो जाता है। पुनः मधुर द्रव्यों से सिद्ध कषाय में दूध मिला कर अनुवासन देना चाहिए। वायु के अनुलोमन के वाद गर्भवती निरुपद्रव हो जाती है और उसका प्रसव सुखपूर्वक होता है। गर्भिणी में स्थापन या अनुवासन, झुके हुए शरीर में करना चाहिए इससे इसका पुरीष मार्ग चौड़ा हो जाता है और औषधि सम्यक रूप से प्रविष्ट हो सकती है।

नवम मास में—गर्भवती में गर्भिणी का अनुवासन मधुरौषधों से सिद्ध तेल के द्वारा करना चाहिए। उसकी योनि में तेल का पिचु रखना चाहिये इस क्रिया के द्वारा गर्भ का स्थान और मार्ग स्नेहयुक्त हो जाता है।

नवम मास में भोजन में मांस और चावल का भात देना चाहिए। यदि यवागू देना हो तो वहुत स्निग्ध करके देना चाहिए। वातघ्न औषधियों से संस्कारित शीतल जल से स्नान करना चाहिये।

प्रश्न—गर्भ का पोषण किस प्रकार होता है तथा भ्रूण के रक्त परि-भ्रमण का क्या विधान है ?

उत्तर—गर्भ की वृद्धि माता के आहार रस तथा वायु की धमन क्रिया द्वारा होती है। गर्भकाल में माता को आहार रस के प्रति विशेषाकांक्षा रहती है जिसको "दौहृद" कहते हैं।

यह गर्भ की वृद्धि का आहार रस से किस प्रकार होती है इस पर अनेक मत हैं यथा—

१. क्षीरदधिन्याय=क्रमपरिणामपक्ष।

२. केदारकुल्यान्याय।

३. खले कपोतन्याय।

४. एक कालधातुपोषण पक्ष।

इसमें सुश्रुत सम्मत द्वितीय मत केदार कुल्यान्याय पद्धति से गर्भ शरीर का पोषण प्रायः सर्वसम्मत है।

खेत में सिंचाई के लिए जिस प्रकार नालियाँ बनाई जाती हैं और कुएँ से या अन्य जलाशय से जब पानी डाला जाता है तो प्रथम जल निकट की नाली में जाता है और क्रमशः दूर की नालियों में जाता है इसी प्रकार गर्भ में गर्भ काल से माता के शरीर से आहार रस द्वारा पोषकतत्व आते हैं और गर्भ के प्रत्येक भाग में नालियों के सदृश प्रत्येक स्रोतस में पहुंचकर सम्पूर्ण गर्भ की अभिवृद्धि व पोषण करते हैं।

गर्भ का पोषण आहार रस से होता है परन्तु इसकी वृद्धि में मारुता ध्यान या वायु की धमन क्रिया भी बड़ी महत्वपूर्ण है। यह धमन क्रिया, १. आंकुचन, २. प्रसारण इन दो क्रिया का परिणाम होती है।

गर्भनाल से संसक्त रहता है। अपरा में माता के शरीर से रस व रजः प्रवर्तक स्रोतसों के अवरुद्ध होने से इस आर्तव द्वारा भी गर्भ की समृद्धि होती है तथा दूध का निर्माण होता है। गर्भ नाल द्वारा गर्भ-पोषण प्रचुर मात्रा में होता है।

नाभि नाड़ी अपरा से संसक्त होती है अपरा गर्भाशय से धमनियों द्वारा गर्भ का सम्बन्ध हृदय से रहता है।

सुश्रुत संहिता में इस विषय में निम्न प्रकार वर्णन मिलता है "माता की रसवाहा नाड़ी में गर्भ की नाभि नाड़ी बँधी होती है। यह गर्भ नाभि नाड़ी

माता के आहार रस वीर्य को बालक में पहुंचाती है। इस नाड़ी द्वारा उपस्नेहन पोषण मिलने के कारण गर्भ बढ़ता है। योनि में शुक्रसिंचनरूपी गर्भाधान क्रिया से प्रारम्भ करके जब तक सम्पूर्ण अंग प्रत्यंगों का विभाग पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक शरीर के सम्पूर्ण अवयवों में तिर्यग रूप में व्याप्त रसवाह धमनियों द्वारा ही उपस्नेहन होने से गर्भ जीवित रहता है।[1]"

भ्रूण का रक्तपरिभ्रमण—गर्भ के विकास के साथ भ्रूण की ओषजन (प्राणवायु) आवश्यकता में भी वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप प्रकृति कुछ ऐसा उपाय करती है कि न्यूनतम ओषजन द्वारा कार्य सुचारु रूप से चलता रहे और भ्रूण के अन्य अवयवों की अपेक्षा जीवनावश्यक अंगों (जैसे केन्द्रीय नाड़ी संस्थान) को अधिक ओषजन प्राप्त होता रहे। भ्रूण के रक्त परिभ्रमण संस्थान में दो संचार श्रोत होते हैं।

१. हृदय के दक्षिण तथा वाम आलिन्द (ग्राहक कोष्ठ) में मध्यस्थिति लम्बगोल विवर।

२. फुफ्फुसीय धमनी और महाधमनी के बीच अवस्थित दूसरा संचार श्रोत महाधमनी-युजा द्वारा संस्थपित द्विगुणित रक्त पटि भ्रमण द्वारा ऐसा सम्भव होता है। भ्रूण रक्त परिभ्रमण का अध्ययन हम लोग अपरा से प्रारम्भ करें जो कि दूषित रक्त को ग्रहण कर और शुद्ध तथा पोषक तत्वों युक्त रक्त देकर परिपोषण तथा मलोत्सर्जन क्रिया पूरी करता है अपरा से ओषजनयुक्त शुद्ध रक्त नाभि शिराओं द्वारा परवहित होता है जो नाभिनाल में आकर संयुक्त हो जाता है और वहाँ से यकृत में पहुंच कर उसके वाम खण्ड तथा चतुरश्र पिंडिका में कुछ शाखायें देती हैं। अनुपस्थ यकृतविवर के निकट इसका संयोजन प्रतिहारिणी महासिरा से होता है। यहाँ पर प्रतिहारिणी महासिरा से एक सिरा-शाखा निकल कर यकृत पृष्ठ से होती हुई वाम-यकृत-सिरा में इसके आधार महासिरा में मिलने के पूर्व जा मिलती है

---

१. मातुस्तु खलु रसवहयां नाड्यां गर्भनाभिनाड़ीप्रतिबद्धा, साऽस्य मातुराहार रसवीर्यमभिवहाति। तेनोपरस्नेहनास्याभिवृद्धिर्भवति। असंजाताङ्गप्रत्यंगप्रविभागमानिषेकात प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां तिर्यगगतानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति।

जिसे सिरा संयोजन कहते हैं। इस प्रकार वाम नाभि सिरा द्वारा प्रवाहित रक्त अधरा महासिरा में तीन स्रोतों द्वारा पहुंचता है।

१. सीधे प्रकृत और याकृत सिराओं द्वारा।

२. प्रतिहारिणी सिरा द्वारा और

३. सिरासंयोजक द्वारा

इसके अतिरिक्त अधरा महासिरा में मध्य शरीर और निम्नांगों से प्रवाहित होकर दूषित रक्त भी पहुंचता है, अतएव यहाँ शुद्ध और अशुद्ध दोनों रक्तों का मिश्रण हो जाता है। मिश्रित रक्त अब दक्षिण आलिन्द से होकर लम्बाभ्रेलविवर द्वारा वाम आलिन्द में पहुंचता, जहां फुफ्फुस से वाम आलिन्द से वाम विलय और वहाँ से महाधमनी के प्रथम खण्ड और ग्रैवी धमनियों द्वारा मुख्यतः ऊर्ध्वांगों (सिरा ग्रीवा, केन्द्रीयवात संस्थान आदि) में प्रवाहित हो जाता है, परिणामस्वरूप अवरोहिणी महाधमनी में इस रक्त की मात्रा अत्यल्प होती है।

ऊर्ध्वांगों में संचारित होने के पश्चात् ओपजहीन रक्त ऊर्ध्व महासिरा द्वारा दक्षिण आलिन्द में पहुंचता है जहाँ से त्रिपलकपारीय विवर और दक्षिण निलय से होकर फुफ्फुसामिल धमनी में पहुंचता है। यहां से महाधमनी सयोजक द्वारा यह (सिरीय) रक्त ग्रैवधमनी उद्गम-स्थल से दूरस्थ से महाधमनीतोरण में पहुंचता है जहां वाम विलय से प्रवाहित रक्त के साथ इसका मिश्रण होता है। यह मिश्रित रक्त जिसमें ओषजन की मात्रा अल्प होती है यवरोहिणी महाधमनी में प्रवाहित होता है जहां से अंशतः वस्तिगह्वर तथा उदरिक गह्वर के अवयवों तथा निम्नांगों में रक्त मिश्रण होता है किन्तु मुख्यतः यह रक्त नाभीय धमनी द्वारा पुनः अपरा में परिवहित हो जाता है।

प्रश्न—निम्नलिखित गर्भकालीन विषमताओं का वर्णन कीजिए।

१. गम्भीर अतिवान्ति

२. शुक्लिमेह

३. पूर्वगर्भाक्षेप

४. गर्भाक्षेप

उत्तर—१. गम्भीर अतिवान्ति यह व्याधि सगर्भा को सर्वप्रथम प्रकट होती है अतः इसका वर्णन भी सबसे पहले किया जाता है। गर्भ की स्थिति के बाद

सगर्भा को जो प्रातर्ग्लानि नामक लक्षण वही जव विषावत तत्त्वों की उपस्थिति से गम्भीर रूप धारण कर लेती हैं तभी वह गम्भीर अति-वान्ति के नाम से पुकारी जाती है। साधारण प्रातर्ग्लानि हो या गम्भीर अतिवान्ति दोनों का हेतु प्रायः एक ही रहता है । तरतम भेद अवश्य हुआ करता है ।

गम्भीर अतिवान्ति अर्थात् अन्तर्वत्नी या सगर्भा स्त्री के द्वारा होने वाली चरम वमन की अवस्था । तीसरे या चौथे महीने से वान्ति के लक्षणों का प्रारम्भ हुआ करता है। ये लक्षण कभी-कभी एकदम बढ़ जाते हैं और सहसा प्रकट होते हैं। और कभी-कभी शनैः-शनैः भी हो सकते हैं । कभी-कभी वान्ति आखिरी महीनों में भी शुरू हो सकती है। इस समय उत्पन्न हुई गम्भीर अतिवान्ति के साथ-साथ वृक्कमुखपाक तथा पूर्वगर्भाक्षेप भी देखे जा सकते हैं।

वान्ति की तीव्रता कहीं सीमा का अतिक्रमण करके दिन भर सैकड़ों वार सीमा के अन्दर भी रह सकती है । चिकित्सा करते-करते भी जो वान्ति उग्रतर होती जावे वह निस्सन्देह भयंकर स्वरूप मानी जाती है। अधिक बढ़ जाने पर रोगी न कुछ खा सकता है न पी सकता है । कभी तो अन्न का दर्शन अथवा विचार मात्र वान्ति का कारण वन जाता है । प्रथम प्रसवा अथवा वहुप्रसवा किसी में भी यह विकार मिल सकता है। कभी-कभी एक वार गर्भकाल में जिस स्त्री को अतिवान्ति का रोग होता है उसे आगे जव-जव सगर्भा होने का अवसर आता है अतिवान्ति का गम्भीर रूप तभी-तभी उसके सामने आ जाता है।

मृत्यूत्तर परीक्षा करने पर निम्न विकृतियाँ इस रोग में शरीर के अन्दर पाई गई हैं—

१. यकृत का स्नेहिक विह्रास तथा यकृत के खण्डों के केन्द्रीय भागों में अतिनाश का होना ।

२. वृक्कों की उत्फुल्ल नालिकाओं में स्नेहिक तथा अन्य परिवर्तन ।

३. हृत्पेशी का अपोपक्षय ।

उपरोक्त विकृतियों का मुख्य कारण वमन तथा अनशन का होना है। जब तक वमन चलता है उसी अनुपात में हृत्पेशी में अपोपक्षय मिलता है।

का कारण भी अपूर्ण होता है। जिसके कारण मूत्र में अम्लोत्कर्ष हो जाता है। इस प्रकार आहार की सतत अप्राप्ति भी विषमयता की स्थिति कर सकती है। विषमयता की वृद्धि और गम्भीरता में शरीर में जलाभाव और भी चार चांद लगा देता है। मूत्र थोड़ा, आक्षेपिक घनत्व अधिक, अम्ल का अधिक मात्रा में निकलना यूरिया के स्थान पर क्षारीय अमोनिया मूत्र द्वारा उत्कृष्ट होने लगता है। अधिकतर इससे आगे अधिक रोग नहीं जाता।

तीव्रस्वरूप का रोग उपरोक्त सौम्य रोग की उपेक्षा के कारण बना करता है। रोग अचानक आरम्भ हो जाता है। वैपिक अवस्था पहले से बढ़ जाती है। रुक्ष त्वचा, घुसी हुई पीली आँखें जिह्वा रूक्ष और खरस्पर्शी तथा श्वास दुर्गन्धपूर्ण तथा जिसमें से जहाँ कहीं से ऐसोटीन की गन्ध होती है। मूत्र में शिवति तथा पित्त दोनों मिल सकते हैं। नाड़ी की गति लगातार बढ़ती चली जाती है। कभी-कभी मृत्यु से १-२ दिन पूर्व वान्ति बच जाती है। अन्त में रोगी की मृत्यु होती है उससे पहले सन्यासावस्था हो जाती है। मरते समय कभी-कभी आक्षेप भी आ जाते हैं।

नवीन दृष्टिकोण से चिकित्सा करने वाले गम्भीर अतिवान्ति होने पर वातिक कारक को दूर रखने का प्रयत्न करते हुए कार्वोहैड्रेट्स तथा तरल द्रव्यों की प्रचुरता करते हुए विविध उपायों के निष्फल होते देखकर और अन्तर्वत्नी के जीवन को खतरे में पड़ा हुआ देखकर गर्भान्त करने तक के लिये तैयार हो जाते हैं।

मानसिक या वातिक कारक को दूर करने के लिये रुग्णा को कब्ज न होने पावे यानी इसका ध्यान करके सरल रेचक पदार्थ रात्रि में दे देते हैं। रुग्णा को खाट से उठने के पूर्व लेटे-लेटे ही सूखे विस्कुट या सकलपारे खिला देते हैं तथा थोड़ी चाय पिला देते हैं। यह सब खा-पीकर चुपचाप आध घंटा तक उसे पड़ा रहने देते हैं फिर धीरे-धीरे वह उठ सकती है। यदि इससे कोई लाभ न हो तो उसे दिन भर में १०-२० बार थोड़ा भोजन करने की सलाह देना चाहिये। भोजन में रोटी, टोस्ट, मुरब्बा, फल और शाक सब्जियाँ अधिक होनी चाहिये। मांस का अधिक प्रयोग न हो तथा घी, मक्खन आदि तो बिलकुल भी नहीं देना चाहिये। जल या फल रस खूब देना चाहिये।

यदि ऐसा सब करने पर भी वमन की कमी नहीं होती तो सबसे पहले उसे किसी अच्छे अस्पताल में पहुंचा देना चाहिये जहाँ उसे देखकर रोने चीखने

चिंता करने वाले और इस प्रकार उसका रोग बढ़ाने वालों की कमी हो। ऐसा करने से उसके मन में स्वस्थ होने की उमंगें बढ़ जाती हैं तथा मन पर से बोझ सा उतर जाता है तथा वह ठीक हो जाती है। जहाँ रोगी रहे आनन्द का साम्राज्य रहे और रोगी के लिये उत्साहवर्द्धक समाचार बराबर दिये जावें। इसी बीच में रोगी के मन में क्या बीत रही है वह गर्भावस्था के कारण व्यग्र या भयान्वित तो नहीं है इसका ज्ञान करने और कारण खोजने की कोशिश होनी चाहिये। रुग्णा को खूब नींद आ सके इसका विशेष रूप से ध्यान रखना पड़ेगा। इसके लिये रात्रि में सोते समय नमक के जल में ३० से ६ ग्रेन पोटाशियमब्रोमाईड घोलकर उसकी बास्ति गुद मार्ग में चढ़ा देने से नींद आ जाती है।

गम्भीर अतिवान्ति में मुख द्वारा पीने के पदार्थ न दे तो बहुत अच्छा। मुख को कुल्ला कराके शुद्ध रखना तो आवश्यक है पर इस मार्ग से कुछ देने का अर्थ वमन को पुनः न्यौता देना है। जब रोग अधिक तीव्र न हो तो १० प्रतिशत का ग्लूकोज का घोल १० औंस पहले गुद मार्ग को साधारण साबुन के पानी बस्ति चढ़ाकर शुद्ध करके देना चाहिये। पर अतितीव्र रोगियों में गुद मार्ग द्वारा ग्लूकोज से उतना लाभ नहीं होता ऐसी अवस्था में सिरा मार्ग द्वारा ग्लूकोज चढ़ाना पड़ता है। उसमें भी बूँद २ कर ग्लूकोज प्रवेश (ड्रियमैचड) लाभप्रद रहता है। यह क्रिया अस्पतालों में सम्भव है। साधारण चिकित्सक को तो इंट्रावेनसरूट से १-२ पाइण्ट ग्लूकोज सैलाइन चढ़ा देना चाहिये। यकृत की रक्षा करने के लिये सिरा द्वारा १० प्रतिशत का १० से २० C.C. तक कैल्शियम ग्लूकोनेट चढ़ा देना चाहिए।

मस्तिष्क के कोशा ठीक २ कार्य करें और प्रणालीहीन ग्रंथियों का स्राव यथोचित हो सके, तथा हृत्पेशी के कार्य में भी सुगमता हो सके इसके लिए प्रतिदिन एक सुई विटमीन B. (वेरीन) २ C.C. लगा देना चाहिये।

साधातण रुग्णों में यह सब २४-३६ घंटे रखना चाहिए और तीव्र रुग्णों में ४-५ दिन तक ग्लूकोज का सिरा द्वारा प्रयोग चलता रहना चाहिए। फिर मुख द्वारा आहार देने योग्य वातावरण हो जाने पर दूध सन्तरों का रस अनार चाय आदि का प्रयोग पहले सूखा बिस्कुट या सकलपारा खिला कर करना चाहिये मुख का उपयोग थोड़ा २ करना चाहिये। इस बीच में गुद मार्ग से

ग्लूकोज का चढ़ाना चालू रखना होगा। जैसे २ रुग्णा सहन करती जाय मुख द्वारा खिलाने की क्रिया बढ़ाते जाना चाहिये।

यदि उपरोक्त चिकित्सा निष्फल हो जावे और नाड़ी की गति बढ़ती चले तापांश भी बढ़ता चले और रक्त भार घट जावे, मूत्र से एल्बूमिन बराबर आता चले तथा रुग्णा पीली पड़ती चली जावे तो गर्भ का अन्त कर देना परमाश्यक है। गर्भान्त के पूर्व यदि दूसरे चिकित्सक को भी बुलाकर उसकी राय भी ली जावे तो न्यायवैद्यकष्टया कई प्रकार चिकित्सक की अपनी दिक्कतें बच जाती है। क्योंकि अति तीव्रावस्था में हृत्पेशी का विकास होने लगता है जिसे न रोकना प्राणघात कर्त्ता होता है अस्तु गर्भावस्था को खतम कर देना भी परमाश्यक हो जाता है।

रुग्ण की नैदानिक परीक्षा सावधानी के साथ और नित्य करते रहना चाहिये। वमन बन्द होने मात्र से ही रुग्णा की रक्षा नहीं हो जाया करती। मूत्र की परीक्षा, नाड़ीगति, तापांश, ब्लडप्रैशर यह सब रैकर्ड करना चाहिये वह कितना बाहर चला जाता है इसका भी लेख रखकर तब साध्यासाध्यता का ध्यान रखना चाहिये।

यदि वमन बन्द हो जावे मूत्र राशि बढ़ जावे तथा उसके आक्षेपिक घनत्व कम हो जावे तथा मूत्र में एल्बूमिन आदि प्रकट न हों या कम होते चले जावें नाड़ी में शक्ति बढ़ती जावे ब्लडप्रैशर नौर्मल पर आजावे तो तापांश सुधर जावे और पीलापन घट जावे तो समझना चाहिये कि रुग्ण काल के पाशों से मुक्त हो गई।

२. शुक्लिमेह—मूत्र में शुक्लि का सगर्भा में सदैव ही रोग नहीं है। साधारणतः गर्भिणी के मूत्र में पांच प्रतिशत तक शुक्लि पाई जा सकती है। गर्भ विषमयता में जो शुक्लिमेह होता है उसकी ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है। वैसे योनि स्राव में संक्रामण होने से या वृक्कपाक होने से या ब्लैडप्रैशर बढ़ाने वाले रोगों में या हृद्रोण में भिणी स्त्री का शुक्लिमेह मिल सकता है ऐसी अवस्था में इन रोगों का उपचार शुक्लिमेह शमन करता है।

स्त्री बीज, अपरा या स्फोटस्तरादि में बने हुए अन्तर्विष का सम्चार जब माता के वृक्क और यकृत में होता है या जब शरीर में अम्लोत्कर्ष के कारण उपस्थित हो जाते हैं तब शुक्लिमेह देखा जाता है।

अवटुका, परावटुका, अधिवृक्क पीयूष तथा बीज ग्रंथियों में अन्तः स्राव के कारण भी शुक्लिमेह हो सकता है। गर्भ के कारण अन्तर्वत्नी के भीतर भार की वृद्धि यकृत वृक्कादि पर पीडन डालती है जिससे भी शुक्लिमेह की सम्भावना बतलाई जाती है। कुछ महानुभाव गर्भ के द्वारा माता के शरीर से पोषक द्रव्यों के निरन्तर ग्रहण करने के कारण भी शुक्लिमेह होने की सूचना देते हैं।

गर्भावस्था की सभी विशेषताओं में विकृति की दृष्टि से यकृत का आयाम बढ़ जाता है। प्रावार (कैपसूल) के नीचे इतस्ततः रक्तस्राव के चिन्ह मिलते हैं। यकृत के उपखण्डों में पोर्टलवेन में स्थान २ पर घनास्र मिलता है यथायकृत कोषाग्रों का अपजनन भी। वृक्क आयाम बढ़ता है। प्रावर के नीचे रक्तस्रुति मिलती है। बाह्य का वर्ण पीला हो जाता है। प्लीहा में थोड़ी सी विकृति मिलती है। हृदय का विस्फार पेशी का पाण्डुवर्ण, अतिनाश, रक्तस्रुति, स्नेहिक विहास आदि हृद्विकार मृत्यूत्तर परीक्षण से प्राप्त होते हैं। मस्तिष्क में केशालों में घनास्र या रक्तस्रुतियां पाई जाती हैं मस्तिष्क छेद में रक्तस्राव देखा जा सकता है।

प्रथम गर्भाओं में जहां शुक्लिमेह मिलता है वहाँ यमज गर्भाओं का गर्भोदक बाहुल्य में वह और भी अधिक देखा जाता है। शुक्लिमेह का आक्रमण चुपचाप होता हुआ प्रतीत होता है। इसके निम्न लक्षण मुख्यतः देखने में आते हैं।

१. पैरों का सूजन।
२. गर्भिणी भार की असाधारण वृद्धि।
३. मूत्र में शुक्लि, रक्त, पूय कणमय, निर्मोकों की उपस्थिति।
४. ब्लडप्रैशर की वृद्धि।
५. सिर में वेदना।

यदि शुक्लिमेह की ओर संकुचित ध्यान नहीं दिया जा सकता तो इसके आने की पूर्ण गर्भाक्षेप की अवस्था आरम्भ हो जा सकती है।

शुक्लिमेह के कारण गर्भाक्षेप न होने पावे गर्भ का संरक्षण होता रहे, गर्भाशय में ही गर्भ न मर जावे, गर्भिणी के वृक्कों में हमेशा के लिये स्थायी विकृति न होने पावे इस दृष्टिकोण का ध्यान रखते हुए चिकित्सा की जाती है

यदि शुक्लिमेह १०-१२ दिन लगातार चले और गर्भिणी को जीवन मरण का संकट उपस्थित हो अथवा प्रसव के वाद भी वच्चे कीं प्राण रक्षा की सम्भावना न हो तो गर्भान्त कराना ही इस रोग में श्रेयस्कर माना जाता है।

पूर्ण विश्राम और निद्राकर द्रव्यों (ल्यूमीनल क्लोरलहैड्रेर आदि) का उपयोग कराना चाहिये। पेट साफ रहे इसके लिये कार्वोहैड्रेट (अन्न) प्रचुर परिमाण में दें। शोथ के व्यक्त होने पर जल को कम कर दे तथा लवण देना पूर्णतः रोक दे।

३. **पूर्वगर्भाक्षेप**—गर्भाक्षेप तथा पूर्वगर्भाक्षेप एक ही रोग के दो रूप हैं शुक्लि मेह भी इन्हीं का भाई वन्धु है। शुक्लिमेह से गम्भीर अवस्था पूर्वगर्भाक्षेप की है और गर्भाक्षेप से तीव्रतर अवस्था गर्भाक्षेप की होती है। इन तीनों के अतिरिक्त अनिवार्य रक्तनिपिड तथा जीर्ण वृक्कयाक की अवस्थायें भी हैं। जो सगर्भाओं में पाई जाया करती हैं। वैसे ये स्वतन्त्रतया होने वाली व्याधियाँ हैं जिनके विकृति दृष्टव्या स्पष्ट विक्षत होते हैं जब उपरोक्त तीनों रोग गर्भकालीन विप के कारण उत्पन्न विपमयता के रूप में प्रगट होते हैं।

पूर्वगर्भाक्षेप एक ऐसा रोग है जो चालीस पचास अन्तर्वत्नियों में से एक को अवश्य ही देखा जाता है। प्रथम प्रसवाओं में जितना यह देखा जाता है वहुप्रसवाओं में उनके दसवें भाग में भी नहीं मिलता यह विषमयता गर्भिणी को गर्भ धारण के छठे या सातवें मास में प्रगट होती है। उसके पूर्व पूर्वगर्भाक्षेप नहीं देखा जाता।

इस रोग के मृदु और तीव्र दो रूप हमारे सामने आये जिनका वर्णन नीचे दिया जा रहा है।

मृदुरूप—थोड़ी सी वेचैनी तथा कभी २ शिरःशूल पूर्वगर्भाक्षेप में ये दो लक्षण मृदुरूप होने पर पाये जाते हैं। पर कभी २ ये दो लक्षण भी गायव होते हैं तथा रोग का पता पूर्व प्रसवकालीन डाक्टरी परीक्षा पर ही होता है। धमनी निपिड (आर्टीरियलप्रैशर) का वढ़ना १००/९० तक, थोड़ा शुक्लिमेह और शुल्य प्रदेशों पर थोड़ा सा शोथ पाया जा सकता है। कभी २ शोथ विल्कुल नहीं मिलता पर यदि रुग्ण को समय २ पर तोला जावे तो इसका वजन साधारण गर्भिणियों की अपेक्षा वहुत अधिक वढ़ता जाता है। आठवें महीने में इसका रूप सामने आता है। प्रसव होने के वाद रक्तनिपिड, शुक्लिमेह

तथा शोथ सब स्वतः तिरोहित हो जाते हैं। पर आगे दुबारा गर्भावस्था आने पर इन लक्षणों का पुनर्जन्म हुए विना नहीं रहा करता।

ऐसी अवस्था में रोगी को पूर्ण विश्राम देना चाहिए। प्रचुर जीवनीय द्रव्यों के तथा खनिज द्रव्यों के योग से बनी हलकी खुराक खाने के लिए देनी चाहिए, तरलों का नियमन तब तक करना चाहिए जब तक कि शोथ नष्ट न हो जावे। बिना भेदक पदार्थ दिए हुए आँतों की क्रिया ठीक हो इसका ध्यान देना परमावश्यक हुआ करता है। मृदुरोग के लक्षण दूर होने पर भी गर्भावस्था तथा प्रसूतिकाल में रोगी की ओर चिकित्सक को पूर्णतया सतर्क रहना चाहिए।

तीव्ररूप—बेचैनी, थकान, सन्यास ललाट या अनुशीर्ष में तीव्रशूल, दृष्टि-दोष (दृष्टिमाद्य से लेकर अन्धता तक), चक्कर वमन या अधिक गम्भीर रूप होने पर उदर में तीव्र शूलोत्पत्ति भी देखी जाती है। शोथ, रक्त निपीडविक्य (२००/१४० तक) तथा मूत्र में परिवर्तन इस रोग में विशेपतया मिलते हैं। ब्लडप्रैशर बढ़ना यह पूर्वगर्भाक्षेपक का प्रथम और मुख्य लक्षण है। एकदम शरीर भार की वृद्धि होना यह दूसरा महत्त्व का लक्षण है जो शरीर में गुप्त रूप में प्रकट शोथ की ओर ध्यानाकृष्ट करती है।

पूर्व गर्भाक्षेप से पीड़ित व्यक्ति के मूत्र की परीक्षा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मृदु रूप रोगी में थोड़ी शुक्लि, काचर तथा कणमय निर्मोक की उपस्थिति पाई जाती है। रोग बढ़ने पर मूत्र की राशि घट जाती है। शुक्लि वृद्धि इतनी अधिक होती है कि यदि मूत्र को उबाला जावे तो वह ठोस हो जाता है। उसमें निर्मोक (कास्ट्स) तथा रक्त के लालकण भी पाये जाते हैं। शोथ भी इस रोग की एक घटना है। शोथ होने से रुग्णा के शरीर का विप इस शोथ जल में घुलकर उतना तीव्र नहीं रहता है, इस प्रकार शोथ शरीर के लिए अधिक रक्षात्मक हो जाने का सहज ही कारण बन जाता है। शोथ आरम्भ में तो गुल्फ और पाद प्रवेश में ही होता है। बाद में यह हाथ, पैर, उदर, प्राचीर, बृहद् भग्येष्ठ आदि में खूब फैल जाता है। १४०/९० से २००/१४० तक ब्लड-प्रैशर बढ़ जाता है।

जब रोग और आगे बढ़ जाता है तब दृष्टि के दोष सामने आते हैं। पहले रोगी को आँखों के आगे धब्बे से दीखते हैं फिर प्रकाश की चिनगारियाँ दीखती

हैं उसके बाद रोगी की दृष्टि मन्द पड़ जाती है जो आगे चलकर बिल्कुल अंधता में परिणत हो जाती है। दृष्टिपटल (रैटीना) में शोथ होने के कारण ही ये सब दृष्टिदोष प्रकट होते हैं। दृष्टिपटल में रक्तस्राव और कपासी धब्बे भी देखे जाते हैं।

अधिक तीव्रता होने पर गर्भ पर भी प्रभाव पड़ जाता है। जन्म होने पर यह या तो पूर्ण समय से पूर्व निकलता है या बहुत दुर्बल और अल्पायुष्य होता है। बहुधा तो यह गर्भाशय में ही मर जाता है। तथा गर्भपात हो जाता है जिसके पश्चात् ऊपर वर्णित सभी लक्षण शान्त हो जाते हैं। अपरा में बहुत ऋणास्त्र प्रकट हो जाते हैं।

इस रोग की साध्यासाध्यता चिकित्सा के द्वारा रोग पर होने वाले असर पर निर्भर करती है। मूत्र में शुक्लि की बहुलता तथा यूरिया की कमी एक अशुभ लक्षण है। लगातार ब्लडप्रैशर का बढ़ना भी एक बुरा लक्षण है। उदर में शूल तथा वमन होते हैं जिसके तुरन्त बाद अगले रोग के आक्षेप शुरू हो जाते हैं। यदि थोड़े दिन की चिकित्सा से रोग के लक्षण शांत हो जाते हैं तो रोगी के जीने की आशा हो जाती है। ऐसे रोगी का समय-समय पर परीक्षण होना परमावश्यक है। यदि दस दिन में रोग के लक्षण शान्त नहीं होते हैं तो गर्भ को समाप्त करने के लिए तैयार हो जाना चाहिये क्योंकि जितने अधिक दिन तक यह रोग चलता है उतने दिन में हृत्पेशी में स्थायी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यह देखा गया है कि एक बार पूर्णगर्भाक्षेपक हो जाने के बाद लगभग ५० अन्तर्पत्नियों में यह रोग पुनः गर्भ धारण के समय प्रकट हो जाता है।

कितने प्रतिशत पूर्वगर्भाक्षेप पीड़ित स्त्रियों में वह गर्भाक्षेपक में बदल जाता है यह नहीं कहा जा सकता। चिकित्सक को इस रोग में माता की रक्षा का विशेष ध्यान देना चाहिए अतः यदि गर्भान्त परमावश्यक हो तो करना ही चाहिये।

पूर्वगर्भाक्षेपक के कारण माता के गर्भाक्षेपक हो सकता है। स्थायी रूप में से हृत्पेशी और वृक्क को हानि पहुंच जाती है। गर्भावस्था में भी रक्तस्राव का होना पाया जा सकता है। आगे होने वाले गर्भों में पुनः गर्भाक्षेपक का आक्रमण हो जाता है। आगे के गर्भों में गर्भपात या आकस्मिक रक्तस्राव होता हुआ

देखा जा सकता है। बच्चे की दृष्टि से गर्भाशय के अन्दर ही वह मर सकता है। गर्भस्राव या गर्भपात का कारण हो सकता है। विषमता के कारण गर्भाशय में भी वह मर सकती है।

चिकित्सा इसमें प्रतिषेधात्मक अधिक लाभ करती है। रुग्णा के मूत्र की परीक्षा हर तीस दिन बाद आरम्भ के ६ मास तक होनी ही चाहिए। बाद में १५वें दिन होनी आवश्यक है। पूर्ण विश्राम, सौम्य विरेचन, द्रव्य, नियमित उपहार, जीवनीय द्रव्यों का प्राचुर्य तथा आहार से लवण का परित्याग करना आवश्यक है। अधिक शोथ होने पर तीव्र भेदक का उपयोग कर सकते हैं।

रोग अधिक गम्भीर होने पर गर्भ का अन्त कराना ही पड़ेगा। गर्भान्त कराने के लिए गर्भ कला को विदीर्ण करना चाहिए। या फिर उदर विपाटन ही करा देना चाहिये।

४. गर्भाक्षेपक—गर्भावस्था में प्रसवकाल में अथवा प्रसवोत्तरकाल में होने वाली यह व्याधि जिसमें आक्षेप और सन्यास के लक्षण प्रबल रूप में मिलते हैं और जिसके साथ-साथ ब्लडप्रैशर की वृद्धि, शुक्लमेह और शोथ खूब पाया जाता है। 'गर्भाक्षेपक' के नाम से इस जगत में विख्यात है। यह महा भयानक व्याधि है।

तीन विभिन्न काल में उत्पन्न होने के कारण इसके तीन ही नाम हैं—

१. पूर्वप्रसवगर्भाक्षेपक

२. प्रसवकालीगर्भाक्षेपक

३. प्रसवोत्तर गर्भाक्षेपक

प्रथमप्रसवता—८० % प्रथम प्रसवाओं में यह रोग होने के कारण विद्वानों का मत है कि पहली बार गर्भभार बढ़ने के कारण यह रोग होता है। क्योंकि अन्तःभार वृद्धि अधिक गर्भोदक या बहुगर्भ वाली स्त्रियों में भी होने के कारण वहाँ भी यह रोग पाया जाता है इसलिए शरीर के भीतर भार वृद्धि को वे इतनी कड़ी हो जाती है कि शस्त्र कर्म की भी आवश्यकता पड़ जाती है।

प्रसवोत्तर गर्भाक्षेपक प्रसव समाप्त होने के पश्चात् कुछ ही घण्टों बाद आरम्भ हो जाता है। कभी-कभी ७ से ५ दिन के पश्चात् भी दौरे शुरू होते

हैं। इसमें दौरे बहुत पड़ते हैं और रुग्णा की दशा अधिक गम्भीर हो जाया करती है।

चिकित्सा—प्रतिषेधात्मक और रोग नाशक दोनों प्रकार की चिकित्सा इस रोग में की जा सकती है। यह पूर्व ही निवेदन किया जा चुका है कि शुक्लिमेह पूर्व गर्भाक्षेपक, गर्भाक्षेपक यह एक श्रृंखला बनी हुई है। गर्भाक्षेपक के पहले पूर्व गर्भाक्षेपक की अवस्था होती है तथा उससे पूर्व शुक्लिमेह की। अतः यदि ध्यानपूर्वक गर्भावस्था आरम्भ होने के बाद मूत्र की परीक्षा करके उसमें शुक्लि की उपस्थिति का ध्यान कर लिया जाये तो गर्भाक्ष तक बनने की नौबत ही नहीं आवेगी। यदि पूर्व गर्भाक्षेपक आरम्भ हो गया हो तो उसे तुरन्त चैक करने की आवश्यकता होती है।

रोगनाशक मुख्य चिकित्सा

मुख्य चिकित्सा के दो विचार हैं—

१. **सर्वनाम चिकित्सा**—चिकित्सा के सिद्धांत

१. उत्तेजनाओं से मर्मों की रक्षा

२. हृदगति बन्द न हो इसकी सतर्कता।

३. श्वसनगति बन्द न हो उसकी सावधानी।

४. पूर्णधात्रीय उपचार की व्यवस्था।

५. हृदय मत्रल उपचार।

२. **प्रसूतिक चिकित्सा**—यह सर्वमान्य चिकित्सा के पूर्व, बीच में या पश्चात् कभी भी आरम्भ की जा सकती है। यह रुग्णा की प्रकृति और रोग की अवस्था पर निर्भर करती है। इस विषय में भी दो मत लागू होते हैं। एक जो सर्वमान्य चिकित्सा को पसन्द करते हैं तथा थोड़ी सी प्रसूतिक चिकित्सा को भी मानते हैं। दूसरे जो प्रसूतिक चिकित्सा अर्थात् गर्भ को गर्भाशय से तुरन्त निकाल बाहर कर देने को ही नितांत आवश्यक समझते हैं। यह रोग का मूल कारण गर्भावस्था है अतः दूसरा मत रखने वाले व्यक्तियों द्वारा जो मार्ग अपनाया जा सकता है इसका कारण प्रथम प्रसवाओं में मानते हैं। जिन स्त्रियों में गर्भोदक वृद्धि या कई बच्चे गर्भ में होते हैं उन्हें यह रोग भी बहुधा देखा जाता है।

अवटुका सत्वाभाव—सगर्भाओं में जब अवटुका (थायसाइड) का सत्व

कम बनकर उनकी अवटुका ग्रन्थि की वृद्धि होने लगती है तब भी यह रोग देखा जाता है।

मलावरोध—गर्भक्षेपक को उत्पन्न करने में मलावरोध एक मुख्य कारण माना गया है क्योंकि यह अन्तर्विषोत्पत्ति को बढ़ाने में सदैव प्रेरक हुआ करता है।

यह भी देखा गया है कि यह रोग सबल मोटी स्त्रियों में जितना होता है उतना दुर्बल पतली स्त्रियों में नहीं होता।

आक्षेप या दौरा—थोड़ी देर बेचैनी होकर दौरा आरम्भ होता है इसमें आंखों के गोलक तिरछे पड़ जाते तथा घूम जाते हैं हाथ पैर मुख का खिचाव होता है। इसके बाद निरन्तर संकोच की अवस्था आती है पेशी संकोच के कारण रुग्ण का शरीर कड़ा हो जाता है। छाती की पेशियों और महा-प्राचीरा पेशी के संकोच के कारण चेहरा का वर्ण काला या श्याम हो जाता है आँखें एक ओर घूम जाती हैं। श्वास एकदक रुक सी जाती है और शरीर अकड़कर धनुषाकार हो जाता है यह अवस्था थोड़ी देर ($\frac{1}{2}$ मिनट) रहती है। दांतों के बीच में जीभ पड़ जाने से कट जाती है और उससे खून निकलने लगता है।

उसके बाद सान्तर संकोच की अवस्था आती है। इस अवस्था में पेशियाँ विशिथिल होकर पुनः-पुनः संकोच करती हैं। मुख पर खिचाव फिर पड़ने लगता है। हाथ और पैरों में जोर के झटके पड़ने लगते हैं, रोगी जीभ को काट लेती है। मुख से झाग आते हैं चेहरा पुनः काला पड़ जाता है और बहुत अधिक घूम जाता है। आकृति भयानक हो जाती है। श्वास बहुत तेज घर्घर युक्त हो जाती है। यह अवस्था आधी से आधी मिनट तक रहती है।

उसके बाद सन्यासावस्था आती है इसमें रोगी बेहोश हो सकता है जो कई घंटों तक चलती रहती है। कभी-कभी यह अवस्था थोड़ी देर रहती है और पुनः दौरा पड़ जाता है। कभी-कभी दौरे इतनी जल्दी-जल्दी पड़ते हैं कि सन्यासावस्था या पूर्णतः बोध भी नहीं हो पाता है। मृदु रोग होने पर काफी देर बाद दौरे पड़ते हैं और उनके बीच में रोगी को होश आ जाता है एक से लेकर १०० तक दौरे पड़ सकते हैं। वाह्य उत्तेजनाएं इन दौरों को पैदा करने में विशेष काम लेती हैं। ये वेदनाएं कभी-कभी तो बढ़कर तीव्र रूप भी धारण कर लेती हैं।

यदि दौरे बराबर पड़ते रहें तो नाड़ी की गति बढ़ जाती है। नाड़ी क्षुद तथा उच्च निपीड से युक्त होती हैं। उत्ताप-नियंत्रक केन्द्र के कार्य में बाधा पड़ने से तापांश भी बढ़ जाता है। कभी-कभी तापांश एकदम ऊँचा हो जाता है। जब आराम आने लगता है तो नाड़ी की गति और तापांश घटने लगते हैं पर यदि रोगी को लाभ होना आरम्भ न हुआ तो हृदय अपने कार्य में फेल होने लगता है इसके कारण फुफ्फुसों में शोथ होने लगता है। जीभ के घुटने से हुआ रक्तस्राव या मुख की लार श्वसन संस्थान में जाकर श्वसनक कर सकती है। टूटा हुआ दांत श्वसन मार्ग में बाधा डालकर मृत्यु तक कर सकता है।

पूर्वप्रसवकालीन गर्भाक्षेपक में इन दोनों दौरों के कारण प्रसव वेदनाएँ प्रारम्भ हो सकती हैं जिसके कारण मृत शिशु का जन्म होता है। कभी-कभी जब शिशु जिन्दा उत्पन्न भी हो सकता है तो आगे चलकर उसको भी ऐसे ही दौरे पड़ते हुए देखे जाते हैं। मृत्यु के बाद गर्भाक्षेपक के लक्षण शिशु के शरीर में देखे जाते हैं। कभी आरम्भिक दौरों में बच्चे की गर्भ में ही मृत्यु हो जाती है और दौरों के कई दिन बाद भी बच्चा मृत रूप में बाहर निकल जाता है। प्रसव के बाद ये दौरे बन्द हो जाते हैं।

प्रसवकालीन गर्भाक्षेपक के कारण आवियां बहुत तेजी से आरम्भ होती है और प्रसवकाल तुरन्त समाप्त हो जाता है थोड़े दौरे पड़ते हैं। पर कभी-कभी प्रसवकालीन या प्रसव पूर्व अवस्था में गर्भाशय ग्रीवा यह सिद्धांत उचित है। जहां तुरन्त उदर-विपाटन क्रिया प्रथम आवेग के साथ ही कर लेना सम्भव है वहां यह चिकित्सा सफल हो जाती है।

प्रश्न—कृत्रिम गर्भ अन्त कराने की किन किन अवस्थाओं में आवश्यकता होती है। कृत्रिम गर्भान्तक साधनों पर प्रकाश डालिए ?

उत्तर—निम्न अवस्थाओं में कृत्रिम गर्भान्त अपेक्षित हैं—

प्रासूतिक—

१. संकुचित श्रोणि होने पर।

२. गर्भ का आकार अत्यधिक प्रवृद्ध होने पर।

३. पूर्व प्रसवों में गर्भ जब गर्भाशय के अन्दर बराबर मर जाता हो।

४. पहली गर्भावस्था में बहुत काल तक गर्भ का गर्भाशय में रहना और फिर मृत रूप में प्रकट होना।

५. पूर्व प्रसवकालीन रक्त स्राव होने पर भी कभी-कभी इसकी आवश्यकता पड़ जाती है।

६. गर्भोदक की अतिशय वृद्धि होने पर।

चिकित्सा-सम्बन्धी—

१. माता के वे रोग जो उत्तरोत्तर गंभीरावस्था उत्पन्न करें।

२. शुक्लिमेह।

३. गंभीर अतिवान्ति।

४. पूर्व गर्भाक्षेपक।

५. गर्भाक्षेपक।

६. ताण्डव ज्वर (कोरिया)

७. हृद्रोग।

८. सितरक्तता (ल्यूकीमिया)

९. वृक्कमुखपाक में कभी-कभी आवश्यकता पड़ सकती है।

१०. यक्ष्मा (थाइसिस) में भी कभी-कभी आवश्यकता पड़ सकती है।

११. उन्माद।

११. घातक रक्तक्षय।

कृत्रिम गर्भान्त करना है कि नहीं इस ओर बहुत सावधानी से निर्णय करना चाहिए। अकेले ऐसा निर्णय कर लेना न्याय-वैद्यक दृष्टव्या कभी-कभी बहुत बड़े संकट का स्वयं वैद्य को भी कारण होने से इसे योग्य चिकित्सक की सलाह लेकर ही वैसा करने को उद्यत होना चाहिए। जो लोभी लालची चिकित्सा व्यवसायी अकारण प्रवृत्त होते हैं उन्हें निश्चित रूप से फल भोगना पड़ता है।

१. औषध प्रयोग से

२. जरायुवेधन

३. शलाका प्रयोग

४. विस्फारकहृति का प्रयोग

औषधि प्रयोग—गर्भ पूर्णकाल को प्राप्त हो अवस्था गंभीर न हो और अति शीघ्रता से प्रसव भी आवश्यकता का अनुभव न करता हो तब औषधोपयोग करना चाहिए क्योंकि औषधों से गर्भान्त सर्वदा अनिवार्यतः हो ही जावे

ऐसा कभी विश्वास नहीं करना चाहिये कभी-कभी तो उससे बहुत हानि भी उठानी पड़ सकती है।

जिनका गर्भकाल लगभग पूर्ण हो चुका हो और प्रसव में अकारण विलंब हो रहा हो तो वहां थोड़ी क्विनीन घोलकर ३-४ बार प्रतिदिन देनी चाहिये। और बाद में १ आउन्स कास्टरौल मिला देना चाहिए। इस पर भी प्रसव न हो तो पूर्णतः शुद्ध की हुई अंगुली योनि में डालकर गर्भाशय ग्रीवातक में होकर गर्भकला विदीर्ण कराके प्रसव करा देना चाहिये। अंगुली न डालकर वक्र धातवीर्य मूत्र नलिका (कव्र्डमेरल केथैटर) या ज्यूस्मिथ की शलाका प्रवेश करके जरायु विदीर्ण करके प्रसव कराना चाहिए।

श्री द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक प्रसूति विज्ञान में जो चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय बनारस से प्रकाशित हुई उसमें प्रसव सुगमता कराने की दृष्टि से जो चिकित्सा का क्रम बांधा है वह इस प्रकार है—

७ बजे सवेरे—५ ग्रेन क्विनीन (घोल बनाकर)
७ " " —१ औंस कास्टरौल।
८ " " —५ ग्रेन क्विनीन।
९ " " —५ ग्रेन क्विनीन।
९॥ बजे सुवह—साबुन और जल का ऐनीमा।
१० " " —गर्म पानी से स्नान।

१२ " दोपहर—½ सीसी पश्चपोपविका सत्व प्रति घण्टे पर देते चलें जब तक प्रसव वेदना आरम्भ न हो जावे। अधिक से अधिक ६ इन्जेक्शन पर्याप्त होंगे।

क्विनीन का अति मात्रा में प्रयोग सिर में शूल, कान में सनसनाहट तथा हृदय में धड़कन बढ़ा देता है, अस्तु यदि वे लक्षण प्रकट होने लगे तो उसका प्रयोग रोक दें।

जरायुवेधन—इस बीच में अंगुली द्वारा या कैथेटर द्वारा जरायु का वेध करके गर्भोदक स्राव कराकर प्रसव करा देते हैं। वेधन अनुभवी दाई को लेडी डाक्टर की सम्मति से कराना चाहिये या स्वयं चिकित्सा इसे करती है।

शलाका का इनि प्रयोग—गम-इलास्टिक बुगी के द्वारा उन्हें गर्भाशय प्राचीर और जरायु के बीच में प्रवेश कर गर्भान्त कराने की विधियाँ चलती थीं जो आजकल प्रयोग बहुत कम आती हैं।

यन्त्र प्रयोग—कभी २ पहले गर्व ग्रीवा को पूर्वोक्त विधान से विस्फारित कर लें फिर एक वीच सन्देश का विधिवत् प्रयोग करके उससे गर्भ वीज को पकड़ कर निकाल देते हैं। यह कार्य पर्याप्त मन्थर गति से किया जाता है। फिर अंगुलियों से अवशिष्ट जरायु और अपरा का निर्हरण पूर्ण विशोधन पूर्वक करलें। यह यन्त्र विधि ३ मास के पूर्व के गर्भ में लाभप्रद होती है।

जहाँ और कोई उपाय काम न दे और माता का जीवन सकट मे हो गर्भ और गर्भाशय दोनों का उच्छेद वीज ग्रंथियों को छोड़कर प्रसूति-शास्त्री किया करते हैं।

प्रश्न—गर्भस्राव किसे कहते हैं, किन कारणों से उत्पन्न होता है, क्या लक्षण एवं चिन्ह हैं और चिकित्सा किस प्रकार की जा सकती है ?

उत्तर—गर्भ स्थापना के पश्चात् नवें मास अथवा उसके पश्चात् प्रसव का होना स्वभाविक प्रसव कहलाता है यदि वह पहले हो जाए तो विकार जानना चाहिये। इस तरह के विकारों की कई श्रेणियाँ होती है यथा—

(क) **गर्भस्राव अथवा गर्भपात**—कहते हैं। यह अवस्था तभी तक के प्रसव में कही जाती है जब तक गर्भ सात मास तक का हो।

(ख) **अपक्व प्रसव** - यह सात मास के बाद भी किन्तु पूर्ण प्रसव के पूर्व की अवस्था है।

प्राचीन ग्रंथ सुश्रुत संहिता में लिखा है कि यदि १६ सप्ताह (चार मास) तक के गर्भ का प्रसव हो जाए तो उसे गर्भस्राव कहते हैं और यदि उसके बाद में प्रसव हो किन्तु पूर्ण न हो तो गर्भपात कहते हैं।

वहाँ पर इस विषय में निम्न आशय व्यक्त किया गया है कि—'जिस प्रकार कृमि उपसर्ग से, वायु के तेज प्रवाह के कारण तथा आघात के लगने से वृक्ष में लगा फल अकाल में ही गिर जाए उसी प्रकार उपद्रव मुक्त होकर गर्भ भी अकाल में ही गिर जाता है।

आधुनिक प्रसूति विषयक ग्रथों में गर्भस्राव के कारणों को बहुत विस्तार से लिखा है। वहाँ उन कारणों को कई उपवर्गों में विभक्त किया है। वह निम्न प्रकार से हैं—

१. **पितृगत कारण**—पिता के शुक्र कीटों में विकृति हो।

२. **मातृगत कारण**—मातृगत कारणों में माता को जीर्ण रोगों का होना, रक्त भार की अधिकता, आहार में पोषण की कमी, अतः स्रावी ग्रंथियों के

विकार होने से तथा स्त्री के अंगों की स्थिति के विकारों के कारण अथवा जननांगों में अर्बुद आदि की उत्पत्ति के कारण।

३. स्त्री बीजगत—गर्भ के विकार के कारण, पोषक स्तर के प्राकृतिक विकास का न होना।

४. अभिघातज—बाह्य पदार्थों अथवा क्षोभक पदार्थों का जननांगों से सम्पर्क हो जाने से, क्षत अथवा आघात के कारण गर्भाशय को हानि पहुंचने से अथवा वेगों के अतिधारण करने से।

प्राय:कर इन सब कारणों से ही गर्भ स्राव हुआ करता है। इस अवस्था के लक्षण एवं चिन्ह निम्न प्रकार बताये गए हैं—

(१) रक्त स्राव—यह सबसे पहले आरम्भ होने वाला लक्षण है, यह उस समय तक रहता है जब तक गर्भाशय गत सम्पूर्ण पदार्थ बाहर न निकल जाए।

(२) वेदना—यह दर्द रुक-रुक कर होता है। यह पीछे कमर की तरफ से आरम्भ होती है और आगे की ओर को आती है। शुरू में वेदना अल्प रहती है किन्तु बाद में तीव्र हो जाती है।

(३) गर्भाशय मुख का विस्फार—जैसे २ वेदनाएँ होती हैं एवं रक्त स्राव होता है, उसी प्रकार गर्भाशय मुख फैलता जाता है। जब गर्भ का सारा भाग निकल चुकता है तो मुख अपने आप बन्द हो जाता है।

(४) गर्भाशयगत पदार्थ का बाहर को विकास—जब योनि द्वार पर कुछ उभार से दिखाई देवें तो समझना चाहिए कि इस समय गर्भाशयगत पदार्थ बाहर को निकलने लग गए हैं। इस अवस्था में किसी तरह भी रुकावट हो सकने की सम्भावना नहीं रहती।

गर्भावस्था है इस बात का निश्चय होने पर ऊपर लिखे लक्षणों एवं चिन्हों के आधार पर गर्भ स्राव का निश्चय सरलता से किया जा सकता है।

गर्भस्राव का वर्णन करते हुए आधुनिक प्रसूति तन्त्र के ग्रंथों में इसके कई प्रकार बताए हैं। उनमें प्रधान रूप से ३ प्रकार हैं—

१. परिहार्य—इसमें गर्भ स्राव के लक्षण हल्के रहते हैं। वेदना कम होती है और रक्त स्राव भी कम होता है, इस अवस्था में यदि उपचार किया जाए तो गर्भ रुक जाता और वृद्धि को प्राप्त होता रहता है।

२. अपरिहार्य—इस अवस्था में गर्भ को रोक पाना सम्भव नहीं होता। इसमें लक्षण तीव्र होते हैं। गर्भ और अपण गर्भाशय से अलग हो जाते हैं।

यह दो प्रकार होता है:—

(क) पूर्ण—जब सम्पूर्ण गर्भ, गर्भकला एवं जरायु के सहित निकल आता है। इस अवस्था में वेदना एवं रक्त स्राव बिल्कुल बन्द हो जाते हैं। यह प्राय: प्रथम ढाई मास की गर्भ की अवधि में होता है।

(ख) अपूर्ण—यह ढाई मास से सात मास तक की अवधि में होता है। इसमें गर्भधराकला एवं जरायु के कुछ अंश रह जाते हैं जिससे गर्भस्राव के पश्चात् भी रक्तस्राव होता रहता है, वेदना तो मिट जाती है।

३. रुद्ध गर्भस्राव—इसमें ऐसा होता है कि कुछ समय पूर्व लक्षण प्रकट होते हैं किन्तु विना कुछ निकले ही लक्षण शान्त होते हैं और फिर कुछ समय पश्चात् गर्भस्थ पदार्थ निकलता है जिसे देखने से पता लगता है कि गर्भ अन्दर ही मर चुका होगा।

इस प्रकार का वर्णन आधुनिक प्रसूति ग्रंथों में पाते हैं, वहाँ आयुर्वेद के ग्रंथों में ऐसी कई अवस्थाओं का का वर्णन मिलता है जो गर्भ के रोग कहलाते हैं। ऐसी विकृत अवस्थाएँ निम्न हैं—

(१) उपविष्टक (२) नागोदर (३) मक्कल (४) मूढगर्भ (५) विष-कुम्भ (६) मूढगर्भ (७) जरायुदोष (८) गर्भपात।

यह शार्ङ्गधर संहिता में वर्णन मिलता है। यह सब गर्भ के विकार समझने चाहिए। इन सब का वर्णन हमारे प्रश्न के बाहर की बात है।

अस्तु गर्भस्राव के भेदों को जान लेने के पश्चात् उसकी चिकित्सा का वर्णन करना शेष है।

चिकित्सा के विषय में यह जान लेना चाहिए कि गर्भस्राव किस कराण से हो रहा है, उस कारण के अनुसार ही उसे दूर करने का उपचार करना चाहिए। किन्तु इस रोग के कारण को जान पाना सरल नहीं होता, अतः इस अवस्था में गर्भस्राव निरोधक प्रतिषेधात्मक चिकित्सा करनी चाहिए। ऐसे सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं—

(१) गर्भवतीचर्या:—गर्भ स्राव का सन्देह मात्र होने पर भी गर्भवती को कह देना चाहिए कि वह परिश्रम-मैथुन आदि कर्मों को न करे। भोजन जिसमें जीवनीय 'ई' और कैल्शियम की मात्रा हो उसका प्रयोग करना चाहिए।

(२) परीक्षा—गर्भवती की परीक्षा करके देखना चाहिए कि गर्भपात परिहार्य है अथवा अपरिहार्य। यदि गर्भाशय ग्रीवा का मुख विकृत हो, रक्त-स्राव एवं वेदना आदि की अधिकता हो तो गर्भाशय को रिक्त करने की चिकित्सा करनी चाहिए। इसी प्रकार यदि न मालूम पड़े कि गर्भ मृत है तो भी उसे निकालने का प्रयास करना चाहिए।

(३) गर्भस्राव—से बचने के लिए क्षेत्र संजनन रस का नियमित प्रयोग लाभप्रद हो सकता है। इस अवस्था में इसका प्रयोग सप्ताह में ६ बार करना चाहिए और इसे १०-२० मि० ग्रा० की मात्रा में मांसान्तर्गत सूचिवेध द्वारा लगा सकते हैं। इस क्रम को बीस सप्ताह तक चलना चाहिए।

परिहार्य गर्भस्रावः—में स्त्री को पूर्ण आराम एवं बिस्तर में लेटना हित-कारक होता है। खाने में दूध, दलिया, चावल, जौ का यूप दे सकते हैं। लक्षण प्रकट होते ही प्रोजेस्ट्रोन २० मि० ग्रा० पैशी द्वारा देवें। और फिर अवस्थानुसार मात्रा में इसका प्रयोग चालू रखें जब तक कि लक्षण शान्त न हो जावें। इस अवस्था में संशामक उपचार भी कर सकते है अहिफेन एवं ब्रोमाइड का प्रयोग लाभ करता है।

(५) **अपरिहार्य गर्भस्राव**—हो तो उसे रोकने का प्रयास करना व्यर्थ है। वह पूर्ण हो तो किसी चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती किन्तु अपूर्ण हो तो गर्भाशय को रिक्त करने की आवश्यकता होती है। इसमें लेखन कर्म करना चाहिए। इसकी चिकित्सा में तीन बातों का ध्यान रखना चाहिए—(क) उपसर्ग से बचाव, (ख) अधिक रक्तस्रुति से बचाव (ग) गर्भाशय को पूर्णतः रिक्त कर के उसके संवरण को प्राप्त करना। इस अवस्था में जीवाणु रहितता का पूर्ण विचार रखना चाहिए। सल्फार और पैन्सलीन का प्रयोग किया जा सकता है। जिससे कि किसी प्रकार का उपसर्ग हो तो उससे बचा जा सके।

प्रश्न—वस्तिगह्वर और उनके विभिन्न मापों का वर्णन कीजिए ?

उत्तर—वस्तिगह्वर को आयुर्वेद में श्रोणि शब्द से भी वर्णित किया गया है। इसको सरलता की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया है—(क) स्थिर श्रोणि जो अस्थीम श्रोणि भी कहलाती है और (ख) सक्रिय श्रोणि भी कही जाती है।

(क) स्थिर श्रोणी:

इसके निर्माण में निम्न अस्थियाँ भाग लेती हैं:—

(१) त्रिकास्थि
(२) अनुत्रिकास्थि
(३) श्रोणीफलक-२

इन अस्थियों के मेल से स्थिर श्रोणी में चार सन्धियाँ बनती हैं:—

(१) दक्षिण त्रिकजघन सन्धि
(२) वाम " " "
(३) भगसन्धानिका
(४) त्रिकानुत्रिक सन्धि

इन सन्धियों के अतिरिक्त निम्न अवयव भी श्रोणि की रचना में भाग लेते हैं:—

(१) *त्रिकपिण्डीय स्नायु*
(२) त्रिक कराटकीय स्नायु
(३) गवाक्ष कला
(४) वक्षण स्नायु

प्रसूतितन्त्र वेत्ताओं ने श्रोणी के दो विभाग किए हैं:—

(१) कूट श्रोणी
(२) मुख्य श्रोणी

इनका विभाजन एक काल्पनिक तल से होता है। जिसे श्रोणिकंठ कहा जाता है। इस तल के ऊपर का भाग कूट श्रोणि कहलाता है और नीचे का भाग मुख्य श्रोणि। इन दोनों श्रोणियों के मध्य में श्रोणि द्वार होता है।

कूट श्रोणी के निम्न मापों की आवश्यकता होती है:—

(१) **अन्तश्रोणिकण्टकीय माप**—यह माप ९½ से १० इंच तक का होता है। यह अन्तर दो अग्रिम ऊर्ध्वश्रोणीकण्टकों के बीच का है।

(२) **अन्तश्रोणिस्थूलकीय माप**—यह १०½ इंच से ११ इंच होता है। यह श्रोणिफलक की ऊर्ध्वसीमा के बाह्य भाग की स्थूलिकाओं के मध्य का अधिकतम अनुदीर्घ माप है।

इन दोनों मापों में एक इंच का अन्तर रहता है। यह बात ध्यान रखनी

चाहिए कि इन मापों को जानने के लिए जिस यन्त्र का प्रयोग किया जाता है उस यन्त्र को श्रोणिमापक यन्त्र कहते हैं।

मुख्यश्रोणि को वर्णन करने की दृष्टि से तीन भागों में बाँट लिया जाता है—

(१) प्रवेश द्वार
(२) श्रोणिगुहा
(३) निगर्भ द्वार

प्रवेश द्वार—(श्रोणि अन्तर्मुख) की सीमा श्रोणि विभाजनी रेखा द्वारा बनता है। यह कुछ ताम्बुलाकार होता है। श्रोणिविभाजनी रेखाओं से सीमित प्रसूतिशास्त्र की दृष्टि से एक सपाट काल्पनिक धरातल मान लिया गया है, इसको प्रवेश द्वारीय धरातल कहा जाता है। इसके कई माप होते हैं—

(१) **पूर्वपश्चिम माप**—यह दो प्रकार का होता है:—

(क) **प्रासूतिक माप**—यह प्रसव के समय में प्राप्त होता है। यह ४$\frac{3}{4}$ से ४$\frac{1}{2}$ इंच का होता है।

(ख) **शारीर माप**—यह साधारण युवा स्त्री का माप है यह ४$\frac{1}{2}$ से ४$\frac{3}{4}$ इंच होता है।

पूर्व पश्चिम माप निकलने के लिए प्रायः जिकास्थि के पूर्वोन्नत भाग से भगस्थि सन्धि के ऊपरी भाग तक मापी जाती है।

(२) **तिर्यक माप**—यह भी दो प्रकार का होता है।

(क) वाम तिर्यक माप
(ख) दक्षिण तिर्यक माप

प्रत्येक की माप ४$\frac{1}{2}$ से ५ इंच होती है। इनको मापने के लिए त्रिकश्रोणि-सन्धि एवं श्रोणिभगस्थि स्थौल्य के बीच का अन्तर ग्रहण किया जाता है।

(३) **अनुप्रस्थ माप**—यह दो श्रोणि विभाजनी रेखाओं के मध्य का अधिकतम अन्तर है यह ५ से ५$\frac{1}{4}$ इंच होता है।

(i) **श्रोणीगुहा**—यह श्रोणी का वास्तविक प्रकोष्ठ है। यह देखने में गोल भाग होता है। इसके भी तीन माप होते हैं।

(क) **महत्तम श्रोणि**—इसका तल प्रायः गोल और विस्तृत होता है।

(१) पूर्व पश्चिम माप

(२) तिर्यक माप

(३) अनुप्रस्थ माप

इन तीनों में ही माप एक समान होता है वह ४$\frac{1}{2}$ से ५ इंच तक होता है।

(ख) **लघुत्तम श्रोणी**—यह गुहा के अल्पतम विस्तार वाला भाग है। यह ४ से ४$\frac{1}{2}$ तक होता है।

(ग) **श्रोणीय रुह सम्बन्धित**—यह माप प्रसूतिक माप से $\frac{1}{2}$ इंच या $\frac{3}{4}$ इंच ज्यादा होता है।

(ii) निर्गम द्वार के केवल दो ही माप लिये जा सकते हैं। तिर्यक माप लेना बहुत कठिन होता है। उनमें निम्न प्रकार वर्णन उपलब्ध होता है।

(१) **पूर्व पश्चिम माप**—प्रसव के समय ५ इंच मिलता है।

(२) **अनुप्रस्थ माप**—४ से ४$\frac{1}{2}$ इंच होता है।

यहाँ पर यह बात जान लेनी चाहिए कि श्रोरामक्ष किसे कहते हैं। यह श्रोणी का वह काल्पनिक पथ है जिस पर गर्भ शीर्ष का मध्य बिन्दु प्रसवकाल में चलता रहता है। किसी भी तल के मध्य विन्दु पर एक लम्ब डालें और सब लम्बों को जोड़ने से जो एक वक्र रेखा प्राप्त होती है, वही श्रोण्याक्ष कहलाती है।

प्रश्न—प्रगल्भ गर्भ के सिर का वर्णन कीजिये और उसके विभिन्न व्यास बताइये ?

उत्तर—प्रसूति विद्या में बच्चे का सिर अत्यन्त महत्ता रखता है, क्योंकि यह भाग शेप सब भागों से अधिक रुकावट डाला करता है और अपत्यपथ में फँस सकता है। बच्चे के जन्म लेने के पहले जितनी रीतियाँ या स्थितियाँ वर्णन की गई हैं उनमें 'दर्शन भाग' प्राय: सिर ही होता है। वास्तव में उसके उत्पन्न होने की रीति तो यही है कि उसका सिर माता की श्रोणि के द्वार के तुल्य हो। सिर के फंस जाने का कारण या तो यह होता है कि वह द्वार से कुछ बड़ा होता है अथवा भ्रूण का शरीर विकृत आसन में होता है।

भ्रूण की कपाल कुपेक्षया एक युवा की कापाल के अधिक अंडकार होती है और उसका सिर अपेक्षया युवा के सिर से अधिक गति कर सकता है। इसको पीछे और दबाकर कपाल पृष्ठ को पीठ के साथ लगाया जा सकता है। इसको पकड़ कर एक चौथाई चक्कर में घुमाया भी जा सकता है और यह

भी सुनने में आया है कि किसी-किसी बच्चे के सिर को आधा चक्कर दे देने से भी थूर्स नहीं पहुंची।

इसकी आकृति का बदल जाना प्रसव के लिये नितांत आवश्यक है। कभी कभी अस्थियों के किनारे एक दूसरे पर वढ़ जाते हैं ताकि यह द्वार में से सुगमतापूर्वक निकल सके। पाठकों को स्मरण रखना चाहिये कि बच्चे का मुख अपेक्षया उसके अपने सिर से छोटा है।

अस्थियां—दायें वायें दो पार्श्विकास्थियां (पार्श्व कपाल) आगे दो ललाटस्थियां (ललाट कपाल) पीछे की ओर पृष्पाष्थि या पश्चात अस्थि (पश्चात कपाल) या कपाल पृष्ठ पार्श्विकास्थियों के साथ संयुक्त होने वाली शंखास्थितियों और सब की सब अस्थियां कोमल मुलायम पर पूर्णतया विकसित हुई-हुई, नहीं होती। ये एक दूसरे से तनिक परे, परे होती हैं। इनका मध्यवर्ति अर्थात शून्य स्थान एक प्रकार की झिल्ली से भरा रहता है। इन स्थानों को सीमन्त कहा जाता है। इनमें ललाट सीमन्त दोनों ललाटस्थियों के बीच में मध्य सीमन्त दोनों पार्श्विकास्थियों के बीच में पार्श्विललाट सीमन्न पार्श्विकास्थि का ललाट अस्थि के बीच में और पश्चात पार्श्वि-सीमन्त पार्श्वकास्थियों के पिछले किनारों का पश्चात अस्थियों के ऊपर के किनारों में होती है। सबकी सब सीमन्त प्रसव के समय स्पर्श की जा सकती हैं। शंख सीमन्त जो कि दोनों ओर पार्श्वकास्थियों के निचले किनारे और शंखस्थियों के ऊपर के किनारे में स्थित होती है मांस या बसादि से अधिक ढंकी रहने के कारण एक जीवित शिशु में स्पर्श नहीं की जा सकती। जिन स्थानों पर कि सीमन्त आपस में मिलते हैं। वहाँ कुछ समानाकार खाली स्थान बन जाते हैं इनको विवर कहा जाता है। ये सब झिल्ली से आवृत्त होते हैं। दो स्थान खोपड़ी के ऊपर के भाग में मध्य रेखा में हैं और चार स्थान उसके पार्श्वों पर हैं दो एक ओर और दो दूसरी ओर।

ब्रह्म रंध्र—(पूर्वविवर पूर्वोतलव) यह ललाटस्थियां या पार्श्विकास्थियों के बीच मध्य सीमन्त वा पार्श्व ललाट सीमन्त के संगम पर स्थित है। यह एक प्रकार का चतुर्भुज क्षेत्र है और शेष विवरों की अपेक्षा बड़ा होता है।

अधिपति रन्ध्र—(शिवविवर पश्चात विवर) पश्चात कपाल का पार्श्विकास्थियों के बीच में मध्य सीमन्त वा पश्चात पार्श्व सीमन्त वा पश्चात पार्श्व सीमन्त के संगम पर यह एक प्रकार का त्रिकोण क्षेत्र है।

३. ४. शांखिक विवर या पश्चात—पार्श्व विवर ये संख्या में दो हैं और शंख सीमन्त वा पश्चात पार्श्व सीमन्त पर स्थित है।

५-६. गंडविवर या पूर्व पार्श्वविवर—ये पार्श्व ललाट सीमन्त वा शंख सीमन्त संगम पर स्थित हैं।

नोट—इसमें से पहले दो विवर ब्रह्मरन्ध्रता अधिपति रन्ध्र प्रसव के वीच शीघ्र ही स्पर्श किये जा सकते हैं और इनसे बच्चे के स्थान वा स्थिति का शीघ्र ही पता लग सकता है।

प्रदर्शन—सुगमता की दृष्टि से शिशु के कपाल को तीन प्रदेशों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) शीर्ष
(२) अनुशीर्ष
(३) ललाट

शिशु की कपाल के व्यास कई प्रकार के माप से लेने होते हैं, वह निम्न प्रकार के होते हैं—

(१) ललाट पश्चात व्यास = ४$\frac{1}{2}$ इंच
(२) पश्चातचिबुक व्यास = ५$\frac{1}{4}$ इंच
(३) अध पश्चात ब्रह्मरन्ध्र व्यास = ३$\frac{3}{4}$ इंच
(४) अधः पश्चात् ललाट व्यास = ४ इंच
(५) हनुकोण ऊर्ध्व व्यास = ४$\frac{1}{2}$ इंच
(६) ललाट चिबुक व्यास = ३$\frac{1}{2}$ इंच
(७) द्विपार्श्व व्यास = ३$\frac{3}{4}$ इंच
(८) द्विशंख व्यास = ३$\frac{3}{4}$ इंच

यह सभी व्यास शिशु के उदय के विषय में ज्ञान करने के लिये आवश्यक है इन मापों का वास्तिगह्वर से घनिष्ठ सम्बन्ध है जहाँ से होकर गर्भ को निकालना पड़ता है।

प्रश्न—प्रसव और उसकी तीन अवस्थाओं का वर्णन कीजिए ?

उत्तर—प्रकृति की देन है कि गर्भ के पूर्ण विकसित हो जाने पर वह गर्भाशय अलग हो जाता है, अलग हो जाने के पश्चात वह बाहर निकलता है उस प्रक्रिया को हम प्रसव कहते हैं। ऐसी कल्पना की गई है कि गर्भ के बाहर आते समय वह तीन अवस्थाओं में से गुजरता है, उनको प्रसव की तीन अवस्था कह दिया गया है। वह अवस्थायें निम्न प्रकार वर्णित की जाती हैं।

प्रथमावस्था

यह अवस्था प्रसव पीड़ा (आवि) आरम्भ होने से लेकर गर्भाशय ग्रीवा के पूर्ण रूप से विस्फारित होने तक की मानी गई है। इसमें १२ से १८ घंटे तक लग सकते हैं। यह पीड़ा गर्भाशय बार-बार संकोच करने से उत्पन्न होती है। यह पीड़ा पीठ से आरम्भ होकर कमर एवं उपस्थ प्रदेश से होती हुई जांघों तक जाती है। गर्भाशय के संकोच के कारण गर्भाशय ग्रीवा विस्फारित होती रहती है यहां तक कि गर्भाशयगाज की चौड़ाई के बराबर हो जाती है। हठ विस्फार के कारण गर्भोदक की थैली क्रमशः गर्भाशय से अलग होती जाती है। इस अवस्था में रक्त मिश्रित श्लेष्म स्राव होता है। जिस समय गर्भाशय ग्रीवा पूर्ण विकसित हो जाती है उस समय थैली फट जाती है और गर्भोदक बाहर निकल आता है जिससे प्रसव मार्ग धुल जाता है और स्वच्छ हो जाता है। यदि उस अवस्था में भी थैली न फटे तो चिकित्सक को स्वयं छेदन कर देना चाहिए।

द्वितीयावस्था

यह अवस्था गर्भाशय ग्रीवा के पूर्ण विस्फारित होने से लेकर भ्रूण के बाहर निकलने तक की मानी जाती है। इसमें प्रायः ५ से ३ घंटे तक का समय लगा करता है। इस अवस्था में वेदनाएँ तीव्र होती हैं और गर्भाशय संकोच सबल होता है। गर्भाशय संकोच के साथ ही साथ औदरिक मांस-पेशियां भी इस प्रक्रिया में भाग लेने लगती हैं। स्त्री इन संकोचों के कारण उत्पन्न वेदना को सहन नहीं कर सकती।

फिर सिर भग प्रदेश में आ जाता है तो उस प्रदेश का भी विस्फार होता है। सीमन प्रदेश उभर आता है। सिर के नीचे आते हुए आस-पास का चर्म खिचता है। इससे गुदा प्रदेश अंग्रेजी के उल्टे डी के आकार का हो जाता है। विस्फार बढ़ता जाता है, प्रसव्य को असह्य वेदना होती है कि सिर का हनु वाला भाग जो सबसे बड़ा भाग है बाहर निकल आता है। मुख के निकल आने पर भ्रूण सिर दक्षिण दिशा की ओर परिवर्तित हो जाता है। इस गति से भ्रूण स्कन्ध श्रोणि गह्वर के निर्गम द्वार के अग्रपश्चिम व्यास में हो जाता है। अब भ्रूण का दक्षिण स्कन्ध भग सन्धि पर टिक जाता जाता है एवं वेदना

वेग के साथ प्रथम वाम स्कन्ध एवं क्रमशः सम्पूर्ण भ्रूण शरीर बाहर निकल आता है।

यह एक आसन का वर्णन हुआ किन्तु सिर के आसन में भी तीन आसन और हैं, उनको भी ठीक उसी प्रकार समझना चाहिए, अन्तर केवल यह है कि दिशा का अन्तर रहता है। सिर के अतिरिक्त जो भी आसन हो वह अप्राकृतिक कहलाता है और उस अवस्था में प्रसव कराने में उपद्रवों का भय रहता है।

तृतीयावस्था

यह अवस्था भ्रूण के बहिः निष्क्रमण से लेकर अपरा निष्क्रमण तक की होती है। इस अवस्था में साधारणतः ½ से १ घंटा लगता है। द्वितीय अवस्था हो जाने के बाद प्रसूता को कुछ विश्राम मिलता है। कुछ ही समय बाद पुनः प्रसव वेदनाएँ आरम्भ हो जाती हैं। इनके द्वारा अपरा गर्भाशय से अलग हो जाता है। अब वह भी क्रमशः बाहर को निकलने लगता है। अपरा भ्रूण अभिमुखी पृष्ठ से अथवा तिर्यक स्थिति से बाहर निकलता है। यदि अपरा निकलने में कठिनाई हो तो उसका उपचार करना होता है।

इस प्रकार आवि (प्रसव वेदनाओं) के आरम्भ होने से अपरा के पातन तक के कर्म को प्रसव कहा जाता है और उसकी जो भी गतिविधियाँ होती हैं, उनका अवलोकन ऊपर तीन अवस्थाओं में कराया है।

इन सभी बातों को जानकर यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रसवकाल जीवन एवं मरण का प्रश्न होता है। केवल माता का ही नहीं शिशु का भी जीवन प्रसव क्रिया के ठीक प्रकार होने पर निर्भर करता है। अतः प्रत्येक अवस्था में किस प्रकार प्रबन्ध करना चाहिए यह जान लेना चाहिए। इसका वर्णन विस्तार से प्रसवोपक्रम के प्रश्न में हमने आगे किया है।

प्रश्न—प्रसव प्रक्रिया में सहायक तत्त्वों की विवेचना कीजिए ?

उत्तर—प्रसव प्रक्रिया में अनेक सहायक होते हैं। उन सबको हम मुख्यतः तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(१) शक्ति

(२) पथ

(३) पथिक

अब हम इन तीनों का क्रमशः वर्णन करते हैं—

(१) शक्ति

इसके द्वारा प्रसव होता है। प्रसव कार्य में दो शक्तियाँ मुख्य रूप में कार्य करती हैं ?

(क) प्राथमिक शक्ति या गर्भाशयगत मांस पेशियों की शक्ति।

(ख) गौण शक्ति या औदरिक मांस पेशियों की क्रिया।

आइए प्रसव की तीनों अवस्थाओं में शक्ति के स्वरूप का दिग्दर्शन करें।

प्रथम अवस्था के आरम्भ में प्राथमिक शक्ति ही काम करती है। इस अवस्था में गर्भाशय में संकोच होता है जिससे वेदनाएँ उत्पन्न होती हैं। यह आकुंचन पहले अल्पकालीन अथवा विरता कुंचन होते हैं किन्तु बाद में यह ही दीर्घकालीन संकोच या अविरत आकुंचन कहलाते हैं।

द्वितीयावस्था में प्राथमिक शक्ति को गौण शक्ति भी सहायता देती है। आरम्भ में आकुंचन क्रिया ऐच्छिक होती है किन्तु बाद में जाकर यह अनैच्छिक हो जाती है।

तृतीयावस्था में गर्भाशयगत माँस-पेशियों की क्रियाएँ ही होती हैं।

पथ-प्रकृति स्वयं ही पथिक को निकालने के लिए उचित पथ का निर्माण करती है। प्रसव की प्रथमावस्था में पथ में मुख्यतः तीन परिवर्तन हो जाते हैं।

(१) अधोगर्भशैया का निर्माण

(२) बहिर्मार्ग की नलिका विस्तृति

(३) ग्रीवासरणी की विस्तृति

यहाँ पर यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि विपरीत धर्मतता के सिद्धान्त के अनुसार जैसे-जैसे गर्भाशय का संकोच होगा ग्रीवा आदि का विस्फार होता जाएगा। अधोगर्भाशय शैया के निर्माण से गर्भ के आसानी से बाहर निकलने में सहायता मिलती है। इधर आगे का पथ खुला हुआ मिलता है। द्वितीय अवस्था में निम्न परिवर्तन होते हैं।

(४) वारिपुटक का निर्माण

(५) जरायु विदारण

(६) योनि का विकास

तृतीय अवस्था में गर्भ के निकल जाने पर पतला अधोगर्भाशय भाग सिकुड़ कर तहदार हो जाता है।

(३) पथिक

शक्ति के द्वारा पथ में से जो भी निकलता हैं उसको पथिक कहा जाता है। प्रथमावस्था में केवल अल्प श्लेष्म मिश्रित रक्तस्राव निकलता है, द्वितीय अवस्था में प्रथम गर्भोदक निकलता है और फिर गर्भ निकलता है और तृतीय अवस्था में अपरा और जरायु निकलते हैं। शिशु के निकल जाने पर प्रसूता को कुछ विश्राम मिलता है और फिर वह शक्ति बटोर कर रहती है तभी पुनः वेदनाएँ आरम्भ होती है, और अपरा पतन होता है।

गर्भ के निष्क्रमण की क्रियाएँ अपना विशेष महत्व रखती हैं, अतः उनका वर्णन हम यहाँ अलग प्रश्न के रूप में कर रहे हैं।

इस तरह प्रसव के तीन अंग होते हैं और प्राकृत प्रसव में तीनों का गुण-वत होना ही कारण है। यदि किसी एक में कुछ भी विकार हो जाए तो फिर प्राकृत प्रसव नहीं रह जाता। उस अवस्था में विकृति की सम्भावना रहती है और तब यन्त्र-शस्त्र के प्रयोग से प्रसव कराना पड़ जाता है जो किसी प्रकार भी हानिकारक सिद्ध हो सकता है।

प्रश्न—स्वाभाविक गर्भ निष्क्रमण किस प्रकार होता है ?

उत्तर—जैसा कि पीछे वर्णन कर आए हैं कि शक्ति के द्वारा गर्भ-प्रसव होता है। इस प्रसव अवस्था में गर्भ के आसनों का बहुत अन्तर पड़ता है। गर्भोदय किस आसन से हो रहा है यह जानना आवश्यक हो जाता है। तो भी मूल प्रश्न केवल स्वाभाविक निष्क्रमण तक ही सीमित है अतः हम उस गर्भोदय के निष्क्रमण का ही वर्णन कर रहे हैं।

वामपूर्वानु शीर्षासन—गर्भोदय होना स्वाभाविक गर्भोदय कहलाता है। इस अवस्था में प्रसव के आरम्भ में गर्भ का अनुशीर्ष श्रोणिगवाक्ष के सामने और ललाट दक्षिण त्रिकजघनसन्धि के समीप लगा रहता है।

अब शक्ति के द्वारा गर्भ का अधोगमन होता रहता है। इसमें मुख्यतः तीन प्रकार की गतियाँ होती हैं:—

(१) संकोच

(२) आवरतन
(३) प्रसारण

यहाँ पर यह बात भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि आवरतन की क्रियाएँ भी भिन्न २ समय में तीन प्रकार की होती हैं:—

(क) अन्तरावर्तन
(ख) प्रत्यावर्तन
(ग) वहिवर्तन

इनको क्रमशः निम्न प्रकार देखा जाता है—

(१) संकोच
(२) अंतरावर्त्तन
(३) प्रसारण
(४) प्रत्यावर्त्तन
(५) वहिरावर्त्तन

अब हम एक अवस्था का वर्णन करते हैं।

(१) संकोच—नीचे को आते हुए सिर आगे की ओर वक्ष पर झुक जाता है। इससे शिवरन्ध्र ब्रह्मरन्ध्र से नीचे की सतह पर आ जाता है और चिवुक वक्षोस्थि से लग जाता है।

संकोच के परिणामस्वरूप गर्भ के सिर और गात्र का एक ठोस और अन्डाकार पिण्ड बन जाता है जिससे गर्भाशय का आकुंचन सफलता से प्रसव करा सकता है। इससे अनुशीर्ष गर्भ का अग्रगामी भाग बन जाता है।

(२) अन्तरावर्त्तन—इस अवस्था में अनुशीर्ष सामने मध्य रेखा की ओर घूमता है। यह क्रिया जब होती है जब कि सिर श्रोणितल के नीचे आ जाता है।

(३) प्रसारण—इस अवस्था में सिर पीछे को पृष्ठवंश की ओर मुड़ जाता है। अब सिर भग से होकर निकलता है। भग में प्रवेश करते समय अनुशीर्ष भग सन्धानिका के नीचे धीरे-धीरे आ जाता है। ललाट जिसको अभी अधिक दूरी तय करनी है कभी धृता से मूलपीठ के ऊपर आ जाता है। अब ब्रह्म-रन्ध्र, मस्तक और मुख क्रमशः वाहर निकलते हैं।

(४) **प्रत्यावर्त्तन**—सिर में जो झुकाव आ जाता है उसको यूस अवस्था में पूर्वावस्था में पाया जाता है। पूर्व अवस्था में सिर के जन्म होने पर ग्रीवा पर मोड़ होता है किन्तु जैसे ही सिर का जन्म हो जाता है इस अवस्था में आ कर ग्रीवा का मोड़ दूर हो जाता है।

(५) **वहिरावर्त्तन**—सिर का बाहर की ओर घूमना होता है। यह गति वास्तव में स्कन्द एवं शाखाओं की है। जब सिर बाहर आ जाता है तो कन्धे अग्र भाग में या पूर्व पश्चिम भाग में आ जाते हैं। इस तरह स्कन्ध एवं शाखाएँ बाहर आ जाती हैं।

इस तरह से स्वाभाविक गर्भ भिन्न-भिन्न गतियां करता हुआ निष्क्रमित होता है। यदि कोई विकार हो जाय तो इन गतियों में व्यवधान पड़ता है और वह हानिकारक हो सकता है।

प्रश्न—मूढ़गर्भ के कारण स्वरूपों एवं चिकित्सा का वर्णन कीजिए।

उत्तर—मैथुन, रथादि, वाहन (अस्वादि), अध्वगमन (रास्ते की मुसाफिरी), प्रस्खलन (अकस्मात पांव के फिसलना), प्रपतन (पगरना) प्रपीडन (दबाने से), धावन (भागना), अभिघात (चोट लगना) विपम शयन (ऊँची-नीची जगह सोना), विपमासन (ऊँची नीची जगह बैठना) उपवास, मल-मूत्रादि के उपस्थित वेगों को रोकने से अतिरुक्ष कुट-तिक्त भोजन से, शोक से, अतिसार के सेवन से, अतिसार-वमन विरेचन से, प्रेखोलन (झूला झूलने से) अजीर्ण से (गर्भपातकारक चित्र आदि औषधियों के सेवन करने तथा अन्य) कारणों से गर्भबन्धन (नाड़ि बन्धन) से छूट जाता है, जिस प्रकार कि प्रहारादि के कारण फलकृन्द (गुच्छा टहनी) से पृथक हो जाता है, (अकाल में गिर जाता है)।

यह गर्भ नाड़ी बन्धन से पृथक होकर गर्भ शय्या का उल्लंघन करके यकृत् प्लीहोदर और यन्त्र के अन्तराल में से नीचे नीचे की ओर गिरता हुआ प्रकोष्ठ (मूल-मूत्राशय) में विक्षोभ उत्पन्न करता है। गर्भिणी स्त्री से उदर के निक्षाभ के कारण अपान वायु मूढ़ (क्रिया रहित) होकर पार्श्व वस्तिभर्प उदर योनि में शूल आनाह (आध्यान) मूत्रसभ (निरोध)—इनमें से किसी एक रोग को उत्पन्न करके रक्तस्राव द्वारा तरुण (आजातसार-अव्यक्त चेतन रूप) गर्भच्युत करती है। इसी जातसार गर्भ को—जब यह निरन्तर बढ़कर

असम्यग् (विलोम भाग से) रूप में योनिमार्ग में पहुंच जाता है और अपान वायु के विलोम होने से मूच्छित होने के कारण मार्ग से बाहर नहीं निकलता तब इसको मूढ़ गर्भ करते हैं।

यह मूढ़ गर्भ चार प्रकार का हैं। यथा कील, प्रतिखुट, बीजक और परिघ। इनमें जो गर्भ बाहुओं को ऊपर रखकर शिर एवं पांवों द्वारा योनिमुख को रोक लेता है वह कील (शंकु) की भांति होने से 'कील' है। जो गर्भ हाथ पांव और शिर बाहर निकाल कर शरीर के मध्य भाग से योनि मार्ग को रोकता है, वह 'प्रतिखर' है जिस गर्भ की एक भुजा और शिर बाहर निकल जाता है, उसे 'बीजक' कहते हैं। और जो गर्भ परिघ (अर्गल) के समान (निर्यगविस्था योनिमुख को घेर कर रहता है उसे पारिघ) कहते हैं इस प्रकार से मूढ़गर्भ चार प्रकार का है, ऐसा कई आचार्यो का सिद्धान्त है। यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि जिस समय विलोम अपान वायु से पीड़ित होकर अनेक रूप से योनिमार्ग में आता है। उस समय इस चार संख्या का अतिक्रमण कर जाता है।

कोई गर्भ दोनों टांगों से योनि मुख में आता है, कोई गर्भ एक टाँग को संकुचित करके एक टांग से योनिमार्ग में उतरता है कोई गर्भ टांग और शरीर को संकुचित करके स्फिग (नितम्ब) भाग से तिरछे रूप में योनिमुख में पहुंचता है। कोई गर्भ उर पीठ पार्श्व इनमें से किसी एक अवयव से योनि द्वार को रोककर रहता है। कोई गर्भ शिर को अन्दर की ओर झुकाकर चिबुक को छाती पर रखकर एक बाहु द्वारा योनिमार्ग में आता है। कोई गर्भ शिर को संकुचित करके दोनों बाहुओं से कोई शरीर के मध्यभाग को झुकाकर हाथ पांव और शिर से कोई गर्भ एक ही टांग से और कोई गर्भ गुदा द्वारा योनिमार्ग में आता है। इस प्रकार से संक्षेप में आठ प्रकार की मूढ़ गर्भ की गतियां कह दी हैं।

उसमें सातवें और आठवें प्रकार का मूढ़गर्भ स्वभाव से ही असाध्य है। शेप मूढ़गर्भो में निम्न लक्षण होने पर इनका भी असाध्य समझना चाहिये। यथा जिस समय स्त्री रूपादि इन्द्रिय विषयों को प्रकार से ग्रहण न कर सके। आक्षेपक हो, योनिभ्रंश (योनि का बाहर आना), योनि संवरण (योनि का संकोच) मक्कल्ल प्रसूता स्त्री में वायु रक्त को रोककर बास्ति सिर में शूल उत्पन्न करती है। श्वास, कास, भ्रम (चक्कर)—ये लक्षण हों तो असाध्य समझना चाहिये।

मूढ़ गर्भ को निकालने जैसा कठिन कार्य दूसरा कोई नहीं है। क्योंकि उसमें योनि यकृति, प्लीहा, आंत्र-विवर गर्भाशय के बीच में स्पर्श से ही काम करना होता है। गर्भ और गर्भिणी को किसी प्रकार की हानि न पहुंचाये बिना एक ही हाथ से उत्कर्षण (ऊपर को खींचना) नीचे खींचना, स्थान परिवर्तन काटना, टुकड़े करना, छेदन करना, दबाना, सीधा करना आदि कार्य करने पड़ते हैं। इसलिए स्वामी की आज्ञा लेकर, अतिशय सावधानी के साथ आरम्भ करे।

संक्षेप में मूढ़ गति आठ प्रकार की कही है—स्वभाव (प्रकृति से) आने पर तीन तरह की रुकावटें होती हैं, यथाशिर की विपरीतता से, अंसों (कन्धों) के कारण और नितम्ब के कारण।

गर्भ के जीवित रहने पर सूतिका में गर्भ निकालने का यत्न करें। यदि न निकल सके तो च्यवन मंत्रों को सुनाये, इन मंत्रों को कहते हैं। हे स्त्री। तेरे मन्दिर में अमृत, सोम चित्रभानु उच्चस्रवा नाम का घोड़ा रहे। हे स्त्री यह अमृत रूपी जल आया हूं। तेरा लघु गर्भ छुट ज ये। अग्नि, वायु, सूर्य इन्द्र और समुद्र तुझे शान्ति प्रदान करें। पाश, विपाश, मुक्त हो गये, सूर्य ने किरणें छोड़ दी, गर्भ सब भय से मुक्त हो गया, जल्दी आ आ, देरी न कर।

अपरा पातन की औषधियों का इसमें प्रयोग करें। गर्भ के अन्दर मर जाने पर स्त्री को पीठ के भारचित लेटाकर टाँगों को घुटना पर मोड़ कर, नितम्ब के नीचे ऐंडवी (कपड़ों की गद्दी) रखकर, कटि को ऊँचा उठाकर, योनि में हाथ प्रविष्ट करके गर्भ को निकाल ले। इनमें जो गर्भ दोनों टाँगों से आ रहा हो, उसको, सीधा अनुलोम रूप में खींचें। जिस गर्भ की एक टांग बाहर आई हो, इसकी दूसरी टांग को फैलाकर फिर खीचे। जिस बच्चे के नितम्ब योनि में आये हुए हों, उसके नितम्बों को दबाकर ऊपर धकेले और टांगों को फैलाकर बाहर लाये। जो बच्चा तिरछा अर्गल की भाँति आड़ा आ रहा हो उसमें पिछले आधे भाग को (नितम्ब टांग आदि को) ऊपर की ओर धकेल कर पूर्वार्ध (शिर के भाग को) को योनि में सीधा लाकर निकाले। जिसका शिर पार्श्व की ओर मुड़ा हो। उस गर्भ में कन्धों को दबाकर ऊपर की ओर धकेल कर, शिर को योनि मार्ग में लाकर निकाले। जिस गर्भ के

दोनों बाहु योनि मार्ग मेंआ गये हों, उसमें कन्धों की ऊपर की ओर दबाकर शिर को सीधा लाकर बच्चे को बाहर करे। अन्त के दो मूढ़ गर्भ असाध्य हैं। इस प्रकार यदि करना सम्भव न हो तो शस्त्र कर्म करे।

विना मूर्च्छित किये स्त्री पर शस्त्रकर्म न करे। यदि ऐसा नहीं करता, तो माता और अपने को हानि कर बैठता है। जब रोग अवस्था असह्य हो जाती है, तब गर्भ का पालन करना ठीक है। गर्भिणी को मारना उत्तम नहीं, इसलिए जो ठीक हो, वह उस समय करले।

फिर स्त्री को आश्वासन न देकर, मण्डलाग्र या अंगुली शस्त्र से सिर का विदीरण करके, सिर की अस्थियों तक पहुंच कर, शंकु से छाती या कक्षा में पकड़ कर बच्चे को खींच ले। सिर के न टूटने पर अक्षिकूट या गण्ड में शकु को फंसाकर खींचे अंसों से फंसे गर्भ में कन्धे पर से बाहु को काटकर निकाले। मशक की तरह वायु से आने के कारण फूले हुए उदर को चीर कर आंतों को निकाल कर ढीला हो जाने पर निकाले। नितम्ब से फँसे गर्भ में जघन कपालों को काटकर बाहर निकाले।

गर्भ का जो २ अंग रुकता हो, वैद्य उसी अंग को काटकर निकाले। गर्भिणी की रक्षा सब उपायों से करे। वायु के प्रकोप से गर्भ की गतियां नाना प्रकार की होती हैं। इनमें प्रचुर बुद्धि वाला वैद्य विधि पूर्वक बरते। मरे हुए गर्भ की एक क्षण भी उपेक्षा न करे। यह मृत माता को मार देता है, जिस प्रकार कि गला घोंटने से पशु तुरन्त मर जाता है। जानने वाला मनुष्य वैद्य अन्दर शस्त्रकर्म मण्डलाग्र से फटे। क्योंकि शायद कभी वृद्धि पत्र में माता को हानि होना सम्भव है। इसके पीछे न निकली अपरा को वैद्य निकाले। यदि हाथों से बाहर न निकाली जा सके, तो पार्श्वों को दबाकर निकाले। नारी को बार २ झकोरे अथवा अंस पिण्डिका को दबाये। तेल से योनि को स्निग्ध करे इस प्रकार से वैद्य अपरा को निकाले। यदि इस प्रकार भी अपरा बाहर न आये तो गरम पानी से स्नान कराये। फिर शरीर का तेलाभ्यंग करके योनि में तेल रक्खे। इस प्रकार करने से योनि कोमल होती है और शूल शांत हो जाता है।

पिप्पली, पिप्पली मूल, सोंठ, इलायची, हींग भार्गी अजवायन, वच, अतीस, रास्ना, राल, चव्य इनका चूर्ण करके घृत के साथ पिलाये, जिससे दोषों का

वैद्य आदमी (घोवा), खदिर, (खैर), थर्कन्धु (वेर) पीलु, फालसा इन की शाखायें गृह के चारों ओर लटका दें। सूतिकागार के चारों ओर सब जगह सरसों, अलसी, चावल आदि के कणों को बिखेर दे। नामकरण के पूर्व अर्थात् इस दिन तक निरन्तर दोनों समय सायं प्रातः तण्डुलवाले नामक मंगल होम किया जाय। द्वार में देहली के समीप एक मूसल टेढ़ा करके रखे वच, कूट क्षौमक, हींग, सरसों, अलसी, लहसन इनके कणों और कणिकाओं की तथा अन्य रक्षोघ्न द्रव्यों की ही पोटली बाँधकर सूतिकागार की देहली पर ऊपर की ओर लटकादे। और उक्त द्रव्यों की ही पोटली प्रसूता और नवजात शिशु के गले में भी लटका दें। एवं स्थाली, जल के कलश और पलंग पर भी वे पोटलियाँ लटका देनी चाहिये। सूतिगृह के अन्दर द्वार के दोनों पार्श्वों में चणकाम्बल के ईवन की अग्नि नित्य प्रज्ज्वलित रहनी चाहिए। पूर्वोक्त गुणवाली स्त्रियाँ जो सूतिकागार में हों दस या बारह दिन जागरण करें। एक न एक व्यक्ति को चाहिये कि कम से कम दस या बारह दिन तक प्रसूता व बच्चे की रक्षा के लिए जागता रहे। इन दस या बारह दिनों में उस घर में निरन्तर दान, मंगल कार्य, आशीर्वाद, स्तुति, गाना, बजाना आदि हो। वह घर पवित्र और खाने पीने के पदार्थों से युक्त होना चाहिए। प्रेमी तथा प्रसन्न स्त्री-पुरुषों में आवागमन से वह घर भरा रहना चाहिये।

प्रवेशविधि—नवें मास के लगने पर शुभ दिन जब चन्द्र का योग प्रशस्त नक्षत्र के साथ हो, शुभकरण में, मैत्रमुहूर्त्त में, शान्ति होम करके प्रथम गौ ब्राह्मण अग्नि और जल को प्रविष्ट कराकर गौओं को चारा भूसा एवं जल तथा मधुयुक्त लाजा देकर और आसनों पर बैठे ब्राह्मणों को हाथ मुख आदि धुला कर आचमन करवा के अक्षत पुष्प तथा नान्दीमुख श्राद्धोपयोगी अथवा मृदांगकृति खजूर आदि इच्छित एवं मंगल फल देकर और उन्हें अभिवादन करके पुनः आचमन के पश्चात स्वस्तिवाचन करावे। तदन्तर 'पुण्याह' 'पुण्याहं' शब्द से अथवा मंगल सूचक शब्दों से गौ और ब्राह्मण की पीछे २ प्रदक्षिणा करती हुई गर्भिणी सूतिकारक में प्रवेश करे और वहीं सूतिकारक में रहती हुई प्रसवकाल की प्रतीक्षा करे।

अग्रोपहरणीय द्रव्य या प्रसवोपयोगी साधन-सामग्री—

१. सूतिकागार में घी, तेल, मधु, सेंधा, सोचल और काला-नमक, वायविडंग, गुड़, कूठ, देवदारु, सोंठ, पिप्पली, पिप्पलीमूल, हस्तिपिप्पली,

चिकित्सा बड़ी ही कठिन होती है। अतएव ऋषि उस समय मूसल से कूटने को त्याज्य कहते हैं। परन्तु जृम्भण (जंभाई लेना वा इसके सदृश मात्र को प्रसारित करना) और चक्रमण (चलना-फिरना) तो करना ही चाहिए। तदनन्तर प्रजायिनी को कुष्ठ, एला, कलिहारी, वचा, चित्रक, चिरबिल्व (करंज) इनका चूर्ण सूंघने के लिये दें। वह इस चूर्ण को बार-बार सूंघे तथा भोजपत्र के धुएँ को अथवा शीशम के धुएँ को सूंघे और बीच-बीच में कमर, पार्श्व, पीठ तथा उस पर घोषा तैल चुपड़कर धीरे-धीरे वह आराम अनुभव करे, मर्दन करे। इस कर्म से गर्भ नीचे की ओर जाता है उसकी गति अधोमुख हो जाती है।

२. गर्भोदक निकलने के उपरांत उस गर्भवती में गर्भ नीचे आता हुआ जानकर कौतुक और मंगल कराकर। हाथ में अनार आदि पुल्लिग फल लेकर, अच्छी प्रकार से तैलाभ्यंग कराके गरम जल से स्नान करावे। पीछे से घृतयुक्त पेया पिलावे। विशेषकाल में रक्षा के लिए बाहु आदि में जो बँध जाता है जिसे अनन्त कहते हैं जिसके नाम से अनन्त चौदस एक तिथि नियत है। उसे कौतुक कहते हैं।

इसके पश्चात् स्त्री को कोमल भूमि शय्या पर टांगों को घुटनों से मोड़ कर उत्तान लिटाकर बार-बार तैल का अभ्यंग करते हुए नाभि के नीचे मलना चाहिए। बार-बार जम्भाई लेना और जल्दी-जल्दी चलना चाहिए। इस प्रकार करने से गर्भ नीचे आता है, इसके लक्षण हृदय से छूटने के कारण गर्भ जगर (उदर) में प्रविष्ट होकर वस्ति के ऊपर ठहरता है।

प्रसव के द्वितीयावस्था में कर्त्तव्य

१. जब वैद्य यह जाने कि गर्भ हृदय को छोड़कर नीचे की ओर जा रहा है, वस्ति सिर को पकड़ता है, आवी शीघ्रता करवाती है, (वेदनायें गर्भिणी को व्याकुल कर देती हैं) गर्भ के नीचे की ओर परिवृत्त हो गया है। ऐसी अवस्था में उपस्थित-प्रसवा गर्भिणी को पलंग पर लिटाकर प्रवाहण करना आरम्भ करवायें। वे स्त्रियां जो पूर्वोक्त गुणों से युक्त हैं और बिछौने के चारों ओर बैठी हुई आश्वासन (दिलासा) दे रही हैं उसे शिक्षा दें—जब आवी (गर्भाशय से उत्पन्न होने वाली वेदनायें) न हो उस समय प्रवाहन करें। जब आवी शान्त हो उस समय प्रवाहण करना उचित नहीं। जो आवी

से पूर्व प्रवाहण करती है उसका यह कर्म व्यर्थ ही हो जाता है। अर्थात् उसे प्रसव की शीघ्रता में कोई सहायता नहीं मिलती अपितु उसकी सन्तान विकृत हो जाती है अथवा श्वास, कास, शोष और प्लीहा रोग से युक्त होती है। जैसे छींक, डकार, वात, मूत्र और पुरीष के वेगों के न होने पर उन्हें प्रबल प्रवृत्त करने के लिए प्रयत्न करने वाले पुरुष को छींक नहीं आती अथवा बड़े कष्ट से आती है उसी प्रकार काल से पूर्व गर्भ का प्रवाहरण करने से प्रमुख नहीं हो सकता या बड़े कष्ट से होता है। जैसे छींक आदि के वेगों का रोकना हानिकर होता है वैसे ही उपस्थित काल में गर्भ का प्रवाहण न करना भी दोषकर है। अतः गर्भवती को चिकित्सक के निर्देशानुसार प्रथम शनैः शनैः प्रवाहण करना चाहिए उसके बाद अधिक बल से। जब स्त्री प्रवाहण कर रही हो तो उसके पास खड़ी स्त्रियाँ उसको उत्साहित करती हुई इस प्रकार कहें कि 'प्रसव हो गया, प्रसव हो गया, धन्य हो, धन्य हो पुत्र हुआ है पुत्र।' इस कथन से प्रसन्नता से गर्भिणी के प्राण तृप्त हो जाते हैं।

२. जब आवियाँ शीघ्रता से आने लगे, तो स्त्री को शय्या पर लिटा देवें। जब वायु के कारण गर्भ चारों ओर से दबा रहा हो उस समय अभ्यंग आदि से योनि को विस्तृत करे। जब तक गर्भ योनिमुख में न आये, तब तक मृदु स्वरूप का प्रवाहण करे पश्चात् प्रसव पर्यन्त जोर-जोर से करें। स्त्री को बार-बार पुत्र जन्म के शब्द से, पानी से और वायु से प्रसन्न करते रहना चाहिए। प्रसव कष्ट से थके हुए प्राण इस प्रकार करने से फिर से नये हो जाते हैं। गर्भ की रुकावट हो जाने पर योनि का धूपन करें। इसके लिए काले सर्प की केंचुली का धुआँ दे। सुवर्णपुष्पी, सुवर्चला अथवा कलिहारी को हाथ पैरों पर बाँधे। यही चिकित्सा अपरा के बाहर लाने में भी करें।

प्रसव की द्वितीयावस्था में वैदिक कर्म

१. अनुकूल स्त्री प्रसव के समय में, कान में इन मन्त्रों का उच्चारण करे—'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, विष्णु, प्रजापति ये सभी तुझ गर्भिणी की रक्षा करें और गर्भ को बाहर आ जाने की आज्ञा करें। हे शुभानने, तू क्लेशरहित होती हुई कष्टहीन, नीरोग, कार्तिकेय—सदृश पुत्र को पैदा कर।'

२. हे भामिनि, तुम्हारे मन्दिर में अमृत, सोम, चित्रभानु, उच्चैःश्रवा

अश्व निवास करें। अग्नि, वायु, सूर्य, वासव, लवणाम्बुचर तुम्हारी शान्ति का आदेश करें और सुखी होने का आशीर्वाद दें।

३. च्यवन-यन्त्र से सात बार का अभिमन्त्रित किया जल पीने से स्त्री को आराम के साथ प्रसव होता है।

तृतीयावस्था में माता के प्रति कर्त्तव्य

अपरा, जरायु, पातनकर्म।

१. गर्भजन्म के पश्चात् गर्भाशय से न गिरी हुई अपरा आनाह और अवमान करती है। अतः अपरा के पातन के लिए बालों से लिपटी हुई अंगुली से उसके कण्ठ में गुदगुदी पैदा करें। अथवा कड़वी तुम्बी, कड़वी तराई, सरसों, सांप की केंचुली को कड़वे तेल में मिलाकर, उससे योनि के मुख का धूपन करे। अथवा उसके सिर पर सेहुण्ड के रस का सिंचन करे। अथवा मद्य या गोमूत्र के साथ कुण्ठ और लांगली के मूल के कल्क को पिलावें। अथवा शालिमूल-कल्क या पिप्पल्यादि चूर्ण गण का चूर्ण मद्य के साथ पिलावें। अथवा श्वेत सरसों, कुण्ठ लांगली, सेहुण्डक्षीर इनसे मिश्र सुरामण्ड का आस्थापन करे। अथवा इन्हीं द्रवों से सिद्ध सिद्धार्थक तैल की उत्तरवस्ति दे। अथवा नाखून कटे हुए हाथ को स्निग्ध द्रव्य से स्निग्ध करके उससे निकाले।

२. लागली के जल के साथ पीसकर हाथ और पैर में प्रलेपकर—ऐसा करने से अपरा तुरन्त गिर जाती है इसमें कोई संदेह नहीं। लांगली-मूल को अच्छी प्रकार से धोकर जल के साथ पीस कर नाभि और योनि में प्रलेप करने से तुरन्त प्रसव हो जाता है।

३. जब गर्भ का प्रसव हो चुका हो तो अपरा निकलता है या नहीं इस बात का ध्यान रखना चाहिए। प्रायः अपरा पुनः वेदनाएँ होने पर स्वयं ही निकल पड़ता है तो भी यदि न निकला हो तो कोई स्त्री एक हाथ प्रसूता की नाभि के ऊपर रखे और दूसरा पीठ पर और इस तरह सख्ती से प्रसूता को कंपा देवें। या बालों के गुच्छों को लेकर प्रसूता के कण्ठ और तालु पर स्पर्श करना चाहिए। इससे भी न हो तो भोजपत्र या सांप की केंचुली से योनि में धूपन करना चाहिए।

छुट्टी पाने के लिए वही काम करती जाती है और उन्हीं कामों में असावधानी, वायुप्रकुपित करने का कारण हो जाता है, जैसे प्यास लगने पर गर्मागर्म जल देने के स्थान पर शीतल जल दे दिया गर्म २ दूध के स्थान पर शीतल दूध दे दिया। प्रसूति कक्ष इतना छोटा है जिसमें आदमियों का उठना बैठना भी ठीक से नही होता अन्धेरा रहना, रोशनी का बिल्कुल अभाव, हवा का रुख सीधा, द्वार की ओर आती हो, अग्नि आदि के प्रबन्ध का अभाव, नाल काटने की चूक, बच्चे का जोर से खींचा जाना, अपरा पतन में विलम्ब, अधिक रक्त प्रवाह, उदर में तैल मर्दन का अभाव, मजबूत बन्धन का अभाव, प्रसूता की बेचैनी में योनि द्वार को खुला रखना, विपाश्त रक्त को ठीक से साफ न करना, भूख की बेचैनी में शीघ्रता से भोजन देना और समुचित रूप से प्रसूति गृह में बहुत ही सुन्दर रीति से दिन बिता लेती हैं, किन्तु प्रसूतिगृह से बाहर होना और ज्वरादि उपद्रवों का प्रादुर्भाव तो प्रारम्भ हो जाता है। इसका कारण प्रसूतिक नियमों का उल्लंघन करना ही सिद्ध होता है, शीतल जलपान, स्नान, भारी वस्तुओं को उठाना, अधिक चलना, कोठे पर चढ़ना उतरना, सवारियों का प्रयोग, मूढ़ता के कारण स्वामी सहवास (आज की दुनिया में इसका अभाव नहीं है) उष्ण, उत्तेजक, कड़वी वस्तुओं का प्रयोग, रक्तावरोध, अधिक रक्तस्राव और कुएं से जल खींचना आदि कारणों में है जिससे प्रसूतियों को हमेशा (जब तक प्रसूति संज्ञा है) सचेष्ट रहना चाहिए।

प्रसूतिका रोग उत्पन्न होने के निदान के बाद इस प्रकार लक्षणों को आचार्यों ने उपस्थित किया है। अर्थात् हृदय और पंचरा में शूल होना, सम्पूर्ण शरीर का भारी हो जाना, कम्प, अधिक प्यास, कमर और मूत्राशय में वेदना, सर्वांग जलन (खास कर हाथ, पैर और आँखों में जलन) सर्वांग ऐंठन, (यह आलस्य वाली अंगड़ाई धीरे-धीरे होती ही रहती है) अरुचि, प्रलाप, शोच, दुर्बलता, प्रदर (रक्त स्राव) अतिसार, अधिक नींद आना (नींद का अभाव भी हो जाता है) पाण्डु रोग की तरह सर्वांग पीला हो जाना (रक्ताल्पता) जाड़ा, शिर दर्द चित्त विभ्रम, ज्वर आध्मान की अधिकता, अधिक खांसी और श्वसनादि प्रसूतिका रोग का यह भयंकर लक्षण है।

और भी—अंगड़ाई बार बार लेना, ज्वर, कम्प, प्यास, शरीर में भारीपन, सर्वांग और एकांलिक शोथ (खासकर मुँह और पैर का सूजन जो

वस्तु (स्नेहादि उक्त वर्गों से) पिलाना चाहिये। उतना ही इन वस्तुओं को पिलाना आवश्यक है जितना वह पी सकती हो, इसके बाद सर्वांग और उदर में तेल से मालिश करके मोटे कपड़े से पेट को बाँध देना चाहिये, इससे प्रसूता के पेट में वायु विकृति को उत्पन्न नहीं करता क्योंकि उसमें स्थानाभाव रहता है। स्नेह पच जाने के बाद पिप्पल्यादि से सिद्ध यवागू, पेया, स्निग्ध करके पतला पिलाना चाहिये। दोनों समय प्रातः साय यवागू या पेया पीने के पूर्व सुखोष्ण जल से परिषेचन (शरीर प्रक्षालन) करना चाहिये। इस प्रकार पाँच या सात रोज तक नियमतः चलाकर कुछ विशेष पुष्टिकर स्निग्ध भोजन देना चाहिये।

इस प्रकार नियमानुसार जब तक गर्भाशय और योनिद्वार अपने पूर्व रूप में न आ जावे, शरीर की पाण्डुता न चली जाये, नयी स्फूर्ति का प्रादुर्भाव जब तक न हो जाये, और शरीर की शिथिलता न चली जाय तब तक प्रसूतिका के पथ्यानुसार ही अपना जीवन बिताना आवश्यक है इससे जच्चा और बच्चा दोनों को लाभ होता है।

प्रजाता को जब ज्वर से अधिक तकलीफें होने लगती हैं पेट में वेदना, सर्वांग व्यथा, ज्वर की अधिकता, प्रजयादि होने पर सौभाग्यवटी १-१ गोली अद्रक रस और मधु के साथ मिलाकर ऊपर से दशमूल क्वाथ शुण्ठीचूर्ण के प्रक्षेप देकर पिलाने से रामबाण जैसा लाभ करता है। अगर उदर में आध्मान होकर अधिक प्रकार का जोर हो, जोड़ों में गर्भाशय में और योनि में अधिक वेदना हों तो रोगिणी की अवस्थानुसार १-१ या दो २ गोली महा योगराज गूगुल खिलाकर ऊपर से दशमूल क्वाथ पिलाना चाहिए. इससे सारी तकलीफें मिट जाती हैं। रोगिणी अपने को मृत्यु के पंजे से बची हुई समझती है। क्योंकि सोंठ चूर्ण के प्रक्षेप में एक विशेषता यह है कि अतिसार, ग्रहणी, शोथ, ज्वर और पाण्डुवद्धता इनमें से किसी एक की शिकायत होने से अथवा सभी भाग्यवशात् एक साथ ही होने पर भी सोंठ सभी दोषों को शमन करके प्रसूता को जीवन दान देता है।

दृ० कस्तूरी भैरव रस, सूतिकाविनोद, सूतिकारि रस सौभाग्यवटी मृत्युञ्जयरस, वात चिन्तामणि, योगराज, पंचकोल चूर्ण, योगेन्द्र रस, रसराजरस, अभ्रक भस्म, लौह भस्म, दशमूलारिष्ट, कुमारी आसव, वात गजेन्द्र-

सिंह रस, दशमूल क्वाथ, सूतिका दशमूल क्वाथ, देवदार्वादिक्वाथ, सौभाग्य शुण्ठी पाकादि औषधियों को प्रसूतिका रोग के अवस्था और लक्षणानुसार समय पर औषधियों से चुन २ कर प्रजाता के जीवन की रक्षा करनी चाहिये। अतः तेल मर्दन, औषधि पान, वस्तिकर्म पिचूधारण, योनि तैल पूरण, योनि प्रक्षालन, बन्धन, व्यवस्थित भोजन पान, बच्चे पर उचित ध्यान, स्तन्य प्रसारण स्तन्य पानादि कर्म समयानुसार उत्तम रीति से सम्पादित कराना चाहिए।

दूध, वार्ली, रोटी, दूध की वस्तुयें, अनार, मौसमी, पुराने चावल के भात, मूंग की दाल, वथुआ शाक, परवल, करेला, पालक शाक, खेखसानेनुआ, नीम्बू कागजी, प्याज, ताजा मांस रस, चावल की रोटी और हल्की तथा वातनाशक वस्तुएँ खाने में लाभ करता है। साफ-सुथरा रहना, कमरे की सफाई विछावन की सफाई, अपनी सफाई, खुली हवा का साधारण प्रयोग उत्तम है।

गरिष्ठ भोजन, मछली मांस, अधिक उष्ण चीजें, अचार, पापड़, परिश्रम मैथुन, अधिक मद्य पान, क्रोध, हवा में घूमना, वजनदार वस्तुओं को उठाना कामों से परहेज करना चाहिये।

प्रश्न—सद्योजात शिशुचर्या क्या है?

उत्तर—प्रसवोपरान्त शिशु की तात्कालिक चर्या बड़े महत्व की चीज है। प्राचीन समय में इसकी उपेक्षा के कारण ही हमारे यहाँ जन्मते वालक की मृत्यु संख्या अधिक होती थी। परन्तु अब इस ओर ध्यान देने से कम हो गई है। यह अति विचारणीय विषय है अतः इसका ध्यान रखना परम आवश्यक है।

प्रसवोपरान्त चतुर धात्री (दाई) का यह कर्त्तव्य है कि वह झटपट शिशु की देख-रेख में लग जाए। अगर धात्री शिशु की अपेक्षा करती है और प्रसूता की ही देख-रेख में लगी रहती है तो सम्भव है कि जान पर आ बने इसलिए धात्री का परम कर्त्तव्य है कि ज्योंही बालक प्रसव मार्ग से वाहर आवे धात्री अपने स्वच्छ हाथों से उसे सम्भाल ले तथा ध्यानपूर्वक तत्कालीन चर्या में दत्तचित्त हो लग जावे।

प्रकृति का यह नियम है कि पैदा होते ही बालक जोर से रोता है तथा स्वच्छन्दता से अंग चालित करता है, इससे वह श्वास लेता है और वायु प्रथम

बार उसके फेफड़ों में प्रवेश करती है। अतः बालक के बाहर आते ही दाई अपने हाथों में थाम ले और देखे अगर गर्दन पर नाभि नाल का घेरा पड़ा हो तो तुरन्त निकाल दे। प्रथम बालक पैदा होते ही जोर-जोर से रोता है परन्तु कभी-कभी इसका अपवाद भी हो जाता है कारण बच्चा कमजोर हो या प्रसव में विम्लव होने के कारण अधिक यातना सहने से पस्त हो जाता है, ऐसी अवस्था में बालक मरा हुआ जान पड़ता है परन्तु कृत्रिम रीति से श्वासोच्छवास दिखाया जाता है जो विधि आगे बताई जायगी।

'नाल छेदन'

जन्म लेने के थोड़ी देर बाद नाल में स्पन्दन बन्द हो जाता है। यह स्पन्दन बन्द होना मानो बालक माता का आन्तरिक-विच्छेद है क्योंकि स्पन्दन रक्त संचार से होता है और बाहर आने पर यह क्रिया बन्द हो जाती है। गर्भावस्था के बालक का रक्त संचार तीन रक्त वाहिनियों द्वारा नाभिनाल तथा कमल से रहता है। इनमें दो धमनियां तथा एक शिरा होती है। यह नाभि शिरा और नाभि धमनियां कहलाती है। नाभि धमनियों द्वारा भ्रूण का अशुद्ध रक्त कमल में पहुंचता है और नाभि शिरा द्वारा शुद्ध रक्त कमल से भ्रूण के शरीर में आता है। यह स्पन्दन नाभिनाल में होता है। सो स्पन्दन बन्द होने पर (इससे पूर्व नहीं) नाल में दो बन्धन लगायें। एक बन्ध शिशु की नाभि से चार अगुल की दूरी पर तथा दूसरा आठ अंगुल की दूरी पर लगायें। बन्ध लगाने के बाद नाल को दोनों के मध्य से परन्तु पहले बन्धन के पास से काट डालें बन्ध लगाने के लिए शुद्ध डोरा और काटने के लिए शुद्ध चाकू व कैंची का प्रयोग करें। इसमें असाधधानी होने पर आगे बालक को बड़ा खतरा हो जाता है डोरा तथा कैंची को गर्म पानी में डाल कर खूब उबाल लेना चाहिए इससे रोगोत्पादक कीटाणु मर जाते हैं। धात्री को स्वयं अपने हाथों की स्वच्छता का भी ध्यान रखना चाहिये। नालोच्छेदन के बाद बालक माता के शरीर से पृथक् हो जाता है तब बालक को किसी मुलायम वस्त्र में लपेट कर सुरक्षित स्थान पर रखें। इसके बाद प्रसूता की देखरेख करें। प्रसूता का कमल निष्कासन आदि कार्य निवृत्त हो जाए और प्रसवोपरान्त रक्तस्राव जोकि ऐसे समय में कभी-कभी हो जाया करता है, इसका भय न रहे तो प्रसूता को गर्म कम्बल ओढ़ाकर विश्राम के लिए कहें तथा बालक के नहलाने का प्रबन्ध करें।

एक गुनगुने गर्म पानी की बाल्टी लें। सर्वप्रथम बालक का मुंह धोयें। बालक के मुंह में अंगुली डालकर मुख में भरे कफ को साफ करें, नेत्रों को अच्छी प्रकार धोयें। इसके बाद गिरी का तेल व वैसलीन व तेल मिश्रित वेसन का आटा शरीर पर लगायें। इससे बालक की त्वचा की चिपचिपाहट दूर हो जावेगी। फिर किसी सौम्य साबुन से खूब मल कर स्नान करायें तथा कुछ देर सिर बाहर करके शेष शरीर को गर्म पानी के पात्र में रखें। फिर बालक को निकाल तौलिये से शरीर को सुखाकर बालक के शरीर पर टंकणाम्ल व बोरिक एसिड की बुकनी बुरक दें। नाल पर बोरिक एसिड बुरक कर पतले कपड़े की पट्टी बाँध दें, नाल बाँधते समय एक स्वच्छ वस्त्र के टुकड़े के बीचों बीच एक छिद्र करके नाल को उसके भीतर पिरोना चाहिए और नाल के आस-पास एक टंकणाम्ल डालकर मुलायम पट्टी बांध दें। स्नान कराते समय बालक को मल त्याग भी करवा देना चाहिए। कभी कभी ऐसा हो जाता है कि मल त्याग का मार्ग बन्द होता है तो उसे उसी समय शस्त्र वैद्य द्वारा ठीक कराना चाहिये। यह अति ध्यान देने की बात है वैसे तो चतुर धात्री अपनी अंगुली द्वारा स्नान कराते समय ही मल त्याग करवा देती है। स्नानोत्तर बालक को मौसमानुसार मुलायम तथा ढीले वस्त्र पहनाकर ठंड से बचाव वाले स्थान पर लिटायें।

अब धात्री को बालक के कमरे तथा माता की सफाई आदि कार्यों को करना चाहिए। इनसे निवृत्त होकर अपने हाथों को बिल्कुल स्वच्छ कर वस्त्र बदल कर फिर बालक को कुछ पिलाने आदि का प्रबन्ध करें। क्योंकि दूसरे दिन से पूर्व माता के स्तनों से दूध नहीं आता इसलिए दो दिन बालक को बाहर से खुराक देनी पड़ती है।

सर्वप्रथम बालक को मधु की घुट्टी देनी चाहिए। मधु बालक को अमृत तुल्य लाभदायक है। यह वनस्पतियों का सार होने से इसमें सारे जीवनीय तत्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान होते हैं। यह धारक तथा सारक दोनों क्रियायें करता है इसलिए यही श्रेष्ठ रहता है, परन्तु अधिक मात्रा में दिया हुआ यह भी हानि करता है सो एक समय में एक छोटा चम्मच मधु दें। बाद मे दो घण्टे पर जरा सा ग्लुकोज उबले हुए पानी में मिला स्वच्छ रुई की बत्ती बना उससे देनी चाहिये। दूसरे दिन माता को स्नानोपरान्त पर्याप्त दूध उतर आता है। सो बीच बीच में माता के स्तनों पर भी बालक को लगा देना चाहिए।

सद्योजात शिशुपालन विधि

सद्योजात शिशु को प्रथम स्नानीय क्रियाओं से निवृत्त कर उसे मुलायम और ढीले वस्त्र पहना गर्म और सुरक्षित स्थान पर कुछ देर तक विश्राम के लिए छोड़ दिया जाता है। इस समय में धात्री प्रसूता एवं उस कमरे की स्वच्छता आदि कार्यों में संलग्न हो जाती है। इस कार्य निवृत्ति के बाद वह बालक को पुनः सम्भालती है एवं अब उसकी खुराक का प्रबन्ध करती है। प्रथम खुराक बालक को बाहर से ही देनी पड़ती है, चाहे माता स्वस्थ रुग्ण हो, क्योंकि प्रथम दिन माता के स्तनों में दूध नहीं उतरता, दूसरे दिन स्नान कराने के बाद ही स्तनों में दूध आता है। इसलिए प्रथम खुराक के साथ में बालक को एक छोटा चमचा मधु का दें, इससे मल त्याग की क्रिया भी ठीक हो जाती है। इसके बाद दो-दो घण्टे पर एक चमचा ग्लूकोज को उबले पानी में डालकर बत्ती में देते रहें। फिर बालक को माता के स्तनों पर लगायें, जब तक दूध न उतरे चार घण्टे में एक बार और फिर एक घण्टे पर एक बार बच्चे को पन्द्रह मिनट तक स्तनों पर लगावें। अक्सर दूसरे दिन तक दूध नहीं आता ऐसे समय में बच्चे की भूख शान्त करने के लिए चमचा भर गर्म जल और थोड़ा सा दूध एवं जरा सा ग्लूकोज डाल कर दो-दो घण्टे पर दें। माता का पहला दूध जो उत्पन्न होता है उसे प्रथम दूध कहते हैं तथा इससे बालक का पाखाना अधिक होता है। इससे मल निकल कर आंतड़ियां साफ हो जाती है। प्रथम दूध देखने में पानी जैसा ही होता है।

जब दूध ठीक उतर आवे तब बालक को प्रति दो घटे पर ही दूध दें इससे पूर्व नहीं तथा दूध देकर अलग मुलायम गद्दीदार पालने या चारपाई पर लिटा देवें। प्रथम दिनों में बालक बीस घंटे तक सोता रहता है, उसके नेत्र ज्योति सहन नहीं करते सो सीधा प्रकाश उसके नेत्रों पर न पड़े इसका सदैव ध्यान रक्खें। बालक को प्रारम्भ से ही अच्छी आदतें डालनी चाहियें। इस समय में उसको जैसी आदत डालोगे वह शीघ्र ही पड़ जाती है। कम से कम खाने और सोने की आदतें डालनी चाहिए। यदि उसे पेट भर खाना मिल जाता है तो वह बहुत जल्द सो जाता है और दो-तीन घण्टे बाद ही जागता है। नीरोग बालक की भूख लगभग पन्द्रह मिनट लगातार दूध पीने के बाद शान्त हो जाती है। प्रत्येक बार दोनों स्तनों को बारी-बारी से पिलाना चाहिए।

बच्चे को कन्धे से लगाकर सुलायें पर सोने से पूर्व पालने में लिटा दें। परन्तु अक्सर देखा जाता है, बालक ज्योंही रोया कि माता उसे दूध पिलाने लगती है यह ठीक नहीं है। इससे प्रायः बालक बीमार हो जाता है।

सद्योजात बालक दो चार बार तक भी अगर दिन में मलत्याग करे तो कोई बात नहीं है। उसका मल धुले हुए मोटे सरसों के चूर्ण सदृश होना चाहिए। उसमें दुर्गन्ध तथा फटे हुए दूध का होना बीमारी का द्योतक है। जब बालक १५ दिन का हो जाए तथा वायु अधिक न हो तो उसे थोड़ी देर के लिए बाहर खुली हवा में लिटाना चाहिए। बच्चों के हाथ-पाँव मारकर खेलने तथा रोने से फुफ्फुसों का व्यायाम होता है, सो थोड़ी देर रोने से कोई हानि नहीं, लाभ ही होता है उसे रोना भी चाहिये।

बच्चे की माता यदि पेट भर दूध पिलाने में समर्थ है तो बहुत अच्छी बात है। ऐसी दशा में उसे फिर कोई वस्तु देने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु अगर माता किसी व्याधि या अन्य कारण से पूरा दूध देने में असमर्थ है तो उसे ऊपर का दूध देना पड़ता है। अगर घर में सामर्थ हो धात्री रखी जाती है, परन्तु ऐसा करने में असमर्थता हो तो बालक को ऊपर से दूध देना पड़ता है, दूध निम्न प्रकार से तैयार कर देना चाहिए—

गो का ताजा दूध लेवे। उसमें दुगना पानी डाल कर उबाल लेना चाहिए, फिर थोड़ा सा नितरा हुआ चूने का पानी डालें, उसमें थोड़ा ग्लूकोल डाल कपड़े से छान कर किसी शीशी में डाल कर दे। प्रत्येक शीशी में चुटकी भर नमक भी अवश्य डालें, इससे हाजमा ठीक रहता है। हम लोगों में साधारण तौर पर यह ख्याल बना हुआ कि दूध में पानी नहीं डालते, परन्तु बगैर पानी का दूध बालक ठीक तरह नहीं पचा पाता और अपाचन सम्बन्धी विकार हो जाता है। इसलिए आरम्भ से दूध में दुगना पानी डाले और एक ओंस दूध एक बार में दें। उबालने से उसमें इधर-उधर से उत्पन्न रोगोत्पादक कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं और उबलने से दूध सुपाच्य हो जाता है और बच्चा सहज में ही पचा लेता है। परन्तु कच्चा दूध शीघ्र नहीं पचता, इससे पेट बिगड़ जाता है तथा बार-बार पाखाना आता है। गर्म किये गये दूध में यह बात नहीं होती। यदि मलावरोध हो तो चूने के पानी की जगह जौ का पानी डाल लेना चाहिये। यह तैयार करने के लिए एक चम्मच भुना हुआ जौ एक पाउन्ड पानी

में उवाले तथा दो तिहाई अंश शेष रहने पर उतार लें। यह रोज ताजा ही पकाना चाहिए।

नोट—जन्म से लेकर एक मास तक वालक तथा माता को हर चौथे दिन चमचा अरण्डी का तेल शुद्ध किया हुआ देना चाहिए। अगर चौथे दिन न भी दे तो सप्ताह में एक बार देना परमावश्यक है। अगर बाहर से दूध देना पड़े तो निम्नलिखित कोष्ठानुसार दें—

वालक की आयु	समय	प्रत्येक वार
पहले सप्ताह में	२ घण्टे में	१ औंस
१ से ६ सप्ताह तक	२½ ,,	१½ से २ औंस
६ से १२ सप्ताह तक	३ ,,	३ से ४ औंस

अवस्थानुसार समय की मात्रा तथा दूध की मात्रा दोनों वढ़ाते चलें। नव-जात शिशु का भार लगभग ३ से ३½ सेर होता है। वालकों का भार उसी आयु की लड़की से अधिक होता है तथा नाड़ी की गति भी अधिक होती है। यदि शिशु एक सप्ताह या पक्ष के वाद तोला जाए तो इस वात का ठीक पता लग जाता है कि उसका वर्धन ठीक हो रहा या नहीं। यदि एक सप्ताह तक तोल न वढ़े या कम होता जाए तो इसका कारण मालूम कर योग्य चिकित्सा करनी चाहिये।

कभी-कभी हाल के जन्मे छोटे वालक के स्तन भी स्वयं फूल जाते हैं और सुर्ख तथा मुलायम हो जाते हैं तथा उनमें कभी-कभी दूध के समान पतला पदार्थ भी निकलता है इसको गर्म पानी में टंकणाम्ल डालकर सेकने से वहुत शीघ्र आराम हो जाता है इस विकार के होने पर स्तनों को मलना या निचोड़ना नहीं चाहिए। सेक के वाद टंकणाम्ल रुई रख पट्टी वाँध दें।

वालक को अक्सर दूध पीने के वाद पेट में वायु रुकने से दर्द हो जाता है। इससे वालक रोने लग जाता है। इस समय उसकी पीठ को थपथपाने से आराम हो जाता है तथा पेट को अलसी की पुल्टिश वनाकर सेक देना चाहिए और सज्जाखार १-३ ग्रेन की मात्रा में देना चाहिए इससे यह विकार शान्त हो जाता है तथा दूध पिलाने से पूर्व सोडा साईट्रास एक-एक ग्रेन की मात्रा में देवें।

जन्म के समय माता की योनिमार्ग से दुर्गन्धयुक्त स्राव का सम्बन्ध जब बालक की आँखों से हो जाता है तो उसकी आँख से पूय सदृश तरल पदार्थ निकलता है तथा उडक लगने या सावुन का फेन नेत्र में निकलने से भी यह विकार हो जाता है, इसलिए बालक के पैदा होते ही उसके नेत्रों का निरीक्षण ध्यानपूर्वक करें और टंकणाम्ल गर्म जल में डालकर नेत्रों का प्रक्षालन करें अथवा मरक्यूरिक परक्लोराइड का जल २०० में १ भाग मिलाकर बालक की आँखें अच्छी प्रकार धोयें। यदि समय पर यथोचित उपाय न किये गए तो आँखें खराब हो जायेंगी। यह विकार एक आँख से दूसरी आंख को भी हो जाता है इसलिए उपर्युक्त लोसन से कई बार नेत्र प्रक्षालन करें तथा बाद में रूक्षता निवारणार्थ नेत्र में वेसलीन या पेन्सलीन मरहम डालें। बालक में प्रकाश असह्यता होती है, इसलिए उनके नेत्रों पर तेज प्रकाश न पड़े इसका पूर्ण ध्यान रखें।

अक्सर बालक की नाल—पाँचवें, सातवें दिन गिर जाती है परन्तु कभी-कभी इसका अपवाद भी देखा जाता है सो आरम्भ से ही नाभिनाल का ध्यान रखना चाहिए। नित्य उस पर टंकणाम्ल की बुरकनी देकर स्वच्छ पतले एवं मुलायम वस्त्र की पट्टी बांधते रहें तथा नाल गिरने पर भी तीन दिन तक जब तक कि ऊपर से वह मार्ग ठोस रूप में नजर न आने लगे तब तक वह टंकणाम्ल डालकर पट्टी बांधते रहें तथा अन्य बाहरी संक्रमणात्मक कीटाणुओं से पूर्ण रक्षा करें। अगर अभाग्यवश नाभि पाक हो ही जाये तो पूर्णतया सावधानी से चिकित्सा करायें।

बालक को नित्यप्रति तिल तैल लगाकर निर्वात स्थान पर पानी से स्नान करायें। बाद में सूखे तौलिये से शरीर सुखाकर बौरिक एसिड पाऊडर की बुकनी शरीर पर सर्वत्र देकर मौसमानुसार मुलायम एवं ढीले वस्त्र पहनायें तथा वस्त्र नित्य बदलना चाहिए। अगर बालक कमजोर है तो उसे लाक्षादि तेल व मछली के तेल की मालिश धीरे-धीरे कर कुछ देर धूप सेवन कर नहलाना चाहिए। अगर अधिक कमजोर हो या वृद्धिक्रम कम हो तो उसे कुमार कल्याण रस एक चावल, प्रवालपिष्टी वा कार्यादिका भस्म ½ रत्ती की मात्रा में दिन में दो बार देवें। या एडेक्सोलीन वा विवडेसा अथवा औष्टी कैल्सियम की दो-दो बूँद तीन बार देवें। निरोग बच्चे को भी दिन में दो बार रोने की आवश्यकता है। रोने से उसके फेफड़ों के व्यायाम होने से वह मज-

वृत हो जाते हैं। यदि उसको कोई वास्तविक कष्ट न होगा तो रोने के बाद तुरन्त ही सो जायेगा अक्सर जब बालक उनींदे होते हैं तब ही रोते हैं। कभी-कभी बालक को प्यास भी लगती है तो थोड़ा-थोड़ा पानी भी देना चाहिये विशेषकर गर्मी के दिनों में अवश्य देना चाहिये।

प्रश्न—शिशु के नाभिपाक का वर्णन कीजिए और उसकी चिकित्सा भी लिखिए ?

उत्तर—शिशुओं का नभिपाक प्रायः नाड़ी परिकल्पन के पश्चात् होता है। प्रसव के अनन्तर नाल काटने में असावधानी और उसके शोपण के लिए उचित उपचार न करना ही इस रोग को आमन्त्रण देना है, इस रोग के कारणों का विस्तृत विवेचन न करते हुए मुख्य कारणों पर प्रकाश डाला जा रहा है। साधारणतः नाभिपाक के तीन कारण हैं—

१. प्रसविका की असावधानी

२. माता या परिचारिका की उपेक्षा

३. स्नान व तेल मर्दन में आघात

१. प्रसविका की असावधानी—प्रसवोकाल में नाल काटने के समय दूषित कुण्ठित जंग खाये या टूटे हुए चाकू या कैंची का प्रयोग, नाल के बन्धन में त्रुटि नाल को बलात् खींचकर काटना, मैले व दूषित हाथों का प्रयोग बन्धन सूत्र का मैला या दूषित होना नाल काटने के पश्चात् अवधूलन (पाऊडर) न लगाना या मात्रा से प्रयोग न करना अथवा पाऊडर का गुणहीन व दोषयुक्त होना, प्रसाविका (दाई) द्वारा उसका अकालिक और अमात्रिक प्रयोग ही नाभिपाक में पूर्ण सहायक व प्रधान कारक होते हैं, प्रारम्भिक स्नान ठीक न होने, नाभिस्थल पर गर्भस्थमल का संचय भी नाभिपाक में सहयोग देता है।

२. माता या परिचारिका की उपेक्षा— नाड़ी परिकल्पन के पश्चात् नाल के बन्धनसूत्र को बालक के गले में ढीला बांध देते हैं। कुछ व्यक्ति नाल काटने के बाद नाभिस्थल पर ही कपड़े की पट्टी द्वारा नाल को दबाकर बांध देते हैं। प्रथम प्रकार में दूध पिलाते समय या निद्रा में हाथ का आघा तथा बन्धन के कर्पण से कोमल नाभिस्थल पक जाता है। दूसरे प्रकार में वस्त्र पट्टी के अधिक कठोर होने या कसकर बांधने अथवा अधिक ढीला बांधने पर ऊपर नीचे सरक

जाने से नाल विकृत हो जाता है और पक जाता है। प्राय: देखा गया है कि उष्ण ऋतु में पट्टी की गर्मी से या अच्छा उत्तम पाऊडर न करने से नाभिपाक हो जाता है। माताएँ व परिचारिकाएँ स्नान कराते समय उपेक्षा करती हैं और नाल में झटका या दूषित हाथ लग जाते हे। साथ ही नाभिस्थल पानी को शुद्ध तूल (रूई) से नहीं सुखाते और गीले में ही पट्टी बांध देते हैं। ऐसी उपेक्षाओं से नाभिपाक हो जाता है।

३. **स्नान व तेल मर्दन में आघात**—बालक को दैनिक तेल मर्दन या घृत मर्दन, अथवा अवधूलन करते समय नाखून लग जाना, चोट लग जाना, नाल पर किसी भी प्रकार का आघात लग जाने से नाल असमय में ही बालक के नाभिस्थल पर घाव होकर रक्त बहने लगता है तथा पक भी जाता है। उसे नाभिपाक रोग कहते हैं।

नाभिपाक के उपद्रव—सर्वप्रथम नाल के विकृत होने या कच्चा उतर जाने पर शिरा व धमनियों का मुख खुल जाता है और उनसे रक्त स्राव या लाल पानी का स्राव होता रहता है और नाभि में व्रण होकर पूय पड़ जाता है। इसमें से स्फेट सूप में मय निर्गम. दुर्गन्ध आना व क्षत तथा स्फोट की आकृति बन जाती है।

बालक को वेदना, अनिद्रा, आध्मान, रक्ताल्पता व अजीर्ण हो जाता है और बाह्य दूषित विकार रक्त में मिश्रित होकर विविध रोग उत्पन्न कर देते हैं। साधारणतया पाचनदोप उदरपीड़ा के समय पैरों में संकोचन व उदर पीड़ा से नाभिस्थली से बिन्दुओं का निस्सरण होता रहता है।

नाभिपाक की भयंकरता—रोग की विशेप वृद्धि से टिटनिस होना, स्फोट आदि उपद्रव, कान्तिहीन होना, पाचन क्रिया बिगड़ जाना, रक्त की न्यूनता आदि भयंकर व्याधियाँ बालकों को ग्रसित कर लेती हैं।

नाभिपाक की चिकित्सा—आयुर्वेदीय ग्रंथों में इस रोग की चिकित्सा इस प्रकार है—बालक की नाभिपाक में हल्दी, पठानी लोध्र, प्रियंगु, मुलहठी का सूक्ष्म चूर्ण बनाकर डालना चाहिए तथा इन्हीं औपधियों का तेल बनाकर डालना चाहिए।

दूध व बकरी की मैंगनी नाभिपाक पर लगानी चाहिए। इनका पाऊडर बुरकना चाहिए तथा दूध वाले वृक्षों की छाल और चन्दन का कपड़छन चूर्ण करके नाभिपाक के ऊपर पुन:-पुन: बुरकना चाहिए।

यदि सद्योजात बालक की नाभिकल्पना के पश्चात् किसी विकार से नाभि पक जाये तो पठानी लोध्र, मुलहठी, प्रियंगु, देवदारू व हल्दी इनके कल्क से साधित तेल द्वारा नाभि को बार-बार सिंचित करे, इससे नाभिपाक शीघ्र ही अच्छा और शान्त हो जाता है।

प्रश्न—नवजात शिशु के श्वासावरोध की चिकित्सा लिखें ?

उत्तर—जन्म से ही बच्चा जोर-जोर से रोता है, इसकी श्वासोच्छ्वास की क्रिया चालित हो जाती है, परन्तु अगर रोये नहीं तो उसके मर जाने का डर रहता है। कभी-कभी जन्म से बच्चा बहुत ही कमजोर होता है यहां तक कि मरा हुआ सा दिखाई देता है। हाथ, पांव नहीं हिलाता, गर्दन ढीली रहती है। मुँह विकृत रहता है, कभी-कभी तो नाभि की नाड़ी भी नहीं मिलती। ऐसी दशा में उस बच्चे को मरा हुआ नहीं समझना चाहिए। इसके लिए बच्चे के गले में अंगुली में रूमाल लपेट कर डालना चाहिए। बच्चे के मुँह पर यदि नीलिमा मालूम हो तो एक दम नाल काट कर चमचा डेढ़ चमचा रक्त निकाल देना चाहिए, इसके बाद कूल्हे पर धीरे-धीरे थपकी मार कर बच्चे को रुलाना चाहिए अथवा थोड़ी सी ब्राण्डी उसकी छाती पर लगाए। इससे श्वासोच्छ्वास आरम्भ न हो तो बालक को बारी-बारी से ठण्डे और गर्म पानी के बर्तन में डुबाना चाहिए वा कुछ सैकिण्डों तक उसके पाँव ऊपर और सर नीचे को करना चाहिये। इस क्रिया द्वारा मस्तिष्क में रक्त प्रवाह आरम्भ हो जायेगा और श्वास नालिकायें भी खुल जायेंगी। यदि उपर्युक्त उपाय से भी श्वासोच्छ्वास प्रारम्भ न हो तो कृत्रिम रीति से उसे प्रारम्भ करना चाहिये। एक कृत्रिम रीति इस प्रकार है—

एक आदमी बच्चे की गर्दन कुछ नीचे करके मुख खुला रखकर उसे पकड़े। मुख को स्वच्छ करके उस पर एक रूमाल डाले, इसके बाद एक दाई बच्चे के मुँह में अपना मुँह लगा कर धीरे से थोड़ी हवा रूमाल पर से एक मिनट में बीस बार फेफड़े में पहुँचाने का यत्न करें और बीच बीच में छाती को धीरे से दबायें इससे फेफड़े खुल जायेंगे और श्वासोच्छ्वास प्रारम्भ हो जायेगा। दूसरी रीति इससे भी भिन्न है वह इस प्रकार है—

बच्चे को जमीन पर उत्तान लिटाकर उसके कन्धे एवं सिर को जरा ऊँचाई में रखें, कुहनी के ऊपर उसके दोनों हाथ पकड़ कर अपने दोनों हाथों से उनको धीरे-धीरे बच्चे के सिर के ऊपर लावें और कुछ समय तक वैसे ही लम्वे किये रखें। इससे छाती फूलती है और हवा वैठती है। इसके वाद हाथों को धीरे-धीरे नीचे करके उनके योग से फेफड़ों की वायु वाहर निकलने के लिए उन हाथों से कोखों पर दावें और थोड़ा सा ठहर जायें उपर्युक्त क्रिया एक मिनट में लगभग वीस वार करें। इस रीति से बच्चा श्वासोच्छ्वास लेने लग जाता है। इस रीति से एक घण्टा और कभी-कभी इससे भी अधिक समय कृत्रिम श्वासोच्छ्वास कराने में लग जाता है। क्योंकि जव तक छाती में हृदय की धड़कन होती रहती है तव तक बच्चे की श्वासोच्छ्वास लेने की सम्भावना रहती है। उपर्युक्त कृतियों से अगर बच्चा हिलने डुलने लगे तो उसके जीने की प्रायः आशा त्याग देनी चाहिये।

प्रश्न—शिशु के यकृत रोग के कारण लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन कीजिये।

उत्तर—वाल रोगों की चिकित्सा औषध विज्ञान की सम्भवतः सवसे कठिन समस्या है। क्योंकि सारी ही बातें रोगी को ठीक-ठीक पहचानने के लिए विरोध में होती है। प्रायः माता पिता ऐसे इतिहास के सम्बन्ध में मौन रहते हैं जिसका रोग से कोई सम्वन्ध हो सकता है। बच्चा अपनी वीमारी के लक्षण कभी भी नहीं वतला सकता और डाक्टरी लक्षण मिलने कठिन होते हैं क्योंकि वच्चा किसी अनजान के द्वारा छेड़ा जाना पसन्द नहीं करता। केवल वच्चों में ही पाया जाने वाला और वाल मृत्यु के लिये काफी उत्तरदायी वाल यकृत है जिसकी परिभाषा निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

(वाल यकृत रोग) एक ऐसा रोग है जो केवल ६ माह और पाँच वर्ष की आयु के ही बच्चों को होता है।

लक्षण—इसमें निम्नलिखित लक्षण होते हैं—

मैंदे व आंतों के रोग (जैसे कब्ज दस्त अथवा उलटियाँ होना) ज्वर यकृत का वढ़ जाना, और कभी-कभी पीला (तिल्ली) का भी वढ़ जाना, पीलिया जालीदार और सूजन (जैसे पैरों, हाथों इत्यादि की सूजन) और यदि ठीक से उपचार न किया जाये तो परिणाम घातक हो सकता है।

यह रोग किसी एक प्रदेश तक ही सीमित नहीं है अपितु सारे भारत में व्याप्त है तथापि दक्षिण भारत, बंगाल, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और बम्बई में इसकी प्रधानता देखी गई है ।

एक विचार ऐसा भी प्रचलित प्रतीत होता है कि अधिक ऊँचाई और सम जलवायु विरोधक का कार्य करती है । हमारा निजी अनुभव इसे निश्चित रूप से निर्मूल सिद्ध करता है ।

अन्य जातियों तथा धर्मों की अपेक्षा हिन्दू शाकाहारी बच्चे इस रोग से अधिक ग्रसित होते हैं । माताएँ प्रायः स्वास्थ्य के आधारभूत नियमों से अनभिज्ञ होती हैं और उनकी उपेक्षा करती हैं । वात्सल्य में वह अपने बच्चों को अनियमित अन्तर से प्रत्येक संभव समय पर भूख से अधिक खिलाती हैं । यह वात्सल्य प्रायः प्रथम सन्तान या प्रथम लड़के पर प्रदर्शित किया जाता है । परिवार के अन्य बच्चों को छोड़कर इन्हीं में अधिक मात्रा में फैले इस यकृत रोग से इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है कि अनियमित और भूख से अधिक भोजन से यकृत असामान्य रूप से क्रियाशील होता और बढ़ जाता है । अनुपात में मांसाहारियों में यह रोग कम होता है ।

एक अशक्त माँ के बालक इस रोग से क्रमानुसार ग्रसित होते गये हैं । कारण यह है कि बच्चे का जीवन प्रथम दस महीनों में जटिल रूप में अपनी माता से जुड़ा रहता है और क्योंकि ठीक यही आयु रोग से ग्रसित होने की है इसी से माता की अस्वस्थता और अपूर्ण आहार से समय रहते सचेत होना आवश्यक है ।

इस प्रकार इस रोग के मुख्य कारण सम्भवतः यह हैं—

१—गर्भावस्था तथा बच्चों को दूध पिलाने में माता की अस्वस्थता या ठीक भोजन न मिलना ।

२—अधिक मात्रा में निशास्ता या शाकादि हरा भोजन न होना ।

३—कम मात्रा में अथवा अस्वस्थ माता का दूध जिसके कारण कृत्रिम दूध और भोजन की आवश्यकता पड़ती है ।

४—माता पिता द्वारा बच्चों को अनियमित और भूख से अधिक भोजन किया जाना ।

बच्चों के अयोग्य भोजन।

प्रमुख ब्रह्म लक्षणों के अनुसार इस रोग की प्रगति को तीन अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है :—

१—बच्चा साधारण से भी अधिक स्वस्थ (अत्यधिक मोटा) प्रतीत होता है वह अधिकाधिक मात्रा में भोजन करता है उछलता कूदता है और प्रसन्न प्रतीत होता है परन्तु उसके शरीर के तापक्रम में कभी-कभी वृद्धि हो सकती है जिसको माता पिता से ही अनुभव कर सकते हैं। फिर बच्चा कभी-कभी कब्ज से पीड़ित होना प्रारम्भ होता है और कुछ प्रसन्न रहता है यह अवस्था अनजाने ही निकल जाती है।

२—दूसरी अवस्था प्रारम्भ होते ही बच्चे के तापक्रम में काफी वृद्धि हो जाती है। यकृत और पेट बढ़ने लगते हैं। बच्चा अधिकतर मुँह के बल ठण्डे तल से चिपकाये पड़े रहना पसन्द करता है बच्चे को अधिकतर या तो काफी कब्ज रहता है या फिर दिन में काफी दस्त आते हैं। कभी-कभी उल्टी (वमन) हो सकती हैं। उसकी भूख और चपलता नष्ट हो जाती है। बच्चा चिड़चिड़े स्वभाव का और दुर्बल हो जाता है उसका रंग मलीन और पीला तथा मूत्र भी रंगदार हो जाता है। जैसे-जैसे रोग की यह अवस्था बढ़ती है आंतों में कब्ज बढ़ता जाता है। दस्त अधिक मात्रा में और मटमैले होते हैं, हरे रंग के भी हो सकते हैं। अन्त में यह सफेद रंग के और बदबूदार हो जाते हैं। मूत्र सूखने पर थोड़ी देर पश्चात् सफेद रंग का धब्बा पड़ जाता है।

३—यकृत का स्थान बड़ा दर्द करने लगता है, ज्वर उतार चढ़ाव के साथ तेज रहता है। ज्वर अविराम भी रह सकता है। हल्का-हल्का पीलिया प्रथम बार भासित होता है और बाद में अधिक हो जाता है, त्वचा नेत्र व मूत्र गहरे पीले रंग के हो जाते हैं। हाथ, पैर और कभी-कभी मुख पर सूजन आ जाती और जलोदर रोग भी हो सकता है। इस अवस्था में रोग बढ़ने पर पेट पर नीली मोटी नसें उभर आना साधारण बात है। इस अन्तिम अवस्था में प्रायः प्लीहा भी बढ़ जाती है अब जब अधिक बढ़ जाती है तो आमाशय के ऊपरी प्रदेश में कठोर सी वस्तु प्रतीत होती है। रोगी चिड़चिड़ा और नींद में भरा रहता है और अचेतावस्था में ही उसकी मृत्यु तक हो सकती है। मृत्यु के कुछ पूर्व ऐंठन भी प्रारम्भ हो सकती है।

चिकित्सासूत्र—यकृत वृद्धि अथवा शिशु यकृत की चिकित्सा के विषय में महर्षि चरक ने लिखा है कि "दोषों के अत्यन्त इकट्ठा हो जाने से और श्रोतों के रुक जाने से ही ऊपर रोग अथवा वाल यकृत उत्पन्न होते हैं इसलिये इस रोग के रोगी को नित्य विरेचन करायें किन्तु दुर्बल तथा वालक को विरेचन नहीं करावे। इस प्रकार के रोगियों को जिन्हें विरेचन नहीं दिया जा सकता उन्हें औषधियों से सिद्ध किये घृत, यूप तथा मांस रस, संशमन द्रव्य, वस्ति, अभ्यङ्ग, अनुवासन औपविसिद्ध दूध देने चाहिए।

वालक को ऐसी औपधि देनी चाहिये जो विरेचक तो न हो किन्तु टट्टी खुलकर आती रहे। इसके लिये पिप्पली चूर्ण तथा सर्वांग सुन्दर रस मिला कर वड़ा काम करता है। इससे शौच शुद्ध आता है साथ ही यकृत् रोग भी ठीक हो जाता है।

शिशु यकृत् के रोगी वालक को केवल दूध यदि सम्भव हो तो वकरी का दूध श्रेष्ठतम भोजन है क्योंकि गाय का दूध वात पित्तहर है जवकि वकरी का दूध तीनों दोपों को शान्त करता है।

प्रश्न—कामला रोग का वर्णन कीजिए ?

उत्तर—यकृत द्वारा उद्रेचित रस जिसे वाइल (पित्त) संज्ञा दी जाती है जव पित्त नली के अमरोध या अन्य यकृत दोप के कारण ग्रहणी में नहीं पहुँचता है तव वह पहले रक्त में, फिर मूत्र में फिर त्वचा और आँख की ऊपरी झिल्ली में (कंजक्टाइवा) पहुँच कर इन्हें पीला वना देती है।

पाश्चात्य वैद्यक में रोग के कारण के आधार पर इसके तीन भेद किये गये हैं।

१. अवरोधज
२. विपज
३. पांडुज (रक्त क्षयज)

१ अवरोधज—यह अवरोधज पित्त नली में अन्नाद क्रिमी, विजातीय पदार्थ शोथ, व्रणोपरान्त संकोच निकटस्थ अर्वुद के दवाव आदि के कारण होता है। इसमें शरीर का वर्ण तो पीला हो जाता है लेकिन मल का वर्ण मिट्टी सदृश या श्वेत रंग का होता है। इस प्रकार के कामला का वर्णन प्राचीन आयुर्वेद के ग्रंथों में शाखाश्रित कामला के नाम से मिलता है। जिससे

महर्षि चरक ने प्रतिपादित किया है। आयुर्वेद शास्त्रोक्त घृत जो औषधियों से सिद्ध किये जाते हैं उनका गुण सामान्य घृतों से बदला जाता है। अवरोधज कामला तथा पाण्डुल कामला में इसका प्रयोग लाभकर होगा।

पथ्य के रूप में पुराना चावल, गेहूं, जौ, मूँग, मसूर, जांगल पशु पक्षियों का मांस रस मात्रानुसार तथा रोग की अवस्थानुसार देनी चाहिये।

समन्वयात्मक दृष्टिकोण से इस चिकित्सा सूत्र और प्रयोग पर विचार करने से प्रतीत होता है कि यह प्रयोग प्रधानतः कफहर एवं शोथनाशक है।

शाखाश्रित कामला में अवरोध अधिकतर पित्त नली में शोथ के कारण होता है। शोथ के अतिरिक्त गोल मुख, क्रिमि व पित्ताश्मरी के द्वारा अवरोध होने पर भी त्रिकटु तीक्ष्ण होने से यह योग उन्हें रास्ते से हटाने में सहायक होगा। अर्बुद या कैन्सर के कारण अवरोध होने पर यह प्रयोग विशेष लाभप्रद नहीं सिद्ध होगा।

पाश्चात्य वैद्यक शास्त्र में शाखाश्रित कामला के लिए अवरोध के कारणों के अनुसार चिकित्सा करने का आदेश है यथा क्रिमिजन्य अवरोध में क्रिमि-नाशक औषधियों का प्रयोग। महर्षि चरकोक्त उपरोक्त प्रयोग ऐसा है कि हर प्रकार के शाखाश्रित कामला में लाभप्रद होगा। मल का पित्त से रंगे जाने पर्यन्त तक इस प्रयोग को करना चाहिये। इसके उपरोक्त मृदु विरेचन आदि का प्रयोग उचित है। इस प्रयोग के साथ ही साथ अन्य शोथहर, पाचक और रक्तवर्धक औषधि की भी व्यवस्था कर सकते हैं यथा पुनर्नवा मण्डूर (चरकोक्त) जवास लोह (भैषज्य) धान्यारिष्ट के योग भी पित्त को स्वस्थान लाने में सहायक होते हैं।

इस प्रकार के कामला की चिकित्सा पर ध्यान देने के पूर्व स्मरण रखना चाहिये कि इसमें यकृत् की सेलों में विकार और उनमें कार्यक्षमता हो जाती है। इसलिए इसमें ऐसे द्रव्यों का प्रयोग श्रेयस्कर है जिससे अधिक से अधिक उस अंग को आराम मिले और उसका कार्य अन्य अंग सम्भाले जिससे शरीर की शक्ति अधिक न गिरने पावे। सिद्ध घृतों यथाविधि स्नेह न करने के उपरान्त मृदु विरेचन का प्रयोग करना चाहिये। घृत के प्रयोग के विषय में मतभेद हो सकता है क्योंकि इससे यकृत् पर जोर पड़ेगा और उसे इसके परिपाक के लिए अधिक श्रम करना पड़ेगा जो अभीष्ट नहीं है।

चाहिये। इसका विशद वर्णन क्षुद्रबालरोगान्तर्गत क्षीरालसक के साथ देखना चाहिये।

सहायक कारण—गन्दी जलवायु, अशुद्ध वातावरण, अधिक जनसंख्या युक्त वासस्थान और अपवित्र जल भूमि और वायु के होने पर भी नगरों में बहुधा बच्चों को अतिसार हो जाया करता है।

वास्तव में अतिसार के प्रकार की कुछ सीमा नहीं बांधी जा सकती। यह अतिसार अमुक प्रकार है ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वास्तव में वह एक शुद्ध रूप का भी नहीं होता है। एक प्रकार का अतिसार दूसरे में और दूसरा तीसरे में परिवर्तित हो जाता है। परन्तु सरलता के लिये हम यहाँ तीव्र और चिरकालीन इस प्रकार दो प्रकार के अतिसारों का वर्णन करेंगे।

तीव्रातिसार—इसके तीन प्रकार होते हैं—

क—साधारणतया यह केवल मन्दाग्नि जन्य कारणों से होता है और इसमें दूसरा कुछ उपद्रव नहीं मिलता।

ख—सन्ताप युक्त अतिसार या ज्वरातिसार इसमें अतिसार के साथ-साथ ज्वर भी रहता है। अतिसारिक महामारी भी इसी का रूप होता है।

ग—विसूचिकीय अतिसार इसमें विसूचिका की भांति अत्यन्त पतले दस्त अनेक वार होते है।

साधारण अतिसार से सन्तापयुक्त और उससे विसूचिकीय रूप धारण कर सकता है।

बालातिसारीय लक्षण और चिन्ह

१. यह अकस्मात् या शनैः शनैः कैसे ही प्रारम्भ हो सकता है।

२. दस्तों के साथ-साथ वमी भी रह सकती है।

३. आरम्भ में दस्तों का रंग प्राकृतिक पीला रहता है, कुछ समय बीतने पर हरा हो जा सकता है। अधिक काल पश्चात् श्लेष्मा तथा रक्तयुक्त भी हो सकता है। अधिक काल तक अतिसार रहने से मल का स्वरूप जलीय और तीव्र गन्धयुक्त हो जा सकता है।

मल और उसकी विशेषताएँ

अनेक प्रकार के अतिसारों में अनेक प्रकार के मल (दस्त) देखने को मिलते हैं। यहाँ संक्षेप में उनका विवरण इस दृष्टि से दिया जाता है कि मल

को देखकर ही अतिसार की श्रेणी और इसलिए उसकी गम्भीरता का ज्ञान हो सके।

हरा मल—मल के रंग का हरा होना बहुधा मल के साथ पित्त के मिले रहने से होता है। परन्तु कभी-कभी एक विशेष प्रकार के सूक्ष्म जीवों के द्वारा बनाये गये रंग द्रव्य के भी कारण होता है।

दुर्गन्धित मल—क्षुद्रान्त्र के ऊपरी भाग में पाचन-तरंग के अत्यन्त तीव्र होने के कारण भोजन का पाचन ठीक नहीं हो पाता। अर्द्धशोषित भोजन जब (स्थूलतन्त्र) में आता है तो यहाँ इसमें सड़न क्रियोत्पादक जीव उत्पन्न होकर मल को अत्यन्त दुर्गन्धित बना देते हैं।

श्वेत मल—मल के अन्दर छोटे-छोटे अनेक श्वेत रंग के कण दिखाई देते हैं जो मल में इतस्ततः फैले रहते हैं। ये श्वेत कण बहुधा दूध की केसीन नामक प्रोमुजिन की उपस्थिति के कारण होते हैं। कभी-कभी दूध स्नेह तथा चूर्णीय लवणों के संयोग से निर्मित फैनिलय पदार्थ के कारण भी हो सकते हैं। श्वेत मल बतलाता है कि जितना दूध संपाचित होता है उससे कहीं अधिक बच्चे को दिया जाता है। कभी-कभी मल में श्लेष्मा की छोटी-छोटी गोलियाँ बंधी हुई दिखाई पड़ती हैं। यह अन्त्र के अन्दर होने वाले कोप के कारण हुआ करता है।

प्रकोपक मल—इस मल के कारण शिशु के गुद भाग में क्षुब्धता उत्पन्न हो उठती है यही नहीं कभी-कभी तो वे इतने प्रकोपी होते हैं कि उनका एक भी बिन्दु यदि पैर पर गिर जाए तो वहाँ फफोला डाल देता है। उनके कारण शरीर के नितम्ब प्रदेश में शीत पैत्तिक दाने निकल आते हैं। यह मल एक विशेष प्रकार के स्नेहाम्ल जैसे ब्यूटाइरिफ एसिड के फलस्वरूप निर्मित होता है अत्यधिक शर्करा सेवन करने से भी आम्लिक मल उत्पन्न होता है। परन्तु उसमें उसमें झाग अधिक मिलता है।

श्लैष्मिक मल—इसमें श्लेष्मा की मात्रा अत्यधिक रहती है। इसमें स्थूलान्त्र का विशेष सम्बन्ध आया रहता है। यदि श्लेष्मा के साथ-साथ रक्त और आने लगे तब तो स्थूलान्त्र की ही महत्ता बढ़ जाती है।

ये लक्षण साधारण अतिसार में नगण्य रहते हुए भी विसूचिकीय प्रकार में जीवाणु जन्य विष के अन्त शोषण से अनेक सार्वदैहिक परिणामोत्पादक

लक्षण दिखलाई पड़ सकते हैं। हृदयावसाद और ब्रह्म-रन्ध्र का बैठ जाना उनमें मुख्य हैं। अत्यधिक शोषित हुए जीवाणु विष के कारण आँखें बैठने लगती हैं उनमें श्लेष्मा भरा रहता है और सोते समय भी आधी खुली हुई दिखाई देती है। बच्चे के चर्म पर झुर्रियाँ पड़ने लगती हैं। इस चर्म को नोंचने पर उसमें कोई प्रतिकार उत्पन्न न होकर वह नुचीं हुई अवस्था में रहता है। जिसका अभिप्राय है कि त्वचा में से स्थिति स्थायकता चली गई है।

यदि उस समय शिशु के मूत्र की परीक्षा की जावे तो उसमें शिवति मिल सकती है। इसी कारण चर्म की ऐसी स्थिति देखकर कुछ कहते हैं कि इसमें वृक्कों का भी कुछ कारण है तथा मूत्र बनने का कार्य रुक गया है। चर्म का यह स्वभाव तभी होगा जब शरीर में जल राशि कम होकर विजलीयता उत्पन्न होने लगेगा।

यह अतिसार निरन्तर चलता रहा तो हृदयावसाद के लक्षण और भी अधिक प्रकट हो जाते हैं। शारीरिक धरातल का तापमान गिरने लगता है—यद्यपि गुद-ताप अब भी अधिक रहता है। बच्चा नीला पड़ जाता है और अनन्तः आक्षेप होकर मृत्यु हो जाती है।

इस प्रकार हृदयावसाद और विजलीयत के घातक लक्षण अत्यन्त उग्र स्वरूप के अतिसार में अधिकतर मिलते हैं।

तीव्रातिसार की चिकित्सा—इस अवस्था में औषधियों पर बिल्कुल विश्वास न करके निम्नांकित दो कार्य कराने चाहियें—

(१) उपवास
(२) उत्सर्जन

उपवास—१—शिशु को लंघन कराने की आवश्यकता इसलिये है कि यदि उसकी खाद-सामग्री विशेपकर दूध जो अशुद्धता की जड़ है—रोकी नहीं जाती तो जीवाणु और अधिक पलेंगे।

२—उपवास—४८ घंटे से अधिक देर तक कभी न चलने दिया जाय।

३—परन्तु जैसा कि पहले लिखा जा चुका है उपवास के समय शिशु को उष्ण बनाये रखना चाहिये तथा पीने के लिये खूब द्रव्यों का उपयोग करना

चाहिये। अतः दूध देना बन्द करके अर्द्ध शक्ति में लवण या ५ प्रतिशत ग्लूकोज का घोल देना चाहिये।

४—जब लक्षण कम हो जाये तो पोषक पदार्थ जैसे शुष्क प्रोभूजिन या अर्द्ध स्निग्ध शुष्क दूध चूर्ण दिया जा सकता है जिसमें आगे चलकर द्राक्षासव शर्कर मिलाया जा सकता है, इस समय माल्ट युक्त दूध का प्रयोग भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

उत्सर्जन

आमाशयिक प्रक्षालन—प्रक्रिया सबसे पहले जाननी चाहिये और यदि अतिसार तीव्र स्वरूप का है तो गुद वास्ति का प्रयोग करके मलाशय की स्वच्छता की जावे। इस प्रकार दोनों सिरों (मुख गुद) को स्वच्छ करते हुए आगे बढ़ जावे।

गुद वास्ति के लिये बालक को पीठ के बल लिटाओ उसके नितम्बों को कुछ ऊँचा करदो ताकि गुरुत्वाकर्षण की दशा बृहदन्त्र की ओर हो जावे। एक पतले छिद्र की छोटी ट्यूब (अन्नप्राणलिका नलिका) को सावधानी से गुद मार्ग द्वारा २ इंच तक प्रवेश करो और प्रवेश के समय भी जल निकलते रहने दो। फिर अन्त्र का पूर्ण रूप से चल करके समस्त अशुद्धियों को दूर कर दो। यह ध्यान रखना चाहिये कि कहीं अंत्र फट न जावे। इस प्रकार करने से कुछ जीवाणु और उनका विष अंत्र के कुछ भाग से बाहर चला जाता है।

२—उपत्वक वेध के द्वारा दो छटांक विशुद्ध मन्दोष्ण लवण जल को देने से विजलीयता दूर होगी। ऐसा करने से हृदयविसाद भी दूर होगा रक्तपीड़न बढ़ेगा तथा वृक्कों के द्वारा अनेक विषों का उत्सर्ग होगा। यह क्रिया प्रति ६ घंटे पश्चात् तब तक की जाती है जब तक कि शिशु तन लवण जल (१ पाइंट में $\frac{1}{2}$ चम्मच नमक) को मुख से पीने में समर्थ न हो जाये।

उपत्वक्वेध के स्थान पर सतत सिरावेध के मार्ग का अनुसरण अति भयानक अवस्था में अवसाद के रोकने के लिए किया जा सकता है।

इस प्रकार प्रक्षालन क्रियाओं से आमाशय और आंशिक रूप में स्थूलान्त्र की शुद्धि बताई जा चुकी है शेष और वास्तविक शुद्धि तो क्षुद्रांत की है जहाँ

पर कि जीवाणुओं ने अपना अड्डा जमा रखा है। उसके लिये निम्नांकित विरेचक द्रव्यों को उपयोग में लाना चाहिये।

शुद्धैरण्डतैल

आ—वर्मी या अन्य कारण से एण्ड तैल सेवन में आपत्ति हो तो ½ रत्ती कैलोमल सोडा वाई कार्व के साथ दिया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में विशिष्ट ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है यदि त्वचा की स्थिति स्थायकता चली गई है तो उसे उष्ण रखने के लिये उष्णता प्रदायक प्रक्रिया द्वारा उष्ण रखेंगे।

यदि हृदयावसाद के चिन्ह प्रकट हो रहे तो राजिकास्नान का प्रवन्ध करेंगे। यह प्रक्रिया अत्यन्त शक्तिशालिनी है। राजिकास्नान में तापमान धीरे-धीरे ११०° फ० तक वढ़ाकर ले जाते हैं। हृदयावसाद नाशक द्रव्यों का प्रयोग जैसे कपूर तैलीय घोल के ही ५ विन्दु या ½ विन्दु कुचेलक द्रव उपत्वक्वेध से या कपूर गद्य के ५-१० विन्दु मुख द्वारा दे सकते हैं या अन्य हृद्य द्रव्य कोरेमीन आदि भी दिये जा सकते हैं।

शिशु की सार्वदैहिक स्वच्छता की ओर भी ध्यानाकर्षण की आवश्यकता है। उसको दिन में एक वार मन्दोष्ण जल से स्नान करा देना चाहिये। उसके कपड़े स्वच्छ रखने चाहिये। तथा मलसिक्त कपड़ों को शीघ्र हटाकर स्वच्छ कपड़ों का प्रयोग करना चाहिये। कमरे में वायु प्रवेश का पूरा प्रवन्ध रखना चाहिये। अधिक गर्मी में किसी शीतल स्थान में ले जा सकते हैं।

यद्यपि वालातिसार में औषधियों द्वारा चिकित्सा करने की कहीं और कोई आवश्यकता नहीं हो सकती परन्तु फिर भी इनके द्वारा कुछ सहायता मिल सकती है।

प्रश्न—प्रसूतावस्था में शुद्धता पर एक निवन्ध लिखिये ?

उत्तर—देश में प्रसूताओं की मृत्यु चालीस प्रतिशत तक केवल सूतिका काल में उपसर्ग होने से होती है। जीवाणुओं की विविध उपसर्ग गर्भकाल या सूतिकाकाल में चिकित्सक या परिचारक की असावधानी के कारण वाहर से अन्दर की ओर पहुंच सकते हैं। इसलिये प्रसव कराते समय इस वात का ध्यान रखना चाहिये कि हमारे सभी कर्म रोगोत्पादक कीटाणुओं से रहित हों जीवाणु-साहित्य की ओर जितना भी पाठकों का ध्यान आकर्पित किया जाय

उतना ही थोड़ा है, क्योंकि इसकी उपेक्षा से ही प्रसूता के सभी भयानक रोग उत्पन्न होते हैं। मातृसेवासदनों में तो पूर्णतया जीवाणुरहित विधियों का प्रवन्ध रहता है, तथापि सूतिकोपर्ग वहुधा हो जाया करते हैं। फिर तो मामूली ढंग से साधारण गृहस्थों के घरों में प्रसव कराते समय उपसर्ग या संक्रमण से रक्षा होना असम्भव सा हीं है। जीवाणुसाहित्य का ध्यान-यन्त्र शस्त्र, दास्ताने, परिधान, वेश-भूषा प्रभृति प्रत्येक द्रव्य जो प्रसूता के सम्पर्क में आने वाले हों सभी के सम्वन्ध में रखना चाहिये। इन्हें विशोधित करके सुरक्षित कर लेना चाहिये।

विशोधन के लिये लाइसील १ पिन्ट जल में एक टेवुल चम्मच भर कर यायूद लवणों के योग (१:१०००), त्वचा पर लगाने के लिए आयोडीन उत्तम है। आजकल 'डेटाल' का प्रयोग अधिक होता है क्योंकि यह विपाक्त नहीं है साथ ही स्थानिक क्षोभ भी उत्पन्न नहीं करता और गन्ध भी अच्छा रहता है। इसका एक योग्य मात्रा में, (५%) का घोल वना कर त्वचा आदि की सफाई के लिये व्यवहार में लाना चाहिये।

स्वस्थ गर्भावस्था में सामान्यतः योनि का स्राव वढ़ जाता है। इस स्राव में अपिस्तर श्वेतकण, श्लेष्मा आदि होते हैं—यह वर्ण मे सफेद होता है तथा इसकी प्रतिक्रिया अम्ल होती है, उसमें अनेक संख्या मे योनिगत तृपाणु पाये जाते हैं। ये तृपाणु वात भी एवं गतिहीन होते हैं। इनकी उपस्थिति में वहां के रोगोत्पादक जीवाणु निष्क्रिय हो जाते हैं। यदि कोई नया उपसर्ग पहुँचता है तो वह इनकी अम्ल प्रतिक्रिया से नष्ट कर दिया जाता है। यदि किसी प्रकार योनिगत अम्लता कम हो जाय। जैसा कि प्रसव के पश्चात् गर्भाशय से निकलने वाले क्षारीय स्राव में होता है। तो इन दिनों में योनि में कई प्रकार के जीवाणु प्रवेश पाकर जीवित रह सकते हैं। परन्तु जव गर्भाशय का क्षारीय स्राव वन्द हो जाता है तो योनिगत अम्लता पुनः ठीक हो जाती है प्रविष्ट हुए रोगोत्पादक जीवाणु मर जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं।

प्रसव के पूर्व इसीलिए उत्तरवस्ति देने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। उत्तरवस्ति के द्वारा योनिगत अम्लता के नष्ट होने की या इस क्रिया के द्वारा नये जीवाणुओं के योनि के अन्दर जाने की आशंका रहती है।

प्रकृति भी प्रसवकाल में जीवाणुओं का विरोध करती है।

अपत्यपथ के तीन भाग होते हैं—

१. भग—विभिन्न प्रकार के रोगोत्पादक जीवाणु समूह इस पथ पर पड़े रहते हैं—इसलिए इसे उपसृष्ट मार्ग की संज्ञा दी जा सकती है।

२. योनि—इसमें योनिगत तृण्णाओं की अम्लता के साथ उपस्थिति पाई जाती है अतः उपसर्ग विरोधी मार्ग की संज्ञा दे सकते हैं।

३. गर्भाशय गुहा—यह श्लेष्मा की डाट के द्वारा बन्द होकर योनि से अलग-सा रहता है अतः पूर्णतया जीवाणुओं से अनुपसृष्ट मार्ग कह सकते हैं।

प्रकृति के द्वारा वाहर से भीतर की ओर पहुँचने में जीवाणु से रक्षा के निमित्त इतना प्रवन्ध मिलता है—उपसृष्ट से उपसर्गविरोधी उसके वाद मार्ग क्रमशः सजे रहते हैं। इतने से ही सन्तोष हो गया ऐसा नहीं; वल्कि और भी रक्षाविधानों का अनुष्ठान करती है।

१. प्रसव की प्रथम और द्वितीय अवस्थाओं में स्राव को वढ़ाती है।

२. जरायु की विदीर्ण होने पर विशुद्ध जीवाणुरहित गर्भोदक से परे अपत्यपथ का प्रक्षालन कर देती है।

३. वच्चे के जन्म के तत्काल वाद पुनः दूसरी वार अवशिष्ट गर्भोदक से योनि का प्रक्षालन करती है।

४. यान्त्रिक प्रमार्जन—जरायु और अपरा को निकालते हुए वह योनि का प्रमार्जन का भी कार्य सम्पादित करती है। हमारे जीवाणुविरोधी उपक्रम तीन वातों का ध्यान रखते हुए हम प्रसूत की उपसर्ग से रक्षा कर सकते हैं—चिकित्सक के हाथों और यन्त्र शास्त्रों तथा प्रसूतों के जननेन्द्रियों की सफाई और यथासम्भव योनिपरीक्षाओं का न करना।

इस कोटि में चिकित्सक तथा परिचारिका दोनों आ सकते हैं। वड़े-वड़े शस्त्रकर्मों में जिस प्रकार की विशोधन सम्वन्धी तैयारी करनी पड़ती है। उसी प्रकार की योनि परीक्षण प्रसूति कार्यों में भी प्रसवों के सम्वन्ध में करनी चाहिए। उदाहरणार्थ—

१. नखों का नखशस्त्र से काटकर छोटा करना, गर्म जल और सावुन से हाथों को पाँच से दस मिनट तक साफ करना उवाले हुए नखप्रमार्जनी से नाखूनों की सफाई करना, जीवाणुविरोधी घोलों में (डेटाल, लाइसाल या पारदीपविन आयोडाइड) तीन मिनट तक पूरे हाथों को डुवोये रखना, पानी में

उबले हुए दस्तानों का पहनना और वाष्पविशोधित परिधान, उपरितन और वस्त्रच्छद का पहनना।

२. भग की सफाई—यदि केश प्रचुर और लम्बे हों तो उनको उस्तरे से साफ करके, योनिपरीक्षण के पूर्व ही साबुन, गर्मजल और 'डेटाल' से प्रक्षालन करे। क्षुद्र भगोष्ठ को पृथक् करके पादद के 'विन आयोडाइड' घोल (१:१०००) या 'डेटोल' से भींगे पिचु से प्रमार्जन करे। पिचु का प्रमार्जन एक ही दिशा में एक ही बार करे उसी से दुबारा न करे या आगे-पीछे कई बार एक ही से न करे अन्यथा संक्रमण के अन्दर जाने का भय रहता है।

३. जननेन्द्रियों को स्वच्छ करने के पूर्व गर्भवती को गर्म जल से स्नान कराया जाता है तथा मलाशय और मूत्राशय को भी वस्ति और पुष्पनेत्र से खाली करा लेना चाहिये ताकि श्रोणिगुहा में अधिक अवकाश मिल जाये।

४. योनिपरीक्षण—जैसा पहले बतलाया जा चुका है—प्रकृत प्रसव में उदर परीक्षा से काम निकाला जाय तो निकाल लेना चाहिए। योनिपरीक्षण जहाँ पर नितान्त आवश्यक हो, सावधानी से करना चाहिए। रोगी को पार्श्व पर न लेटा कर पीठ के बल लेटना चाहिए, ताकि गुदा के सम्पर्क से होने वाले संक्रमण की सम्भावना कम रहे। हाथों और भग की पूर्वोक्त विधि से शुद्धि कर लेनी चाहिए।

प्रश्न—गर्भान्त कराने की किन अवस्थाओं में आवश्यकता होती है? गर्भान्त के कृत्रिम साधनों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—सामान्यतया संदंश का उपयोग दो अवस्थाओं में करते हैं—१. जब प्रसव की द्वितीयावस्था में बिना कारण देर हो रही हो। २. जब प्रसव की द्वितीयावस्था को माता या बालक के हित की दृष्टि से अथवा अन्य किसी कारण से छोटा करना लक्ष्य हो तो संदंश का प्रयोग करना होता है। इस प्रकार व्यक्तिगत विशेषताओं के अनुसार निर्देश को पाँच बड़े प्रकारों में बाँट सकते हैं—

१. शक्ति के दोष—यदि प्रसव की द्वितीयावस्था में गर्भाकोश परासंग की स्थिति हो और विलम्ब का कोई दूसरा कारण न ज्ञात हो तो अप्रजाता में द्वितीयावस्था में चार घण्टे से अधिक काल और प्रजाताओं में दो घण्टे से अधिक देर तक विलम्ब नहीं करना चाहिए और संदंश का प्रयोग करके शनैः शनैः शिशु का आहरण करना चाहिए।

यदि गर्भाशय के आकुंचनों की अनुपस्थिति हो और औपद्रविक परासंग की स्थिति हो तो संदंश का प्रयोग पूर्णतया निषिद्ध है—घातक रक्तस्राव का भय रहता है।

२. **पथ के दोष**—जब तक कि ग्रीवा की पूर्ण विस्तृति न हो किसी भी परिस्थिति में यन्त्र का प्रयोग करना चाहिए। जब शीघ्र प्रसव की आवश्यकता होती है तब इस नियम में अपवाद आता है और उस समय इसका उपभोग बहुत सावधानी के साथ करना चाहिए। पूर्णतया अविस्तृत ग्रीवा से संदंश द्वारा बच्चे का आहरण करने से ग्रीवा तथा योनि के छत तथा भ्रंश का भय रहता है।

मूलाधार में यदि किसी प्रकार की कठिनता प्रतीत हो तो संज्ञाहर द्रव्यों के प्रयोग से उसका काठिन्य दूर कर लेना चाहिये। यदि इससे भी मूलाधार पीठ शिथिल न हो तो संदंश प्रयोग में विस्तृत विदार का भय रहता है। अतएव मूलाधार भेदन नामक शस्त्रकर्म करके इस कर्म को करना चाहिए। श्रोणिसंकोच संदंश यन्त्र के प्रयोग के लिए सबसे अधिक उपयुक्त अवस्था यही है। परन्तु संकोच की मात्रा बहुत या अत्यन्त कम हो तो उपयोग नहीं करना चाहिए। केवल मध्यम कोटि के संकोच में ही इसका प्रयोग करना चाहिए।

३. **शिशु के दोष**—जल शीर्ष से पीड़ित अवस्था के शिशुओं को छोड़कर जब भी बालक का सिर बहुत बड़ा या अस्थिमय हो तो इस यन्त्र का प्रयोग करना चाहिये। विकृत आसन तथा अवतरणों जैसे पश्चिमानुशीर्षासनों तथा मुखोदयों में इस यन्त्र की आवश्यकता पड़ती है।

४. **माता की विपत्ति**—जब माता की प्राण रक्षा के लिए शीघ्र प्रसव की आवश्यकता पड़ती है तो उन सभी अवस्थाओं में संदंश के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है। जैसे—१. आकस्मिक रक्त-स्राव, २. पूर्वावस्था अपरा, ३. गर्भाक्षेपक ४. गम्भीर स्वरूप का हृदयरोग ५. बढ़ा हुआ क्षय रोग ६. गर्भाशय का निरन्तर आंकुचन तथा ७. जहाँ पर गर्भाशय का विदार का भय उपस्थित हो।

५. **शिशु की विपत्ति**—१. नालभ्रंश की अवस्था में कई बार सन्देश की आवश्यकता पड़ती है। २. गर्भाशय शिशु के रक्त संचार में बाधा की उपस्थिति उस अवस्था में बालक की हृद्गति १२०-१६०' से भी कम हो जाती है, बच्चे

में फड़फड़ाहट होने लगते हैं और शीर्षोदय की स्थिति के गर्भोदक में गर्भ मल मिलता है। इन सभी अवस्थाओं में संदंश प्रसव कराने का निर्देश हैं। ३. यदि बहुत बड़ा उपशीर्ष बना हो तब भी संदंश का उपयोग कर सकते हैं।

प्रधानतया तीन प्रकार के सूतिका संदंश प्रसव कराने के कार्य में व्यवहृत होते हैं—(क) लम्बी मोड़ वाले (ख) अक्षकर्म संदंश तथा (ग) छोटे संदंश यन्त्र का प्रयोग।

पूर्व कर्म—मूत्राशय की मूत्र नाड़ी संयोजन से रिक्त कर लेना चाहिये। योनि के बहिर्द्वार को विशेषतः अप्रजायाओं में सावधानी के साथ क्रमशः चौड़ा करना चाहिये। इसके लिये चिकित्सक को अपने विशोधित हाथों में विशोधित दस्ताने पहन लेना चाहिये और अपनी दो अंगुलिनों को चिकनी करके योनि में प्रविष्ट करके और योनि की पश्चिम दीवाल को नीचे दबावे। इस क्रिया से भग की पश्चिम दीवार भी दबती है। इसी कर्म को कई बार करे। इसके बाद क्रमशः तीन चार अंगुलियों को डाले फिर धीरे-धीरे सम्पूर्ण हस्त को भीतर में प्रविष्ट करे। इससे बालक का सिर आसानी से बाहर निकल आता है और योनि तथा मूलाधार के व्रणित होने का खतरा भी कम हो जाता है।

रोगी को निःसंज्ञ कर लेना आवश्यक है। रोगी के निःसंज्ञ करने के अनन्तर भग आदि का बहिर्जनांगों का विशोधन आवश्यक है। उसको साबुन और पानी से धोना, वहाँ केशों का साफ करना भी जरूरी है। फिर उस स्थान को सुखा कर वहाँ पर २% आयोरीन के घोल अथवा 'डेटाल' के द्वारा स्थानिक लेप कर लेना चाहिये। इस प्रकार पूर्णतया भावी संक्रमण से बचाने का प्रयत्न करना चाहिये चिकित्सक तथा सहायक को भी चाहिये कि अपने ऊपर विशोधित उपरितन तथा मुखच्छद आदि को धारण कर ले। संदंश को भी पानी में उबाल कर 'लाइसोल' के घोल में डुबोकर जीवाणुहीन कर लेना चाहिये।

प्रधान कर्म—यह कर्म गर्भिणी को दो स्थितियों में रख कर किया जाता है—.. वाम पार्श्वासन तथा २. उत्तानासन पर। इस देश में वाम पार्श्वासन् का अधिक प्रचलन है। परन्तु किसी ऐसे चिकित्सालय में जहाँ पर बहुत से सहायक उपस्थित हों, वहाँ पर उत्तानासन ही अधिक उपयुक्त होता है। इन दोनों स्थितियों में किसी एक पर रुग्णा को लौटाने के अनन्तर उसे संज्ञाहीन करने के लिए संज्ञाहर द्रव्य का उपयोग करे। पश्चात् भग आदि अंगों को

भली प्रकार विशोधित करें। इसी के साथ-साथ शल्यकर्त्ता भी अपने हाथों को निर्जीवाणु करके जीवाणु हीन विशोधित वस्त्र आच्छादन आदि को धारण करके हाथों में विशोधित दस्ताने पहन ले। इसी समय में इन यन्त्रों तथा अन्य शल्य कर्मोपयोगी सामग्रियों को भी निर्जीवाणुक करके एक पात्र में जिसमें शुद्ध गर्म जल हो या 'साइसोल' या 'डेटाल' का घोल भरा हो रख देवे। संदंश मूत्रनाड़ी धमनी स्वास्तिक सूचिकाएँ सिल्कवर्म गेट कैटगट के धागे मुलाधार की सीवन के लिए उबालकर यथा विधि विशोधित करके रख लेवे।

वाम पार्श्वासन पर लेटा कर निम्न और मध्य कर्म—१. रोगी को उसके वाम पार्श्व शय्या पर सुला दे। उसका नितम्ब शय्या के किनारे पर होवे। उसका दाहिना पैर किसी सहायक द्वारा या एक तकिये के सहारे ऊँचा उठा देना चाहिए।

इस प्रकार से करने के वाद सवसे पूर्व संदंश यन्त्र का वाम फलक देख कर अच्छी प्रकार से निर्णय करके योनि गुहा में अंगुलियों की सहायता से शनैः-शनैः प्रविष्ट करे और वालक के सिर के साथ-साथ आगे वढ़ता जाय इस तरह वाम फलक वालक के सिर एक पार्श्व में जव पूर्णतया पहुँच जाय तव इसे किसी सहायक को पकड़ा दे या स्वयं अपने वायें हाथ से अन्त प्रकोष्ठास्थि के किनारे की स्थिति में रखे।

२. दाहिने फलक को प्रविष्ठ करना अव दूसरा अर्थात् दाहिना फलक डाला जाता है। इसकी विधि यह हैं कि अपना वायाँ हाथ योनि की दीवाल से लगाये रखे और उँगलियाँ वालक के सिर से लगी रहें। अव दाहिने फलक अन्दर के हाथ के सहारे सिर तक पहुँचावे। परन्तु यह स्मरण रहे कि कर्पण शलाका गात्र से दूर रहे तथा दाहिने हाथ के पीठ पर पड़ी रहे। फलक को त्रिक की ओर डाला जाता है और जव प्रयोजक वृन्त के पीछे ले जायँ तो फलक घूमकर वालक के सिर के दूसरी ओर को हो जाता है। अन्दर की उँगलियों से इसको देखते रहना चाहिए अव दोनों प्रयोजक वृन्त इकट्ठे हो जाते हैं तथा दाहिनी कर्षक शलाका को भी फलक शलाकाओं के साथ मिला दे। दाहिने वृन्त को वाएँ के गड्डे में डाल कर स्थिरीकरण कील से स्थिर करले या कस दे। अव कर्पक शलाका को लगायें फिर योनि में अंगुली डाल कर देखें कि योनि आदि का कोई भाग तो संदंश में नहीं आ गया है। निश्चय

होते जाने के बाद खींचना शुरू (कर्षण) करें। कर्षण के सम्बन्ध में निम्न बातों का ध्यान देना परमावश्यक है।

१. अधिक जोर न लगाया जावे केवल अग्रबाहु के ही बल से कर्षण किया जाय।

खींचते समय कर्षक शलाकाएँ गात्र के समीप तथा समानान्तर रहनी चाहिए। जैसे-जैसे सिर नीचे को आता है प्रयोजक वृन्त सामने को होते जाते हैं।

३. कर्षण शनैः शनैः तथा प्रसव वेदना के समय मे ही होना चाहिए और बीच-बीच मे ठहरते जाना चाहिये।

४. ठहरने के समय (विश्रान्ति काल) में पेच को ढीला कर दे ताकि सिर पर से दवाव कुछ कम हो जाय। फिर खींचने से पूर्व कस ले। जब सिर निकल आवे तो सदंश को उतार ले। पहले कर्पक वृन्त को पृथक् करे तो फिर कर्पक शलाकाओ को अलग करे अन्त मे पेच को खोल कर फिर दोनों फलकों को निकाले।

उत्तानावसन पर संदंश कर्म—यदि संदंश का प्रयोग सूतिका को चित्त लेटा कर करना हो तो योनि में दाहिने हाथ डालने से सुविधा होती है और बायें फलक को उपर्युक्त विधि से दाहिने हाथ के तलवे से होते हुए त्रिक् के गर्त्त की दिशा में ले जाते हैं। फिर बायें हाथ और दाहिने फलक को भीतर प्रविष्ठ कराने के लिये उपयोग मे लाते हैं। फिर पूर्वोक्त विधि से शिशु के सिर के दोनों ओर दो फलकों को करके दोनो वृन्तों को मिलाकर शनैः शनैः कर्पण करते हुए आहरण करते हैं।

उच्च संदंश कर्म—आज के प्रसूति तन्त्र में आजकल इस कर्म का कोई भी स्थान नही है। कुछ काल पूर्व जव तक गर्भाशय भेदन नामक शस्त्रकर्म वहुत प्रचलित नही था उच्च सदंश कर्म से आहरण और कर्पण का प्रयोग होता रहा; परन्तु आजकल यह वहुत कुछ छोड़ दिया गया है। आजकल भी श्रोणि और सिर की विषमताओं मे इस कर्म का क्वचित् व्यवहार होता है।

प्रश्न—योनि व्यापत्त के कारण भेद, लक्षण और चिकित्सा लिखिये।

उत्तर—योनि रोगों का सामान्य हेतु—वे रोग स्त्रियों के आहार-विहार के ठीक न होने से, आर्तव की दृष्टि से, बीज दोप से दैवासात् (प्रक्तन अधर्म के फलस्वरूप) होते हैं।

वातल योनि—वातल प्रकृति स्त्री जब वातवर्धक आहार और चेष्टाएँ करती है, तब वायु बढ़ता है और वह योनि में आश्रित होकर योनि में तोद, वेदना स्तम्भ, चिऊँटियों के चलने का सा अनुभव, कर्कराता (खुरदरापन) सुप्ति (सोजाना, स्पर्श ज्ञान न होना) आयाम (खिचावट 'आयास' प्राठ होने पर 'थकावट') तथा अन्य वातज रोगों को उत्पन्न कर देता है। इसमें योनि से प्रवृत्त होने वाला आर्तव शब्द वेदना और झागयुक्त पतला एवं रुक्ष होते हैं।

पित्तला योनि—कटु अम्ल एवं क्षार आदि के सेवन से पित्तल योनि रोग होता है। पित दूषित योनि में योनिदाह योनिपाक ज्वर तथा योनि में उष्णता होती है। आर्तव नीले पीले या कृष्ण वर्ण का होता है। अत्यन्त गरम और मुर्दे की सी गन्ध वाला स्राव योनि से सड़ता है।

श्लेष्मिक योनि रोग—अभिष्यमन्दी द्रव्यों के सेवन से प्रवृद्ध कफ यदि स्त्री की योनि को दूषित करें तो योनि चिपचिपी और शीतल होती है। उसमें खुजली होती है। अल्प-अल्प वेदना होती है। योनि का वर्ण पाण्डु होता है। आर्तव भी पाण्डु वर्ण का और चिपचिपा होता है।

त्रिदोषज योनि रोग—सब रसों का समदान (पथ्यापथ्य का मिश्रित) करने वाली स्त्री की योनि और गर्भाशय में स्थित तीनों दोष योनि को दूषित करके अपने-अपने लक्षणों से युक्त करते हैं। अर्थात् इसमें तीनों दोषों के लक्षण विद्यमान रहा करते हैं। विशेषकर योनि में दाह शूल होता है और श्वेत चिप-चिपा स्राव श्लैष्मिक।

रक्त एवं पित्त कारक द्रव्यों के सेवन से स्त्रियों का रक्त योनि में पित्त से दूषित होने पर बहुत अधिक प्रवृत्त होता है। बीज के प्राप्त होने पर भी वह स्त्री सन्तानरहित होती है।

यद्यपि शुक्राणु अन्दर गर्भाशय में अन्दर पहुँच जाता है परन्तु रक्तस्राव के अत्यन्त प्रवृत्त होने से गर्भस्थिति नहीं होती। या तो बाहर बहकर निकल जाता है अथवा वहाँ रहने पर भी रक्त के प्रवृत्त होने से पोषण ही नहीं होता और अन्त में वैसे ही नष्ट हो जाता है। इसे रक्त योनि भी कहते हैं।

अरजस्का—योनि और गर्भाशय में स्थित पित्त यदि रक्त को दूषित कर

'जातं जातं' कहने का अभिप्राय प्रत्येक गर्भ से है। पुत्रघ्नी को ही वृद्धवाग्भट ने जातघ्नी नाम से कहा है।

अन्तर्मुखी—भर पेट भोजन करने के पश्चात् सम्भोग से और उस समय विषय आसनों में स्थित स्त्री के योनि स्रोत में आश्रित वायु अन्न से पीड़ित हुआ २ हड्डी और मांस (योनि मुख की) के साथ योनि मुख को टेढ़ा कर देता है। योनि मुख में वातिक वेदनाएँ भी होती हैं। पीड़ा अत्यन्त तीव्र होती है। स्त्री मैथुन में असमर्थ होती है। ऐसी योनि को अन्तर्मुखी योनि कहते हैं। योनि की इस वक्रता में उसका मुख अन्दर की ओर हो जाता है।

सूचीमुख—माता के दोष से वायु अपनी रूक्षता के कारण गर्भ स्थित स्त्री की योनि को दूषित करता हुआ सूक्ष्म द्वार वाली कर देता है। उसे सूचीमुखी कहते हैं।

शुष्का—मैथुन के समय मलमूत्र आदि के छेदों को रोकने से प्रकुपित वायु पुरीष और मूत्र का रोध कर देता है और योनि मुख को रोक डालता है।

वामिनी—गर्भाशय में पहुँचे हुए शुक्र को जो छः या सात दिन के पश्चात् बाहर बहा दे उसे वामिनी कहते हैं। इसमें वेदना भी हो सकती है और नहीं भी।

बीज के दोष से गर्भ स्थित वायु के कारण गर्भाशय का उपघात हो जाता है। गर्भाशय या तो बनता ही नहीं, या बहुत ही छोटा बनता है। ऐसी स्त्री पुरुष से प्रीति नहीं रखती और उसके स्तन भी नहीं रहते और यदि हों भी तो बहुत छोटे। उसे षण्ढी कहते हैं। वह असाध्य है।

महायोनि—कष्टकर (ऊँची नीची) शय्या पर विषम रूप से मैथुन करने पर कुपित वायु स्त्री की गर्भाशय और योनि के मुख को स्तब्ध कर देता है। योनि का मुख खुला रहता है। वेदना होती है। फेन (झाग) युक्त आर्तव आता है। मांस (भगोष्ठ) बहुत उठा रहता है। पर्व और वक्षण में शूल होता है। इन लक्षणों से युक्त योनि महायोनि कहलाती है। योनि के मुख के विकृत होने के कारण महायोनि यह संज्ञा है।

इन दोषों से आक्रान्त योनि वीर्य का धारण नहीं करती और अतएव स्त्री को गर्भ नहीं होता तथा उसे गुल्म अर्श और प्रदर आँति बहुत से रोग हो जाते हैं। वह वात आदि वेदनाओं, विकारों से अत्यन्त पीड़ित होती है।

सब योनि विकारों में स्त्री का स्नेहन और स्वेदन करके, वमन आदि मृदु पंच कर्म कराने चाहियें।

जब नारी का देह पंचकर्म से वमन विरेचन आस्थापन, रक्त-निर्हरण और नस्य का ग्रहण करता है।

वात से पीड़ित रोगिणियों को वातरोग-नाशक कर्म सदा हितकर होता है।

वातघ्न औषधों से युक्त औदक (जलेशय) तथा आनूप मांसों से अथवा वातघ्न औषध और तिलतण्डुल (विस्तुप तिल) युक्त दूध से नाड़ीस्वेद वा कुम्भीर वेद कराना चाहिए।

सेंधा नमक और तेल को मिश्रित कर योनि में चुपड़ आश्मस्वेद प्रस्तर-स्वेद का संकर स्वेद करावें। पश्चात् वहाँ कोसे जल का परिषेचन करके वात-नाशक मांस रसों का भोजन कराना चाहिए।

योनि के वातिक रोगों में परिषेचन अभ्यंग तथा पिचू उष्ण और स्निग्ध होने चाहियें। इनमें स्नेहनार्थ तेल का प्रयोग करना चाहिए।

योनि के वातिक रोगों से पीड़ित स्त्री योनि में तेल का अभ्यंग करके कोसे २ हिस्त्रा (कालिपाकड़ा वा जरामांसी) के कल्फ को धारण करे। पैत्तिक योनि विकार में पचनवल्कल के कल्क को और श्लैष्मिक योनि रोग में श्यामा आदियों के कल्क को योनि में धारण कराना चाहिए।

पैत्तिक योनियों में परिषेचन अभ्यंग पिचु आदि क्रियायें शीतल और पित्तहर होनी चाहिए। स्नेहन के लिए वैद्यं घृतों का प्रयोग करे। घृतों को पितघ्न औषधों से सिद्ध कर लेना चाहिए।

इसी प्रकार जीवनीय गाट के क्वाच और कल्क से साधित दूध से निकाला घी गर्भदाता और पित्तल योनियों की औषध होता है। इसमें घी पूर्ववत् सिद्ध होने पर मधु पिप्पली चूर्ण और खांड डाली जाती है।

कफ दूषित योनि में लक्तक (वस्त्रखंड) को बहुश: (कम से कम सात बार) सूअर के पित्त की भावना देकर उससे बनाई संशोधन करने वाली वर्ति हितकर होती है। अभिप्राय यह है कि यह वर्ति कफ का संशोधन करती है। इस वर्ति को योनि में रखना चाहिए।

जौ के आटे में सैन्धा नमक मिलाकर मदार के दूध की भावना देकर वर्ति बनावें। इस वर्ति को योनि में बार-बार (अर्थात् दो चार दिन तक प्रति-

दिन) धारण करे। इस वर्ति को तीक्ष्ण होने के कारण थोड़ी देर के लिए ही धारण करना पड़ता है। वर्ति को निकलने के पश्चात् सुहाते गरम जल से योनि का परिषेचन किया जाता है। अष्टामसंग्रह में 'यवचूर्ण' (जौ का आटा) के स्थान पर 'माषपूर्ण' (उड़द का आटा) पढ़ा गया है।

गूलर के दूध से तिलों को ६ वार भावना देकर उसका तेल हाथ से निष्पीड़न करके वा कोल्हू में निकलवा लें। इस तेल को गूलर के क्वाथ से ही यथाविध सिद्ध करें। पूर्ववत् उस तेल के पिचु को योनि में धारण करवायें।

कफप्रधान योनि में कटुद्रव्य-प्रधान गोमूत्र युक्त वस्तियां हितकर हैं। पित्त में मधुर द्रव्य और दूध युक्त वात में तेल और काँजी आदि अम्ल द्रव्य सहित वस्तियाँ प्रशस्त हैं। सन्निपातज योनियों में साधारण कर्म अर्थात् जो तीनों दोषों में हितकर हो करना चाहिये। अथवा वातिक पैत्तिक और श्लैष्मिक योनि-विकारोचित चिकित्साओं के बुद्धिपूर्वक मिश्रण से चिकित्सा करनी चाहिए।

रक्त योनि चिकित्सा—रक्त योनि में रक्त के वर्णों से दोष के अनुबन्ध को जानकर उस दोष के अनुसार रक्त स्थापन औषध देनी चाहिए।

कर्णिनी अचरणा शुष्क योनि तथा प्राक्चरण योनियों में तथा अन्य कफ-वातज योनि विकारों में उत्तरवस्ति द्वारा तेल का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि का मत है कि यह तेल जीवानीयगण द्वारा साधित हो।

अचरणा में विशेष योग—गोपित्त अथवा मछली के पित्त में क्षौम (निर्मल मसृण वस्त्राखण्ड) को २१ वार भावित करके अचरणा योनि में रखना चाहिए। अथवा किण्व (सरानीज) के चूर्ण को मधु में मिला योनि में धारण करा सकते हैं और कण्डू, क्लेद (गीलापन) और शोथ नहीं रहते।

प्राक्चरणा और अतिचरणा में विशेष विधान—प्राक्चरणा और अति-चरणा योनि में शतपाकी वातहर तैलों से आस्थापन और अनुवासन कराना चाहिए। इनमें वातघ्न स्नेहद्रव्यों आहारों (पायस कृशरा आदि) तथा उपनाहों से युक्तिपूर्वक स्वेदन कराया जाता है।

वामिनी और उपप्लुता में विशेष उपक्रम—वामिनी और उपप्लुता योनियों में स्वेदन कराकर स्नेहपिचु के धारण द्वारा योनि का तर्पण करावें। इसमें

वातनाशक आहार खाने को देना चाहिए।

कर्णिनी में विशेष चिकित्सा—कुष्ठादिवर्ति—कर्णिनी योनि में कुष्ठ, पिप्पली, मदार के पत्रांकुर, सैन्धा नमक, इन्हें एकत्र वस्तमूत्र से पीसकर वर्ति बनावें। वर्ति तर्जनी अंगुलि के तुल्य होनी चाहिए। इस वर्ति को योनि में रखें। इसके अतिरिक्त भी जो चिकित्सा की जाय वह कफनाशक होनी चाहिए।

उदावृत्ता तथा वातिकी में विशेष चिकित्सा—त्रैवृतस्नेहन (त्रिवृत्ता-साधित घृत तैल वस्त्र मज्जा का प्रयोग) खेद, ग्राम्य आनूप औदक (जलज) पशुपक्षियों के मांस रस, दशमूल द्वारा साधित दूध का पान और वस्ति (अथवा दशमूल द्वारा साधित दूध की वस्ति) ये उदावृत्ता और वातिकी योनि में हित-कर हैं। त्रिवृत्ता (निसोत) से सिद्ध स्नेह से अनुवासन और उत्तरवस्ति करनी चाहिए।

महायोनि में कुलीदिरादिवस्त्रयोग—कैकड़े की चर्वी, सूअर की चर्वी और मधुर द्रव्यों से साधित घी को मिलाकर महायोनि में भरकर क्षौम (पतला मसृण) वस्त्रखण्ड से बांध देना चाहिये।

प्रस्रक्ता (स्थानच्युत होकर बाहर निकली हुई) में उपक्रम—प्रस्रस्ता योनि को घी चुपड़कर और दूध से स्वेदन करके अन्त:प्रविष्ट करे और वहाँ वेशवार (गुड़, घृत और मरीच और पिप्पली युक्त कुहितमांस) के पिण्ड को रखकर बांध दें। यह बन्धन मूत्रकाल पर्यन्त रखना चाहिए।

मूत्र करने के पश्चात् पुन: वेशवार के पिण्ड से बांधा जाना चाहिए। सभी योनि रोगों में विशेषत: महायोनि में जो योनि के वातिक विकारों में कर्म कहा है, वैद्य वह भी करवावे।

वात के विना स्त्रियों की योनि दूषित नहीं होती। अत: सब से पूर्व वात को शान्त करके दूसरे दोष (पित्तकफ) की औषध करनी चाहिए।

तृतीय पत्र

मानस रोग विज्ञान

प्रश्न—मानस रोग विज्ञान क्या है ?

उत्तर—आयुर्वेद के आठ अंगों में मानस रोग विज्ञान नाम से किसी अंग का वर्णन नहीं मिलता। आयुर्वेद का विषय प्रधान शैली से पठन-पाठन होने से इस विषय को अलग से पढ़ाया जाने लगा है। मानस रोग विज्ञान में मनोविज्ञान, मानसिक रोगों का निदान एवं उनकी चिकित्सा का वर्णन किया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि आज हम जिसे मानस रोग विज्ञान कहते हैं—उसे ही प्राचीन समय में भूत विद्या कहा जाता था। भूत विद्या अष्टांग आयुर्वेद में एक अंग है। उसके विषय में सुश्रुत संहिता में लिखा है कि 'देव, दैत्य, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच, नाग आदि से पीड़ित चित्त वाले लोगों के ग्रह आदि दोष, होम, बलिदानादि उपायों से दूर करने के लिए जो अंग होता है, उसे भूत विद्या कहा जाता है।'

इस विषय में मानस रोग विज्ञान के लेखक डाक्टर बालकृष्ण अमर जी पाठक ने अपनी उक्त पुस्तक के प्राक्कथन में लिखा है—

'वैद्यक की जिस शाखा को आजकल हम लोग मानस रोग चिकित्सा (Psychiatry) कहते हैं। उसका प्राचीन नाम भूतविद्या था। इतना अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि आयुर्वेद के इतर अंगों की तरह इस विद्या का अधिक विकास नहीं हुआ। अथर्ववेद में इस शाखा के विषय में बहुत-सी बातें मिलती हैं। प्राचीनकाल में अथर्ववेद में प्रतिष्ठा की अन्य तीन वेदों जितनी नहीं थी। उसका वास्तविक नाम था अथर्वांगिरस। यह सार्थक विशेषण है क्योंकि अथर्ववेद में दो विचारधाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं। एक आथर्वणों की और दूसरी अंगीरसों की। आथर्वण सूत्रों में मंगलप्रद मन्त्र और शान्ती पाठों का समावेश होता है। और अंगीरस सूत्रों में अभिचार क्रियाओं का वर्णन है। इन दोनों विचार धाराओं का प्रभाव आयुर्वेद पर भी जो कि इसकी उपवेद है पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। भूत विद्या यह नाम बहुत प्राचीन है। इस शाखा में वर्णित रोगों का अभ्यास यदि आधुनिक दृष्टि से किया जाए तो सामान्य वाचक को भी यह स्पष्ट हो जाएगा कि इसमें बहुत से मानस रोगों का समावेश किया

गया है। कौमारभृत्य के वर्णन में ग्रहों की बाधाओं का वर्णन तथा उन्माद के विवेचन में अमानुष्य शस्त्रुओं की पीड़ाओं का वर्णन—यह अथर्ववेद के मंतव्यों का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं तो क्या है? और कई नवीन वैज्ञानिक विचार वाले मित्रों का कथन है कि भूत शब्द का अर्थ भूत-पिशाच वैताल आदि न लेकर रोगोत्पादक सूक्ष्म जीवाणु परक ही लेना चाहिए। दोनों विचार धाराओं में कुछ-न-कुछ सत्यांश अवश्य है।'

'भूत पिशाचों की सृष्टि के विषय में आद्यप्रभृति कोई भी निर्णय देना कठिन ही है। तथापि मेरा यह नम्र निवेदन है कि इस विषय में हम लोगों को विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण को लेकर ही आगे बढ़ना चाहिए। ऐतिहासिक दृष्टि से यदि हम आयुर्वेद का विकास क्रम दृष्टिगोचर करते हैं तो समझ में आता है कि शारीरक रोगों के कारण के बारे में त्रिदोषवाद का और मानसिक रोगों के विषय में रजोगुण और तमोगुण का आश्रय लेकर ही आयुर्वेदाचार्यों ने रोगोत्पत्ति का प्रतिपादन किया है। जहां-जहां इन दोनों उत्पत्तियों का आश्रय नहीं मिल सका और कोई विचित्र परिस्थिति देखने में आई वहाँ किसी-न-किसी अदृष्ट कारण की कल्पना की, चाहे वह पूर्व जन्म का पाप हो या कोई अदृष्ट भूत-पिशाच और प्रेत हो।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मानस रोग विज्ञान प्राचीन भूत-विद्या से सम्बन्धित अंग है जिसका बहुत विकास न हो सका। हां, आधुनिक वैज्ञानिक इस दिशा में अग्रसर हुए हैं और मानस रोग विषयक प्रधान शाखा बना ली है।

प्रश्न—'प्रमाण' के विषय में आप क्या जानते हैं. विविध प्रमाणों की व्याख्या कीजिए ?

उत्तर—'प्रमाण' किसे कहते हैं—यह बात सर्वप्रथम विचारणीय है। 'प्रमाण' के विषय में हम कई आचार्यों के मत देखते हैं। उनमें से सरलतम परिभाषा देखें तो वहाँ कहा गया है—'यथार्थ अनुभव को 'प्रमा' कहते है और उसके साधन को 'प्रमाण' कहा जाता है।'[1] इनमें, प्रमाण साधन है और 'प्रमा' उसका साध्य अथवा फल है। जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है उसे 'प्रमाता' कहा जाता है।

---

१. 'यथार्थ अनुभवः प्रमा, तत्साधनं च प्रमाणम्।'(उदयनाचार्य)

यहाँ पर यह बातस्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि ज्ञान मात्र को 'प्राम' हीं समझ लेना चाहिये, क्योंकि ज्ञान यथार्थ भी होता है और अमय-भी होता है। किन्तु 'प्रमा' केवल उस ज्ञान को ही कहा जाता है जिसमें यथार्थता हो। मिथ्या ज्ञान को 'प्रमा' नहीं कह सकते हैं।

तर्क संग्रह में 'प्रमाण' की परिभाषा बताते हुए कहा गया है कि 'प्रमा' का कारण प्रमाण है।' सो 'प्रमा' की व्याख्या तो ऊपर हो चुकी अब 'करण' को भी जान लेना चाहिए। करण वास्तव में कारण ही है किन्तु जिस कारण में कुछ विशेषता हो उसको हम 'करण' कहा करते हैं। इसीलिए कहा गया है कि करण का वह कारण है जो साधकतम हो। ऐसे कारण को जिसे अलग न किया जा सके उसे 'समवायिकारण' भी कहा जाता है। वास्तव में समवायि कारण ही 'करण' कहलाता है। अतः हम कहेंगे कि प्रमाण वह है जो कि यथार्थ ज्ञान (प्रमा के लिए अपरिहार्य कारण करण) है।

इसी प्रकार की अन्य परिभापाएँ भी हम पाते हैं जो विभिन्न दार्शनिकों ने व्यक्त किए हैं उन सबका भाव भी उसी प्रकार है, अतः विस्तार से हम उन सबका वर्णन यहाँ नहीं कर रहे।

नैयायिक चार प्रमाण बताते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द (आप्तोपदेश)। मीमांसकों का प्रभाकार मत का अनुयायी समुदाय इन चार के अतिरिक्त एक और प्रमाण मानकर पांच प्रकार के प्रमाण बताते हैं और वह है 'अर्थामत्ति या अर्थ प्राप्ति' मीमांसकों का दूसरा सम्प्रदाय जिनको कुमारिल भट्ट का अनुयायी कहा जाता है, वह 'अभाव' को छठा प्रमाण मानते हैं। वेदांती भी इसी मत का समर्थन करते हैं। पौराणिक 'संभव तथा ऐतिह्य' नामक दो प्रमाण और मानकर कुल आठ प्रमाण बताते हैं। तांत्रिक लोग उक्त आठ के अतिरिक्त चेष्टा और परिशेप नामक दो प्रमाण और मानकर दस भेद कहते हैं।

पाश्चात्य दर्शन विपय साहित्य में भी प्रमाणों की संख्या के विषय में मत-भेद पाए जाते हैं। वहाँ पर प्रमाण के विषय में ज्ञान कराने वाले शास्त्र का अलग ही नाम है और उसे वह 'प्रमाण-मीमांसा' शास्त्र (एपीस्टेमोलॉजी—Epestemology) कहा जाता है। जिसकी परिभापा बताते हुए कहा गया

है कि यथार्थ ज्ञान को बताने वाला शास्त्र प्रमाण मीमांसा शास्त्र कहलाता है।'[१]

इसका अध्ययन करने से पता चलता है कि यह केवल दो प्रकार के प्रमाणों को ही प्रधानतः स्वीकार करते हैं—प्रत्यक्ष (Percaption) और अनुमान (Inference) कहीं-कहीं शब्द प्रमाण और उपमान भी मिलता है परन्तु उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं।

सुश्रुत संहिता का अवलोकन करने पर पता चलता है कि वह चार प्रकार के प्रमाण मानते हैं, वहाँ मिलता है—

'उस आयुर्वेद के सर्वश्रेष्ठ और आद्यांग का मैं प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान इन चार प्रकरण में से विरोध न करते हुए जो उपदेश कर रहा हूं—उसको तुम लोग धारण करो।'[२]

इस प्रकार देखने से मालूम होता है कि सुश्रुत चरकोक्त प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य कोई मत प्रकट नहीं कर रहे, उपमान का देना इस बात का द्योतक है कि वह भी चरक विमान अध्याय आठ में दिए गए वादविवाद के लिए प्रयुक्त प्रमाणों के अनुसार ही उपमान को मानता है। साधारणतः आयुर्वेद में तीन प्रमाणों को ही महत्त्व दिया गया है जैसा कि चरक विमान स्थान अध्याय चार में रोग जानने के उपायों के विषय में वर्णन किया है। सुश्रुत का उपमान अनुमान के अन्तर्गत ही आ जाता है और युक्ति भी अनुमान प्रमाण की अनुग्राहिका मात्र है। अतः आयुर्वेद के विद्यार्थियों के लिए तीन ही प्रमाणों का ज्ञान होना आवश्यक है। इससे पूर्व कि हम उनकी व्याख्या करें यह आवश्यक जान पड़ता है कि प्रमाण-संस्था के विषय में दार्शनिक मत का भी अवलोकन करते चलें।

---

१. EPESIE Mology is the Science of correct knowledge.
(H. M. Bhattacharya)

२. Western Philosophy has generally recognised two ultimate sourses of knowledge, immediate knolcledge or pereption and Mediate knowledge or inference.

—(Six ways of knowing—D. M. Dutta)

३. 'तस्यांग वरमाद्यमागम प्रत्यक्षानुमानोपमानैरविरुद्धमुच्यमानमुपधारय।'
(सु० सू० अ० १)

दर्शन शास्त्र अनेक हैं। उनमें चार्वाक दर्शन वाले एक ही प्रमाण मानते है और वह है प्रत्यक्ष; बौद्ध, जैन और वैशेषिक दो प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। सांख्य, योग और रामानुज इन दो के अतिरिक्त तीसरा प्रमाण और मानते हैं जिसे 'शब्द-प्रमाण' कहकर सम्बोधित किया है।

प्रमाण कितने प्रकार के हैं—इस विषय की चर्चा आरम्भ करते हुए हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि इस विषय में आचार्यों में मतभेद रहे हैं। प्रथम आयुर्वेद के प्राचीन साहित्य में उपलब्ध प्रकरणों को उद्धृत कर रहे हैं। फिर दार्शनिक मतों का अवलोकन करायेंगे।

चरक आयुर्वेद का प्रधान ग्रन्थ है—उनका अवलोकन करते समय हम निम्न संदर्भ पाते हैं—

'सब कुछ दो प्रकार का है—सत् और असत्। और उसकी परीक्षा चार प्रकार से की जाती है—आप्तोपदेश प्रत्यक्ष अनुमान और युक्ति।'[1]

'सब रोगों को जानने के लिए तीन साधन होते—आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान।'[2]

'वाद को जानने के लिए इन पदों को जान लेना चाहिए—शब्द, प्रत्यक्ष, अनुमान ऐतिह्य और उपमान...'[3]

इन तीनों को देखकर एक शंका मन में उत्पन्न होती है कि एक ही आचार्य ने तीन मत व्यक्त किए हैं, यह बड़ा दोष है। किन्तु यदि धैर्य से विचार किया जाए तो हम पाते हैं कि यह दोष नहीं अपितु ग्रन्थकार की चतुर्मुखी प्रतिभा का ज्ञापक है। इन संदर्भों का विषय क्या रहा—यह विचार किया जाए तो हम पाते हैं कि एक प्रतिभा सम्पन्न सम्भाषक के रूप में परवाद पदार्थों की चर्चा करते हुए पांच पदार्थ, सत् असत् की परीक्षा में आस्तिक दार्शनिक

---

१. द्विविधं सर्वं सच्चासच्च, तस्य, चतुर्विधा परीक्षा,
   आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षमनुमान युक्तिश्चेति।' (च० सू० ऊ० ११)

२. त्रिविधं खलु रोग विशेषविज्ञानं भवतियथा
   आप्तोपदेशः प्रत्क्षमनुमानं चेति। (च० वि० अ० ४)

३. इमानि खलु पदानि वाद मार्गज्ञानार्थमधिगम्यानि
   भवन्ति × × × शब्द, प्रत्यक्षमानुमानमैतिह्य मौपम्यम्।'
   (च० वि० अ० ८)

के रूप में चार प्रमाण और रोग परीक्षा के समय कुशल वैद्य के रूप में तीन प्रमाण माने हैं।

इस प्रकार प्रमाणों की संख्या के विषय में विचार करने के पश्चात् हम आयुर्वेद के विद्यार्थियों के लिए आवश्यक प्रमाणों की व्याख्या करते हैं।

आप्तोपदेश

आप्तोपदेश को आयुर्वेदज्ञों ने एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण माना है। इसमें ही आगम और ऐतिह्य का भी अन्तर्भाव हो जाता है। न्याय में कहे गए शब्द प्रमाणको भी आप्तोपदेश ही मानना चाहिए क्योंकि तर्क संग्रह में स्वयं ही कहा गया है कि 'आप्तवाक्य ही शब्द है।'[1] इस प्रकार आप्तोपदेश को ही प्रथम लेते हैं। चरक में निम्न परिभाषाएँ दी हैं।

'आप्त पुरुषों के वचन को आप्तोपदेश कहते हैं जो संशयरहित स्मरण द्वारा सम्पूर्ण त्रैकालिक भावों के असत्-सत् आदि विभाग को जानते हैं, अनुराग, विराग या राग द्वेष से रहित हैं—वह आप्त होते हैं। उनके वचन प्रमाणहोते हैं।'[2]

'तप एवं ज्ञान के वल से जो रज एवं तम से सर्वथा मुक्त हो गए हों, जिन्हें त्रिकाल (भूत-भविष्यत्-वर्तमान) का ज्ञान है और वह ज्ञान भी निर्मल (यथार्थ) एवं अव्याहत (जिसमें किसी प्रकार की वाधा न हो) है। वही आप्त हैं और वही शिष्ट एवं विवुध कहलाते हैं, इनके वचन सच्चे एवं संशय रहित होते हैं। वे रज एवं तम से मुक्त आप्त पुरुष असत्य क्यों कहेंगे?'[3]

आप्तोपदेश के भी दो भेद कर लिए जाते हैं—(क) लौकिक और (ख) वैदिक। लौकिक का अर्थ है कि लौकिक पुरुष जिनमें आप्त पुरुषों के समान

---

१. 'आप्तवाक्यं शब्दः।' (तर्क संग्रह)

२. 'तत्राप्तोपदेशो नाम आप्तवचनं; आप्ता ह्यवितर्कस्मृति
विभागविदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिनश्च; तेषामेवं गुण
योगाद् यद्वचनं तत्प्रमाणम्।' (च० वि० अ० ४)

३. रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञान वलेन ये।
येषां त्रैकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्टा विवुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मान्नीरजस्तमसो मृषा। (च० सू० अ० १०)

सभी गुण हैं—उनके वाक्य और वैदिक का अर्थ है कि श्रुति के वाक्य।

आयुर्वेद में आप्तोपदेश को बहुत महत्वपूर्ण प्रमाण माना गया है और यह है भी ठीक। आयुर्वेद जीवन विज्ञान है। रोग क्या है—क्या-क्या लक्षण हैं, उसके उत्पत्ति के कारण एवं चिकित्सा क्या है? यह सब जान लेने के पश्चात् ही अन्य प्रमाणों द्वारा परीक्षा की जा सकती है। यदि गुरुमुख से अथवा ग्रन्थों (आप्तवचनों के संग्रह) से वह सभी न जाना जाए तो प्रत्यक्ष द्वारा अथवा अनुमान द्वारा क्या जाना जा सकता है—कुछ भी नहीं जाना जा सकता।

स्वयं महर्षि चरक ने लिखा है कि "इन तीनों प्रकार के ज्ञान के समूह में सबसे पूर्व आप्तोपदेश से ज्ञान होता है। तदनन्तर और प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा परीक्षा की जाती है। यदि प्रथम उपदेश ही न हो तो प्रत्यक्ष और अनुमान से परीक्षा करते हुए क्या जान सकते हैं।"[1] अतः स्पष्ट हो जाता है कि आप्तोपदेश अन्य प्रमाणों से अधिक महत्वपूर्ण है।

न केवल आयुर्वेद में अपितु सभी स्थानों पर आप्तोपदेश को महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए क्योंकि बिना उपदेश के अन्य विषयों में भी क्या किया जा सकता है। मान लीजिए मोक्ष के विषय में साधन क्या-क्या है, जब तक वह उपदेश नहीं किये होंगे तब तक उनके प्रत्यक्ष एवं अनुमान का प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रत्यक्ष—

चरक के प्रत्यक्ष के विषय में निम्न तीन परिभाषाएँ पाते हैं—

"आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा विषय इनके सम्बन्ध से तत्काल जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है।"[2]

---

१. "त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञान समुदाये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानं,
तत: प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते, किं
ह्यनुपदिष्टे पूर्वं प्रत्यक्षलानुमानाभ्यां परीक्षमाणो
विद्यात्!" (च० वि० अ० ४)

२. "आत्मेन्द्रियमनोर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धि प्रत्यक्षं सा निरूच्यते!!"
(च० सू० अ० ११)

"प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जो स्वयं इन्द्रियों और मन द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है।"[१]

"प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जो आत्मा और इन्द्रियों से स्वयं जाना जाता है।"[२]

इस प्रकार देखने से हम पाते हैं कि सभी में एक ही बात कही है चाहे शब्दों में अन्तर रहा हो। वास्तव में 'प्रत्यक्ष' के लिए आत्मा, इन्द्रिय, मन एवं विषय इन चारों का होना आवश्यक भी है। दूसरी परिभाषा में 'स्वयं' से आत्मा का ग्रहण कर लेने से वही बात सिद्ध हो जाती है और तीसरी परिभाषा में आत्मा और इन्द्रिय कहने से मन का स्वयं बोध हो जाता है क्योंकि मन सहित आत्मा ही इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध जोड़ सकती है। अतः हम कह सकते हैं कि सभी में प्रथम परिभाषा को ही स्वीकार किया गया है।

इनको और भी स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि आत्मा का जब मनके साथ संयोग होता है और मन इन्द्रियों के साथ तथा इन्द्रियाँ शब्दादि विषयों के साथ संभोग स्थापित करते हैं—तब जो (उस काल में) बुद्धि के द्वारा निश्चयात्मक ज्ञान होता है, उस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है।

प्रत्यक्ष के भेद बताते हुए इसे दो प्रकार का माना गया है—

(१) सविकल्पक—वह ज्ञान जिसमें यह मालूम हो कि अमुक वस्तु है।

(२) निर्विकल्पक—जिसमें केवल इतना ज्ञान हो कि कोई वस्तु है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का कहा गया है—

(१) लौकिक

(२) अलौकिक

लौकिक भी दो प्रकार का होता है—

(१) वाह्येन्द्रिय साध्य

(२) अन्तरिन्द्रिय साध्य

वाह्येन्द्रिय साध्य प्रत्यक्ष पाँच प्रकार का है—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय संयोगज

---

१. "प्रत्यक्षं तु खलु तत्-यत्स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभ्यते !!" (च० वि० अ० ४)

२. "प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुप—लभ्यते !!" (च० वि० अ० ८)

(२) त्वेगेन्द्रिय संयोगज
(३) चक्षुरेन्द्रिय संयोगज
(४) रसनेन्द्रिय संयोगज
(५) घ्राणेन्द्रिय संयोगज

इन पाँचों द्वारा अपने-अपने विषय शब्द-स्पर्श रूप-रस-गन्ध विषयक ज्ञान होता है।

अन्तरिन्द्रिय साध्य केवल मन के द्वारा होता है। इससे सुख-दुख, इच्छा द्वेष आदि का ज्ञान होता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष के भी तीन भेद किए जाते है—

(१) सामान्य लक्षण प्रत्यासन्ति—जिसमें एक वस्तु के प्रत्यक्ष से उस की सारी जाति का ज्ञान हो जाए। जैसे गाय देखने से गाय मात्र का ज्ञान।

(२) ज्ञान लक्षण प्रत्यासन्ति—इस में विषय के गुणों का साक्षात होता है, पर उस विषय के गुण से उस को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं होता। एक ही समय में एक पुष्प को चक्षुरिन्द्रय देखती है और घ्राणेन्द्रिय उसकी सुगन्ध का आस्वादन करती है।

(३) योगज प्रत्यक्ष—यह योगियों को ही हुआ करता है।

अनुमान—

आयुर्वेद का तीसरा प्रमाण अनुमान है। इसकी परिभाषा निम्न प्रकार बताई गई है—

"प्रत्यक्ष पूर्वक तीन प्रकार का तथा तीन काल का अनुमान किया जाता है। धूप से अग्नि का, गर्भ से मैथुन का जो भूतकाल में किया गया तथा बीज से अनागत फल का अनुमान होता है। इसी प्रकार से अनुमान किया जाता है।"[1]

"युक्ति के द्वारा सिद्ध होने वाले तर्क को अनुमान कहा जाता है।"[2]

---

१. "प्रत्यक्ष पूर्वम् त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते।
वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भ दर्शनात्!!
एवं व्यवस्यंन्त्यतीतं बीजात् फुलमनागतम्!
दृष्टवा बीजात् फलं जातमिहैव सदृसं बुधाः!!' (च० स० अ० ११)

२. "अनुमानं खलु तर्को युक्तयपेक्षः!!" (च० वि० ४.)

इसी प्रकार की परिभाषा आयुर्वेदतर साहित्य में उपलब्ध होती है—जहाँ कहा गया है—"अनुमिति का करण अनुमान है !"[1] परामर्श" से उत्पन्न हुआ ज्ञान अनुमिति है। व्याप्ति सहित पक्ष धर्मता का ज्ञान परामर्श है।

यह अनुमान तीन प्रकार का होता है।

(क) पूर्ववत्

(ख) शेषवत्

(ग) सामान्यतोहृष्ट

जहाँ कारण से कार्य का अनुमान किया जाए, वहाँ पूर्ववत् अनुमान होता है। जैसे बीज से फल का अनुमान।

जहाँ कार्य से कारण का अनुमान किया जाए वहाँ शेषवत अनुमान होता है जैसे गर्भ को देखकर मैथुन का अनुमान अथवा फल को देख कर बीज का अनुमान।

कार्य और कारण दोनों से भिन्न अनुमान को सामान्यतोहृष्ट कहते हैं जैसे घूप से वह्नि का अनुमान होता है।

इनमें पूर्ववत अनुमान अनागत के लिए शेषवत अतीत के लिए और समान्यतोहृष्ट वर्तमान काल के लिए कहे गए हैं।

अनुमान दो प्रकार से किया जाता है।

(१) स्वार्थानुमान

(२) परार्थानुमान

जो अनुमान केवल अपने ज्ञान के लिए किया जाए वह स्वार्थानुमान है। इसमें मनुष्य अपने पूर्व के अनुभव के आधार पर अनुमान लगाता है। इसका नाम लिंगपरामर्श है।

परार्थानुमान उसे कहते हैं जो दूसरे को समझाने के लिए काम में आता है। **एतर्थ पाँच अव**यवों का प्रयोग करना होता है। वे पंचावयव निम्नहैं—

(१) प्रतीक्षा

(२) हेतु

(३) उदाहरण

(४) उपनाम

---

१. "अनुमिति करणं अनुमानं" (तर्क संग्रह

(५) निगमन

किसी विषय को दूसरे को समझाना हो तो निम्न प्रकार कहा जाता है। पर्वत पर आग है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वहाँ पर धुआँ है (हेतु), जहाँ-जहाँ धूआं है वहाँ-वहाँ आग है जैसे रसोईघर में (उदाहरण), यहाँ पर भी वही दशा है (उपनय), अत: यहाँ पर भी आग है (निगमन)।

इस प्रकार अनुमान का वर्णन कर दिया गया है, यद्यपि यह तीन प्रमाण ही प्रसिद्ध हैं तो भी प्रसंगवश 'युक्ति' एव 'उपमान' नामक प्रमाणों के विषय में भी लिखते चलना अनुचित न होगा।

'युक्ति'

चरक ने परलोक के विषय में परीक्षा करने के साधनों में युक्ति की भी गणना की है, वहाँ कहा गया है—

"अनेक कारणों के संयोग से उत्पन्न हुए भावों को जो बुद्धि कारणोपपत्ति से देखती है अर्थात् ज्ञान कराती है, उसे युक्ति कहते हैं। इस युक्ति के द्वारा तीनों कालों के विषय में ज्ञान होता है इससे त्रिवर्ण की सिद्धि होती है।"[1]

इसको स्पष्ट करने के लिए वहाँ बताया गया है कि जल, कर्षण, बीज, ऋतु और काल इनके संयोग से जिस प्रकार शस्य की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार ६ धातुओं—पंचमहाभूत तथा आत्मा के संयोग से गर्भ की उत्पत्ति होती है। यह युक्ति है। मध्य (नीचे का काष्ठ) मंथक (मथने वाला पुरुष) और मंथान (ऊपर का घूमने वाला काष्ठ) के संयोग से जिस प्रकार अग्नि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार चतुष्पाद संपत् से अर्थात् गुणवान्भिषक, औषध, रोगी और परिचारक के संयोग से रोग की शान्ति और आरोग्य लाभ होता है। यह भी युक्ति है।

वास्तव में इसे अलग से प्रमाण नहीं मानना चाहिए। यह केवल अनुमान प्रमाण की अनुग्राहिका मात्र है। यह व्याप्ति रूप से अनुमान की सहायता करती है। अत: इसका अन्तर्भाव अनुमान में ही हो जाता है।

---

१. "बुद्धिः पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्।
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यथा।"
(च० सू० अ० ११)

उपमान

"उपमान प्रमाण की परिभाषा बताते हुए चरक ने लिखा है कि "किसी प्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य से अप्रसिद्ध वस्तु के सादृश्य का मिलान कर उसे प्रकट करना 'उपमान' कहलाता है। जैसे दण्ड को देखकर दण्डक रोग का और धनुष को देखकर धनुस्तम्भ व्याधि का प्रकाश करना तथा धनुर्धर के अभीष्ट वैद्य को देखकर आरोग्य देने वाले वैद्य का प्रकाश करना।"[1]

पहले अनुभूत किसी वस्तु के साथ सादृश्य धारण करने के कारण जहाँ किसी नई वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होता है उसको उपमान कहा जाता है।

चाहे इसे अनुमान प्रमाण में भी कुछ लोग मान लेते हैं, तो भी न्याय दर्शन में इसे अलग प्रमाण माना जाता है—उसका कहना है कि सादृश्य का ज्ञान न प्रत्यक्ष से होता है, न ही अन्य साधन से। वह तो उपमान से ही जाना जाता है। किसी रोगी को धनुष की तरह अकड़ा देखकर उसी के सादृश्य वाले धनुष को जिसने देखा है वह कह देता है कि यह धनुस्तम्भ है। अतः उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण माना जाना चाहिए।

इस तरह प्रमाण के विषय में विभिन्न आयुर्वेद साहित्य में उपलब्ध तथा इतर दर्शनों से प्राप्त मतों का संग्रह करते हुए उन सबकी व्याख्या की गई है।

प्रश्न—स्मृति और उसके उत्पादक कारणों की व्याख्या कीजिए?

उत्तर—'स्मृति' किसे कहते हैं, इस विषय पर हम अनेक शास्त्र सम्मत विचार पाते हैं। पातञ्जली ने लिखा है कि "अनुभूत विषयों के अनुभवजन्य संस्कारों का विलोप न होना, इसका नाम 'स्मृति' है।"[2] अन्य आचार्यों ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं। पाश्चात्य मानस विशेषज्ञों का कहना है कि "पहले उत्पन्न किसी भी मनोव्यापार का एक बार मन में लीन

---

१. "औपम्यं नाम तद्यदन्येनान्यस्य सादृश्यमाधिकृत्य प्रकाशनम्।
यथा दण्डेन दण्डकस्य, धनुषा धनुस्तम्भस्य, दृष्वासेनारोग्यस्येति।"
(च० वि० अ० ८)

२. "अनुभूत विषयाऽसम्प्रोषः स्मृतिः।"

हो जाने के पश्चात् जो फिर भान होता है उसे 'स्मरण' कहते हैं।"[1]

वास्तव में यह एक मानस व्यापार है। कोई भी मानस व्यापार हो उसका संस्कार उत्पन्न होता है अब यह संस्कार ठीक ज्यों का त्यों सुरक्षित रहता है। फिर कारणों के मिलने पर वह सुरक्षित संस्कार हमारे नेत्रों के सम्मुख आ खड़े होते हैं, उसे ही हम स्मृति कहते हैं।

यह स्मृति दो प्रकार की होती है—यथार्थ और अयथार्थ। जागृतावस्था में यथार्थ स्मृति होती है और स्वप्न में अयथार्थ ज्ञान होता है।[2] यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि स्मृति कारणों के अनुरूप उत्पन्न होती है। क्रम से किसी एक संस्कार की स्मृति होती है—एक समय में एक से अधिक विषय में स्मृति नहीं हुआ करती।

उत्पादक कारणों को जानने से पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि यह सब कारण उत्तेजक कारण हैं। वास्तव में तो संस्कार ही प्रधान है तो भी उनके जागृत करने के लिए इन कारणों की आवश्यकता होती है।

स्मृति के उत्तेजक कारणों के विषय में महर्षि चरक एवं न्याय सूत्रकार ने विशद वर्णन किया है। हम प्रथम आचार्य चरक का मत प्रकट करते हैं—वहाँ पर "स्मृति" उत्पादक आठ कारण बताए गए हैं जो निम्न प्रकार हैं—

(१) **निमित्त के ग्रहण से**—इसमें कारण से कार्य का स्मरण हो जाता है जैसे पिता को देखकर पुत्र का स्मरण हो जाना।

(२) **लिंग के ग्रहण से**—जैसे धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान होना।

---

१. "Then we may say that experienee modifies the structure of the mind that it is through the persistence of these modifications that past experience influences present behaviour and present mental process. Some part of the structure of the mind is innataly determined or inherited and all that is added to it or changed in it by the course of experience is usually and conveniently included under the term memory." (Body and mind Me. Dougall)

२. "स्मरणमपि यथार्थमयथार्थं चेति द्विविधम्। तदुभयं जागरे। स्वप्ने तु सर्वमेव ज्ञानं स्मरणमयथार्थं च।" (तर्कभाषा)

(३) सादृश्य के कारण—समानता रखने वाले पदार्थ को देखने से जैसे पिता के समान मुख वाले पुरुष को देखकर पुत्र को अपने पिता का स्मरण होना।

(४) सविपर्यय—अतिशय असादृश्य को देखकर भी स्मृति उत्पन्न होती है यथा कुरूप मनुष्य को देखकर रूपवान व्यक्ति का स्मरण होना।

(५) सत्वानुबन्ध—स्मर्तम वस्तु का एकाग्रतापूर्वक ध्यान करने पर उसका स्मरण होता है।

(६) अभ्यास—वार-वार अध्ययन की हुई वस्तु का भी स्मरण रहता है।

(७) ज्ञानयोग—तत्वज्ञान द्वारा सब संस्कारों का स्मरण हो जाता है।

(८) पुनःश्रुत—विस्मृत वस्तु का, उसके विषय में थोड़ी भी बात पुनः सुनने पर, तुरन्त स्मरण हो आता है।

न्याय सूत्र में स्मृति के निमित्त कारण निम्न प्रकार बताए हैं—

(१) *प्रणिधान—एकाग्रतापूर्वक ध्यान करने से स्मरण* करने वाली वस्तु का स्मरण हो आता है। एकाग्रता में व्याघात आ जाने पर स्मरण हो पाना सम्भव नहीं होता। अतः एकाग्रता की बहुत आवश्यकता होती है।

(२) निबन्ध—एक ग्रन्थ में ग्रथित विविध विषय एक दूसरे की याद दिला देते हैं। जैसे चरक के निदान स्थान को पढ़ाते समय चिकित्सा स्थान में वर्णित तत् विषयक सूत्रों का स्मरण हो जाता है और चिकित्सा स्थान का अध्ययन करते हुए निदान स्थान था।

(३) अभ्यास—वार-वार अनुभव करने से या वार-वार पढ़ते रहने से उस वस्तु का संस्कार प्रबल पड़ता है जिससे हम उसका स्मरण रखते हैं। वास्तव में यह पुनरावर्तन द्वारा होता है।

(४) लिंग—न्याय शास्त्र की परिभाषा के अनुसार जिससे परोक्ष पदार्थ का ज्ञान हो उसे लिंग कहते हैं। लिंग के दृष्टिगोचर होने पर साहचर्य नियम के आधार पर लिंग का स्मरण होता है। जैसे धुएँ को देखकर अग्नि का स्मरण होना।

(५) लक्षण—संकेत या चिह्न को देखकर उस संकेत या लक्षण को धारण करने वाले पदार्थ का स्मरण होता है जैसे तिरंगे ध्वज को देखते ही कांग्रेस का स्मरण हो जाना।

(६) सादृश्य—किसी मनुष्य को देखकर उसी की आकृति के समान पुरुष का ज्ञान होता है।

(७) परिग्रह—किसी वस्तु को देखकर उसके मालिक का स्मरण होता है और मालिक को देखकर उसकी वस्तु का स्मरण होता है।

(८-९) आश्रयाश्रित—आश्रय को देखकर उसके आश्रितों का बोध होता है और आश्रितों को देखकर उनको आश्रय देने वाले का स्मरण होता है।

(१०) सम्बन्ध—गाढ़ सम्पर्क में रहने वाले व्यक्तियों में से किसी एक को देखकर दूसरे का स्मरण हो जाता है जैसे गुरु को देखकर शिष्य का स्मरण हो जाना।

(११) आनन्तर्य—स्थान एवं काल के अनुसार एक दूसरे के पास में रहने वाली वस्तुओं का शीघ्र स्मरण होता है।

(१२) वियोग—जिस वस्तु का वियोग होता है उस वस्तु की वार-वार याद आती है।

(१३) एक कार्य—एक कार्य में संलग्न एक मनुष्य को देख कर उसी कार्य में लगे दूसरे मनुष्यों का बोध हो जाता है।

(१४) विरोध—परस्पर विरुद्ध पक्षों में से एक को देखकर दूसरे का बोध हो जाता है जैसे बिल्ली को देखकर चूहे का।

(१५) अतिशय—जिससे किसी वस्तु की प्रचुर मात्रा में प्राप्ति होती हो, उसका स्मरण वस्तु की विपुलता को देखने पर होता है।

(१६) प्राप्ति—जिससे मनवांछित पदार्थ की प्राप्ति होती है उसको लोग बार-बार स्मरण करते हैं।

(१७) व्यवधान—बाहर के ढकन को देखकर उसके भीतर की वस्तु का ज्ञान हो जाता है। जैसे म्यान देखकर तलवार का।

(१८) सुख-दुख—सुख और दुख के कारणों को वार-बार स्मरण किया जाता है।

(१९) इच्छा-द्वेष—इच्छाओं का और द्वेष का वार-वार स्मरण होता है।

(२०) भय—भय का अनुभव होते ही भय के कारणों का स्मरण हो जाता है।

(२१) अर्थित्व—जिस वस्तु की आवश्यकता होती है उस वस्तु का बार-बार स्मरण हो जाता है।

(२२) क्रिया—किसी क्रिया को देखते ही उसके कारणों की याद आती है। जैसे वृक्ष के पत्तों को हिलता हुआ देखकर वायु का स्मरण।

(२३) राग—स्नेह के परिणाम से स्नेहभाजन का स्मरण हो जाता है। पति-पत्नी की ओर माता बालक को बराबर याद करती है।

(२४) धर्म—धार्मिक जीवन द्वारा मनुष्य की स्मरण शक्ति बढ़ती है और वह अपने पूर्व जन्म के संस्कारों का भी साक्षात्कार कर सकता है।

(२५) अधर्म—अधर्म द्वारा दुःख होता है। इससे उसके कारणों का स्मरण होता है।

इस प्रकार स्मृति के इन निमित्त कारणों का वर्णन किया है और भाष्यकार वात्स्यायन ने बताया है कि यह सब कारण एक साथ नहीं होते, अतः सब का एक साथ स्मरण भी नहीं होता। उनका कहना है कि ऊपर जो पच्चीस हेतु कहे हैं यह उदाहरण समझने चाहिए—इसी प्रकार के अन्य हेतु भी स्मृति के कारण हो सकते हैं।

अतः हम कहेंगे कि इस प्रकरण से स्मृति के स्वरूप का एवं उसके उत्पादक कारणों में चरकोक्त आठ कारणों का और न्याय सूत्र में वर्णित पच्चीस कारणों का वर्णन किया है। आयुर्वेद के छात्रों के लिए इन सब का जानना लाभप्रद है जिनसे मानसिक अवस्था का बोध कर सकें।

प्रश्न—आत्मा के विषय में आयुर्वेद के शास्त्रों में जो शंकाएं की गई हैं उनका समाधान कीजिए ?

उत्तर—आत्मा के विषय में चरक-सुश्रुत आदि संहिता ग्रन्थों में कई स्थानों पर विचार हुआ है। चरक में इस विषय में अधिक विचार किया गया है। हम उसी के आधार पर आत्मा से सम्बन्ध रखने वाली अनेक शंकाओं का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं जो आयुर्वेद के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

जैसा कि चरक संहिता का अवलोकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि वहां पर प्रत्येक विषय को प्रस्तुत करने का विशेष ढंग है। अग्निवेश किसी विषय में प्रश्न करते हैं और पुनर्वसु आत्रेय उसका उत्तर देते हैं। इसी प्रकार

का एक वर्णन शरीर स्थान अध्याय प्रथम 'कतिधा पुरूषीय' अध्याय में पाते हैं जहां अग्निवेश ने आत्मा एवं उससे सम्बन्ध रखने वाले तेईस प्रश्न पूछे हैं और पुनर्वसु ने उनका उत्तर दिया है। हम उन्हीं को यहां स्पष्ट रूप से लिख रहे हैं।

(१) धातुभेद से पुरुष कितने प्रकार का है ?

धातुभेद से पुरुष तीन प्रकार का है।

(क) षड्धातुपुरुष

(ख) एकधातु पुरुष

(ग) चौबीस धातु पुरुष

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ये पाँच महाभूत तथा छठा चेतना धातु (आत्मा) इन छः धातुओं के समुदाय को 'पुरुष' कहते हैं। यह 'कर्म पुरुष' आयुर्वेद का अधिकरण है।

अकेली चेतना धातु (आत्मा) को भी पुरुष कहा जाता है। यह चिकित्सा का अधिकरण नहीं दर्शन आदि में इसके विषय में विचार किया जाता है।

प्रकृति आदि आठ धातुएँ और सोलह विकारों के समुदाय को पुरुष कहते हैं। शास्त्रों में इसे 'राशि पुरुष' कहा जाता है।

यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि यह चौवीस के चौबीस तत्व जड़ हैं, इनके साथ चेतना-धातु का स्वयं बोध हो जाता है। वास्तव में चौबीस धातु पुरुष के वर्णन में आचार्य ने 'अव्यक्त' से ही आत्मा का भी बोध किया है। यदि आत्मा को अलग से गिना जाए तो पच्चीस धातु पुरुष कहलाता है।

कर्म पुरुष एवं राशि पुरुष की विशद व्याख्या आगे करेंगे।

२. किस हेतु से पुरुष को कारण कहा जाता है ?

यदि आत्मा कारण न हो तो आकाश आदि व्यर्थ हैं। बाकी सभी जड़ हैं, जब तक चेतन (आत्मा) न हो तब तक कोई कार्य नहीं हो सकता। शरीर चेतन है और कार्य करता है अतः स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष (आत्मा) ही कारण है जो कि चेतनता उत्पन्न करता है।

यदि कर्ता और ज्ञाता पुरुष न हो तो दीप्ति, अन्धकार, सत्य-झूठ-वेद शुभ और अशुभ न हों। न शरीर, न सुख, न दुःख, न गति, न आगति, न वाणी,

न ज्ञात, न शास्त्र, न जन्म, न मरण, न वन्ध, न मोक्ष कुछ भी नहीं हो सकता। पुरुप (आत्मा) के विना कुछ भी नहीं हो सकता इसीलिए कारण को जानने वालों ने पुरुष को कारण वताया है।

जो मूर्ख, कुम्हार के विना मिट्टी दण्ड और चक्र इन कारणों के समूह से ही घट वन जाता है, यह कहता है अथवा जो मूर्ख गृहकार के विना मिट्टी, तृण और लकड़ी के समूह से स्वयं घर वन जाता है, यह कहता है, वह ही युक्ति और शास्त्र से रहित अज्ञानी शरीर को कर्ता के विना शरीर को जड़ धातुओं से उत्पन्न हुआ कह सकता है।

जिन सव प्रमाणों से प्रमेय पदार्थ जाने जाते हैं उन्हीं सव प्रमाणों से 'पुरुप कारण' है यह वात जानी जाती है।

कई यह मानते हैं कि द्रव्य प्रतिक्षण परिणत होता रहता है क्योंकि उसका नित्य स्वभाव है। वह क्षणस्थायी है। जव वह परिणत होता है तो द्रव्य भी भिन्न हो जाता है। पहला रुक जाता है और दूसरा तत्सदृश उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार परम्परा से प्रकट होते हुए नए-नए भाव 'वे ही' द्वारा निर्दिष्ट होते हैं। उन्हीं भावों का समुदाय आत्मारहित 'प्राणी संज्ञक' है। वह पुमान (आत्मा) को कर्म का करने वाला अथवा भोक्ता नहीं मानते। इस मत वालों की वात में एक दोप आ जाता है कि दूसरे भावों से किए गए कर्म का तत्सदृश उत्पन्न हुए नवीन भाव फल को भोगते हैं। दूसरे जो अनुभव वालकपन में किए उनका स्मरण युवा अवस्था में नहीं होना चाहिए, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता।

'कर्ता के कारण' तो भिन्न-भिन्न व विविध देखे जाते हैं, पर कर्ता वह ही रहता है। साधनों (कारणों) से युक्त कर्ता ही सव कर्मों का कारण होता है।

भावों के विनाश में काल निमेपकाल से भी शीघ्रतर होता है। नष्ट हुआ-हुआ भाव पुनः नहीं आता। एक का किया हुआ दूसरे को नहीं प्राप्त होता। ऐसा तत्वज्ञानियों का मत है। अतः आत्मा को कारण मानना पड़ेगा।

---

१. "करणान्यान्यता दृष्ट्वा कर्तुः कर्ता स एव तु।
कर्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम्॥" (चं० शा० अ० १)

प्राणियों के शरीर से भिन्न (कारण के होने पर ही अहंकार, फल, कर्म देहान्तर में जाना, स्मरण यह होते हैं।

३. पुरुष का उत्पत्तिस्थान वा उत्पत्तिकारण कौन है ?

पीछे स्पष्ट कर आए हैं कि पुरुष तीन प्रकार का होता है। यदि एक धातु पुरुष (आत्मा) के विषय में विचार करें तो हम पाते हैं कि वह अनादि है। उस का कोई उत्पत्तिकारण नहीं। राशि पुरुष का उत्पत्ति कारण है। मोह-इच्छा और द्वेष से किए गए शुभ अशुभ कर्म से राशि पुरुष उत्पन्न होता है।

४. पुरुष अज्ञ है अथवा ज्ञानी है ?

आत्मा ज्ञानमय है। उस आत्मा के ज्ञान की प्रवृत्ति मन ज्ञानेन्द्रिय आदि कारणों के योग से होती है। यदि कारण निर्मल न हों अथवा अयोग हो तो ज्ञान नहीं होता।

चक्षु युक्त होते हुए भी पुरुष को मलिन दर्पण में देखने से अपना रूप ठीक दिखलाई नहीं देता, उसी प्रकार मन का किसी प्रकार का विधान होने से ठीक-ठीक दिखाई नहीं देता है।

मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय ये कारण हैं। कर्ता आत्मा है। आत्मा का कारणों के साथ संयोग होने से कर्म, वेदना या ज्ञान होता है।

भूतात्मा अकेला किसी कर्म करने में प्रवृत्त नहीं होता और न ही अकेला फल को भोगता है। सब कुछ संसार संयोग से ही है। संयोग के बिना कुछ नहीं होता है। राशि पुरुष ही कर्म कर सकता है वह ही फल भोगता है।

५. पुरुष नित्य है अथवा अनित्य ?

अनादि पुरुष (आत्मा-परमात्मा) नित्य है। हेतु से उत्पन्न राशि पुरुष अनित्य है। जो द्रव्य सत् हो परन्तु उसका कोई कारण न हो वह नित्य होता है।

जो उत्पत्ति धर्म से रहित है वह ही नित्य होता है। जो उत्पत्तिधर्मा है उसकी किसी हेतु से भी नित्यता नहीं हो सकती।

जो नित्य पुरुष है वह अव्यक्त है अतएव अचिन्त्य है। जो राशि पुरुष अनित्य है वह व्यक्त है और चिन्त्य है।

आत्मा अव्यक्त है। क्षेत्रज्ञ है। अनादि-अनन्त है। व्यापक और अविनाशी है। इससे विपरीत राशि पुरुष व्यक्त है और कारण से उत्पन्न होता है।

जिसका इन्द्रियों से ग्रहण होता है—ज्ञान होता है। वह ऐन्द्रिक कहलाता है और वह व्यक्त होता है। इससे भिन्न जो इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं—ज्ञेय नहीं वह अतीन्द्रिय कहलाता है, वह अव्यक्त होता है। परन्तु उसका ज्ञान लिंग से हुआ करता है।

६. प्रकृति क्या है ?

आकाश आदि पञ्चतन्त्रमात्राएँ, वुद्धि, अव्यक्त और अहंकार में आठ मूल प्रकृति है।

७. विकार कितने हैं ?

विकार सोलह हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियां, मन और शब्दादि पाँच विषय इस प्रकार सोलह विकार होते हैं।

अव्यक्त को छोड़कर शेष भूत प्रकृति और सोलह विकारों के समुदाय का नाम क्षेत्र है। इसका क्षेत्रज्ञ आत्मा है। वह अव्यक्त होता है।

८. पुरुष का क्या लिंग है ?

आत्मज्ञानी लोग आत्मा को क्रिया रहित स्वतन्त्र, वशी, क्षेत्रज्ञ, निर्विकार तथा साक्षी वताते हैं।

प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मन का जाना, मन का एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय में जाना, प्रेरणा करना, धारण करना, स्वप्न में दूसरे देश में जाना, मरना, दाहिनी आँख से देखी हुई वस्तु को बाईं आँख देखकर 'वही है' ऐसा ज्ञान होना; इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, चेतना, धृति, वुद्धि, स्मृति, अहंकार ये सूक्ष्म आत्मा के लिंग हैं। इन लिंगों से हम आत्मा का अनुमान करते हैं।

यह सब लिंग जीवित प्राणी में पाए जाते हैं—मरे हुए में नहीं। अतः महर्षियों ने यह आत्मा के लिंग कहे हैं।

उस आत्मा के चले जाने के पश्चात् शरीर गृहपति से रहित गृह की तरह शून्य तथा जड़ हो जाता है। और छः धातुओं में से केवल पांच भूतों के शेष रह जाने पर 'पञ्चत्व' को प्राप्त हुआ (मर गया) ऐसा कहा जाता है।

९. निष्क्रिय आत्मा की क्रिया कैसी होती है ?

मन जड़ है—क्रिया वाला है। आत्मा चेतन है। उस विभु आत्मा के मन से युक्त होने पर ही आत्मा की क्रिया कहलाती है। आत्मा चेतनायुक्त

है अतः कर्त्ता कहलाती है ? मन जड़ होने से क्रियायुक्त होने पर भी कर्त्ता नहीं कहलाता।

१०. यदि आत्मा स्वतन्त्र है तो वह अनिष्ट योनियों में क्यों जाता है ?

सब प्राणी अपनी-अपनी आत्मा द्वारा सब योनियों में आत्मा की वा अपने आपको प्राणों से युक्त करते है, अन्य कोई उन का नियामन करने वाला नहीं। आत्मा कर्त्ता है—वह जैसा कर्म करता है वैसी ही योनि में उत्पन्न होता है। वह अपने धर्म अधर्म के अनुसार स्वयं में तत्-तत् योनियों में जाता है।

११. यदि आत्मा वशी है तो दुखकर भाव बलात् क्यों उसे दबा लेते है ?

आत्मावशी है—वह जो कुछ चाहता है, करता है जब वह अपनी इच्छा से शुभ व अशुभ कर्म करता है तो वह फल भी भोगता है। वशी आत्मा चाहता है तो सब कुछ त्याग देता है। आत्मा कर्म करने में वशी है—उन कर्मो का फल सुख दुख उसे अवश्य भोगना पड़ता है।

१२. सर्वगत आत्मा सबकी सब वेदनाओं को क्यों नहीं जानता ?

आत्मा सर्वगत होता हुआ भी देही व शरीरी है। उसका अपने शरीर की स्पर्शनेन्द्रिय से ही सम्बन्ध रहता है। अतएव सब शरीरों की सब वेदनाओं को नहीं जानता।

अतः आत्मा सर्वगत है, परम महत्परिमाण वाला है, अतः विभु है, परन्तु देही होने से उस देह के अनुसार इसकी ज्ञान साधन इन्द्रियाँ सीमित हैं—अतः वह पर्वत अथवा भित्ती आदि से छिपी वस्तु को नहीं देख सकता। परन्तु यदि मन की समाधि हो—चित्तवृत्तियों का विरोध हो तो तिरोहित वस्तु भी देख सकता है।

देह के कर्म का अनुसरण करने वाले मन के साथ नित्य सम्बन्धयुक्त एक योनि में स्थित आत्मा को सर्वयोनिगत जानना चाहिए। मोक्ष पर्यन्त मन और आत्मा का सम्बन्ध नित्य है। शरीर के नष्ट होने पर मन एवं आत्मा का सम्बन्ध विच्छेदन नहीं होता—जब आत्मा जीव शरीर में प्रविष्ट होता है तो मन के साथ ही होता है।

१४. क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र में कौन पूर्व है ?

आत्मा का आदि नहीं और क्षेत्र की परम्परा भी अनादि है। अतः दोनों

के अनादि होने से इसमें कौन पूर्व हैं यह नहीं कहा जा सकता।

१५. आत्मा किस का साक्षी है ?

ज्ञानवान व चेतन साक्षी हुआ करता है, अज्ञ व अचेतन साक्षी नहीं होता अतः आत्मा साक्षी है—महत्तत्व आदि साक्षी नहीं है। तब भूतों के सब भावों का आत्मा साक्षी है। भूतों से आकाश आदि का ग्रहण होता है—वास्तव में आत्मा तो इनके अतिरिक्त महान एवं अहंकार आदि का साक्षी है—क्योंकि वह सब भी जड़ है।

१६. निर्विकार आत्मा में वेदनाजन्य विकार क्यों कर होता है ?

अकेले भूतात्मा को हम लिंगों से कदाचिदपि नहीं जान सकते। उस अकेले अज्ञेय भूतात्मा में कोई भिन्नता नहीं होती। वेदनाजन्य विशेषता या भिन्नता राशि पुरुष में होती है। प्राण अपान आदि लिंग जो पहले बताए हैं यह भी राशि पुरुष में ही देखे जाते है जिनके देखने से आत्मा का अनुमान लगाया जाता है।

१७. सर्वज्ञ सर्वत्यागी सब संयोगों से परे प्रशान्त आत्मा को किन लिंगों से जाना जा सकता है।

जब सर्वकर्मत्याग से सब वेदनाएँ निवृत हो जाती हैं तब लिंग से रहित महत्तत्व आदि सब भावों से मुक्त तथा ब्रह्म रूप हुआ भूतात्मा नहीं जाना जाता। पीछे जो भी लिंग कहे हैं वह राशि पुरुष के हैं—अकेले आत्मा में वह सब गुण नहीं होते। वह किसी लिंग से भी नहीं पहचाना जा सकता।

प्रश्न—आत्मा का भूतों के साथ संयोग किस प्रकार होता है ?

उत्तर—अत्यन्त सूक्ष्म चारों भूतों के साथ और मन की क्रिया से वेगवान व क्रियावान आत्मा कर्मवश एक देह से दूसरे देह को प्राप्त होता है। सूक्ष्म भूतों का साथ रहना लिंग शरीर का उपलक्षण है। यह सूक्ष्म लिंग शरीर महाप्रलय व मुक्ति पर्यन्त प्रति पुरुष के साथ रहता है! मुक्त होने पर लिंग शरीर नहीं रहता, तब आत्मा रूप हो जाता है।

यह लिंग शरीर प्रधान द्वारा प्रति पुरुष एक-एक उत्पन्न किया गया है। इसे कहीं रुकावट नहीं—यह शिला में भी प्रविष्ट हो सकता है। यह आदि सर्ग से लेकर अन्त तक साथ रहता है। इसमें महत्तत्व एकादश इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्राएँ होती हैं। धर्माधर्म आदि भावों से अधिवासित हुआ २ स्वयं भोग रहित लिंग शरीर-स्थूल शरीर को ग्रहण करके छोड़ता है और छोड़ कर

इस दूसरे सूत्र में प्रथम वचनोक्त आत्मा को निर्गुणता के विषय में सन्देह उत्पन्न कर दिया है। इनका कहना है कि प्रकृति के अनुगुण ही पुरुष में भी त्रिगुणात्मकता है। इसका कारण बताते हुए कहा है कि इसके दो कारण हैं। प्रथम यह कि पुरुष प्रकृति के साथ लिप्त होता है। पुरुष स्वयं निर्गुण होते हुए भी प्रकृति में लिप्त होने से त्रिगुणात्मक हो जाता है जैसे मुख स्वयं स्वच्छ होते हुए भी मलिन दर्पण के कारण मलिन दिखलाई देता है। दूसरा हेतु तन्मय होना कहा गया है। इसका अर्थ है—तद्रूप होना, समरस होना, अभेदभाव से रहना, अपने को भूल जाना। जैसे कामी पुरुष स्त्री के साथ तन्मय होकर अपने पुरुषत्व को भूल जाता है उसी प्रकार पुरुष बुद्धयादि के साथ तन्मय होकर अपनी त्रिगुणातीत की विशेषता को भूल जाता है और त्रिगुणातीत होने पर भी त्रिगुणात्मक हो जाता है। वास्तव में पुरुष लिप्त होते हुए भी "पद्मपत्रमिवाम्भसः" की तरह निर्लिप्त होता है।

प्रश्न—चिकित्सकीय पुरुष कौन है; वर्णन कीजिए ?

उत्तर—जैसा कि पीछे लिख आए हैं कि पुरुष शब्द से तीन अवस्थाओं का बोध होता है—

(क) एक धातु पुरुष

(ख) षड्धातु पुरुष

(ग) चौबीस धातु पुरुष

चिकित्सा के लिए एक धातु पुरुष का कोई महत्व नहीं, क्योंकि वह तो आत्मा मात्र है। चिकित्सा के लिए षड्धातु पुरुष और चौबीस धातु पुरुष का ही ग्रहण किया जाता है।

षड्धातु पुरुष के विषय में कहा गया है कि "इस शास्त्र में पञ्चमहाभूत और आत्मा के समवाय को पुरुष कहा जाता है। इसी पुरुष की चिकित्सा की जाती है और यही पुरुष चिकित्सा कर्मफल का आश्रय है।"[1]

इसी की विस्तार से व्याख्या करते हुए कहा जाता है कि पुरुष चौबीस तत्वों से बना है। उन चौबीस तत्वों की व्याख्या करते हुए बताया गया है

१. अस्मिन्तु शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरि समवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानं !"

(सु० सू० अ० १)

प्रश्न—मन किसे कहते हैं? उसके गुण, विषय एवं कर्म क्या हैं? मन के के दोष कौन हैं? क्या मन भी इन्द्रिय है?

उत्तर—"युगपत् ज्ञान का अभाव तथा भाव मन का लक्षण है।"[1] जब आत्मा द्वारा अपने अभिमत विषय के ग्रहण के लिए प्रवृत्त किया गया मन उस विषय के ग्रहण के लिए उस नियम की ग्राहक इन्द्रिय की ओर जाता है तब वह मनोयुक्त इन्द्रिय विषय भी ग्रहण करती है। दूसरी इन्द्रिय विषय को ग्रहण करने के लिए युगपत मन प्रवृत्त नहीं होता। अतएव एक काल में एक ही ज्ञान का होना और दूसरे का न होना, यह ही मन का अनुमापक लक्षण है।

इन्द्रियों के विषय युगपत इन्द्रियों से संयुक्त होते हैं परन्तु एक क्षण में किसी एक इन्द्रिय के विषय का ज्ञान होता है, दूसरे का नहीं। यह देखा गया है। आत्मा विभु है। उसका एक काल में ही सब इन्द्रियों के साथ संयोग होता रहता है। यदि मन की सत्ता स्वीकार न की जाए तो सर्वदा सब इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान होता रहे। अत. हम कहेंगे कि जिसके द्वारा एक काल में एक ही विषय का ग्रहण होता हो वह मन है।

इस मन के दो गुण बताए गए हैं अणुता एवं एकता।[2] प्रति शरीर में एक मन है और वह अणु है। यदि मन अनेक हों और महत्यपरिमाण वाला हो तो एक समय में युगपत ज्ञान होना चाहिए परन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं अतः उसे अणु और एक मानना ही होगा इससे स्पष्ट हो जाता है कि मन में अणुता एवं एकता नामक दो गुण हैं।

मन के विषय कौन हैं यह बताते हुए कहा गया है कि "चिन्त्य, विचार्य ऊह्य, ध्येय और संकल्प तथा अन्य जो भी मन से ज्ञेय हैं वे सब मन के विषय कहे जाते हैं।"[3]

व्यक्ति जो कुछ सोचता है वह चिन्त्य कहा जाता है, जो कुछ गुण व

---

१. लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एवं च। (च० शा० अ० १)

२. अणुत्वं अथ च एकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतः।" च० शा० अ० १)

३. "चित्यं विचार्य ऊह्यं च ध्ययं संकल्पामेव च। (च० शा० अ० १)
यात्कीचिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यसंज्ञकम्॥"

दोष द्वारा विचारता है वह विचार कहलाता है। जो कुछ युक्ति द्वारा तर्कण्य करता है वह ऊह्य कहाता है। जिसका ध्यान किया जाता है वह ध्येय हैं। जो कुछ कर्तव्याकर्तव्य की कल्पना का निश्चय किया जाता है वह संकल्प कहाता है। इन पाँच के अतिरिक्त भी जो मन के ज्ञेय हैं वह सब मन के विषय कहलाते हैं।

मन के कर्मो के विषय बताते हुए कहा गया है कि "इन्द्रियों में अधिष्ठित होना, अहित विषय से मन को रोकना ऊहा और विचार यह मन के कर्म हैं।"[1] अनिष्ट विषय में गया हुआ मन मन द्वारा ही रोका जाता है। मन के कर्म के पश्चात् बुद्धि प्रवृत्त होती है।

यों भी कह सकते हैं कि इन्द्रियाभिग्रह और इन्द्रियनिग्रह ये दो मन के कर्म हैं। एक ही काल में एक विषय का ग्रहण और दूसरे दूसरी इन्द्रिय को अपने विषय को ग्रहण करने में असमर्थ रखना ये दो कर्म मन करता है या यों कहिए कि विषय ग्रहण के समय इन्द्रिय का ग्रहण करना और ज्ञान हो चुकने के पश्चात् उसका त्याग करना यह दो कर्म मन के हैं। कर्म के पश्चात् तक, तर्क के पश्चात् विचार, तदनन्तर बुद्धि प्रवृत्त होती है।

मन के तीन प्रकार बताए गए हैं—

(क) सात्विक मन

(ख) राजसिक मन

(ग) तामसिक मन

इनको देखते हुए प्रथम प्रकार का मन श्रेष्ठ माना जाता है और दूसरा तथा तीसरी तरह का मन दूषित कहलाता है। इसीलिए मन के दोष बताते हुए दो ही दोष कहे गए हैं रज एवं तम।[2] सत्व को तो गुण कहा गया है।

एक मन होते हुए भी अनेक हों ऐसा लगना मन के सात्विक आदि होने के कारण से है। चरक में लिखा है कि अनेक प्रकार के सच्चे-झूठे विचार करने से रूप, रस गन्ध आदि विविध इन्द्रियार्थों का ग्रहण करने से भले बुरे उपयोगी-अनुपयोगी संकल्प करने से और क्षण में रजो गुणयुक्त, क्षण में

---

१. "इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसत्वस्य निग्रहः।
ऊहो विचारश्य; (च० शा० अ० १)

२. मनसः पुनरुद्दिष्ठों रजश्चतमेव च।" (च० सू० अ० १)

तमोगुणयुक्त और फिर सत्वगुणयुक्त होने के कारण एक ही पुरुष में अनेक मन हों ऐसा मिथ्या भ्रम हो जाता है ।

बार-बार जिस-जिस गुण वाला मन किसी पुरुष में देखा जाए, उस गुण की मात्रा उस मन में अधिक होने के कारण उस गुणाधिक्य के अनुसार मन से सात्विक-राजस या तामस जानना चाहिए ।

सात्विक आदि त्रिविध मन वाले पुरुष के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि अक्रूरता, उपभोज्य द्रव्यों को बाँटकर भोग करने का स्वभाव, क्षमा, सत्य शरीर-मन और वाणी से उत्तम कर्म करना, अस्तिक्ता, आत्मज्ञान, प्रतिभा, मेधा, स्मृति, धैर्य, निःस्पृहता ये सात्विक पुरुष के लक्षण हैं ।

अति दुःख अनुभव करना, इत्वरता, अधैर्य, अहंकार, मिथ्याभाषण, निर्दयता, दम्भ, मान, हर्ष, काम और क्रोध, ये पुरुष के लक्षण हैं ।

विषाद-नास्तिकता, अधर्मशीलता, बुद्धिहीनता, अज्ञान, दुष्टबुद्धिता, अकर्मशीलता, निद्रालुता ये तामस पुरुष के लक्षण हैं ।

सुश्रुत शारीरस्थान अध्याय ४ में सात्विक काम आदि के लक्षण निम्न प्रकार लिखे हैं—

"पवित्रता अस्तिक्य, वेदों में अभ्यास, गुरुजनों का पूजक, आये हुए अतिथियों को प्रेम करने वाला, यज्ञ करने वाला ब्रह्म-काय कहलाता है ।"

"जिसमें महात्म्य, शूरता, आज्ञाशक्ति और निरन्तर शास्त्र बुद्धि हो और जो भृत्यों का भरण करे वह महेन्द्रकाय कहा जाता है ।"

"शीतसेवी, सुख दुःखादि को सहन करने वाला, जिसकी आंखें पीली तथा केश कपिल हों तथा प्रियवादी हो वह वरुणकाय कहलाया है ।"

जो मध्यस्थता करे, सहनशील, धन का आगमन व संचय करे, प्रजा उत्पादन में अधिक समर्थशील हो वह कुबेरकाय कहलाता है ।"

"गन्ध और माल्य में प्रियशील, नृत्य और वाहन में प्रवीण, विहारशील, गान्धर्वकाय कहलाता है ।"

"युक्ति कार्य करने वाला, दृढ़ता से काम करने वाला, निर्भय, स्मृतियुक्त पवित्र राग, मोह, भय और द्वेष से रहित यमकाय होता है ।"

"जय, व्रत, ब्रह्मचर्य, यज्ञ तथा अध्ययन का सेवी ज्ञान और विज्ञान से सम्पन्न नर को ऋषि-सत्व कहा जाता है ।"

यह ऊपर सात प्रकार के सात्विक काय कहे गये हैं ।

"ऐश्वर्यवान, रौद्र, शूरवीर, प्रचण्ड, ईर्षालु, अकेला खानेवाला और औदरिक यह आसुर सत्व के लक्षण हैं।"

"तीव्र स्वभाव, परिश्रमी, डरपोक, भयंकर व मायावी, चपल आहार तथा आचारवान पुरुप सर्वसत्व होता है।

"अत्यन्त कामी तथा निरन्तर खाने वाला, क्रोधी और अनावस्थित चित्त-वाला पुरुष शाकुनकाय होता है।"

"प्राय: एकान्त में रहने वाला, भयानक, असूया करने वाला, धर्मविरुद्ध आचरण करने वाला, अतीतमोगुणी राक्षसकाय कहलाता है।"

"अच्छष्टाहार सेवी, तीक्ष्ण, साहसप्रिय, स्त्री का लोलुप और निर्लज्ज पैशाचकाय कहलाता है।"

"ठीक प्रकार विभाजन करने वाला, आलसी, दु:ख, शील, ईर्षालु, लालची और अदाता प्रेत सत्व कहलाता है।"

ऊपर छ: प्रकार के राजस-कायों का वर्णन किया गया है।

"दुष्ट, वुद्धिमन्दता, स्वप्न में नित्य मैथुन करने वाला, किसी कार्य को न कर सके वह पशु-सत्व कहलाता है।"

"अनवस्थित चित्त, मूर्ख, डरपोकपन, जलमी विशेष अभिलापा करने वाला, एक दूसरे से द्वेप रखने वाला, मत्स्य-सत्व कहलाता है।"

"एक ही स्थान में पड़ा रहे और सदा आहार करने में लगा रहे सत्व गुण-धर्म-अर्थ-काम से वर्जित वानस्पत्य सत्व कहलाता है।"

ऊपर तीन प्रकार के तामस काल कहे गये है।

एकादश इन्द्रियाँ हैं। यह कहने से मन भी इन्द्रिय है ऐसा भय होता है। वास्तव में ज्ञानेन्द्रिय केवल ज्ञान कराने में और कर्मेन्द्रियाँ केवल कर्म करने में समर्थ होती हैं। किन्तु मन 'उभयात्मक' है—वह दोनों के कर्म कर सकता है। इसीलिए इसको अतीन्द्रिय कहा जाता है[1] इसी को 'सत्व' कहते हैं और कोई-कोई चेत भी कहते हैं।

मन और ज्ञानेन्द्रिय में केवल इतना अन्तर है कि एक ज्ञानेन्द्रिय केवल विषय को ग्रहण करती है जबकि मन सब विपयों का ग्रहण कर सकता है। इसीलिए इसे अतीन्द्रिय कहा जाता है।

---

१. अतीद्रियं पुनर्मन: सत्व संराकं चेत इत्याहुरेके। (च. सू. अ. ८)

प्रश्न—अन्तःकरणों की वृत्तियों की व्याख्या कीजिए ?

उत्तर—महत्, अहंकार और मन यह तीन अन्तःकरण कहलाते हैं। कोई-कोई 'चित्त' को चौथा अन्तःकरण मानते हैं। इनका अपना-अपना असाधारण लक्षण 'स्वालक्षण्य' कहलाता है। महत् का अध्यवसाय, अहंकार का अभिमान और मन का संकल्प—ये इनकी अपनी-अपनी असाधारण वृत्तियाँ हैं। सामान्य करण वृत्तियाँ तो प्राण आदि पञ्च वायु हैं जो जीवन के लक्षण हैं। जिनके रहने से जीवन रहता है और जिनके न रहने से ही जीवन का अभाव हो जाता है।

इष्ट विषयों में इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार इन चारों की वृत्ति क्रमशः तथा एक साथ कही गई हैं। और इसी प्रकार अदृष्ट विषयों में भी बाह्य इन्द्रियों के बिना तीनों अन्तःकरणों की वृत्तियाँ, तत्पूर्विका अर्थात् दर्शन पूर्वक, एक साथ और क्रमशः होती हैं।

बुद्धि (महान्) का लक्षण तथा कार्य बताते हुए कहा गया है कि अध्यवसाय को बुद्धि कहते हैं। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार सात्विक बुद्धि के रूप हैं। तामसिक बुद्धि ठीक इससे विपरीत होती है। (सांख्यकारिका)

भगवद्गीता में बुद्धि तीन प्रकार की कही गई है। वहाँ बताया है कि जो प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, बन्ध, मोक्ष इन सबको यथाविधि जानते हैं उनकी बुद्धि सात्विकी है।

जो धर्म-अधर्म, कार्य और अकार्य को अयथावत जानते है उनकी बुद्धि राजसी होती है।

जो धर्म-अधर्म को एक समान मानते हैं, सभी अर्थों को विपरीत समझते हैं, उसको तामसी बुद्धि कहा जाता है।

अहंकार दूसरा अन्तःकरण है। अभिमान को अहंकार कहते हैं। यह भी तीन प्रकार का है—सात्विक, राजसिक एवं तामसिक। उस अहंकार से दो प्रकार की उत्पत्ति की सृष्टि होती है। सात्विक अहंकार से तेजस अहंकार की सहायता द्वारा एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। तामसिक अहंकार से राजसिक अहंकार की सहायता द्वारा पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है।

मन के विषय में हम पहले चर्चा कर चुके हैं।

यह तीनों अन्तःकरण सब विषयों को ग्रहण करते हैं।

प्रश्न—विशेष और अविशेष से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर—शब्दादि पञ्चतन्मात्रायें अविशेष कहलाती हैं। इन शब्दादि पञ्चतन्मात्राओं से पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। यह पाँचों महाभूत विशेष कहलाते हैं क्योंकि यह शान्त, घोर और मूढ़ होते हैं।

सूक्ष्म शब्दादि पंचतन्मात्राएं उपभोग योग्य नहीं होते, इसी से उनके शान्तत्वादि धर्मों का हमें अनुभव नहीं होता, अतः उन्हें अविशेष पद से संज्ञित किया गया है और आकाश आदि पञ्चमहाभूत के स्थूल होने से उनके शान्त्वादि धर्मों का हमें अनुभव होता है, इसी से उन्हें विशेष कहा जाता है।

प्रकृति से उत्पन्न होने वाले चौबीस तत्त्वों से भिन्न-भिन्न तत्त्वों के मेल से तीन विशेष वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, जिनसे पुरुष का उपभोग सिद्ध होता है—(१) सूक्ष्म या लिंग शरीर जो अठारह तत्वों का समुदाय होता है। (२) माता पिता से उत्पन्न होने वाला स्थूल शरीर और (३) विशेष महाभूत। इन्हीं तीन विभागों में बँटे हुए सब प्राकृत पदार्थों का पुरुष उपभोग करता है। इनमें सूक्ष्म शरीर की स्थिति तत्वज्ञान के उत्पन्न होने तक रहती है और माता पिता से उत्पन्न होने वाले शरीर नष्ट हो जाते हैं तथा उनके तत्व अपने-अपने समान तत्व में मरने के पश्चात मिल जाते हैं। इस प्रकार मध्यभूत भी प्रलयकाल में अपने-अपने अव्यक्त कारण मे लीन हो जाते हैं।

प्रश्न—मन का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होकर ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती ह ?

उत्तर—जैसा कि पहले लिख आए हैं कि मन ही इन्द्रियों को ग्रहण करता है तभी वह इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण करने में समर्थ होती है। क्योंकि मन अणु और एक है अतः एक समय में एक ही इन्द्रिय से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। जब वह किसी एक इन्द्रिय से सम्बन्ध स्थापित करता है तो उस इन्द्रिय का विषय से सम्बन्ध होता है और ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

मन का इन्द्रिय से सम्बन्ध होने पर ज्ञान की उत्पत्ति किस प्रकार होती है यह बताते हुए कहा गया है कि "मन के सहित इन्द्रियों द्वारा उन दो अर्थों का शब्द-स्पर्श आदि ग्रहण होता है। इसके बाद मन द्वारा गुण या दोष की विवेचना होती है। इस प्रकार मन द्वारा विवेक दृष्टि से सोचे गए इस अर्थ के विषय में जो निश्चयात्मक बुद्धि होती है, उससे बुद्धिपूर्वक बोलने में या कार्य करने में प्रवृत होता है। जिस-जिस इन्द्रिय का आश्रय करके जो-जो बुद्धि ज्ञान पैदा होता है उस-उस इन्द्रिय के नाम से उस-उस ज्ञान का

निर्देश होता है। यथा चक्षु-बुद्धि, नासाबुद्धि आदि। मन के द्वारा प्राप्त हुई वुद्धि को मनोबुद्धि कहा जाता है। आत्मा, मन, इन्द्रियाँ और अर्थों के सन्निकर्ष से बहुत सी बुद्धियां उत्पन्न होती हैं। इनका कारण विभिन्न इन्द्रियां, विभिन्न अर्थ और उनसे होने वाले विभिन्न प्रभाव हैं।

प्रश्न—इंद्रियाँ कितनी हैं। उनके विषय में आप क्या जानते हैं? एक ज्ञानेन्द्रिय एक नियत विषय को ही क्यों ग्रहण करती है?

उत्तर—इन्द्रियां एकादश हैं—यह बात पहले भी आई है। इनमें पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं—पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं और एक मन है जो उभयात्मक कहलाता है। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि मन अतीन्द्रिय है। उस विषय में जो भी ज्ञातव्य हैं वह हम पहले लिख चुके हैं। वास्तव में इन्द्रिय शब्द से मन का ग्रहण नहीं किया जाता—शेष दस का ही ग्रहण करते हैं। मन को अतीन्द्रिय माना जाता है।

इस प्रकार दो प्रकार की इन्द्रियाँ रहीं—ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां। हम पहले ज्ञानेन्द्रियों के विषय में लिखते हैं। "ज्ञानेन्द्रियां पांच हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन तथा स्पर्शन। यह पांच इन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा हम भिन्न-भिन्न विषयों का ग्रहण करते हैं।

पाँच ही इन इन्द्रियों के द्रव्य हैं। जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी। इन्हें ही पञ्चमहाभूत भी कहते हैं। एक-एक इन्द्रिय में एक एक द्रव्य प्रधान हैं। जैसे श्रोत्रेन्द्रिय का द्रव्य आकाश, स्पर्शनेन्द्रिय का वायु, चक्षु का अग्नि, रसनेन्द्रिय का जल, घ्राणेन्द्रिय का पृथ्वी।

पांच ही इन्द्रियों के आश्रम हैं—(१) दोनों आंख, (२) दो कान, (३) दो नासिका, (४) जिह्वा, (५) त्वचा। इन पांचों में क्रमशः चक्षु आदि इन्द्रियों का वास है। यदि चक्षुरिन्द्रिय न हो और आँख हो तो आंख रहते हुए भी हम नहीं देख सकते। इनके विषय में यह ध्यान रखना चाहिए कि आयुर्वेद में इन्द्रियों को भूतिक माना है।[1] भौतिक मानने का कारण यह है कि आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र है उसमें इन इन्द्रियों के अधिष्ठानों का ही उपचार किया जाता है। अतः भौतिक अधिष्ठानों के विकार अथवा रोगों की चिकित्सा आदि ही की जाती है।

इन्द्रियो के पांच ही विषय हैं। शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। शब्द

१. भूतिकानि च इन्द्रियाणि आयुर्वेद वर्णन्ते।"

श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। स्पर्श त्वग का विषय है। रूप चक्षु का विषय है। रस रसना का विषय है और गन्ध घ्राण का विषय है।

पांच ही इन्द्रियों के ज्ञान हैं चक्षुबुद्धि, श्रोत्रबुद्धि, घ्राणबुद्धि, रसनबुद्धि, स्पर्शनबुद्धि। यह बुद्धियां इन्द्रिय, इंद्रियों के विषय, मन तथा आत्मा के संयोग से पैदा होते हैं। ये क्षणिक तथा निश्चयात्मक अथवा वस्तु के स्वरूप को जताने वाली हैं।

जैसा कि सुविदित है कि चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिय पांच हैं परन्तु यदि इस विषय में सूक्ष्म विचार किया जाये तो हम पाते हैं कि ज्ञानेन्द्रिय केवल एक ही है और वह है स्पर्शेन्द्रिय। यह समग्र इन्द्रियों में एवं समग्र शरीर में व्यापक है। केवल केश-लोम आदि इसके अपवाद हैं जिनमें न ही स्पर्शेन्द्रिय होती है और न ही किसी प्रकार का ज्ञान होता है। मन का स्पर्शेन्द्रिय से समवाय सम्बन्ध है, अर्थात् जहां-जहां स्पर्शेन्द्रिय से रूपादि किसी भी प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति हो रही है, वहाँ-वहाँ मन की सत्ता अवश्य होती है। संज्ञावह स्रोत केश आदि के अतिरिक्त शरीर में सर्वत्र परिव्याप्त हैं। इनका रूपादि विषयों से स्पर्श होता है। वातहन संज्ञावहाओं में सर्वदा स्थित होता है। उसकी प्रेरणा से मन संज्ञावहों द्वारा आत्मा को ज्ञान की प्राप्ति कराता है।

जैसा कि पहले लिख आए हैं कर्मेन्द्रियां भी पांच हैं। कहा गया है कि आत्मा का ही मन द्वारा कर्मेन्द्रियों के साथ संयोग होने से विविध कार्मिक व्यापार होते हैं। कर्मेन्द्रियां

ये पांच ~~ज्ञानेन्द्रियां~~ निम्न हैं—

(१) पांव (पाद)

(२) हस्त, (३) पायु, (४) उपस्थ, (५) ~~जिह्वा~~। ६

इनके कर्म बताते हुए कहा गया है कि पैरों से गति, हस्तों द्वारा ग्रहण और धारण, पायु (गुद) से मल त्याग, उपस्थ से मूत्र और शुक्र का त्याग होता है और जिह्वा से वाक् प्रयोग होता है।

सभी इन्द्रियां पाञ्च भौतिक हैं—ऐसा आयुर्वेदज्ञ मानते हैं। लेकिन आंख रूप का ग्रहण करती है, गन्ध का ग्रहण क्यों नहीं करती ? यदि सब इन्द्रियां पाञ्चभौतिक ही हैं तो इस प्रकार का नियम क्यों देखने में आता है। हठ का

समाधान करते हुए भगवान चरक कहते हैं—"जिन-जिन इन्द्रियों में जो-जो भूत अधिक होता है वह इन्द्रिय तत्तद भूत के अर्थ को ग्रहण करती हैं। उस इन्द्रिय का और उस इन्द्रिय से ग्राह्य अर्थ का स्वभाव एक सा होता है। इन्द्रियों की शक्ति समान जातीय अर्थों को ग्रहण करती है। उदाहरणार्थ आंख में तेज अधिक होता है। इसलिए वह रूप ग्रहण कर सकती है, क्योंकि आंख और तेज दोनों समान जातीय हैं। आंख भी तेजस हैं और रूप भी तेजस है। सुश्रुत भी इसी मत का समर्थन करते हैं और इन्द्रियों तथा अर्थों की तुल्य योनित्व पर जोर देते हैं। वहां कहा गया है कि मनुष्य इन्द्रिय से उसके उस ही अर्थ को समान योनि होने से ग्रहण करता है। अन्य इन्द्रिय से अन्य विषय का ग्रहण नहीं होता।[1] आधुनिक विज्ञान भी यह बात मानता है और उनके यहां "विशेषता का नियम" (The law of Spcefic Grritability) कहा गया है।

प्रश्न—त्रिविध एषण की व्याख्या करते हुए परलोक के विषय में वर्णन कीजिए ?

उत्तर—इहलोक एवं परलोक में हित की आकांक्षा रखने वाले मन, बुद्धि तथा पराक्रम से सम्पन्न पुरुष को तीन एषणाओं अथवा इच्छाओं की चाह होती है। जैसे—प्राणैषणा, (२) धनैषणा (३) परलोकैषणा।

इन एषणाओं में से प्राणैषणा सबसे मुख्य है, चूंकि प्राण नाश सर्वनाश होता है। अर्थात् धनैषणा और परलोकैषणा दोनों जीवितावस्था में ही हो सकती हैं—मरे हुए में नहीं, अतएव प्राणैषणा मुख्य है। अतः प्राणैषणा के लिए स्वस्थ पुरुष को स्वस्थवृत्त (Hygiene) का पालन करना चाहिए, तथा रुग्ण पुरुष को रोग शांति में प्रमादरहित होना चाहिए। इन दोनों का पहले वर्णन हो चुका है और भी होगा। शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार प्राणों का पालन करते हुए मनुष्य दीर्घायु होता है। इस प्रकार प्रथम एषण का वर्णन कर दिया है।

प्राणों की चाह के बाद धन की चाह होती है, क्योंकि पुरुष जीवनेच्छा

---

१. "इंद्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्यमिति स्थितिः॥"　　　　(सु० शा० अ० १)

के बाद धन की इच्छा करता है, उस पुरुष से बढ़कर दूसरा पापी नहीं जिस की आयु दीर्घ हो पर उपकरण (साधन) धन न हो। अतः उपकरणों की प्राप्ति के लिए यत्न करना चाहिए। उपकरण-धन-प्राप्ति के उपाय ये हैं— कृषि, पशुपालन, व्यापार या गवर्नमेंट प्रभृत नौकरी की इत्यादि। इसके अतिरिक्त अन्य भी जो-जो कर्म सतपुरुषों द्वारा निन्दित न हो और धन सम्पत्ति को बढ़ाने वाले हों उन उन कर्मों को करें। इस प्रकार मनुष्य सफल दीर्घ जीवन को प्राप्त होता है और श्रेष्ठ कर्मों के करने से तथा धनाढ्य हो जाने से कभी अप्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार दूसरी एषण धनेषणा की व्याख्या भी कर दी गई है।

धनेषणा के पश्चात् परलोकैषणा का नम्बर हैं। परन्तु परलोक के विषय में सन्देह है—कि मृत्यु के बाद पुर्नजन्म कैसे हो सकता है? परलोक अथवा पुर्नजन्म के विषय में सन्देह इसलिए हो सकता है कि कई प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। पुर्नजन्म परोक्ष है और अतएव वे पुनर्जन्म की सत्ता को नहीं मानते, और दूसरे ऐसे भी हैं जो आगमन शास्त्र के वचनों पर विश्वास करके पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं, परन्तु श्रुतियां भी परस्पर बिलकुल विरुद्ध मिलती हैं, जैसे कोई तो माता पिता को ही जन्म कारण मानते है कोई स्वभाव को, कोई परानिर्माण को और कोई यद्‌च्छा (ऐसे ही अचानक) को। अतः संशय पैदा होता है—क्या पुनर्जन्म भी होता है या नहीं।

बुद्धिमान मनुष्यों को चाहिए कि वह नास्तिक (परलोक नहीं है) बुद्धि को छोड़ देवे और इसमें किसी प्रकार का सन्देह न करे। क्योंकि प्रत्यक्ष थोड़ा है और अप्रत्यक्ष (परोक्ष) अधिक है, जिसे हम आगम अनुमान तथा युक्ति प्रमाणों द्वारा जानते हैं। यदि केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण हो तो जिन इन्द्रियों द्वारा हम प्रत्यक्ष करते हैं, वे स्वयं ही अप्रत्यक्ष (प्रत्यक्षप्रमाणग्राह्य) हैं। इस प्रकार इन्द्रियों का अस्तिव ही नहीं रहता, पुनः प्रत्यक्ष किस तरह हो। प्रत्यक्ष वादी के मत में एक यह दूषण उत्पन्न होता है जिससे प्रत्यक्ष की प्रमाणता भी नहीं रहती।

रूपों के होते हुए भी उनके अति निकट होने से अति दूर होने से, बीच में किसी आवरण (पर्दे) के आ जाने से, इन्द्रियों की दुर्बलता के कारण, मन अन्यत्र लगे होने से, समानाभिहार अर्थात् एक जैसी वस्तुओं के पड़े होने से, अभिभव (परभाव) से तथा अत्यन्त सूक्ष्म होने से प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः

प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अन्य नहीं, ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं।

आत्मान्तरनिरपेक्ष (दूसरे आत्मा को मानने के बिना ही) माता पिता को कारण मानना आदि विषयक श्रुतियाँ प्रामाणिक नहीं क्योंकि वे तर्कतुला पर तोलने से निराधार प्रमाणित होती हैं।

जैसे—यदि माता पिता का ही आत्मा अपत्य अर्थात् सन्तान में जाती हो अर्थात् यदि उत्पत्ति में माता पिता की आत्मा के अतिरिक्त दूसरा आत्मा होती ही न हो तो हम यह पूछते हैं कि आत्मा किस प्रकार सञ्चार करता है—क्या उनका कोई अवयव सन्तान में जाता है। अथवा सारा ही जाता है। यदि सारा ही जाय तो माता पिता की तत्काल मृत्यु हो जानी चाहिये, अवयवशः जाता हो तो इसमें विप्रति प्रति होती हैं कि सूक्ष्म आत्मा का अवयव (टुकड़ा) हो ही नहीं सकता। जैसे आकाश, काल, मन, बुद्धि आदि सूक्ष्म पदार्थों के टुकड़े नहीं हो सकते।

यदि यह कहो कि माता पिता की बुद्धि का मन अत्यन्त में संचरित होकर चेतना को पैदा करता है तो भी उपर्युक्त दोष आते हैं। अर्थात् मन और बुद्धि यह भी सूक्ष्म है। अतः निरवयव होने से इनके अवयव का संचार नहीं हो सकता है और यदि सम्पूर्ण का संचार हो तो माता पिता तत्काल ही बुद्धि तथा मन रहित हो जाए पर ऐसा नहीं होता।

जो केवल माता पिता को ही जन्य कारण मानते हैं, उनके पक्ष में चार प्रकार की योनियां ही नहीं होनी चाहिए। चतुर्विधयोनि जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज है। यदि माता पिता ही कारण हो तो माता पिता के बिना ही उत्पन्न होने वाले स्वेदज तथा उद्भिज्ज क्रिमियों में चेतनता ही नहीं होनी चाहिये। परन्तु माता पिता के बिना भी उनमें चेतनता होती है। अतएव चतुर्विध योनि माननी पड़ती है। अतः माता पिता को कारण मानना बुद्धि संगत नहीं।

स्वभाव को उत्तर-छहों धातुओं को अर्थात् पंचमहाभूत तथा आत्मा का स्वलक्षण ही स्वाभाविक जानना चाहिए पृथ्वी के कठिनता आदि जल के द्रवता आदि वायु का तिर्यग्गमन आदि आकाश का अप्रतिघात (अवकाश) तथा आत्मा के ज्ञान आदि जो आत्मजीय लक्षण हैं वे ही स्वभाविक हैं। परन्तु इनके संयोग और वियोग में कर्म ही कारण है। अर्थात् यदि आत्मा को न माना जाए और केवल मात्र भूतों से ही चेतन शरीर पैदा हो जाये यह

असम्भव है, क्योंकि भूत जड़ है। यदि इन महाभूतों के संयोग से भी चेतनता मानली जाय तो बाल्य आदि अवस्था भेद से बहुत चेतन मानने पड़ेंगे। अर्थात प्रतिक्षण शरीर में महाभूतों का संयोग हो रहा है, संयोग होने से ही चेतन की उत्पत्ति हो जायेगी। पुनः पूर्व चेतन के समय किए हुये का द्वितीय चेतन के समय स्मरण नहीं होना चाहिये परन्तु स्मरण होता है। अतः एक चेतन तथा वह भी नित्य मानना पड़ता है यही आत्मा है। इसी के कारण शरीर में चेतनता होती है। परन्तु गर्भोत्पत्ति काल में भूतों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होने में कर्म (अदृष्ट-पूर्वजन्म कृत कर्म धर्माधर्म) ही कारण है। अर्थात् उच्च नीच कुल आदि विषमता दिखाने से उनके पूर्वजन्मकृत कर्म को ही कारण मानना पड़ता है, इसी प्रकार इनके वियोग में भी कर्म कारण है। जब पूर्वजन्मकृत कर्म कारण माना तो स्वतः एवं पुनर्जन्म को मानना पड़ेगा।

परनिर्माण को भी हम जन्म का कारण नहीं मान सकते। परनिर्माण से अभिप्राय: ईश्वर द्वारा निर्माण से है। अर्थात् जैसे ईश्वर मन तथा शरीर को बनाता है वैसे ही संकल्प द्वारा आत्मा को बनाकर चेतनदेव नर आदमियों को बनाता है। इस प्रकार आत्मा की नित्यता नहीं रहती। परन्तु बिना उपादान के किसी वस्तु का बनाना सम्भव नहीं। यदि ईश्वर ने ही आत्मा को बनाया हो तो किन उपदानों से बनाया ? पञ्चमहाभूतों द्वारा आत्मा का बनाया जाना किसी तरह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि यह जड़ है और आत्मा चेतन है। जड़ वस्तु द्वारा चेतना का उत्पन्न होना असम्भव है। क्योंकि कारण गुणपूर्वक। कार्यगुणोदृष्ट यही नियम है।

परन्तु आत्मा अनादि एवं चेतन है अतएव इसका पर निर्माण नहीं हो सकता। यदि पर शब्द से आत्मा का ग्रहण करते हो और वह जन्म में कारण हो तो परनिर्माण हमें भी मान्य है अर्थात् आत्मा ही कर्मानुसार किए हुए कर्मों के फल को भोगने के लिए पुनः इस लोक में आता है।

यदृच्छा से मारा गया है आत्मा जिसका ऐसे नास्तिक के लिए न परीक्षा (प्रमाण) न परीक्ष्य (प्रमेय, जिसकी परीक्षा की जाय) न कर्त्ता, न कारण, न देवता, न ऋषि, न सिद्ध, न कर्म, न कर्मों के फल और न ही आत्मा की सत्ता रहती है अर्थात् यदि सब कुछ अचानक ही होता है तो परीक्षा आदि के मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। अतएव प्रमाण आदि के न होने से यदृच्छावादी की कोई बात भी प्रामाणिक नहीं हो सकती। अर्थात् यदृच्छा (आकस्मिक)

मानने से उपयुक्त दोप होने के कारण यह पक्ष सर्वथैवहेय है।

इस नास्तिक पक्ष को मानने से बढ़कर अन्य कोई पाप नहीं। नास्तिक होना ही सबसे बड़ा पाप है। जिसने आत्मा, परलोक, कर्म, एवं कर्मफल आदि को स्वीकार नहीं किया, वह कौन-सा कुकर्म या पाप नहीं कर सकता।

अतएव अधर्म या विपरीत मार्ग में फैली हुई नास्तिक बुद्धि को छोड़कर बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह श्रेष्ठ आस्तिक पुरुषों की बुद्धि रूपी दीपक से (अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाण द्वारा) सबका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करें।

सबसे पूर्व आप्तोप्रदेश द्वारा पुनर्जन्म की सत्ता को सिद्ध करते हैं।

आप्त आगम अर्थात् आप्तशास्त्र वेद है, और दूसरे शास्त्रवाद जो वेद के अर्थ से विरुद्ध न हों, परीक्षकों द्वारा रचे गए हों, शिष्ट पुरुपों द्वारा अनुमोदित हों और जो लोगों का अनुग्रह की दृष्टि से बनाए गए हों, उन्हें भी आप्तगम जानना चाहिए। इससे सन्मदि के स्मृतिग्रन्थ आदि भी आप्तगम जानने चाहिए, हमें आप्तगम यह मिलता है—दान, तप, यज्ञ, सत्य, अहिंसा तथा ब्रह्मचर्य, अभ्युदय तथा नि:श्रेयस के देने वाले हैं। अभ्युदय से अभिप्राय: ऐहलौकिक उन्नति तथा नि:श्रेयस से अभिप्राय पर लौकिक उन्नति अर्थात् स्वर्ग एवं मोक्ष से है। जिन पुरुपों के मानस दोप रज एवं तम शांत नहीं हुये उनके लिये दोप रहित अर्थात आप्त महर्षियों ने धर्म शास्त्रों में अथवा दानतप आदि द्वारा अपुनर्भव-मोक्ष अर्थात् पुनर्जन्म न होने का उपदेश नहीं किया। किन्तु पुनर्भव-पुनर्जन्म होने का उपदेश किया है।

धर्म के द्वारों अर्थात् दान आदमियों में तत्पर, नष्ट हो गए हैं भय, राग, द्वेष, लोभ, मोह तथा अहंकार जिनके अध्यातम ज्ञानी, आप्त, अनुष्ठेय यज्ञ आदि कर्म को जानने वाले, तथा जिनके मन एवं बुद्धि स्वतन्त्र सोच विचार सकती हैं ऐसे पूर्व तथा पूर्वतर (उनसे भी पहिले के) महर्पियों ने अपने ज्ञान रूपी दिव्य चक्षुओं द्वारा देखकर पुनर्जन्म का होना बताया है इस प्रकार आगम द्वारा पुनर्जन्म होता है—ऐसा निश्चय जाने अथवा दिव्यचक्षुभि, इस पद को महभिपि: का विशेपण मानकर यह अर्थ कर सकते हैं कि दिव्य-चक्षु महर्षियों ने मनोदोप रज एवं तम के निवृत्त होने से पूर्व स्वयं अनुभव करके पुनर्जन्म होता है, यह उपदेश किया है। रज और तम की निवृत्ति होने पर तो मोक्ष होता है परन्तु उससे पूर्व पुनर्जन्म के चक्र में आना ही पड़ता है।

प्रत्यक्ष भी देखा जाता है—कि माता पिता से सन्तान भिन्न देखी जाती है। अर्थात् यदि माता पिता सुरूप हो तो सन्तान कुरूप यदि माता पिता कुरूप हो तो सन्तान सुरूप भी हुआ करती है। एक ही है उत्पत्तिस्थान जिनका उनमें भी परस्पर वर्ण, स्वर, आकृति मन, बुद्धि तथा भाग्य की भिन्नता देखी जाती है। अर्थात् सहोदर भाइयों में भी एक कृष्णवर्ण दूसरा गौरवर्ण आदि भिन्नता देखी जाती है। इसी प्रकार स्वर आदि में भी भिन्नता होती है। किसी का जन्म उत्कृष्ट कुल में होता है और किसी का निकृष्ट कुल में जन्म होता है। कोई दरिद्र होता है, कोई धनाढ्य होता है। किसी की आयु सुखमय और किसी की दुखमय होती है। आयु की विषमता—किसी की आयु दीर्घ होती है और कोई जन्मते ही मर जाता है।

इस जन्म में जो नहीं किया उसकी भी प्राप्ति होती है। अर्थात् फलप्राप्ति से हम कर्म के पूर्वजन्म में किये जाने का अनुमान करते हैं; यथा—उत्पन्न हुए शिशु यद्यपि रोने आदि में अशिक्षित होते हैं अथवा रोने आदि के कारण के न उपस्थित होते हुए भी उनकी रोने, स्तनपान. हंसने और डरने आदि में प्रवृत्ति देखी जाती है। अर्थात् शिशुओं की यह प्रवृत्ति पूर्वजन्म में अभ्यस्तकर्म की स्मृति के विना होनी असम्भव है। अतएव अक्षपाद गौतम ने न्यायदर्शन में कहा भी है—'पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जा तस्य हर्षभयशोक सम्प्रतिपत्तेः। तथा प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलापात्।

लक्षणों की उत्पत्ति से भी हमें यह ज्ञात होता है कि पुनर्जन्म होता है। किसी के सामुद्रिक लक्षण प्रशस्त होते हैं किसी के निन्दित होते हैं। ये लक्षण जन्म के साथ ही शिशु में दिखाई देते हैं। शिशुओं में जन्म से ही होनहार इत्यादि होने के लक्षण दीखते हैं। ये पूर्वजन्मकृत कर्म के फल के पूर्वरूप ही होते हैं।

दो या अधिक पुरुषों के इस जन्म में पठन आदि रूप एक सा ही कर्म करने पर भी फल में भिन्नता दिखाई देती है। इसमें भी पूर्वजन्मकृत कर्म ही कारण हो सकता है। किसी की किसी कर्म में बुद्धि चलती है किसी कर्म में नहीं। यह विशेषता पूर्वजन्मकृत कर्म के कारण होती है।

कई पुरुषों को पूर्वजन्म के वृतान्त स्मरण होता है। मैं इस कुल में पैदा हुआ हूं और अमुक काल से आया हूं इत्यादि पूर्वजन्म का वृत्तान्त स्मरण होता है। यह स्मरण शुभ कर्म द्वारा मानसदोष अर्थात् रज और तम के निवृत्त होने

पर होता है। यह उत्पन्न-मात्र शिशु में होना असम्भव है, यदि पूर्वजन्म में शुभ कर्म किये होंगे तभी से स्मृति हो सकती है। इस जन्म के शुभ कर्म वा ज्ञान द्वारा रज और तम के निवृत्त होने पर भी पूर्वजन्म का स्मरण होता है।

अतएव अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा उपयुक्त लिंग दर्शन से अनुमान किया जाता है कि अपने पूर्वदेह में किए हुए दैव (भाग्य) संज्ञक एवं आनुबन्धिक अर्थात् जन्मान्तर में जाने वाले कर्म का त्याग नहीं हो सकता यह अविनाश है अर्थात भोग के विना कर्म का विनाश नहीं हो सकता अन्यत्र भी कहा है—अवश्यमेव भोक्तव्यं कृत कर्म शुभाशुभम् तथा ना मुक्तं क्षीयते कर्म इत्यादि। उक्त पूर्व देह में किये कर्म का यह (माता पिता से रूप आदि में सन्तान का भिन्न होना इत्यादि पूर्वोक्तफल है और यहाँ जो हम कर्म कर रहे हैं इसका फलस्वरूप अगला जन्म (पूर्वजन्म) मिलेगा। फल से वीज का अनुमान होता है और वीज से फल का। अर्थात कार्य कारण रूप व्याप्ति के होने से फल से अतीत (भूत) वीज का और वीज से अनागत (भविष्यत फल) का अनुमान होता है। भावार्थ यह है कि पूर्वजन्म था और पुनरपि जन्म होगा।

और युक्ति यह है कि पृथ्वी यदि पञ्चमहाभूत तथा आत्मा इनके संयोग से ही गर्भ का जन्म होता है। क्योंकि कर्ता तथा कारण इनके संयोग से क्रिया होती है। अर्थात यदि कर्ता और कारण (साधकतमकारण) इनमें से एक न हो तो क्रिया नहीं हो सकती। यदि कर्ता हो और कारण इन दोनों का संभोग न होगा तब तक क्रिया असम्भव है।

इस प्रकार चारों प्रमाणों द्वारा पुनर्जन्म होता है ऐसा ज्ञान हो जाने पर (परलोकैषण के लिये) धर्म के साधनों में तत्पर रहे। यथा—प्रथम आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम) में गुरु सेवा, वेदाध्ययन तथा ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करें। द्वितीयाश्रम (गृहस्थाश्रम) में विवाह, सन्तानोत्पत्ति, भृत्यों (सेवक, नौकरों) पालन अथवा भृत्य शब्द से माता पिता का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि उस समय वह वृद्ध होने से भरणीय-पालनीय होते हैं और उस समय पुत्र पर ही आश्रित होते हैं यह पुत्र का कर्त्तव्य है कि वह उनकी पालना करे। अतिथि की यथावत पूजा अर्थात भोजनादि द्वारा सत्कार, दान तथा अनभिध्या (पर धन में इच्छा न रखना) में तत्पर रहे। तृतीय आश्रम (वानप्रस्थाश्रम) में तप करना, अनसूया (दूसरों के गुणों पर दोष न मढ़ना) क्लेश रहित कायिक, वाचिक तथा मानस कर्म में रत रहते हैं। अन्त में चतुर्थ आश्रम

पाई जाती हैं। परन्तु तन्त्र संक्षेप में कहे गये हैं उनमें इन ३६ तन्त्र-युक्तियों का एक देश ही पाया जाता है। उनमें सम्पूर्ण तन्त्रयुक्तियाँ नहीं होती हैं।

सुश्रुत में—

१—प्रयोजन २—प्रत्युत्सार

३—उद्धार

४—सम्भव, ये चार नहीं हैं। इन उपर्युक्त तन्त्रयुक्तियों को समझने के लिए इनका लक्षण जानना आवश्यक है।

१—**अधिकारण का लक्षण**—जिस विषय को अधिकार रूप में कहा जाय उसे अधिकारण कहते हैं। जैसे रसाधिकार व दोषाधिकार। अथवा दीर्घ जीवितीयाध्याय कतिधा पुरुषीयाध्याय इत्यादि। दीर्घ जीवन का अधिकार आयु का वर्णन तथा उसके हिताहित का वर्णन इस अध्याय में होने से उसका नाम दीर्घ जीविताध्याय हुआ। यहाँ पुरुष के अधिकार का वर्णन होने से उसे चिकित्सा का अधिकरण कहा गया है। यहाँ पुरुष से कर्मपुरुष अभिप्रेत है। कतिधा पुरुषीयाध्याय में भी पुरुष के प्रकारों का अधिकार का वर्णन है। अथवा सामान्य रूप से कहे गये विषय को जिसके आधार पर विशेष अर्थ में विशेष व्यवहार किया जाता है वह भी 'अधिकरण' कहलाता है—जैसे सामान्य रूप में कहा गया है कि सात दिन पर (कोई दस दिन पर) औषध देने का आदेश करते हैं। इसे प्रकरणवश ज्वराधिकार का विषय कहेंगे।

(२) **योग का लक्षण**—अर्थ ज्ञान के लिए समीप व दूर के पदों को इकट्ठा करना योग कहलाता है। जैसे उपर्युक्त श्लोक में—'तैलं सिद्धं पर दिवेत्'। यह कहना था, परन्तु सिद्धं श्लोक के तृतीय चरण में कहा है। इस दूरस्थित पद को तैल के साथ इकट्ठा करना योग कहलाता है। इस प्रकार पदों के विपरीत क्रम को अन्वय कर कहना भी योग कहलाता है। इसी प्रकार पद और अर्थ व वाक्य और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध को भी योग कहते हैं। (सुश्रुत) चक्रपाणि के अनुसार पृथक-पृथक कहे हुए पद को एक साथ (इकट्ठा) करना योग कहलाता है। जैसे प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण, उपनाम और निगमन, इन पाञ्चावयवों में कहा—प्रतिज्ञा मातृजश्यायं गर्भः। हेतु-मातरमन्तरेण

अष्टों ज्वर, आठ प्रकार के ज्वर होते हैं, इस विषय को वातिक, पैतिक, वातश्लैष्मिक, पित्तश्लैष्मिक और अगान्तुज; इस प्रकार विस्तार से पुनः कहना निर्देश कहलाता है।

८. वाक्यशेष का लक्षण—जिस वाक्य में जो कोई पद न कहा गया हो उसे वाक्यशेप कहते हैं। यह वाक्यशेष अभिधेय अर्थ का ज्ञान न होने से वहाँ समझ लिया जाता है। जैसे—शिरः पाणीपादपार्श्व पृष्ठोदरोरसमित्युक्ते पुरुषग्रहणमपि गम्यते पुरुष एवोक्त इति—(सुश्रुत) तथा च० सू० अ० १६ में प्रवृत्ति हेतुर्भावना कहा है। इसमें अस्ति (है) वाक्य शेष है। तात्पर्य यह कि वाक्यशेष का पूरण करने से अर्थ भावों की उत्पत्ति में कारण होगा। और भी कई स्थलों पर जांगल तथा आनूप रस का विधान मिलता है वहाँ पर मांस वाक्यशेप होगा।

९. प्रयोजन का लक्षण—शिसको सम्पन्न करने के लिए कर्त्ता की क्रिया में प्रवृत्ति होती है वह प्रयोजन कहलाता है। जैसे च० सू० अ० १ में कहा है, 'धातुसाम्याक्रिया प्रोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्। अर्थात्—आयुर्वेद का प्रयोजन धातु साम्य का सम्पादन करना है।

१०. उपदेश का लक्षण—आप्त पुरुषों के अनुशासन को उपदेश कहते हैं। अर्थात् ऐसा करें अथवा ऐसा होता है इत्यादि जो अनुशासन आप्त पुरुष करते हैं, वह उपदेश कहलाता है।

११. अपदेश का लक्षण—प्रति ज्ञात विषय के साधन के लिए हेतु का कहना अपदेश कहलाता है। उत्तरोत्तर प्रधानता में दुष्परिहार्यत्व हेतु का कहना अपदेश कहलाता है।

१२. अतिदेश का लक्षण—प्रकृति विषय से उसके सदृश्य अनुक्त विषयों का साधन अतिदेश कहा जाता है, जैसे वह भी वैसा ही है।

१३. अर्थापत्ति का लक्षण—एक अर्थ के कहने से अन्य अनुक्त अर्थ का भी बलात्-आगमन अर्थात् सिद्धि हो जाये तो उसे अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे 'न नक्तं दधिभुञ्जीत' इसके कहने से दिन में दही खानी चाहिए, इसका बोध होता है।

दीहान्यप्त मांस हरि तक शुष्क शाक फल भक्ष्म्य ।" अर्थात् सामान्य रूप से पर्युपित अन्न सेवन का निषेध किया है। परन्तु विशेप वचन द्वारा कह कर दिया कि मांसादि को छोड़कर, इस प्रकार इस नियम का निराश करना अपवर्ग है।

१६. विपर्यय का लक्षण—जो कहा जाये उससे प्रतिलोम व विपरीत विपर्यय कहलाता है। जैसे कृश-अल्प प्राण और भीरु दुश्चिकित्स्य है। इसके विपरीत दृढ़ आदि सुचिकित्स्य है। यह विपर्यय है। यथा निदान स्थान में कहा है कि "निदानोक्तनि अस्य नोपश्शेते विपरीतानि चोपश्शेते"—इत्यादि। अर्थात् निदानोक्त द्रव्य रोगी के लिए सुखकर नहीं होता, किन्तु उसके विपरीत सुखकर होता है।

२०. पूर्वपक्ष का लक्षण—प्रतिज्ञात अर्थ में दोप बताने वाले वचन को पूर्व पक्ष कहते हैं। जैसे—कथं वातनिमित्ताश्चत्वरः प्रमेहा असाध्या भवन्ति।" तथा—"मस्त्याप्न पयसाम्मवहरेत्"—यह प्रतिज्ञा है। इसके वाद इसका दूसरा वचन भद्रकाप्य ने कहा, सर्वानेव, पयसाम्यहेरदन्यत्रैकस्यञ्चिलचिमात् यह पूर्वपक्ष है।

२१. विधान का लक्षण—प्रकरण के अनुपूर्वक्रम से कहा गया वचन विधान कहलाता है। जैसे—रस-रक्त मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र, यह अनुपूर्व-क्रम (उत्पत्तिक्रम) से कहा गया है। अथवा तन्त्रकर्त्ता जिस विशिष्ट पद आदि की रचना करते हैं उसे भी विधान कहते हैं। जैसे च० सू० अ० ७ में कहा है कि मलायनानि वाध्यन्ते दुष्टैमात्राधिकैमलै।' इस वाक्य में दुष्ट वाक्य से आचार्य द्वारा गृहीत वृद्धि और क्षणिता का वर्णन भी स्वयं आचार्य मलवृद्धि गुरुतया लाघआन्मल संक्षय इत्यादि में करते हैं।

२२. अनुमत का लक्षण—किसी दूसरे के पक्ष का भिन्न होने पर भी निवारण न करना स्वीकार करना ही है। जैसे—च० शा० अ० ८ में कहा है कि 'गर्भशल्पस्य जरायु प्रयातनं कर्म संशमनभित्येके।" यह किसी दूसरे का मत

है। जिसका आचार्य ने प्रतिषेध नहीं किया। इसी प्रकार यथान्या ब्रूमात्सपूरमा इति।'

२३. **व्याखान का लक्षण**--किसी विषय का अतिशय रूप से वर्णन व्याखान कहलाता है। अर्थात् जो विषय सर्व बुद्धिगम्य न हों उसे समझाकर उपस्थित करना व्याखान कहलाता है। अथवा संक्षेप में कहे हुए विषय को विस्तार पूर्वक कहना व्याखान है।

२४. **संशय का लक्षण**—परस्परविरुद्ध ज्ञान में निश्चय न होना संशय कहलाता है। जैसे—च० सू० अ० २१ में कहा है कि—किंतु खलु अस्ति पुनर्भवो न वेति। इत्यादि।

२५. **अतीतावेक्षण वा अतिक्रांतावेक्षण का लक्षण**—जहां पूर्व कहे हुए विषय का दर्शन हो उसे अतीता वेक्षण वा अतीक्रान्तावेक्षण कहते हैं। जैसे—च० चि० अ० १ में निदान पूर्व मुद्दितष्य या पृथक् ज्वराकृति इत्यादि द्वारा ज्वर निदान में कहे गये पृथक् दोषों से उत्पन्न ज्वरों के लक्षण की ओर अतीतावेक्षण है। तथा 'यथा चिकित्सितेषु श्रूयात श्लोक स्थान' यदि रितम् इत्यादि (सुश्रुत)

२६. **अनागतावेक्षण का लक्षण**—भविष्य में ागे कही जाने वाली विधि का दर्शन कराकर अर्थ सिद्ध करना अनागत वेक्षण कहलाता है। जैसे ऐसा कहा जायेगा। अथवा जैसे च० चि० अ० ८ में कहा है यच्चीपदेक्ष्यते पथ्यं शतक्षीण चिकित्सिते। यक्ष्मिणस्तत्प्रयोक्तव्यं वलमांस विवर्धये।" यहां यक्ष्माधिकार में पथ्य बताने के लिए अनागतावेक्षा की गई है।

२७. **स्वसंज्ञा का लक्षण**—जो अपने ही शास्त्र में संज्ञा की जाय अन्य शास्त्रों में न हो। अथवा तन्त्रकार व्यवहार के लिये यदि किसी सज्ञा को गठ लेता है तो उसे स्वसंज्ञा कहते हैं। जैसे जेन्ताक होलाक आदि स्वेदाध्याय में स्वेद की संज्ञा है।

२८. **ऊह्य का लक्षण**—जो बात कही न गई हो उसे बुद्धि द्वारा तर्क करनी हो उसे ऊह्य कहते हैं। जैसे—च० चि० ८ में कहा है कि "परिसख्यात मपि यद्

व्यमयौगिक मन्येत तत्तद्पकर्षयेत् ।'' यहां अयौगिक द्रव्य ऊह्य है, क्योंकि अयौगिक द्रव्य यहाँ नहीं बतलाये गए हैं । वैद्य को अपनी बुद्धि से उन्हें तर्कण (खोज) करनी है ।

२६. समुच्चयन का लक्षण—वह और यह इस प्रकार कहना समुच्चयम कहलाता है । जैसे वमन विरेचन, स्थापन, अनुवासन और शिरोविरेचन कर्म है । द्वारा अथवा च० इ० स्थान अ० १ में 'इह खलु वर्णश्च रसश्च, गन्धश्च, इत्यादि समुच्चयम किया गया है ।

३०. निदर्शन का लक्षण—निदर्शन दृष्टान्त को कहते हैं । दृष्टान्त लोक प्रसिद्ध होता । और वह मूर्ख तथा विद्वानों दोनों के लिए एक सा बुद्धिगम्य होता है । दृष्टांत का लक्षण और उदाहरण च० वि० अ० ८ में कहा है कि जब किसी अर्थ (विपय) को दृष्टान्तों (उदाहरणों) से सिद्ध किया जाता है तब उसे निदर्शन कहते हैं । जैसे—कहा है कि जिस प्रकार अग्नि वायु के साथ कोष्ठ में वृद्धि को प्राप्त होती है वैसे तो वात, पित्त, कफ से दुष्ट व्रण भी वृद्धि को प्राप्त होते हैं यह निदर्शन है ।

३१. निर्वचन का लक्षण—निश्चय कथन को निर्वचन कहते हैं । संज्ञा रूप में हुए वचन को उसके अर्थ से योजित करना निर्वचन कहलाता है इसको निरूपित भी कहते हैं । वैसे 'विसर्प' का निर्वचन करते हुए आचार्य ने कहा है "विविध सर्पयतोति वियर्प स्तेन सः । इत्यादि । अर्थात्—वह दृष्टान्त जो पण्डित ही समझ सकें निर्वचन कहलाता है ।

३२. सन्नियोग का लक्षण—ऐसा ही करना चाहिये इस प्रकार का अनुष्ठेय (कर्त्तव्य) विवान का नियोग कहते हैं । जैसे—पथ्य ही भोजन करना चाहिये यह नियोग है । तथा च० सू० अ० १४ में कहा है—न त्वचा स्वेदमूच्छपिपिहेमापि दिण्डिकैषा विमोक्तव्या इत्यादि ।

३३. विकल्प का लक्षण—जिसमें यह अथवा वह इस प्रकार की पाक्षिक उक्ति हो उसे विकल्प कहते हैं । जैसे—रक्तौदन अथवा घृतसहित सत्रागू का सेवन करें । इसी प्रकार क्षारोदक वा कुशोदक वा इत्यादि ।

३४. **प्रत्युत्सार का लक्षण**—युक्ति से दूसरे के मत का निवारण करना प्रत्युत्सार कहलाता है। जैसे चं० सू० अ० २५ शरलोमा आदि के वचनों का युक्तिपूर्वक खण्डन किया गया है।

३५. **उद्धार का लक्षण**—दूसरे का प्रतिवादी के पक्ष में दोष दिखा कर अपने पक्ष का समाधान करना उद्धार कहलाता है। अथवा शास्त्र में विधेय के समाधान को उद्धार कहते हैं। जैसे च० सू० २५ में विवाद करते हुए ऋषियों के पक्षों में तत्व हि दुष्प्रायंव इत्यादि से दोष दिखाकर 'देषामेव हि भावनां इत्यादि द्वारा समाधानात्मक तत्व बतलाया गया है।

३६. **संभव का लक्षण**—जो जिसमें संगत होता है वह उसका संभव कहलाता है। जैसे पिल्लु, व्यंग, निलिका आदि रोग मुख में होते हैं। अथवा गर्भ के जैसे छः धातु (पच महाभूत और चेतन) संभव है। अथवा कोई बात जो अन्यत्र न देखी जाय उसकी जिस नियम द्वारा स्थापना होती उसे संभव कहते हैं।

प्रश्न—प्रज्ञापराध की व्याख्या कीजिए।

उत्तर—स्थूल रूप से व्याधियाँ दो भागों में विभक्त हैं, शारीरिक तथा मानसिक। शारीरिक व्याधियो में त्रिदोष (वात पित्त कफ) की विकृत पायी जाती है। तथा पश्चिमीय विद्वान् शारीरिक व्याधियों में विभिन्न प्रणाली के कीटाणुओं (Germs) की कल्पना करते है। मानसिक व्याधियाँ, क्रोध, शोक, मोह, लोभ, मद, हर्ष आदि के कारण होती हैं, मानसिक व्याधियों के विषय में प्राच्य तथा पाश्चात्य सिद्धान्तवादी एक से ही मूल कारण का समर्थन करते हैं। इन दोनों ही प्रकार की व्याधियों का मूल कारण, काल बुद्धि तथा इन्द्रियार्थ का अयोग और मिथ्या योग है।

कलयति कालयति वा भूतानि इति कालः इस व्याख्या के आधार पर काल शब्द से वर्षा, हेमन्त, ग्रीष्मात्मक सम्वत्सर ही अभिप्रेत है, इन्हीं वर्षा, हेमन्त ग्रीष्म, आदि ऋतुओं का असात्म्य योग उपाधियों का प्रथम कारण है। वर्षा ऋतु में वर्षा न हाना, कम होना वर्षाकाल का हीन या अयोग है, अधिक वृष्टि होना अतियोग तथा वर्षा ऋतु में वर्षा न होकर जाड़ा पड़ना या गर्मी

पड़ना वर्षा काल का मिथ्या योग है इसी प्रकार अन्य ऋतुओं के सम्बन्ध में जानना चाहिए।

काल के असम्य योग से बाह्य जगत दूषित होता है। जिसका प्रभाव मन, इन्द्रिय तथा इन्द्रियार्थ (रूप, रस, शब्द, गन्ध, स्पर्श) के सन्निकर्ष से शरीरान्त स्थिति दोषों (वात, पित्त, कफ) पर पड़ता है और वे विकृत हो जाते हैं यही रुग्णावस्था है। इसीलिए सेन्द्रिय चेतन पदार्थ पर ही काला योगज व्याधियों का प्रभाव पड़ता है, निरिन्द्रिय अचेतन पदार्थ (पत्थर) पर नहीं होता है।

अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति पर नियन्त्रण करने वाली शक्ति का नाम बुद्धि है, बाहर आये हुए संस्कारों की हेयता या उपादेयता का निश्चय इन्हीं के द्वारा होता है। इसके द्वारा निश्चय हो जाने पर मन आचरण के लिए इस निश्चय को कर्मेन्द्रियों तक भेजता है, यही साधारण प्रक्रिया है। बुद्धि का विषम विज्ञान और विषम प्रवृति (अ० योग, अतियोग और मिथ्या योग) व्याधियों का द्वितीय कारण है। इसके स्वरूप की विस्तृत मीमांसा आगे की जायेगी, पर साधारण स्वरूप इस प्रकार है— कार्य अकार्य का निश्चय करते समय बुद्धि स्तब्ध हो जाना बुद्धि का अयोग है, निश्चय करते समय बाल की खाल निकालना अति योग है। हेय को उपादेय के रूप में स्वीकार करना बुद्धि का मिथ्या योग है। किसी तरह का भी विषम ज्ञान तथा विषम प्रवृत्ति बुद्धि का असात्म्य योग है। ये व्याधियों के कारण कैसे होते हैं इसकी व्याख्या आगे की जायेगी। इन्द्रियार्थ शब्द को समझने के लिए इसकी व्याख्या आवश्यक है। इन्द्रियाँ दस हैं—श्रोत्र, त्वक्, जिह्वा, घ्राण, चक्षु, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा। इनमें प्रथम पंचक को ज्ञानेन्द्रिय तथा द्वितीय पंचक को कर्मेन्द्रिय कहते हैं। क्योंकि प्रथम पंचक हमारे ज्ञान में सहायक होते हैं और द्वितीय पंचक उस ज्ञान के आधार पर कर्म कहते हैं। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियों से एक-एक प्रकार के विशेष अर्थ का ग्रहण होता है जैसे—आँख देखती है कान सुनता है, आदि-आदि। इस तरह के पाँच तत्व हैं शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध और रूप। इन्हीं को इन्द्रियार्थ कहते हैं। इनमें से किसी एक का असात्म्य योग व्याधियों का तृतीय कारण है। अत्यन्त ऊँचे शब्द (मेघ-गर्जन) सुनना शब्द का अतियोग, शब्दों का सर्वथा न सुनना शब्दयोग; हानि, प्रिय की मृत्यु, तिरस्कार या भय सूचक शब्दों का सुनना शब्द का मिथ्या योग है। अति उष्ण तथा शीत

अभ्यंग स्नानादि का सेवक स्पर्श का अति योग, अल्प मात्रा में सेवन करना अयोग तथा गर्मी से संतप्त होने पर शीतल जल से स्नान आदि स्पर्श का मिथ्या योग है। चमकीले पदार्थ का दर्शन रूप का अतियोग, न देखना अयोग, अप्रिय घृणित भयंकर वस्तुओं का दर्शन रूप का मिथ्या योग है। अतिरसास्वादन रसातियोग बिलकुल ही स्वाद न लेना, रसायोग एवं पर्युषित सड़े हुए तथा विकृत रसास्वादन रस का मिथ्या योग है। प्रत्येक का आयोग, अतियोग तथा मिथ्या अयोग व्याधियों का कारण होता है। जैसे स्पर्श का मिथ्या योग हुआ गर्मी से संतप्त होने पर तुरन्त शीतल जल से स्नान किए अवश्य व्याधि होगी। द्वितीय पंचक कर्मेन्द्रियों से भी एक-एक कर्म होते हैं, जैसे वचन आदान विहरण आनन्द और विसर्ग। इनका अयोग, अतियोग तथा मिथ्या योग भी व्याधियों का कारण होता है। जैसे वचन का मिथ्या योग आनन्द का अतियोग। अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि सभी व्याधियों का आदि कारण काल, बुद्धि तथा इन्द्रियार्थ को अयोग अतियोग एवं मिथ्या योग ही है। साधारणतया इनके स्वरूप का परिचय दे देने के बाद यह प्रश्न उठता है कि क्या कोई एक ही शक्ति इनके व्याधि कारणता की नियामिका है ? या ये परस्पर असम्बद्ध एवं स्वतन्त्र रूप से व्याधियों के कारण हैं ? इन प्रश्नों के सरल समाधान के लिए स्थूल रूप से तीन सूत्रों की मीमांसा आवश्यक है। इन्द्रियाँ अर्थ का ग्रहण कैसे करती हैं तथा उसकी प्रतिक्रिया कर्मेन्द्रियों द्वारा कैसे होती है और इन दोनों का बुद्धि से क्या सम्बन्ध है ?

मन, आत्मा और शरीर ये तीन ही प्राणी मात्र के आधार स्तम्भ हैं इनके समवाय से ही प्राणी मात्र की स्थिति सम्भव है।

आधुनिक मनोविज्ञान का सिद्धान्त भी मन और शरीर के सम्बन्ध में यही है। आधुनिक मनोविज्ञान यह बतला रहा है कि शरीर की क्रियाओं का संचालन तथा शरीर की वृद्धि एवं विनाश मन के ऊपर निर्भर है। मनुष्य की इच्छा शक्ति ही इस व्यवहार में मूल कारण है, यह इच्छा शक्ति शरीर की बनावट के ऊपर निर्भर नहीं है अपितु शरीर की बनावट ही इस इच्छा शक्ति पर निर्भर करती है। आचार्य चरक भी मन और शरीर को ही वेदनाओं का आश्रय मानते हैं। आत्मा, इन्द्रिय, मन और विषय (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) के सन्निकर्ष से ही सुख तथा दुःख होता है, मन के बिना शरीर सुख तथा दुःख का अनुभव करने में असमर्थ है।

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा मन पर जो संस्कार होते हैं उन्हें एकत्र कर परस्पर उनकी तुलना करके इस बात का निर्णय करना पड़ता है कि उसमें से अच्छा क्या है बुरा क्या है। उनमें से जो बात अच्छी लगती है उसे करने में हम प्रवृत्त होते हैं, यही साधारण मानसिक प्रक्रिया है। इस मानसिक व्यापार को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१—ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करना।

२—उनकी हेयता तथा उपादेयता का निर्णय करना।

३—इसके निर्णय के बाद हेय का परित्याग तथा उपादेय के आचरण में प्रवृत्त होना। पर यह आवश्यक नहीं है कि ये क्रमशः हो या एक ही साथ हो, दोनों ही क्रम पाए जाते हैं।

मन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाहर से आए संस्कारों को बुद्धि के सामने रखता है। सार, असार, अच्छाई, बुराई, कार्य, अकार्य का निश्चय करना बुद्धि का काम है, उसे ही प्रज्ञा कहते हैं। बिना मन के बुद्धि स्वयं इन्द्रियों को प्रेरित नहीं कर सकती और मनोवृत्तियाँ भी बुद्धि के बिना अन्धी हैं। कुछ नहीं कर सकतीं। बुद्धि का निर्णय हो जाने पर उसकी आज्ञा कर्मेन्द्रियों तक भेज कर उसके अनुसार आचरण करवाना भी मन का ही काम है। मन के जिम्मे दोनों काम है, बाह्य संवेदनाओं का ग्रहण तथा उसके आधार पर कर्मेन्द्रियों से आचरण करवाना। अतएव आचार्यों ने मन को उभयात्मक माना है पर पश्चिमी पण्डितों का सिद्धान्त इससे कुछ भिन्न है। वे मन के दो भेद मानते हैं क्यों कि बाह्य संवेदनाओं को ग्रहण करने वाले तथा बाहर से आयी संवेदनाओं के आधार पर बुद्धि का निर्णय कर्मेन्द्रियों तक भेजकर आचरण करने वाले मज्जा तन्तु भिन्न-भिन्न हैं पर दोनों का तात्पर्य एक ही है। किसी भी सिद्धान्त से यह निश्चित है कि बुद्धि (प्रज्ञा) निश्चित करती है और मन ज्ञानेन्द्रियों के साथ संकल्प विकल्पात्मक तथा कर्मेन्द्रियों के साथ व्याकरणमक्त होकर उसका साक्षात् प्रवर्त्तक है।

पहले व्यवसायात्मिका बुद्धि विचार करती है यह अच्छा है या बुरा, फिर करने की इच्छा होती है और इसके व द आचरण होता है। यही इन्द्रियों के अर्थ ग्रहण तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा उसकी प्रतिक्रिया का सिद्धान्त है। अब यह स्पष्ट है मन तथा प्रज्ञा (बुद्धि) के बिना इन्द्रियों का अर्थ ग्रहण असम्भव है। कभी नहीं हो सकता और मन संकल्प विकल्पात्मक है। अतः निश्चय करने का

काम बुद्धि करती है। जब तक प्रजा के द्वारा निश्चय नहीं हो जाता तब तक मन आचरण करने के लिए बाहर से आए संस्कारों को कर्मेन्द्रियों तक नहीं भेज सकता। अतः बिना प्रजा के इन्द्रियार्थ ग्रहण नहीं हो सकता। यह कह देना अनुपयुक्त नहीं होगा कि जब इन्द्रियों के अर्थ ग्रहण की प्रक्रिया का नियम व बुद्धि के द्वारा होता है तब इन्द्रियार्थ का असात्म्य योग (अयोग अतियोग मिथ्या योग) का नियमन प्रज्ञा का स्वभाव है।

अतः असात्म्य योग का नियमन तभी होगा जब प्रज्ञापराध होगा जैसे स्पर्श का मिथ्या योग तभी सम्भव है जब हम यह भूल जाते हैं कि संतप्तावस्था में शीतल स्नानादि का सेवन हानिकर है। यही प्रज्ञापराध है।

काल के असात्म्य योग की मीमांसा करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि काल का असात्म्य योग व्याधियों का कारण कैसे होता है। काल के असात्म्य योग से विकृत बाह्य जगत का प्रभाव इन्द्रिय, मन और बुद्धि के सन्निकर्ष से हमारे अन्तः स्थित दोषों (वात पित्त कफ) पर पड़ता है, जिससे वे विकृत हो जाते है और व्याधियां होती हैं। इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ के रहते हुए भी जब तक सन्निकर्ष नहीं होता है तब तक सुख या दुख कुछ भी नहीं होता है और इनका सन्निकर्ष स्वतन्त्र नहीं अपितु मन से नियंन्त्रित है।

इसलिए आचार्यो ने लिखा है कि मन के साथ ही इन्द्रियां विषय का ग्रहण करने में समर्थ होती हैं और मन भी संकल्प विकल्पात्मक होने से बाहर से आई हुई संवेदनाओं को प्रज्ञा के सामने रखता है और इसके बाद कर्मेन्द्रियों से आचरण करवाता है। निश्चय करते समय जब प्रज्ञा हेय को उपादेय या अकार्य को कार्य समझ कर स्वीकार कर लेती है तभी असात्म्य आचरण से व्याधियां होती हैं। यही प्रज्ञापराध है यही प्रक्रिया सामान्य रूप से काल के असात्म्यभोगज व्याधियों में भी पाई जाती है। जब तक प्रज्ञापराध नहीं होता तब तक काल सात्म्ययोगज व्याधियां भी नहीं होती है, यही एकमात्र कारण है कि सेन्द्रिय चेतन पदार्थ पर ही कालायोगज व्याधियों का प्रभाव पड़ता है निरिंद्रिय अचेतन पर नहीं। अतएव जब ग्रीष्मकाल का मिथ्या योग होने पर सर्दी पड़ेगी तब ऐसी स्थिति में जो लोग गर्म कपड़ों से शीत का निवारण कर लेते हैं वे व्याधियों के भाजन नहीं होते हैं और जब प्रज्ञापराध हुआ, प्रज्ञा ठीक सोच नहीं पाई तो व्याधियां होती हैं। अब स्पष्ट है कालासात्म्य योगज व्याधियां भी प्रज्ञापराध होने पर ही होती हैं। आचार्य चरक ने भी लिखा है

कि बुद्धि का विपर्यविज्ञान और विषम प्रवृत्ति ही प्रज्ञापराध है। इसकी विशद व्याख्या आगे की जायेगी। दो प्रश्नों की मीमाँसा कर लेने के बाद तीसरे प्रश्न का उत्तर स्वयं हो जाता है कि बुद्धि से इनका क्या सम्बन्ध है। पहले के विवेचन में यह स्पष्ट हो गया है कि काल तथा इन्द्रियार्थ के अयोग अतियोग तथा मिथ्या योग से होने वाली व्याधियाँ भी प्रज्ञापराध ही हैं। क्योंकि बिना प्रज्ञापराध के काल तथा इन्द्रियार्थ के असात्म्ययोग भी व्याधियों के कारण नहीं होते हैं और बुद्धि का असात्म्ययोग तो प्रज्ञापराध है ही।

अब तक के विवेचन से यह निश्चित हो गया कि काल बुद्धि तथा इन्द्रियार्थ के असात्म्य योगज व्याधियों का एक ही कारण है प्रज्ञापराण। क्योंकि बिना प्रज्ञापराध के असात्म्य योगज व्याधियाँ सम्भव नहीं है। अतएव महर्षि चरक ने असात्म्ययोग की व्याख्या कर लेने के बाद यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि प्रज्ञापराध होने पर ही इन्द्रियाँ अहित अर्थों का सेवन करती हैं। अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों तरह की संवेदनाओं का प्रवर्तक शारीरिक तथा मानसिक स्पर्श है। शारीरिक स्पर्श से शारीरिक सुख दुख तथा मानसिक स्पर्श से मानसिक सुख-दुःख होता है। शारीरिक स्पर्श की प्रतिक्रिया भी मन के ऊपर ही निर्भर करती है। मन केवल हेय तथा उपादेय का विकरण करता है निश्चय करना प्रज्ञा का काम है। अतः जब तक प्रज्ञापराध नहीं होगा असात्म्य योगज व्याधियाँ नहीं हो सकती हैं चाहे काल बुद्धि का हो या इन्द्रियार्थ का हो।

अब यह स्वीकार कर लेने में किसी तरह की आपत्ति नहीं रह जाती कि प्रज्ञापराध ही सभी व्याधियों का एक मात्र कारण है।

यह पहले ही स्पष्ट हो गया है कि काल के असात्म्य योग से विकृत बाह्य जगत का प्रभाव शरीर स्थित दोषों (वात पित्त कफ) पर कैसे पड़ता है। यही विकृत दोष रस रक्तादि को दूषित करते हैं जबकि व्याधियां होती हैं। क्योंकि शारीरिक व्याधि का एक मात्र कारण वातपित्त कफ की असाम्यावस्था को ही आयुर्वेद शास्त्र का प्रयोजन बतलाया है और जब तक प्रज्ञापराध नहीं होगा जब तक इन्द्रियां काल के अयोग अतियोग मिथ्या योग से उत्पन्न वैषम्य का सेवन करने के लिए कभी भी प्रवृत्त नहीं होगी। आयुर्वेद शास्त्र की ऋतुचर्या का सिद्धान्त भी इसी तथ्य पर आवृत है। काल का असात्म्य योग होने पर भी विहित ऋतुचर्या के अनुसार आचरण करने से दोष विकृति नहीं होती है। जैसे हेमन्त ऋतुचर्या से उष्ण वीर्य पथ्य विहित है। यह तो निश्चित है कि

अभिहित है। अतः उनका उसी रूप में निर्देश किया गया है वस्तुतः प्रज्ञापराध ही कारण है।

इस बात को चरक ने भी सूत्र रूप से इस रूप में लिखा है। जो व्याधियाँ जिस रूप से बोध्य हैं उनका निर्देश उसी रूप से किया गया है। चरक के इन शब्दों में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है कि प्रज्ञापराध ही सभी व्याधियों का एक मात्र कारण है।

प्रज्ञापराध ही सभी व्याधियों का एक मात्र कारण है इसकी मीमांसा कर लेना भी आवश्यक है कि प्रज्ञापराध का स्वरूप क्या है तथा प्रज्ञापदाध कैसे होता है ?

इन्द्रियों से अर्थ ग्रहण कैसे होता है इसका विचार करते समय यह कहा जा चुका है कि इन्द्रियों के द्वारा बाहर से आई संवेदनाओं को मन प्रज्ञा के सामने कार्य अकार्य का निर्णय करने के लिए रखता है और निर्णय के अनुसार कर्मेन्द्रियों तक आचरण के लिए भेजता है। यही निश्चय करते समय जब प्रज्ञा अकार्य को कार्य के रूप में ग्रहण कर लेती है यही प्रज्ञापराध होता है, जो सभी उपाधियों का आदि कारण है।

प्रश्न—ग्रह व्याधा के विषय में निदान चिकित्सक विवरण प्रस्तुत कीजिये ?

उत्तर—पूर्वकाल में कुमार कार्तिकेय की रक्षा के लिए महादेव जी ने मनुष्य शरीर वाले पाँच और स्त्री शरीर वाले सात ग्रह बताये हैं। (सुश्रुत में नौ ग्रह हैं, शुष्क रेवती, पित्तर और श्वग्रह, ये तीन ग्रह नहीं पढ़े हैं)।

ग्रहों की संज्ञा—स्कन्द, विशाख, मेष, श्वग्रह पितृसंज्ञक, ये पांच मनुष्य शरीर वाले हैं। शकुनिपूतना, शीतपूतना, अदृष्टिपूतना, मुख मण्डितिका, रेवती और शुष्क रेवती, ये सात स्त्री शरीर वाले ग्रह हैं।

ग्रहजुष्ट के पूर्व रूप तथा सामान्य लक्षण—इन ग्रहों का पूर्व रूप तथा पकड़ने की इच्छा करने के लक्षण बच्चों का निरन्तर रोना एवं ज्वर होना है—

सामान्य लक्षण—उत्रास, जम्भाई लेना, भ्रुवों का चलाना, दीनता, मुख से झाग का स्राव, ऊपर को देखना, ओठ और दांतों का काटना, नींद न

आना, रोना, कराहना, दूध से द्वेष, स्वर की विकृति, विना कारण के सब ओर नखों से अपने और धात्री के अंगों को खुरचना होता है।

स्कन्द ग्रह के लक्षण—एक आंख से पानी वहता है, सिर को वार-वार हिलाता है। एक भाग निश्चेष्ट वन जाता है, पसीना आता है, कन्धे गिरे हुए, दाँतों को काटने वाला स्तन से द्वेष रखता है, डरता है, स्वर विकृत करके रोता है, मुख से लाल गिरती है। ऊपर को बहुत देखता है, वसा तथा रक्त की गन्ध वाला, उद्विग्न मुष्टि और मल वंधा हुआ, एक आँख एक गण्ड (गाल) और एक भ्रू हिलती है, दोनों आँखें मुर्ख हो जाती हैं, यह बच्चा स्कन्ध ग्रह से पीड़ित होता है। इससे विकलता, अंग में विरूपता अथवा मृत्यु निश्चित रूप में होती है।

स्कन्दापस्मार के लक्षण—संज्ञानाश वार-वार होना, वालों को नोचना, ग्रीवा को झुकाये रखना, अंगों को मोड़कर जम्भाई लेते हुए मलमूत्र की प्रवृत्ति, झाग का वमन, ऊपर को देखना, हाथ-भ्रू तथा पैरों को नोचना, स्तन एवं जीभ को काटना, शोक, ज्वर, नींद का नाश, पूय और रक्त की गन्ध आना, ये स्कन्दापस्मार (विशाखा) के लक्षण हैं।

मेषग्रह के लक्षण—आध्मान, हाथ पैर का चलाना, झाग का वमन, प्यास, मुट्ठी वाँधना अतिसार, स्वर की दीनता, विवर्णता, कराहना चीत्कार करना, वमन, कास, हिक्का, नींद न आना, ऊपर देखकर हँसना, बीच से मुड़ना झुकना, ज्वर, मूर्च्छा, एक आँख में सूजन, ये नैगमेष (मेष) ग्रह के चिह्न है।

श्वग्रह के लक्षण—कम्पन, रोमाँचता, स्वेद, आँखों का बन्द होना, बहिरायाम (पीठ की ओर से मुड़ना), जिह्वा को काटना, गले के अन्दर शब्द होना, मल के समान गन्ध और कुत्ते के समान चिल्लाना श्वग्रह में होता है।

पितृग्रह के लक्षण—रोमाँच, बार-बार डरना, सहसा रोना, ज्वर, कास, अतिसार, वमन, जृम्भा, प्यास, मुर्दे की गन्ध, अंगों में संकोच, और विस्तार, शोफ, जड़ता, विवर्णता, मुट्ठी को वाँधना और आँखों से पानी वहना पितृग्रह में होते हैं।

शकुनिग्रह के लक्षण—अंगों का ढीला होना, अतिसार, जिह्वा, तालु और गले में व्रण, स्फोट, दाह, वेदना और पाक, सन्धियों में छाले रात को होते हैं और दिन में छिप जाते हैं। मुख या गुदा में पाक, भम, शकुनि (जलचर और मांस खाने वाले पक्षियों के) समान गन्ध और ज्वर, ये शकुनिग्रह के लक्षण हैं।

पूतना ग्रह के लक्षण—वमन, कम्प, तन्द्रा, रात्रि में जागरण, हिक्का, आध्मान अतिसार, प्यास मूत्र का अवरोध, अंगों में शिथिलता, रोमांच और कौए के समान सड़ी गन्ध होना पूतना ग्रह के लक्षण हैं।

शीत पूतना के लक्षण—कम्पन, रोना, तिरछा देखना, प्यास, आँतों में शब्द, अतिसार, वसा की भाँति विस्त्रगन्ध एक पार्श्व का ठण्डा होना और दूसरे पार्श्व का गर्म होना ये शीत पूतना के लक्षण है।

अन्धपूतना के लक्षण—वमन, ज्वर, कास, नींद का कम आना, मल का अतिसार, विवर्णता और दुर्गन्वता, अंग का शुष्क होना, दृष्टि का थोड़ा होना, अतिवेदना, आंखों में कण्डु, पोथ की उत्पत्ति, सूजन हिक्का, उद्वेग, स्तनद्वेष, विवर्णता, स्वर की तीक्ष्णता, कम्पन तथा मछली की या खट्टी गन्ध का आना ये अन्ध पूतना के लक्षण हैं।

मुख की मण्डितिका ग्रह में—हाथ, पैर और मुख में सुन्दरता उदर का कृष्ण वर्ण वाली शिराओं से भर जाना, ज्वर, अरोचक, अंगों में ग्लानि और गोमूत्र के समान गन्ध होती है।

शुष्क खेती ग्रह में क्रमशः सब अंगों में क्षय आरम्भ हो जाता है।

खेती ग्रह में—बच्चा काला नील वर्ण होता है, उसके कान, नाक, आँख में मर्दम, कास, हिक्का, आँखों का चलाना, मुख का टेढ़ापन और मुख का लाल होना, बकरे की गन्ध, ज्वर, शोप, मल हरा और पतला होता है।

असाध्य लक्षण—बालों का गिरना अन्न में द्वेप, स्वर की दीनता विवर्णता, रोना, गीध की गन्ध का देर तक बने रहना, उदर में गोल गांठ होना, नाना प्रकार का मल होना, जीभ का बीच में से झुक जाना और तालु का काला पड़ना असाध्य लक्षण है। इस बच्चे की चिकित्सा न करें। बहुत प्रकार के अन्न खाने पर भी जो बालक कमजोर होता है, प्यास से पीड़ित, निर्बल आँखों वाला, उसको शुष्क खेती ग्रह मार देता है।

गर्म जल से बच्चे को स्नान कराये। स्नान के उपरान्त चीता, व्याघ्र, सांप, सिंह और भालू, इनकी त्वचा को घी में मिलाकर धूप देवें।

करंज, दशांग, सरसों, वच, भिलावा, अजवायन, कूठ इनको घी से मिला कर धूप देवे। यह धूप सब ग्रहों से छुड़ाने वाला है। दशांग-वचा हिंगु विडंगानि सैन्धवं गजपिप्पली पाठा प्रतिविषा व्योषदशांगी परिकीर्तिता।

दूसरे आचार्य दशांग से मूल, त्वचा, पत्र, सार, पुष्प, फल शृंग, स्वरस, कांटे और दूध लेते हैं, वह विचारणीय है। श्री शिवदास सेन तथा अरुणदत्त ने पूर्वोक्त दशांग का ग्रहण किया है। हृदय उ० अ० ३७/२७ में यही दशांग धूप कहा है। सरसों, नीम के पत्ते, पीपरामूल, नख, वच, भोजपत्र, घृत, इनका धूप सब ग्रहों का निवारण करता है।

अनन्ता, आम की गुठली, तगर, मरिच, जीवन्त्यादि मधुरगण पृश्निपर्णी मुस्ता, इनके कल्क से दशमूल क्वाथ और दूध के साथ घृत सिद्ध करें। यह घृत ग्रहनाशक श्रेष्ठ है। (दशमूल का क्वाथ दूध से तीन गुणा तथा घी के बराबर दूध लेवे।)

रास्ना, शालपर्णी पृश्निपर्णी वृहत्पंचमूल, वला, मोथा, इनके क्वाथ में सारिवा, त्रिकटु, चित्तक, पाठा, विड़ग, मुलहठी विदारी हींग, देवदारू पिप्पली मूल, इन्द्रयव, इनके कल्क से घी सिद्ध करें। यह घृत बच्चे के लिए सदा उपयोगी, सब रोग तथा सब ग्रह नाशक, अग्निदीपक वल और वर्ण को देने वाला है।

सारिवा शल्ल की ब्राह्मी, शंखिनी, कूठ, सरसों, वच, अश्व गंधा, तुलसी, इनके साथ् घी सिद्ध करें। इस घी के पान और अभ्यंग से सब ग्रह नष्ट होते हैं।

गाय के सींग, चमड़ा तथा वाल, सांप की केंचुली, बिल्ली की विष्ठा, नीम के पत्ते, घी, कुटकी, मैनफल, कटेरी, त्रिनौला, जौ, वकरे के रोम, देवदारू, सरसों, मोरविच्छा, श्रीवेष्टक (राल) तुप, वाल, हींग, इनको मिट्टी के पात्र में वकरे के मूत्र में भावित करके बारीक चूर्ण बनाकर धूप देना हितकारी है। सब भूतों में और विषम ज्वर में इनका धूप उत्तम है।

भूतविद्या में जो घृत कहे जायेंगे, उनको मन्त्र और तन्त्र को जानने वाला वैद्य वलि, होम और स्नान में वरते।

की अनिच्छा वाला देवता और ब्राह्मण की आराधना में तत्पर, पवित्र, अपशब्द न बोलने वाला, देर से पलक मारने वाला, सुरभि-सुगन्धि शरीर। सबको वर देने वाला, वस्त्र, नदी, पर्वत ऊंचे, मकान को चाहने वाला, प्रिय, नींद रहित, किसी से तिरस्कृत न होने वाला मनुष्य देवता से वसी हुआ जानना चाहिये।

दैत्यग्रह से आविष्ट मनुष्य—कुटिलदृष्टि, दुष्टस्थ भाव, गुरु, देवता और ब्राह्मण का दुश्मन भयरहित, घमंडी, धैर्यशाली, क्रोधी, व्यवसायी, मैं रुद्र हूं, विशाखा हूं, इन्द्र हूं, ऐसा कहने वाले, सुरा और माँस में रुचि रखने वाला, ऐसे मनुष्य को दैत्यग्रह से आक्रांत जानना।

गन्धर्व से आक्रांत मनुष्य शोभन आचार का, सुगन्धित, प्रसन्न, गाने वाला स्नान और बगीचों में रुचि वाला, लाल वस्त्र, माला और चन्दन आदि लेप को चाहने वाला, शृंगार की लीला में अभिरत होता है।

साँप से अविष्ठित मनुष्य लाल आँखों का क्रोधी, निश्चल, दृष्टि, कुटिल गति, अस्थिर, निरन्तर श्वास छोड़ने वाला, जीभ को चलाने वाला, ओठों के प्रांत भागों को चलाने वाला, दूध, गुड़, स्नान में रुचि वाला मुख नीचे करके सोने वाला छतरी से डरने वाला मनुष्य सांप से आक्रांत होता है। (इसीलिए रात्रि में छाता लेकर चलने का विधान किया है कि सांप छाते की छाया से डर कर दूर हो जाते हैं।

यक्ष से आक्रांत मनुष्य—चंचल, डरी और लाल आँखों का, शोभन गन्ध वाला, कांतिशाली, नृत्य, कथा, गीत, स्नान, माला, अनुलेपन में प्रेम रखने वाला, मछली के माँस में रुचि, सन्तोषी, बलशाली, स्वस्थ, हाथ के छोर को हिलाने वाला, किसके लिए क्या दूँ—ऐसा कहने वाला एकांत में बात करने वाला वैद्य द्विजाति का अपमान करने वाला, थोड़े क्रोध वाला, जल्दी चलने वाला मनुष्य यक्ष से आक्रांत जानना।

ब्रह्मराक्षस से आक्रांत मनुष्य—हास्य, नाच में, प्रेम रखने वाला, भैरव क्रिया करने वाला, मौके पर चोट करने वाला, गुस्से वाला, शीघ्रगति, देवता, ब्राह्मण, वैद्य से द्वेष करने वाला अपने को लकड़ी या शस्त्र आदि से मारने वाला, भो! शब्द कहने वाला, शास्त्र एवं वेद पाठ में रत; ऐसे मनुष्य को ब्रह्मराक्षस से आक्रांत जाने।

राक्षस से अधिष्ठित मनुष्य—क्रोध युक्त दृष्टि वाला, भौंहों को ऊँचा

और चेष्टाओं से उनके अपने २ ग्रह को कहे।

कुमारों के समूह से व्यक्त, नंगा, हिलते (खड़े) बालों वाले पीड़ित चित्त, वहुत काल से ग्रह से आक्रांत मनुष्य को छोड़ दें, उसकी चिकित्सा न करें।

अहिंसा की इच्छा वाले (वलिया रति की कामना वाले) भूत का जप, होम, वाले, व्रत, तप, शीला, समाधान दान, ज्ञान और दया आदि से शांत करे।

इसकी चिकित्सा के लिए अष्टांग हृदय के पञ्चमोऽध्याय में निम्नलिखित योग व्याख्यान है—

१. गृह भूतनाशक हिंग्वादि योग २. सिद्धार्थक घृत ३. सिद्धार्थकादि घृत ४. कार्पासबीजादि धूप, ५, भूतराव घृत ६. महाभूतराव घृत।

भूतगृहनाशक नस्य—गजपिप्पली, पिप्पलीमूल, त्रिकुट, आँवला, सरसों, इनको गोह, नेवला, बिल्ली और झष मछली, इनके पित्त से पीसकर नस्य, अभ्यंग और परिषेक में बरते। ये ग्रहों को दूर करने वाले हैं।

ग्रहवलि कर्म का दिन—जिन दिनों में जो ग्रह पकड़ते हैं उन दिनों में उन ग्रहों के लिए वलि और होम आदि विशेषतः वरते।

ग्रहों के वल्यर्थ द्रव्य—स्नान, वस्त्र, वसा, माँस, मद्य, दूध, गुड़ आदि जो जिस ग्रह के लिए जब तक रुचिकर हों, वह उस दिन उस ग्रह के लिये वैद्य देवें।

रत्न, सुगन्धि, माला जो आदि बीज, मधु, घृत और सब प्रकार के भक्ष्य ये सब ग्रहों के लिए हैं, यह सामान्य विधि है।

गहों को वलि देने योग्य स्थान—देवता, ऋषि, गुरु, वृद्ध और सिद्ध के लिये देवमंदिर में वलि देवे। इनमें भी देव के लिए उत्तर दिशा में विशेषकर के वलि को देवे। दैन्यभूत के लिये पश्चिम दिशा में चत्वर (चौराह) पर समय के अनुसार वलि देवे। गन्धर्व के लिये वस्त्र और आभूषण के साथ वलि को, गोओं के मार्ग में देवे। पितर तथा नाग ग्रहों के लिए नदी में, नागों के लिये पूर्व—दक्षिण दिशा में वलि को देवे। यक्ष के लिये यक्ष—देव क्षेत्र में या नदियों के संगम में वलि देवे। ब्रह्म राक्षसों के लिये चतुष्पथ (चौराहे) में और गहन—भयानक वनों में वलि देवे। राक्षसों के लिये दक्षिण

करंज, शिरीष की छाल, मूल, पुष्प फल और इसी प्रकार कृष्ण पाटला के मूल, छाल आदि, विल्वमूल, त्रिकुट, हींग, इन्द्र जौ, सरसों, लहसुन, आंवला, इनको बकरे के मूत्र में मिलाकर अगद, नस्य और अंजन में वरते।

करंज आदि से सिद्ध घृत चौगुने गौमूत्र में सिद्ध करे। पान अभ्यंग तथा नस्य में वरतने से यह राक्षसग्रहों को नष्ट करता है।

पिशाचों के लिए बलि—सीधु, पिण्याक (तिलकल्ज) मांस, दधि, मूली, नमक, सर्पि-घी, मांसौदन, (पावक) इनकी वलि देवे।

हल्दी दारू हल्दी, मजीठ, सोंफ, सैन्धव सौंठ, हींग, प्रियंगु, त्रिकुट, लहसुन त्रिफला, पाटली, श्वेत, करमी, शिरीष के फूल, घृत (गोमूत्र से चौथाई) और गोमूत्र से सिद्ध घृत को पान अभ्यंग में वरतना हितकर है। हल्दी आदि द्रव्यों को बकरे के मूत्र से पीसकर अजन और नस्य में वरते।

देवता, ऋषि, पितर, गन्धर्व, इनमें तीक्ष्ण नस्य आदि छोड़ देवें। इनमें घृतपान आदि मृदु औषध वरते।

सब ग्रहों मे पिशाच को छोड़कर प्रतिकूल वर्ताव न करें। क्योंकि वे अतिशय तेजस्वी ग्रह क्रुद्ध होकर वैद्य और रोगी दोनों को मार देते हैं।

बारह भुजा वाले ईश्वर को देवताओं के भी देव, आर्या से अनलोकित, सब रोगों की प्रायश्चित्त रूप चिकित्सा को जपते हुए सब ग्रहों से तथा उन्माद, अपस्मार एवं अन्य कारणों से उत्पन्न चित्त-विक्षोभ को जीतता है।

ग्रह से पकड़े गए मनुष्य को पवित्र होकर मधुरी महा विद्या (बौद्ध धर्म के उपदेश) को सदा सुनाये।

भूतनाथ—स्थाणु। (भूतनाथ-महादेव) की तथा स्थाणु के प्रभाव संज्ञा वाले गुणों की पूजा करे। सिद्धों का तथा उनके मन्त्रों का जय करता हुआ सब ग्रहों को पीछे हटाता है।

प्रश्न—निम्नलिखित विषयों की व्याख्या कीजिए?

(क) निद्रा। (ख) स्वप्न। (ग) दिवास्वप्न और रात्री जागरण
(घ) निद्रानाश। (ङ) तन्द्रा। (च) जृम्भा।
(छ) क्लम। (ज) आलस्य। (झ) उत्क्लेश।
(न) ग्लानि। (प) गौरव।

(क) निद्रा—वैष्णवी (होती हुई भी) निन्द्रा को आचार्य तामसी कहते हैं। वह स्वभाव से ही सब प्राणियो को वश में करती है। जब (हृदय स्थित)

मालूम होती है। तकिया लगा कर सोने का भी यही उद्देश्य है। (२) रासायनिक द्रव्य निद्रा प्रवर्त्तक होते हैं और इसी प्रकार निन्द्रावस्था में भी उत्पन्न कुछ रासायनिक द्रव्य अनिन्द्रा प्रवर्त्तक होते हैं। (३) कुछ वैज्ञानिकों का कथन है कि मस्तिष्क गत नाड़ी कन्दो (neurons) के अक्षतन्तुओं के आपस में मिलने से जो संवहन का कार्य होता है। संज्ञा उसका परिणाम स्वरूप है। निद्रावस्था में ये अक्षतन्तु सिकुड़ जाते हैं जिससे आपसी सम्बन्ध टूट जाता है और परिणामतः संज्ञा नाश होता है। (४) ह्रासात्मक क्रियाओं का आधिक्य (Inhibition] आयुर्वेदोक्त तम की अवस्था की यही उत्पत्ति है। निद्रा और जागृत अवस्था का कार्य धमनियों द्वारा प्रतिपादित होता है।

(ख) स्वप्न—पूर्वजन्म या इस जन्म के जो शुभाशुभ विषय हैं उनको सोता हुआ भूतात्मा रजोगुण युक्तमन द्वारा ग्रहण करता है।

स्वप्न कैसे होते हैं। यह एक अत्यन्त गूढ़ विषय है। आधुनिक मनोविज्ञान वेत्ताओं ने इस विषय पर अनुसन्धान किए हैं। किन्तु फिर भी संतोषजन्य व्याख्या अब तक प्राप्त नहीं हो सकी। स्वप्न प्रायः सभी मनुष्य देखते हैं। कहा जाता है कि गाढ़ निद्रा मग्न मनुष्य स्वप्न नहीं देखता। दर्शन-शास्त्रानुसार स्वप्न का सम्वन्ध मन से है। मन तीन प्रकार का होता है—

१. सात्विक २. राजस ३. तामस।

सत्य द्वारा किसी प्रकार की विकृति उत्पन्न नहीं होती। रज और तम मन के दोष हैं और इन्हीं के ही प्रभावानुसार सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रियों की प्रेरणा होती है। आधुनिक वैज्ञानिक निद्रा में चेतनावस्था को स्वप्न कहते हैं। (A dream is a stage of Consciousness in the sleep) आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार स्वप्न के निम्न कारण माने जाते हैं। (१) मनोऽभिघात यथा चिन्ता, शोक, दुःख आदि। (२) मांस पेशियों की अवस्था ऐसा विचार है कि इनका भी स्वप्न से कुछ सम्वन्ध है। ( ) हृदय की गति—यदि इसकी गति में परिवर्तन होने लगे तो स्वप्न दिखाई देने लगते हैं। (४) रोग ज्वरादि रोगों में स्वप्न दिखाई देते हैं। (५) मिथ्याहार विहार इस भाँति की गैस उत्पन्न हो र मन को प्रभावित करती है। (६) श्वास क्रिया—इसके अवरोध में भी स्वप्न दिखाई देने लगते हैं।

प्राचीन शास्त्रों में स्वप्न सात प्रकार के बतलाए गए हैं।

१. द्रष्ट। २. श्रुत। ३. अनभूत।

श्यकता है। यदि वह निरन्तर सोते ही न रहें फिर भी उनको कम से कम आठ घण्टे लेटी अवस्था में रहना चाहिए जिससे हृदय को गुरुत्वाकर्षण के विपरीत रक्त भेजने की क्रिया से विश्राम मिले।

(२) **अवस्था**—क्षीण तथा रुग्ण पुरुषों को अधिक विश्राम और निद्रा की आवश्यकता होती है।

(३) **व्यवसाय**—मानसिक परिश्रम करने वालों को शारीरिक परिश्रम करने वालों की अपेक्षा अधिक विश्राम और निद्रा की आवश्यकता होती है।

(४) **स्वभाव**—दिवास्वप्न—उष्ण प्रदेश होने के कारण भारतवर्ष में निद्रा की प्रवृत्ति अधिक होती है। किन्तु यह हानिकारक है। हाँ! ग्रीष्म ऋतु में दिन को थोड़ा सोना लाभप्रद होता है।

इसके अतिरिक्त और यह कि—इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह रात्री में न जागे और दिन में न सोवे। इन दोनों को विकार जानकर यथोचित् सोने (और जागरण) का आचरण करें। ऐसा करने से निरोग स्वस्थ चित्त-वल तथा वर्णयुक्त तथा पुरुषार्थी मनुष्य न बहुत मोटा न पतला श्रीयुक्त होता हुआ सौ वर्ष तक जीता है।

जिन्होंने दिन व रात्रि में निद्रा का सात्म्य कर लिया है और या जो दिवास्वप्न और रात्री जागरण का नित्य, आचरण करते हैं। उन्हें रात्री या दिन कभी भी सोने या जागने से हानि नहीं होती।

(घ) **निद्रानाश**—वायु और पित्त से, मनस्ताप से तथा क्षय से और चोट आदि की पीड़ा से निद्रा नाश हो जाती है। इसके विपरीत भावों से निद्रा नाश की शान्ति होती है। निद्रा में अभ्यंग करके उबटन करना और और स्नान करना चाहिए। सिर पर तैल मर्दन, धीरे-धीरे हाथ पाँव और शरीर को दबवाना चाहिए।

शाली चावल गेहूं पिष्ट अन्न-शर्करा के मधुर चिकने दूध या मांस रस के साथ भोजन करना चाहिए। बिल में रहने वाले जीवों (मूषकादि) और विरष्कंर (मुर्गा) आदि के रस के साथ द्राक्षा सिता और इक्षुरस का प्रयोग रात्री में करें। उत्तम नरम शय्या सुन्दर एवं मृदु यान (पालकी-आदि) तथा अन्य आवरणदिकों निद्रानाश में बुद्धिमान् मनुष्य उपयोग करें।

अनिलात्—वातिक कारण यथा भाँति भाँति की वेदनाएँ हिस्टीरिया तथा अन्य कारण जिनके द्वारा वात नाड़ियों में क्षोभ उत्पन्न हो। पित्तात्—

(च) जृम्भ

जब मनुष्य उद्वेष्टन सहित मुँह फैलाकर एक लम्बी सांस खींचता है और फिर अश्रुपूर्ण नेत्र से उसे छोड़ता है तो इस अवस्था को जृम्भा कहते हैं।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में इसकी व्याख्या निम्न भांति पाई जाती है—

Yawning An involuntary stretching of the muscles accompanied by a deep inspiration occuring the drowsy state preceding the onset of sleep.

(छ) क्लम—

जिसमें अनायास ही शरीर में श्रम (Weariness) बढ़ा हुआ हो श्वास की कठिनाई न हो इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने में बाधा हो तो उसे लाभ क्लम (Drowsiness) कहते हैं।

(ज) आलस्य—

(जिस अवस्था में) सुखस्पर्श की लालसा रहे, और दुख से द्वेष तथा सशक्त होने पर भी कार्य में अनुत्साह हो तो उसे आलस्य (Langour) कहते हैं।

(झ) उत्क्लेश—

आमाशस्थ अन्न की ऊर्ध्व प्रवृत्ति हो किन्तु बाहर न निकले मुख में पानी भरे थूकने की प्रेरणा हो और हृदय में पीड़ा हो उसे उत्क्लेश (Nausea) कहते हैं।

उत्क्लेश के तीन प्रकार होते हैं।

१. स्थानिक कारण यथा—

(क) मिथ्याहार

( ) क्षोभक विष यथा, फास्फोरस आदि।

(ग) आमाशयिक द्रव्यों की सणांद

(घ) आमाशयिक प्रदाह, व्रण, कैंसर आदि

(ङ) पक्वशयिक विस्तृत

२. वातिक करण—यथा—हिस्टीरिया शिरः शूल, मस्तिष्क के रोग गर्भाशय के रोग इत्यादि।

३. विषज कारण—यथा मूत्र विष संचार क्लोरोफार्म की मूर्च्छा के

पश्चात् नोधनावस्था के प्रारम्भ में इत्यादि।

(न) ग्लानि—

मुख में मीठापन, तन्द्रा, हृदयोद्वेष्टन, भ्रम तथा अन्न में अरुचि हो तो उसे ग्लानि कहते हैं।

(प) गौरव—

(जो मनुष्य) अपने शरीर को आर्द्र चर्म से लिपटा हुआ जाने तथा शरीर और सिर भारी हो उसे गौरव (Inertia) कहते हैं।

प्रश्न—अपस्मार किसे कहते हैं ? कितने प्रकार का है ? क्यों उत्पन्न होता है ? लक्षण क्या है ? विभेदक निदान क्या है और चिकित्सा किस प्रकार की जाती है।

उत्तर—अपस्मार का निर्वचन और उसका सहेतुक स्वरूप—चिकित्सक स्मृति के अपगम (नष्ट हो जाने) को अपस्मार कहते हैं। बुद्धि और मन के विप्लव (विभ्रंश) के कारण अन्धकार दर्शन तथा नेत्र विकृत फेन वमन अंगादि विक्षेप आदि वीभत्स (घृणित) चेष्टायें अपस्मार में उपस्थित होती हैं।

अपस्मार का हेतु और सम्प्राप्ति जिन पुरुषों में दोष उन्मार्गगामी व प्रभूत मात्रा में हैं जो अहित और अपवित्र भोजन करते हैं उनके रज और तम द्वारा सत्व गुण के पराभूत वा नष्ट हो जाने से और हृदय के वात आदि दोषों से आच्छन्न होते पर चिन्ता काम भय, क्रोध शोक उद्वेग (ग्लानि) आदि हेतुओं से मनोविघात होने पर अपस्मार की प्रवृत्ति होती है।

धमनियों से संचित हुए दोष हृदय को पीड़ित करते हैं। वात आदि दोषों द्वारा पीड़ित किया हुआ और अतएव मूढ़ पुरुष भ्रान्त (उत्मार्गगत) चित्त से व्यथा को प्राप्त होता है।

वह असत् व अवास्तविक रूपों को देखता है, गिरता है, कांपता है, उसकी आंखें और भौहें कुटिल हो जाती है, लार बहने लगी है, हाथ पैर को फेंकता है अर्थात् आक्षेप होता है। जब दोष का वेग (दौरा) हट जाता है तो सोया पुरुष जैसे जागता है जैसे वह संज्ञा में आ जाता है।

अपस्मार के भेद—वात, पित्त, कफ, से पृथक् तीन और सन्निपात से चौथा, इस प्रकार चार प्रकार का अपस्मार कहा जायगा।

वातिक अपस्मार का रूप—वातज अपस्मार में रोगी काँपता है, दांतों

को काटता है, उसके मुख से झाग निकलती है। वह गहरे और अधिक श्वास लेता है और पुरुष (कठिन व खुरदरे) अरुण व कृष्ण वर्ण के रूपों को देखता है।

पैत्तिक अपस्मार का रूप—पित्तापस्कारी के मुख से पीले रंग की झाग आती है उसका देह और विशेषत: नेत्र पीतवर्ण के होते हैं। वह दौरे के समय पीले लाल रूपों को देखता है। वह प्यासा होता है, उसकी देह गरम होती है। वह संसार को अग्नि से व्याप्त देखता है।

श्लैमिक अपस्मार का रूप—जिनके मुख से निकलने वाली झाग देह मुख और नेत्र श्वेत वर्ण के हो, देह शीतल रोमांचयुक्त और भारी हो, दौरे के समय सब रूपों को शुक्लवर्ण का ही देखता हो उसे श्लैष्मिक अपस्मार से आक्रान्त जानना चाहिये। इसका दौरा वाजर्त व पित्त की अपेक्षा देर तक रहता है।

सन्निपातज अपस्मार के रूप—इन सब (पृथक् दोषों के कहे गये) समस्त लिंगों से त्रिदोषज अपस्मार जाना जाता है। अभिप्राय यह है कि जहां तीनों दोषों के लक्षण दिखाई दें उसे त्रिदोषज जानें।

अपस्मार की असाध्यता—त्रिदोषज अपस्मार असाध्य होता है। जो क्षीण व्यति को हो और जो पुराना हो वह अपस्मार भी असाध्य होता है। चाहे वह वातिक पैत्तिक वा कफज ही हो।

कुपित हुए वात आदि दोष पक्ष २ से, बारह-बारह दिन से वा मास-मास से, अपस्मार के वेग को कुछ काल के लिये किया करते हैं। यहां पर पक्ष आदि काल सामानत: कहा है। इससे काम वा इससे अधिक काल से भी अपस्मार (मृगी) के दौरे हुआ करते हैं।

पाश्चात्य मत—

अपस्मार (Epilepry)—यह मस्तिष्क के एकाएक कुछ समय के लिए अव्यवस्थित हो जाने की दशा है, इसमें मस्तिष्क के ऊपरी केन्द्रों में से थोड़े से या बहुत से निष्क्रिय हो जाते हैं जिससे उनसे सम्बन्धित क्रियायें अनियन्त्रित हो जाती हैं। इसके फलस्वरूप मानसिक संज्ञा वह (सांवेदनिक) और चेष्टा वह क्रियाओं में अनेक प्रकार की विकृतियां उत्पन्न होती हैं जो प्रारम्भ में अस्थायी रहती है और आवेग शांत होते ही दूर हो जाती हैं किन्तु रोग लम्बे समय तक बना रहने पर कुछ विकृतियां स्थायी हो जाती हैं।

दे तो अपस्मार स्थायी हो जाता है। सभी प्रकार के आनुषंगिक अपस्मार में अंग विक्षेप आदि लक्षण अत्यन्त प्रवल होते हैं।

लवणों की सौम्यता एवं उग्रता के अनुसार लघु और गुरु भेद से अपस्मार दो प्रकार का होता है।

(i) लघु अपस्मार (Pelit Mat)—इस प्रकार में मस्तिष्क के अत्यन्त थोड़े एवं सीमित भाग में अव्यवस्था होती है। इसके दौरा आते ही सुख-दुख या भय की कल्पनायें उठती हैं अथवा दृष्टि में विकृति (विविध अंगों अथवा अन्धकार का दर्शन) अथवा स्रवण शक्ति विकृति में (विविध शब्द सुनना) अथवा स्वाद विकृति अथवा अपनी-विकृति (किसी भी अंग विशेष में एकाएक झुनझुनी, शून्यता, तोद, पीड़ा आदि) का अनुभव १-२ क्षणों के लिए पूर्ण अथवा अपूर्ण संज्ञा नाश होना है। काम या बातचीत करता-करता आदमी अचानक रुक जाता है, आँखें शून्य एवं स्थिर हो जाती हैं, चेहरा पीला पड़ जाता है और हाथ की वस्तु छूटकर नीचे गिर जाती है। फिर एक दो क्षणों के बाद ही रोगी पुनः चैतन्य होकर काम में लग जाता है। दूसरे मामलों में रोगी सिर झुकाकर दौड़ता हुआ सा गिर पड़ता है, यदि सामने कोई पदार्थ हो तो सिर उससे टकरा जाता है, अथवा केवल अपना सिर इस प्रकार झुकाता है मानो अभिवादन कर रहा हो। इसके अतिरिक्त अन्य कई प्रकार की अप्राकृतिक दिशाएँ हो सकती हैं परन्तु वे सब अत्यन्त थोड़े समय तक रहती हैं।

(ii) गुरु अपस्मार (Grandmal)—इस प्रकार मस्तिष्क के काफी बड़े अंश में अव्यवस्था होती है इसलिए लक्षण अधिक व्यापक होते हैं और दौरा देर तक रहता है। दौरा आने के कुछ घंटों या कुछ दिनों पूर्व बेचैनी, कमजोरी, सिर दर्द, अखाद्य पदार्थ खाने की इच्छा, निद्रा अधिक आना आदि "पूर्वरूप" उत्पन्न होते हैं। यदि इस समय रोगी अपने आपको अत्यधिक व्यस्त रखे तो दौरा रुक सकता है क्योंकि इसका दौरा उसी समय आता है जब रोगी फुरसत में हो। दौरा आते समय सुख-दुख या भय की कल्पनाएँ, दृष्टि विकृति, स्वाद विकृति, स्पर्श विकृति, भ्रम आदि 'पूर्व लक्षण (Ausa) प्रकट होकर शीघ्र ही संज्ञा नाश हो जाता है और रोगी एकाएक जमीन पर गिर पड़ता है।

गिरते-गिरते अथवा गिरने के पश्चात् तुरन्त ही सारा शरीर अकड़ जाता है। सर्वप्रथम चेहरे, गले और नेत्रों की पेशियाँ अकड़ती हैं और फिर शरीर की। नेत्रों की पुतलियां किसी एक पार्श्व की ओर हटकर स्थिर हो जाती हैं

(समपार्श्वीय नेत्रावर्तन) (Conjugate deviation) और सिर भी उसी ओर झुक जा.ा है। हाथ कोहनी पर मुड़े हुए रहते हैं। सारा शरीर पीछे की ओर धनुषाकार झुक जाता है। वाह्यायाम (Pirthotonos) स्वरयन्त्र भी अकड़ जाता है और ऐसा होते समय कभी-कभी एक विशेष प्रकार की आवाज उत्पन्न होती है जिसे "अपस्मारीय चीत्कार (Epileptic Cry) कहते हैं। जवड़े एकाएक वन्द हो जाते हैं (दस्तौरी वंधना) जिससे जीभ कट जाने का भय रहता है। मल-मूत्र का त्याग हो जाता है। श्वास भी अवरुद्ध हो जाती जिससे श्यावता उत्कन्न होती है। यह दशा कुछ क्षणों तक ही रहती है। इसे "निरन्तरित अवस्था" (Tonic Phase) कहते हैं।

इसके बाद "सान्तरित अवस्था (Clonic Phase) आरम्भ होती है और लगभग ३ मिनट रहती हैं। इस अवस्था श्वास-प्रश्वास घर्घर ध्वनि के साथ आरम्भ होता है और नेत्र, मुख, हाथ-पैर, आदि की पेशियों में जोरदार आक्षेप होते हैं तथा मुख से फेन निकलता है।

इसके वाद रोगी कुछ देर के लिए चैतन्य होकर अत्यन्त थकित होने के कारण गम्भीर निद्रा में निमग्न हो जाता है और कई घण्टों सोता रहता है। इस समय सभी प्रतिक्षेप लुप्त हों जाते हैं किन्तु पादतल पतिक्षेप (Plante Reflex) प्रसारक (Extensor) हो जाता है। रक्त-निपीड़ घट जाती है। इस अवस्था को शैथिल्यावस्था (Stage of Relaxation) कहते हैं।

दौरा हो चुकने के वाद कई दिनों तक सिर दर्द, वमन, कमजोरी, सुस्ती, प्रभावित पेशियों का अस्थायी घात (Todd's Paralysis) आदि लक्षण पाये जाते हैं। कुछ रोगियों में पेशियों की कुछ क्रियायें अनैच्छिक रूप से अनजाने में ही हुआ करती हैं और कुछ में हिस्टीरिया के लक्षण पाये जाते हैं।

उक्त दोनों प्रकार के अपस्मार के दौरे समय-समय पर आते रहते हैं। रोगकाल अनिश्चित है, कभी-कभी यह क्रम आजीवन चलता रहता है। दौरों के बीच के काल में रोगी लगभग स्वस्थ रहता है। सामान्य कारणों से उत्पन्न अपस्मार घातक नहीं होता किन्तु गिरते समय संभलने का अवसर न मिलने के कारण खतरे के स्थानों में गिरकर मृत्यु हो सकती है तथा दीर्घकाल तक दौरे अन्य प्रकार आते रहने से मस्तिष्क में स्थायी विकृति हो सकती है। गम्भीर कारणों से उत्पन्न अपस्मार प्रायः अत्यन्त भयंकर एवं घातक हुआ करता है।

१. अपस्मारावस्था (Status Epilapticus) इनकी उत्पत्ति मस्तिष्क-

गत गम्भीर रोग अथवा विषमयता से होती है। इसमें अपस्मार के दौरे बार-बार एवं जल्दी-जल्दी आते हैं। तीव्र ज्वर रहता है और नाड़ी कमजोर एवं तीव्र रहती है। अन्त में ज्वर अधिक तीव्र होकर तथा संन्यास होकर मृत्यु हो जाती है।

२. **जैकसन का अपस्मार** (Jacksomian Epilepry)—अथवा स्थानिक अपस्मार (Local Convulsion)—इस रोग में शरीर के किसी भी एक या अनेक भागों में अपस्मार के समान अकड़न और आक्षेप या केवल आक्षेप होते हैं। संज्ञा प्रायः स्थिर रहता है।

३. **विद्रापस्मार** (Narcolepry)—इन रोग में एकाएक कुछ मिनटों या सेकण्डों के लिए रोगी सो जाता है। कुछ मामलों में इसके दौरे के पूर्व अत्यन्त थकावट का अनुभव होता है।

४. **घातापस्मार** (Cataplexy)—इसमें कुछ काल के लिए शरीर की कुछ या कई पेशियों का घात हो जाता है। आक्षेप नहीं होते और होश में ही रहता है।

५. **अपस्मार सहष मनोविकार** (Epileptic Psyclic Equiralents)—पूर्वकथित पूर्व लक्षणों (Aura) के समान मन, दृष्टि, श्रुति, स्वाद आदि में एकाएक विकृति होती है और कुछ समय वाद ठीक हो जाती है। अपस्मार के अन्य लक्षण नहीं होते।

इनके अतिरिक्त अन्य कई प्रकार और भी होते हैं किन्तु उनका अधिक महत्व नहीं है।

एवीलप्सी और हिस्टीरिया का सापेक्ष निदान :—

	शारीरिक अपस्मार (एपीलिप्सी)	अपतानक (हिस्टीरिया)
अन्तर और आक्रमण	प्रायः आक्रमण निश्चित घण्टे में दिन या रात्रि में होता है।	उत्तेजना की अवस्था मे प्रायः होता है, नींद में कभी नहीं होता।
स्वतः मूत्र आना	आक्रमण के समय मूत्र निकल जाता है पीछे से मूल में एल्युमिन आती है।	कभी मूत्र स्वतः नहीं निकलता।
आक्रमण में अपने को चोट पहुंचना	जिह्वा, गाल हाथ को प्रायः काट लेता है, मुख में रक्त मिलता है।	पकड़ने वाले को रोगी कोई हानि नहीं करता।

चेष्टायें	अनैच्छिक चेष्टायें वेगवती होती हैं, यदि वे उपस्थित होतीं, और आँखों में एक समान एक पार्श्वीय झुकाव होता है।	चेष्टाएँ विशेष प्रकार की असाधारण होती हैं, आंखें ऊपर को चढ़ी हुई, हाथ आपस में फँसे हुए, सिर और आंखे कभी भी एक समान नहीं रहते, आंखों में प्राय: आक्षेप रहते हैं।
श्वास	श्वास, घर्घराहट वाला, जिसके साथ नीलिमा रहती है।	श्वास कभी घर्घराहट वाला नहीं होता।
समय	आक्रमण केवल थोड़े समय के लिए ही होता है।	आक्रमण प्राय: लम्बा चलता है विशेषत: यदि इच्छित लोग एकत्रित हों।
पादतल के प्रत्यावर्तन	आक्रमण समय अथवा तुरन्त पीछे सीधे ताने जा सकते हैं।	प्राय: पैर के अंगूठे में अनुपस्थित रहते हैं।

चिकित्सा—उन दोषों से आवृत्त हृदय स्रोतों और मन के प्रबोधन के लिए तीक्ष्ण वमन आदि कर्मों द्वारा चिकित्सा करें।

वातिक अपस्मार की वस्तिप्रधान कर्मों द्वारा, पैत्तिक अपस्मार की प्राय: विरेचनों द्वारा और श्लेष्मिक अपस्मार की प्राय: वमनों द्वारा चिकित्सा करें।

इस प्रकार अपस्मार रोगी का सर्वत: शोधन करके और सम्यक् आश्वासना देकर जो संशमनयोग अपस्मार से मुक्ति के लिए प्रयोग कराये जाते हैं। वे कहे जाते हैं सुनो—

१. पंचम घृतम्

२. महापत्त्वगण्यं घृतम्

३. ब्राह्मीघृतम्

४. वचाद्यं घृतम्

अभ्यंग स्नान और उत्सादन के योग—सरसों के तेल को चतुर्गुण छागमूत्र में सिद्ध करे। यह तेल अपस्मार में अभ्यंग के लिए प्रयुक्त कराना चाहिए।

उत्पादन में गोवर और स्नान में गोमूत्र का यथा योग्य रोगी व्यवहार करे।

१. करम्यादि तैलम्

२. पलगंषाद्यं तैलम्

प्रदेह और धूपन के लिए पिप्पल्यादि योग—पिप्पली, सेन्धा नमक सहिजन के बीज, हींग, हिङ्गुशिवाटिका (हिङ्गुपुत्री), काकोली सरसों, अकनासा (कौआठोड़ी), कैटर्य (पर्वतनिम्ब), चन्दन, कुत्ते के कन्धे की हड्डी, नख और पसलियाँ, इन्हें एकत्र पुष्य नक्षत्र में छागमूत्र से पीसें। यह अपस्मार में प्रदेह वा धूपन में प्रयुक्त होता है।

कैटर्य से गंगाधार ने कटफल और इन्दू ने पूति करन्ज का ग्रहण किया है।

नावनयोग—अपस्मार के रोगी को नस्य के लिये कपिला गौओं का मूत्र हितकर है। कुत्ता, गीदड़, बिल्ली और सिंह आदिमों में से किसी एक का मूत्र भी अपस्मार में नावन (नस्य) के लिए प्रशस्त कहा गया है।

१. भारंगी, वच, नागदन्ती की जड़, २. श्वेता (अपराजिता), श्वेता (करभी), विषाणिका (अजश्रृंगी अथवा मरोड़फली), ३. ज्योतिष्मती (मालकंगनी) नागदन्ती की जड़। श्लोक से एक-एक पाद में कहे गए इन तीनों योगों को गोमूत्र में पीसकर वैद्य रोगी को ५-६ बूँद की नस्य दें।

१. त्रिफलागं तैलम्

प्रधमन नस्य योग—पिप्पली, वृश्चिकाली (बिहारी) कुठ, पाँचों नमक, भारंगी, इनके चूर्ण का अपस्मार में प्रधमन नस्य देना चाहिए। नाड़ी यन्त्र में एक ओर चूर्ण डालकर मुख आदि की फूक से नासिका के अन्दर पहुंचायें।

कायस्थाद्य वर्ति—कायस्था (हड़ अथवा इलायची), शरद ऋतु में होने वाले हरे मूंग, मोथा, खस, जौ सौंठ, पिप्पली, काली मिर्च, इन्हें छागमूत्र से पीसकर वर्तियाँ बनायें। अपस्मार एवं उन्माद में और सर्पदष्ट गरदोषपीड़ित जिसने विष पीया हो तथा जल में मृत व्यक्ति के लिए अमृत के तुल्य हैं। इन वर्तियों का नेत्र में अंजन किया जाता है।

उपर्युक्त सिद्ध क्रियाओं द्वारा रोगी का हृदय प्रबुद्ध हो जाता है, स्रोत शुद्ध हो जाते हैं और वह स्मृति एवं संज्ञा को पाता है।

आगन्तु अनुबन्ध अपस्मार की चिकित्सा जिस अपस्मार में आगन्तु अनुबन्ध दिखाई दे उसमें वैद्य को आगन्तु उन्मादोक्त चिकित्सा करनी चाहिए।

ये आगन्तु-भूत आदि का अनुबन्ध दोषों के लियों से अधिक लक्षणों द्वारा जाना जाता है। जो दोषज अपस्मारों के लिए हैं उनकी अपेक्षा अधिक उस भूत के लक्षण देवें जो अनुबन्ध रूप से विद्यमान होगा।

अपस्मार चार ही होते हैं। परन्तु इनमें अनुबन्ध रूप में भूत वेश हो सकता है। स्वतन्त्रता से भूतवेश होकर अपस्मार नहीं होता उन्माद होता है। अतएव उन्माद को पांच प्रकार का कहा है।

प्रश्न – अतत्वाभिनिवेश क्या है ?

उत्तर—महानद (अतत्वाभिनिवेश) यह बड़ा ही विचित्र मानस रोग देखने में आता है। उक्त रोग बहुधा श्रीमानों अथवा पढ़े-लिखे लोगों में अधिक पाया जाता है। रोग का प्रारम्भ भी अपने ढंग का निराला होता है। आरम्भ में रोगी सहसा अन्यमनस्क रहने लगता। और शनैः-शनैः उस पर खण्ड निद्रा का आक्रमण होने लगता है, जो आगे चल कर पूर्ण अनिद्रा में परिणत हो जाता है, रोगी अधिक खिन्न हो जाता है, जैसे-जैसे उद्विग्नता बढ़ती है अनिद्रा उग्ररूप धारण कर लेती है सच ही रोगी शारीरिक छोटी-छोटी बातों को महत्व देने लगता है। समुचित निद्रा न आने के कारण शरीरगत वायु का प्रकोप आरम्भ होता है, और अवसाद-मलावरोग उपस्थित होते हैं। रोगी अपना व्यवसाय इत्यादि छोड़कर पूर्ण रूप से चिकित्सा में लग जाता है किन्तु किसी उपचार से उसे यथाभिलिषत लाभ नहीं होता है। रोगी स्वयमेव रोग की कल्पना करता और उसका अनुभव करता है और अपने कल्पित उष्ट का कार्मिक वर्णन, चिकित्सक, आत्मीयजनों एवं परिचायकों से बहुत ही बढ़ा-चढ़ाकर करता है। वह प्रतिक्षण अपने शरीर में कल्पित व्याधि के स्वरूप के ध्यान में रहता है। रक्तचाप न्यून हो जाता है। शरीर में दुर्बलता, रक्ताल्पता, पानशशोक्ति हीनता, स्पष्ट गोचर होने लगते हैं। विबन्ध और आध्मान तो उस रोगी के शरीर में डेरा ही डाल देते हैं। रोगी अत्यधिक, खिन्न, अस्थिर चित्त, त्रस्त और अशान्त हो जाता है, रात्रि में मूत्रत्याग की आवश्यकता बढ़ जाती है। हाथ, पांव के तलुओं में हर समय रोगी ठंडक का अनुभव करता है। जिस कारण निद्रा में भी और बाधा पड़ने लग जाती है निद्रा में व्याघात बढ़ जाने से रोगी एक दम व्याकुल और अशान्त हो जाता है और कभी-कभी यह आत्महत्या की भावना में परिणत हो जाता है, यद्यपि रोगी को आत्महत्या करने का साहस नहीं होता। रोगी निद्रा आने के लिए जितना ही अधिक प्रयत्न करता है वह उससे उतनी ही दूर हो जाती है। रोग की किसी भी चिकित्सा पद्धति में विश्वास नहीं होता किन्तु विचित्रता इस रोग की यह है कि रोगी एक दिन भी बिना औषधि सेवन के नहीं रह सकता। रोगी

को केवल वही बातें रुचिकर होती हैं जो वस्तुतः उसके स्वास्थ्य के लिए हानिकर होती हैं। रोग वर्षों चल सकता है और यदि किसी प्रकार रोगी को यह विश्वास हो जाता है कि वास्तव में रोगी के कोई ऐसा रोग नहीं है जिसके लिए वह इतना अधिक चिन्तित है तो रोग एक ही दिन में अच्छा भी हो जाता है। साथ ही इसका पुनरावर्तन अत्यन्त भयानक तथा घातक होता है। पाश्चात्य रोग विज्ञान में इनका नामकरण न्यूरस्थेनिया किया है। प्राच्य और पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति में कोई मतभेद नहीं है।

चिकित्सा—अतत्त्वाभिनिवेष के रोगी की सान्त्वना वचन, स्नेहसिक्त वचन, उत्साहवर्द्धक वचन। आश्वासनदायक वचन एवं शुश्रूषा द्वारा चिकित्सा का प्रारम्भ करें। चिकित्सक भी इस रोग में आक्रमति को यह न कहे कि उसे कुछ नहीं हुआ है, अपितु उसकी बातों को सम्पूर्ण सुनें और उसकी हाँ में हाँ मिलाकर उसी के कथित मार्ग पर उत्साहवर्द्धक एवं वायुशामक चिकित्सा प्रारम्भ करें। लघु, बलकारक, स्निग्ध अन्नपान व्यवस्था करनी चाहिए। रक्तभाव को न्यून करने वाली औषध आहार-विहार हानिकर होते हैं।

औषधि चिकित्सा—

१. सर्पगन्धा चूर्ण मात्रानुसार प्रातः सायं गोदुग्ध शतावरी स्वरस व मिश्री के साथ।

२. सारस्वतारिष्ट, द्राक्षारिष्ट जल मिश्रित मात्रानुसार भोजनोपरान्त दो बार।

३. योगेन्द्र रस, मरकल पिष्टी योग। अर्जुनत्वक् आदि मधु से मात्रानुसार दो बार।

४. कालानुसार यमान्यादि चूर्ण भी प्रयोग में लाना चाहिए।

५. निन्द्रा के लिए बारहसिंहे पर प्राप्त किए हुए कर्पूर का काजल भी नेत्रों में प्रयुक्त होता है।

प्रश्न—उन्माद किसे कहते हैं? क्यों उत्पन्न होता है? इसके विभिन्न भेदों का लक्षण एवं चिकित्सा सहित वर्णन कीजिए।

उत्तर—क्योंकि इस व्याधि में उन्मार्गगामी दोष ऊपर जाकर मद उत्पन्न करते हैं तथा यह व्याधि मानसिक है अतः उन्माद कहलाती है।

उन्माद के सामान्य हेतु—वीर्य आदि में विरुद्ध दुष्ट और अपवित्र भोजन, देव, गुरु एवं ब्राह्मणों का निरादर, अत्यन्त भय या हर्ष से उत्पन्न मानसिक

चोट, विषम चेष्टायें ये उन्माद के हेतु हैं।

सम्प्राप्ति—अल्पसत्व (जिनका मन दुर्बल हो अथवा जिसमें सत्त्व गुण की मात्रा अल्प हो) पुरुष के उन हेतुओं से दुष्ट हुए २ दोष बुद्धि के आश्रय-स्थान हृदय को दूषित कर मानो वह स्रोतों का आश्रय करके अर्थात् आवृत्त कर चित्त को मोहयुक्त कर देते हैं अर्थात् उन्माद उत्पन्न कर देते है।

उन्माद के सामान्य लिंग—बुद्धिविभ्रम मनोविभ्रम अथवा मन का अत्यन्त चंचल होना (थोड़ी देर बाद मन का विषयान्तर में चला जाना), दृष्टि का व्याकुल होना, अधीरता, असम्बद्ध बोलना, हृदय की शून्यता, यह उन्माद का सामान्य चिह्न है। चक्रपाणि इन्हें सामान्य पूर्व रूप कहता है।

स्मृति, बुद्धि एवं संज्ञा के नष्ट होने से वह मूढ़ चेता पुरुष न सुख न दुःख न अचार न धर्म को पाता है। अतएव शान्ति उसे कहाँ? उसका चित्त इतस्ततः भ्रान्त रहता है।

बुद्धि मन और स्मृति के विभ्रमस्वरूप उन्माद आगन्तु और निज (वात आदि) कारणों से उत्पन्न होता है। उन्माद का यह बुद्ध्यादिविभ्रम रूप स्वरूप निदान स्वरूप कहा जा चुका है।

उस उन्माद के पाँच प्रकार के उद्भव को पृथक्-पृथक् कहूंगा। उनके चिह्न और चिकित्सा भी पार्थक्येन कही जायगी। वात पित्त कफ सन्निपात, इस प्रकार निज चार और आगन्तु एक, ये पांच प्रकार का उद्भव है।

वातिकोन्माद के हेतु और सम्प्राप्ति—रूक्ष अल्प वा शीतल भोजन, वमन विरेचन, धातुक्षीणता, उपवास इन कारणों से अत्यन्त प्रवृद्ध वायु, काम शोक चिन्ता आदि मानस भावों से आक्रान्त हृदय को दूषित करके शीघ्र ही बुद्धि और स्मृति का उदघातक होता है अर्थात् उन्माद को उत्पन्न करता है।

वातिकोन्माद का रूप—रोगी अस्थान में हंसता मुस्कराता नाचता गाता बोलता अंगों से चेष्टायें करता और रोता है उनका देह पुरुष (कठोर) कृश एवं अरुण वर्ण का होता है। आहार के जीर्ण हो जाने पर बलवान हो जाता है।

पैत्तिक उन्माद का हेतु और सम्प्राप्ति—अजीर्ण कटु अम्ल विदाही तथा उष्ण आहार से संचित हुआ पित्त वेग करके अनात्मवान दुष्टमना पुरुष के

हृदय में आश्रित हो शीघ्र ही अत्यन्त उग्र उन्माद का पूर्ववत् (पातिकोन्माद में कही गयी सम्प्राप्ति द्वारा) कारण होता है।

पैत्तिक उन्माद का रूप—असहिष्णुता, सरंम्भ (आडम्बर करना) भंग होना, सन्तर्जन (धमकाना) अभिद्रवण (शीघ्र गति से चलना वा दौड़ना), उष्ठाता, रोष (क्रोध) छाया शीतल अन्न और शीत जल की अभिलाषा होना, देह की प्रभा पीली होना, ये पित्तज उन्माद के चिह्न है।

श्लैष्मिक उन्माद का हेतु और सम्प्राप्ति—अल्प चेष्टा करने वाले (जो श्रम नहीं करते ऐसे), पुरुष के भरपेट भोजन आदि द्वारा हृदय मर्म में प्रवृद्ध हुआ २ ऊष्मा युक्त कफ बुद्धि और स्मृति को नष्ट करके चित्त को मोहयुक्त करता हुआ विकार को उत्पन्न करता है। ऊष्मा का अर्थ कई पित्त करते हैं। अर्थात् कफ पित्तयुक्त होकर ही उन्माद को उत्पन्न कर सकता है। जैसे मूर्च्छा रोग में। अन्य ऊष्मा का अभिप्राय शक्ति से है—ऐसा कहते हैं। अर्थात् उत्कृष्ट शक्तियुक्त कफ उक्त सम्प्राप्ति द्वारा उन्माद को उत्पन्न करता है। दूसरे कहते हैं कि सब पाँच भौतिक हैं अतएव गुरु शीत आदि गुणयुक्त कफ भी अपने शीतविपरीत आरम्भ तेज उद्रेक से ऊष्मा के साथ प्रवृद्ध होता है। उन्माद में शीतगुण से कफ की वृद्धि नहीं होती। अर्थात् उन्माद के उत्पन्न करने में कफ के शीतगुण की अधिकता नहीं होती अतः उस समय कफ के आरम्भिक तेज की प्रबलता होती है।

श्लैष्मिक उन्माद का रूप—कफज उन्माद में रोगी थोड़ा ही बोलता है और अल्प ही चेष्टायें करता है। अरुचि होती है। उसे स्त्रियां प्रिय होती है। एकान्त में रहता चाहता है। अत्यधिक निद्रा आती है। कै होती है। लार टपकती रहती है। भोजन करते ही उन्माद बलवान होता है। रोगी के नख नेत्र आदि श्वेत वर्ण के होते हैं।

सन्निपातज उन्माद के हेतु लक्षण और असाध्यता—जो अत्यन्त घोर उन्माद त्रिदोष से उत्पन्न होता है वह उपर्युक्त समस्त हेतुओं से होता है। उसमें सब रूप होते हैं। उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती अभिप्राय यह है कि वातोन्माद आदि तीनों एक दोषज उन्मादों के हेतु होते हैं। जो उनके पृथक २ कहे गये हैं वे सब ही एकत्र सन्निपातज उन्माद के हेतु होते हैं। जो उनके पृथक २ रूप कहे हैं। उन तीनों दोषों के रूप ही एकत्र सन्निपातज में दिखाई देते है अतः दोष की चिकित्सा दूसरे को बढ़ा देती है अतः विरुद्धोपक्रम होने

से असाध्य है ।

आगन्तु उन्माद के हेतु—देव ऋषि गन्धर्व पिशाच यक्ष रक्षोगण तथा पितरों की अवमानना, मिथ्या प्रकार से किये गये नियम व्रत आदि और पौर्वदैहिक कर्म आगन्तु उन्माद के हेतु हैं ।

भूतोत्थ उन्माद के रूप—जिस रोगी की वाणी पराक्रम शक्ति और चेष्टा अमानुषिक हो, जो ज्ञान विज्ञान बल आदि में भी अमानुषिक हो, उन्माद का काल नियत न हो कभी किसी काल में उन्माद हो और कभी किसी काल में उसे भूतज उमान्द कहना चाहिए । 'भूत' से देव आदि सब का ग्रहण है । पुरुष जिस भूत से आक्रान्त होता है । उसमें वाणी बल ज्ञान स्मृति चेष्टा आदि तत्सदृश ही दिखाई देते हैं ।

जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब अथवा सूर्यकान्तमणि में आतप (धूप) अलक्षित भाव से प्रविष्ट होते हैं वैसे ही अदृश्य देव आदि पुरुष के देह को अधिक दूषित न करते हुए अपने २ गुणों के प्रभाव से अलक्षित भाव से शीघ्र आविष्ट होते हैं ।

भूतोन्माद के आघातकाल आदि—निदानस्थान में देव आदियों के आघात काल और पूर्वरूप कहे जा चुके हैं । अब इनके पृथक २ रूप काल (तिथि) तथा उनसे गम्य पुरुष का वर्णन करते हैं, उन्हें समझो ।

निदानस्थान में अ० ७ में आघातकाल कहे जा चुके हैं । यहाँ पर पूर्व उन देवग्रह आदि से आक्रान्त पुरुषों के लक्षण कहे जायेंगे और पश्चात् ये देव आदि ग्रह किन पुरुषों में और किस २ काल में आविष्ट होते हैं यह बतलाया जायगा ।

देवोन्मत्त के लक्षण—जो उन्माद का रोगी सौम्यदृष्टि, गम्भीर अधृकम (जिसे पराभूत न किया जा सके), अक्रोधी, निद्राहीन, भोजन में जिसकी अधिक अभिलाषा न हो, जिसमें पसीना मूत्र पुरीष और वायु की मात्रा अल्प हो, देह से शुभ गन्ध आती हो, खिले कमल के समान प्रफुल्ल वदन हो, उसे देवोन्मत्त जाने ।

गुर्वद्यु न्मत्त के लक्षण—जो गुरु, वृद्ध पुरुष (ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध) सिद्ध पुरुष और ऋषियों के अभिप्राय अभिचार वा अभिध्यान (चिन्ता) से उन्मत्त होते हैं । उनके आहार चेष्टा और वाणी आदि उस अभिशाप आदि के अनुरूप होते हैं । जैसा वे शाप देते हैं जिस प्रयोजन से अभिचार कर्म करते

हैं या जैसी उसके लिए चिन्ता की होती है रोगी में वैसे ही लक्षण दीखते हैं।

पितरों से उन्मत्त के लक्षण—जिसके नेत्रों से अप्रसन्नता टपके, जो किसी की ओर देखे नहीं, निद्रालु जिनकी वाणी रुकती हो, आहार में अभिलाषा न हो, अरुचि और अपचन से आक्रान्त रोगी को पितरों द्वारा उन्मत्त जाने।

गन्धर्वोन्मत्त के लक्षण—जो क्रूर वा उग्र साहसी तीक्ष्ण गम्भीर अवृष्य (जिसके बल को सहा न जा सके) हो, मुखवाद्य (मुख से बजाना) तथा धूप गन्ध आदि प्यारे हों, लालवस्त्र बलिकर्म हास्य कथा अनुयोग (पृच्छा, पूछताछ) में जिसे अनुराग हो, जिसकी देह से शुभ गन्ध आती हो, उसे गन्धर्वोन्मत्त जानें।

यक्षोन्मत्त के लक्षण—जो रोगी बारम्बार सोये, बारम्बार रोए या हंसे जिसे नृत्य गति बाजा पढ़ना कथा अन्नपान स्नान मालाधारण धूप गन्ध आदि में रुचि हो। जिसकी आँखें लाल और अश्रुपूर्ण हों, जो ब्राह्मण और वैद्यों की निन्दा करें—बुरा भला कहे, जो गोपनीय बात को कहने वाला हो उसे यक्षोन्मत्त जाने।

राक्षसोन्मत्त के लक्षण—जिसकी निद्रा नष्ट हो गई हो, अन्नपान में अभिलाषा न हो, जो आहार न खायें, अतुल बलशाली वस्त्र रुधिर मांस और लाल पुष्पों श्री माला का अभिलाषी, दूसरों की तर्जना करने वाला राक्षसोन्मत्त होता है।

ब्रह्म राक्षसोन्मत्त के लक्षण—हँसी मखौल की बात कहने वाले झूठ बोलने वाले देवता ब्राह्मण वैद्य से द्वेष रखने वाले एवं उनका तिरस्कार करने वले, स्तुति वेदमन्त्र एवं शास्त्रों के वाक्यों को पढ़ने वाले, लकड़ी आदि दण्ड से अपने को मारने वाले उन्मादी को ब्रह्मराक्षसोन्मत्त जानें

पिशाचोन्मत्त के लक्षण—पिशाचोन्मत्त पुरुष अस्वस्थ चित्त वाला, स्थान का न पाने वाला (जिसे कोई बैठने को जगह ही पसन्द न आवे) नृत्य गान और हंसने के शील वाला, सम्बद्ध भाषण करने वाला, संकटस्थान (भीड़ वाली जगह वा जहाँ बहुत सी वस्तुएँ इकट्ठी पड़ी हो), कूट (ऊँची जगह, पर्वत की चोटी आदि अथवा गृह अथवा ढेर), मलिन सड़कों वस्त्र, तृणरगर्श पत्थर आदि पर चढ़ने की वाला होता है। उसका स्वर भिन्न तथा रूक्ष होता

है। अर्थात् वर्ण रूखा सा और एक सा नहीं होता और स्वर भी टूटे पात्र के सदृश और करना होता है। यह नग्न, दौड़ने वाला, एक जगह न टिकने वाला, अपने दुःखों को प्रत्येक से कहने वाला, स्मृति रहित होता है।

सुश्रुत और चरक के आठ ग्रहों के परिगणन में केवल दो में भेद हैं चरक में जहाँ गुर्वाद्युन्मत्त और ब्रह्मराक्षसोन्मत्त कहे हैं सुश्रुत में वहां नामो नस्त और असुरोन्मत्त (देव शत्रुन्मत्त) कहे हैं। ग्रह यद्यपि असंख्य हैं परन्तु आचार्यों ने जो रोगी बहुधा मिलते थे उन्हीं का विशेष वर्णन किया है।

भूतों के आवेशकाल और गम्य पुरुष—देवग्रह छिद्र पाकर पवित्र आचार वाले तथा और स्वाध्याय के पण्डित पुरुष में प्रायः शुक्ल प्रतिपदा और त्रयोदशी में आविष्ट होते हैं।

ऋषिग्रह छिद्र पाकर स्नान परायण शुद्धाचार-सेवी एकांत में रहने वाले धर्मशास्त्र (स्मृति) श्रुति एवं काव्य में कुशल व्यक्ति को प्रायः षष्ठी और नवमी तिथि में आक्रांत करते हैं।

पितृग्रह छिद्र पाकर माता-पिता गुरु वृद्ध एवं आचार्य का सत्संग करने वाले व्यक्ति में प्रायः दशमी और अमावस्या में आक्रांत करते हैं।

गन्धर्वग्रह छिद्र पाकर स्तुति गाना, बाजा बजाना, इनमें शौक रखने वाले, परस्त्री इत्र, फुलेल आदि गन्ध तथा पुष्पमालायें जिन्हें प्यारी हैं एवं शुद्धा पर व्यक्ति में प्रायः द्वादशी और चतुर्दशी में आविष्ट होते है।

यक्षग्रह छिद्र पाकर सत्त्वबल रूप गर्व एवं शूरता युक्त, माला धारण चंदन आदि अनुलेपन तथा हास्य के प्रिय अति बोलने वाले पुरुष को प्रायः शुक्ला एकादशी और सप्तमी तिथि में आक्रांत करते हैं।

ब्रह्मराक्षस छिद्र पाकर स्वाध्याय तप नियम उपवास, व्रताचरण देव पूजा पतिपूजा तथा गुरुपूजा में रत पवित्राचार रहित ब्रह्मवादी अपने को शूर समझने वाली देवालय और जल क्रीड़ा के प्रिय पुरुष में प्रायः शुक्ला पंचमी और पूर्णमासी तिथि की आविष्ट होते हैं।

रक्षोगण और पिशाचग्रह हीन सत्व पिशुन (चुगलखोर) स्त्रैण और लोभी पुरुष को छिद्र देखकर प्रायः द्वितीया तृतीया वा अष्टमी तिथियों में पराभूत करते हैं।

इस प्रकार यह असंख्य ग्रहों में से अत्यन्त आविष्कृत (अत्यधिक पाये जाने वाले) आठ ग्रहों की व्याख्या करदी है।

असाध्य उन्माद रोगी—इन सब में जो उन्माद का रोगी हाथ उठाकर क्रोध से भरा हुआ संज्ञारहित होकर दूसरों को वा अपनों को मारता है उसे असाध्य जानें।

तथा उसके नेत्र अश्रुपूर्ण हों, मूत्रेन्द्रिय से रक्त आता हो, जिह्वा पर दांत से क्षत हो, नाक से जल बहता हो, मर्म (हृदय) में छेदनवत व्यथा हो जो वाणी से स्पष्ट न बोल सकता हो, रुकावट होती हो, निरन्तर अव्यक्त बोलता हो, विकृत अशुभवर्ण वाला, प्यास से अत्यन्त पीड़ित, जिसमें दुर्गन्ध आती हो और जो हिंसा के लिए उद्यत हो उस उन्मत्त को असाध्य जाने।

भूत वा ग्रहगण रतिकामना से जिस पर आक्रमण करते हैं एवं अर्चना (पूजा) की इच्छा से जिस पर आक्रमण करते हैं इन दोनों प्रकार के उन्मादियों को अभिचार से वा अभिशाप से उन्मत हुआ जानकर कामना वा पूजा के पूर्त्यर्थ उन-उन वस्तुओं को उपहार रूप में वा बलिरूप में देने के साथ-साथ मंत्र और औषध प्रयोग द्वारा उनकी चिकित्सा करें।

उन्मादकर भूतों के तीन प्रयोजन हैं, हिंसा, रति और अभ्यर्चना, हिंसार्थ उन्मत्त असाध्य होते हैं। शेष दानों साध्य हैं। उनकी चिकित्सा में उन-उन भूतों के प्रयोजन की पूर्ति आवश्यक होती है और इसके साथ ही मंत्र और औषधियों का प्रयोग भी करना होता है।

आधुनिक ग्रन्थों में उन्माद के विषय में निम्नलिखित प्रकार से लिखा है—

उन्माद, पागलपन (Mania Indanity)—फिरंग, राजयक्ष्मा हृदय, रोग मदात्यय सिर पर अभिघात, अंशुघात, तीव्र उपसर्ग। आंत्रिक ज्वर, मसूरिका आदि तथा बाह्य (स्थावर जंगम और रासायनिक) विषों में मस्तिष्क में विकृति होकर इस रोग की उत्पत्ति होती है। इसकी उत्पत्ति के पूर्व बेचैनी, सिरदर्द, अनिद्रा, दुःस्वप्न, चिड़चिड़ापन, विचार अस्थिर एवं अटपटे होना, स्मरण शक्ति का अभाव, धातु-क्षय आदि पूर्वरूप होते हैं। फिर अचानक अकारण ही अत्यन्त प्रसन्न हाना, गाना, नाचना, अत्यधिक एवं असम्बद्ध प्रलाप आदि लक्षणों के साथ रोग का आरम्भ होता है। यद्यपि रोगी प्रसन्नता की चेष्टायें करता है किन्तु वह बीमार व्यक्तियों के समान पीतांग एवं दुर्बल दीखता है साधारण सी बातों पर ही वह क्षुब्ध होकर शोर करता और गाली बकता है तथा मारने, पीटने तक को उद्यत हो जाता है। प्रतिक्षण उसके स्वभाव और

विचारों में परिवर्तन होता है। वह कुछ भी ऊल-जलूल बकता रहता है किन्तु यदि कोई भी उसकी बातों पर ध्यान नहीं देता तो वह दु:खी होता है। वह बहुत से काम करने की योजनायें बनाता है किन्तु एक को भी पूरा नहीं कर पाता। अक्सर वह अपने कपड़े फाड़ डालता और आस-पास की तोड़ सकने योग्य वस्तुओं को तोड़-फोड़ डालता है। रोगी को नींद बहुत कम आती है, २-३ घण्टे सो लेना पर्याप्त होता है। कुछ रोगी अखाद्य वस्तुओं को खाते हैं जैसे—मिट्टी, विष्ठा, कीलें, मशीनों के कल पुर्जे, पत्थर, लकड़ी आदि। अन्य गन्दी आदतें भी इन रोगियों में उत्पन्न हो जाती हैं। तरह-तरह की विचित्र कल्पनायें जैसे घर के लोग मुझे मार डालना चाहते हैं। उसके मस्तिष्क में उठा करती हैं और उन्हीं के अनुसार वह कार्य करता है। इस तरह की कल्पनाओं से अभिभूत होकर वह आत्महत्या या परहत्या भी कर सकता है। (तीव्र अवस्था)

उक्त दशा कुछ काल रहने के बाद रोगी काफी शांत हो जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि मानसिक विकृति बहुत अंशों में दूर हो गई है। इस दशा में भी ऊपर लिखित लक्षण कुछ-न-कुछ अंशों में अवश्य उपस्थित रहते हैं और यदि रोगी किसी कारणवश उत्तेजित हो जावे तो तीव्र अवस्था के समान लक्षण पुन: उत्पन्न हो जाते हैं। (सौम्य या चिरकारी अवस्था)

रोग अनिश्चित काल तक चलता रहता है और यदि उचित चिकित्सा न की गई अथवा चिकित्सा करने पर भी कुछ लाभ न हो तो कुछ काल में मृत्यु हो जाती है।

इसके अतिरिक्त इस रोग के निम्नलिखित सौम्य प्रकार होते हैं। इनमें मानसिक विकृति अल्प रहती है इसलिए लक्षण भी अल्प होते हैं, रोगी अपना दैनिक कार्य पूर्ववत् करता रहता है।

(क) शोकोन्माद (Metaucholia)—यह रोग अधिकतर प्रौढ़ावस्था या वृद्धावस्था में होता है। इसका रोगी अत्यन्त शोक, ग्लानि और पश्चात्ताप का अनुभव करता है जो या तो कल्पित अथवा पहले किए हुये कर्मों के प्रति रहता है। वह अत्यन्त दु:खी अवसाद-ग्रस्त और धर्मरत (संभवत: क्षमाप्राप्ति की आकांक्षा से) रहता है। सामान्यत: स्वास्थ भी ठीक नहीं रहता। कभी-कभी इस प्रकार का रोगी खाना-पीना छोड़ देता है अथवा आत्महत्या कर लेता है। अल्प चेष्टाओं में कोई अन्तर नहीं आता।

(ख) एकोन्माद (Mono Mania)—इस रोग में रोगी की कोई एक धारणा होती है जिसके अनुप्राय: हमेशा ही भ्रमपूर्ण हुआ करती है। रोगी सोचता है कि उसे विष दिया जाने वाला है अथवा कोई उस पर हमला करके अथवा उसके पीछे चोर इत्यादि लगे हुए हैं आदि। परन्तु इस प्रकार की धारणा एक ही हुआ करती है। कभी-कभी इस प्रकार के रोगी अपनी धारणा के वशीभूत हो पुलिस में रिपोर्ट करते हैं अथवा बड़े-बड़े अफसरों प्रधान मंत्री या राजा आदि को, पत्र लिखकर शिकायत करते हैं। इसके अतिरिक्त उनमें और कोई विकार नहीं होता, उनकी शेष बातचीत और धर्म फलान व्यवस्थित रहते हैं। इस उन्माद को कल्पनाजन्य उन्माद (Delusional Insanity) भी कहते हैं।

(ग) महोन्माद अथवा चारित्रिक उन्माद (Megalo-mania or moral Monia)—इस उन्माद का रोगी अत्यन्त उच्च प्रकार के विचार एवं आचरण रखता है। वह दूसरों के आचरण देखकर दुःखी होता एवं उनके प्रति दया भाव रखता तथा उन्हें उपदेश देता है। वह अपने आपको ईश्वर पुत्र, ईश्वर दूत, धर्मगुरु या नेता समझता है। वह सारी दुनिया को अपने विचारों के अनुकूल चलाना चाहता है। अपनी शक्ति को वह अत्यधिक समझता है, इस प्रकार का रोगी अत्यन्त दुर्बल होते हुए भी अपने आपको संसार का सबसे बड़ा पहलवान घोषित कर सकता है अथवा अत्यंत गरीब होते हुए भी १०-,० लाख रुपये दान करने की घोषणा कर सकता है।

(घ) चौर्योन्माद (Kleptomania)—इसके रोगी में चोरी करने की प्रवृत्ति रहती है। यह व्यर्थ ही चोरी करता है अनावश्यक, व्यर्थ की एवं ऐसी चीजें चुराता है जिनका कोई मूल्य नहीं। इस प्रकार की वस्तुएँ चुराकर कुछ देर रखकर वह फेंक भी सकता है। वास्तव में वह किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि आत्म संतोष के लिए चोरी करता है।

(ङ) तृषोन्माद अथवा मद्यपानोन्माद (Dipsomania)—यह उन्माद उनमेंपाया जाता है जिनके पूर्वज मद्य पी रहे हों किन्तु स्वयं वे नित्यप्रति मद्यपान न करते हों। इन रोगियों को समय-समय मद्यपान करने की उत्कृष्ट इच्छा होती है और ऐसे मौकों पर वे अत्यधिक शराब पीते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकृति नहीं रहती।

(च) प्रज्वालनोन्माद (pyeomania)—इसके रोगी में आग लगाने की प्रबल इच्छा रहती हैं। वह मौका मिलने पर अकारण ही किसी के मकान आदि में आग लगा देता है।

(छ) परवधोन्माद (Homicidal mania)—इसके रोगी में किसी का अकारण वध करने की अदम्य इच्छा रहती है।

(ज) आत्मवधोन्माद (Suicidal Mania)—इसके रोगी में अकारण ही आत्महत्या करने की प्रबल इच्छा रहती है।

(झ) कामोन्माद (Eratomania)—इस उन्माद में अत्यधिक मैथुनेच्छा होती है रोगी समय-समय पात्र-कुपात्र अविचार नहीं करता। अन्य कोई विकार नहीं रहता।

३. विस्मृति (Dementia or Confisional Insanity)—इसका रोगी सब कुछ भूल जाता है यहां तक कि वह अपना नाम आदि भी नहीं जानता। उसके मन में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ उठती रहती हैं जिनसे वह दुःखी एवं भयभीत रहता है। उसका चेहरा मटमैला और जिह्वा मलयुक्त रहती है। यह दशा भी एक प्रकार का उन्माद ही है किन्तु इसमें रोगी विकृत चेष्टायें नहीं करता। निदान उन्माद के ही समान है।

४. वैल्लका उन्माद, तीव्र प्रलाप उन्माद अथवा तीव्र प्रलाप (Bell's Mania, Accle delirious mania or Acele delirium)—यह एक अत्यंत विरल रोग है तथा इसका कारण अनिश्चित है। इसका विस्तृत वर्णन सर्वप्रथम डा० वैल्ल (Dr. Bell) ने किया था इसके पूर्व कई विद्वानों ने मस्तिष्क ज्वर (Brain Fever) या महा प्राचीरा प्रलाप (phrenitis) नाम से इसका उल्लेख किया था। (आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में इसका वर्णन प्रलाप सन्निपात, चित्तविभ्रम सन्निपात, भूतहास सन्निपात आदि नामों से किया गया है।) यह रोग अत्यन्त मारक एवं शीघ्रकारी है तथा मृत्यूत्तर-परीक्षा में कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण विकृति शरीर में नहीं पाई जाती जिसे इसका हेतु माना जा सके। यह अवश्य है कि मस्तिष्कावरण और धूसर मस्तिष्क-शल्क की शिराओं में रक्ताधिक्य पाया जाता है।

बेचैनी, क्षोभ, चिड़चिड़ापन अनिद्रा आदि पूर्वरूप २-४ दिन रहने के बाद अथवा अचानक ही अत्यन्त तीव्रता से उन्माद का आक्रमण होता है। रोगी विचित्र कल्पनायें करता और उनके अनुसार बकवाद करता, रोता, गाता,

हंसता, मारता काटता एवं भागता है। अपने कपड़े फाड़ डालता है और कमरे में की चीजें तोड़ डालता है। आत्महत्या अथवा परहत्या कर सकता है या ऐसे काम कर सकता है जिससे उसे या दूसरों का सांघातिक चोट पहुंच जाती है। उसकी वातचीत असम्वद्ध और अर्थहीन होती है अथवा कोई सुने या न सुने वह बकता जाता है। उसे नींद विल्कुल नहीं आती और ज्वर रहता है जो आरम्भ में हल्का रहता है और ५-६ दिन वाद क्रमश: बढ़कर १०२°, १०४° या इससे अधिक भी हो सकता है नाड़ी कमजोर एवं तीव्रगामिनी रहती है। जिह्वा शुष्क एवं मलयुक्त रहती है तथा त्वचा पर उम्देय प्राये जा सकते हैं। वीच-वीच में रोगी थककर कुछ देर के लिए शांत हो सकता है। नींद न आने और अत्यधिक चेष्टायें करने से अत्यन्त थकावट और शीपता आती है, लगभग एक सप्ताह में अधिक से अधिक तीन सप्ताहों में निपात (Collapsl) होकर मृत्यु हो जाती है।

५. फिरंगज सर्वागंधात अथवा सर्वाघात—यह उन्माद (Collapsl-lysis of the Insane)—यह रोग फिरंग रोग के उपसर्ग के ५-२० वर्ष वाद उत्पन्न होता है। उपसर्ग होने पर जिन्हें वर्ण नहीं उत्पन्न होते अथवा जो अधूरी चिकित्सा से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं उनके शरीर में फिरंग—चक्राणु गुप्त रूप से निवास करते हुए मस्तिष्क आदि में विकार उत्पन्न करके इस रोग की उत्पत्ति करते हैं। मस्तिष्क को रक्त पहुंचाने वाली वाहिनियों की दीवारें मोटी एवं अवरुद्ध हो जाती हैं जिससे मस्तिष्क में रक्तचाप होकर अपुष्टि होती है। उसके फलस्वरूप तथा वातनाड़ियों पर सीधा प्रभाव पड़ने से उनमें भी विकृति आ जाती है।

प्रारम्भ में मानसिक अस्थिरता, भावुकता, चिड़चिड़ापन आदि लक्षण होते हैं। स्मरणशक्ति क्रमश: कमजोर होती जाती हैं तथा तर्क, बुद्धि, विवेक, सिद्धांत, शिष्टता-विचार आदि सम्बन्धी शक्तियों का लोप होता जाता है। चित्त अवसादयुक्त रहता है और गुस्सा जल्द ही आ जाता है। चित्त में तरह तरह की कल्पनायें उठती हैं जैसे रोगी कमजोर होते हुए भी अपने को अत्यन्त बलवान समझता है, कम पढ़ा-लिखा होने पर भी अपने को एक बहुत बड़ा विद्वान समझता है। अथवा निर्धन होते हुए भी अपने को अत्यन्त धनी समझता है। सिर दर्द और नींद की कमी रहती है। कुछ रोगियों में रोग कल्पनोन्माद (Hypochendriasis) और कुछ में उन्माद के तीव्र लक्षण भी

पाये जाते हैं। नेत्रों की अपुष्टी होती है, नेत्रों तारिकाओं की गति अनियमित और असमान हो जाती है और प्रतिक्रिया प्रकाश की अल्प रहती है कुछ मामलों में अक्षितारिका शोघ (papilloedema) दृष्टिक्षय आदि भी पाये जाते हैं। हाथों ओष्ठों, और गलों की पेशियों से काम लेते समय उनमें सूक्ष्म कम्प होते हैं तथा बोलते समय जीभ बाहर निकलने का प्रयत्न करती है। रोगी झिझकता हुआ एवं हकलाता हुआ बोला करता है। विशेषत: जीभ और दाँत से बोले जाने वाले अक्षर स्पष्ट नहीं उच्चारित होते हैं। इसी प्रकार के काम करते समय, लिखते समय हाथ कांपता है। किसी प्रकार के अपस्मार के दौरे समय २ आ सकते हैं। कुछ मामलों में कुछ समय के लिए शरीर के कुछ भाग में रक्तसंवहन क्रिया अवरुद्ध हो जाती है जिससे अर्धांगघात या एकांग-घात के समान लक्षण होते हैं।

मांसपेशियां कमजोर हो जाती हैं जिससे थकावट जल्द आती है। फिर कुछ काल बाद मुकुलमार्ग प्रभावित हो जाने से रंतत्रिक अधरांगघात (paraplegia) हो जाता है जिससे पैर, गुदा और मूत्रमार्ग की संकोचिनी पेशियाँ बेकार हो जाती हैं। कूछ मामलों में खंजता भी पाई जाती है। धीरे-धीरे कल्पना उत्तेजना आदि की दशायें समाप्त होकर विस्मृत (Dementia) हो जाती है। रोगी विस्तर से लग जाता है और बोलने आदि की मानसिक क्रियायें करने में असमर्थ हो जाता है। शय्याव्रण हो जाते हैं। कुछ रोगियों को इस समय बेचैनी और अनिद्रा अधिक सताती है। कुछ काल में किसी अन्य दोष की उत्पत्ति होकर मृत्यु हो जाती है। रोगकाल ३-४ वर्षों का है। प्रामाणिक अवस्था में चिकित्सा करने पर रोग सुखसाध्य है किन्तु बाद की अवस्थाओं में केवल जीवन काल बढ़ाया जा सकता है, विकृतियां पूर्णतया नहीं सुधारी जा सकतीं।

रोगविनिश्चय मस्तिष्क सुपुम्ना द्रव की परीक्षा से होता है। बढ़ा हुआ दबाव लसकापाणु ५० से ५०० तक प्रतिघन Cm. और वृत्ति (वर्तुलि, globulin) ४० से १०० Mg. तक प्रति १०० घन Cm. म० सु० द्रव में मिलना निदानात्मक है। रक्त और म० सु० द्रव में वासरमैन की प्रतिक्रिया अस्त्यात्मक रहती है। म० सु० द्रव की लैंची की स्वर्ण चूर्ण प्रतिक्रिया विशेष प्रकार का फल देती है जो अत्यन्त रोगविनिश्चयात्मक है।

६. रोग कल्पनोन्माद ओहन (Hypochondriasis)—यह एक अत्यन्त

दुखदायी मानसिक विकार है जिसमें रोगी अपने शरीर में विभिन्न प्रकार की व्याधियों की कल्पना करता है जबकि वस्तुतः उसे इस प्रकार की कोई शिकायत नहीं रहती। वह व्यर्थ ही अपने घर के लोगों तथा चिकित्सकों को परेशान किया करता है। यदि किसी प्रकार कोई चिकित्सक उसकी एक कल्पना कर लेता है वह अक्सर चिकित्सकों की निन्दा किया करता हैं और गर्व के साथ कहा करता है कि मैंने अपनी व्याधि पर इतना खर्च किया परन्तु लाभ कुछ भी न हुआ। वह एक के बाद एक चिकित्सकों के पास जाता है और उसे कहीं भी सन्तोष नहीं होता। अन्त में वह समझ लेता है कि मेरी व्याधि किसी दुष्ट कर्म का फल है अतएव चिकित्सा से अच्छी न होगी। इस प्रकार उसका रोग शोकोन्माद (melancholia) में परिवर्तित हो जाता है।

अक्सर इसके रोगी सामान्य किन्तु गम्भीर व्याधियों की कल्पना करते हैं जैसे कर्कराबुद, राजयक्ष्मा आदि। कुछ रोगी विचित्र कल्पनायें भी करते हैं जैसे मेरे दिमाग को कीड़े खाये डाल रहे हैं अथवा मेरे पेट में एक साँप बैठा है जो मेरा खाया हुआ भोजन खा जा जाता है और ऊपर नीचे गति करता है इत्यादि। यदि चिकित्सक उसकी बातों में विश्वास नहीं करता तो रोगी उसे मूर्ख समझता है। इस प्रकार के रोगियों को किसी भी प्रकार यह विश्वास कराना अत्यन्त कठिन होता है कि उसका रोग काल्पनिक है।

यह रोग अधिकतर मध्यम आयु में होता है और इसके होने से आयु पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, रोगी काफी समय जीते हैं।

चिकित्सा—

वातज उन्माद की चिकित्सा—विशेपज्ञ वैद्य वातज उन्माद में पूर्व-स्नेध्यान करवादे। परन्तु कफपित्त द्वारा आहत होने से वायु रुका हो तो अल्प स्नेहयुक्त मृदु शोधन (वमन या विरेचन) करवाना उचित है।

पित्तज या कफज उन्माद की चिकित्सा—कफ पित्तज उन्मादों में स्नेहन और स्वेदन के पश्चात् आदि में रोगी को वमन या विरेचन कराना चाहिए। यदि पैत्तिक उन्माद हो तो विरेचन यदि श्लैष्मिक हो तो वमन करवायें। जब सम्यक्त या शोधन हो जाये तब रोगी को पेया आदि संसर्जन क्रम का पालन करना चाहिए।

संसर्जन क्रम के अनुपालन से सबल हुए रोगी तदन्तर दोष के अनुसार निरुह स्नेहवस्ति (अनुवसन) व शिरोविरेचन करवायें। इन वमन विरेचन और

स्नेहवस्ति को दोष की मात्रा के अनुसार बारम्बार करना चाहिए।

वमन आदि द्वारा हृदय इन्द्रियां सिर और कोष्ठ के शुद्ध हो जाने पर रोगी का मन प्रसन्न या निर्मल हो जाता है और वह स्मृति और संज्ञा को प्राप्त करता है।

आचार भ्रंश में वमन आदि द्वारा शुद्ध पुरुष को तीक्ष्ण नस्य देना, तीक्ष्ण अंजन करना, ताड़ना एवं मन बुद्धि तथा देह को उद्विग्न व दुःखी करना हितकर है अथवा यदि शोधन के पश्चात् भी उन्माद नष्ट न हो तो तीक्ष्ण नस्य आदि है।

जो विनय में समर्थ है—आचार विभ्रष्ट नही उसे सुदृढ़ सुखकर वस्त्र पदों से बांधकर ठेले लकड़ी पत्थर आदि से रहित अन्धेरी कोठरी में बन्द कर देना चाहिए।

मन को प्रकृति में लाने के उपाय—वर्जन (धमकाना), त्रास उत्पन्न करना, दान, सान्त्वना, हर्षण (मन मे हर्ष उत्पन्न करना), भय और विस्मय ये मन को विस्मृति के हेतु उन्माद मे प्रकृति (स्वभाव) की ओर ले जाते हैं अर्थात् उन्माद को नष्ट कर देते है। अथवा उन्माद के हेतु को भुला देने वाले होने से मन को स्वस्थावस्था में ले आते है।

मन, बुद्धि और स्मृति और संज्ञा को जानने वाले स्नेह उबटन अभ्यग धूमपान और घृतपान का प्रयोग करना चाहिए।

आगन्तु उन्माद की चिकित्सा—आगन्तु उन्माद मे घृतपान आदि और मन्त्र आदि के विधान अभीष्ट है। अभिप्राय यह है कि इसमे युक्ति व्यपाश्रय और दैवव्यपाश्रय दोनों चिकित्सायें होती है। युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा निजोन्माद की चिकित्सा में कह दी है।

१. हिङ्ग्वाद्यं घृतम्।

अब उन्माद के नाशक सिद्धतम योगों को सुनो।

१. कल्याणक घृतम्।

२. महाकल्याणकं घृतम्।

३. महापैशाचिक घृतम्।

४. लशुनाद्य घृतम्।

५. द्वितीय लशुनाद्यं घृतम्।

उन्माद के रोगी को वैद्य पुरातन घृत पिलावें। पुरातन घृत त्रिदोष नाशक

है और पवित्र होने से विशेषतः ग्रहों से मुक्त करता है। देर तक खड़ा रहने से गुणकर्मों में दूसरे घृत से श्रेष्ठ हैं। स्वाद में कटुक्ति होता है।

दस वर्ष के रखे हुए घी में से भी अधिक काल तक भी यदि रखा जाय। तो वह लाक्षारस के समान शीतल होता है यह प्रशुणघृत (अत्यन्त पुरानार्थी) कहाता है। यह मेधा के लिए हितकर, श्रेष्ठ विरेचन कारक होता है। यह सब ग्रहों को नष्ट करता है।

१०० वर्ष के रखे हुए घी (प्रयुणाघृत) के लिए कुछ भी असाध्य नहीं वह देखने छूने व सूंघने से ही सब ग्रहों को नष्ट करता है। यह अपस्मार और भूतोन्माद में विशेषतः प्रशस्त है।

यदि इन औषध वर्गों का पान द्वारा प्रयोग न हो सके अथवा कार्य सिद्ध न हो सके तो उन्हीं का अंजन उवटन लेप तथा नस्य आदमियों द्वारा प्रयोग करावें।

अपामार्गाविर्जनम्।

सिद्धार्थकादि अगद—श्वेत सरसों, वच, हींग, करंजवीज, देवदारु, मंजिष्ठा, हरड़, वहेड़ा, आँवला, श्वेता (श्वेत अपराजिता) कटभि (काटकिशिरीप) की छाल, हल्दी, दारुहल्दी, इन अठारह द्रव्यों को सपरिमाण में छागमूत्र से पीसें यह अगद है। इसे पान अंजन नस्य लेप स्नान उवटन आदि द्वारा प्रयोग कराया जाता है। यह अगद अपस्मार विष उन्माद कृत्या अभिचार देवता अलक्ष्मी ज्वर तथा भूतों से होने वाले भय को नष्ट करता है और राजद्वार यदिन्यायालय में प्रशस्त माना गया है अर्थात् इसके धारण से विजय होती है।

यदि रोगी के मुख से लार वहती हो व प्रतिश्याप हो तो ज्वरचिकित्साधिकारोक्त अगर आदि गन्ध द्रव्यों से अलावा वैरेचनिकधूम में कहे गये श्वेता (अपराजिता) मालकंगनी हड़ताल मनसिल और हिंग, इससे धूमवर्ति वनाकर धूमपान करे। गन्ध द्रव्यों में तगर और कुष्ठ का प्रयोग सामान्यतः नहीं किया जाता।

प्रायः वातकफज उन्माद में शल्लक (सेह), उल्लू, विल्ला, गीदड़, भेड़िया, वकरा, इनके मूत्र पित्त पुरीष लोम नख और चर्मों से यथायोग्य परिषेक अंजन प्रधमन नस्य और धूप देना चाहिए।

पैत्तिक उन्माद में तिक्तक घृत, जीवनीपघृत, मिश्रकस्नेह तथा अन्य मधुर एवं मृदु अन्नपान प्रशस्त हैं।

विज्ञ वैद्य को चाहिए कि वह उन्माद में विषमज्वर में अथवा अपस्मार में शखंदेश व के शान्त सन्धि में सिरामेक्षण (फस्तखीलना) करे।

अथवा रोगी को पुराना घी और मांस भर पेट खिलाकर निवातगृह में सुख से सुला दे। रोगी मति-स्मृति-विभ्रंश अर्थात् उन्माद को त्याग सज्ञालाभ कर जागता है। अर्थात् जब वह जागता है तो उसे उन्माद नहीं होता।

अथवा रोगी को कोई उसका मित्र धर्म अर्थ से पूर्ण वचनों से आश्वासना दे अथवा रोगी को कोई इष्ट के विनाश का समाचार कहे अर्थात् रोगी को जिससे बहुत प्यार हो ऐसे पुत्र आदि की मृत्यु का समाचार कह दें अथवा रोगी को अद्भुत आश्चर्योत्पादक दृश्य वा पदार्थ दिखावें।

अथवा देह पर सरसों का तेल चुपड़ कर वस्त्रवह आदि से बाँध कर धूप में उत्तानावस्था में अर्थात् चित्त लेटा दें। अथवा कोंच की फली अथवा अच्छे गरम लोहे तेल वा जल का स्पर्श करावें। कौंच की फली के स्पर्श से असह्य कण्डू होती है।

अथवा उन्मादी को अच्छी प्रकार बाँध कर चाबुकें लगायें और पीछे उसे निर्जन कोठरी में बन्द कर दें, जिससे भ्रान्त हुआ चित्त शान्त हो जाये।

जिसकी दाढ़ निकाल ली हो ऐसे सांप से, वश में किये हुए सिंह से हाथी से अथवा जिनके हाथ में शस्त्र हो ऐसे डाकुओं और शत्रुओं से रोगी को त्रास उत्पन्न करें।

अथवा राजपुरुष रोगी को अच्छी प्रकार बाँधकर बाहर ले जाय और वहाँ उसे धमकाते हुए राजा की आज्ञा से वध करने का भय दें। अर्थात् वे पुरुष धमकाते हुए उन्हें कहें कि हमें राजा ने तेरे वध करने की आज्ञा दी है। हम तुझे अभी मार डालते हैं।

अतः दैहिक दुःखों में सबसे बढ़कर प्राण भय है। अतः प्राण भय होने से रोगी का सर्वतः विभ्रष्ट हुआ मन शान्त हो जाता है—उन्माद नष्ट हो जाता है।

जिसके मन पर किसी इष्टवस्तु के विनाश के कारण आघात पहुंचा हो और वह उससे उन्मादी हो गया हो तो उसी को उसी के सदृश वस्तु की प्राप्ति सान्त्वनापूर्ण वचनों का आश्वासन से शान्त करें।

काम, शोक, भय, क्रोध, हर्ष, ईर्ष्या, लोभ इन कारणों से उत्पन्न मनोविघात (उन्माद) को परस्पर विरुद्ध इन्हीं भावों से शान्त करे। अर्थात् यदि काम जहां तो क्रोध वा भय उत्पन्न करके, यदि हर्षज हो तो शोक उत्पन्न करके शान्त करे। अन्य भावों से उत्पन्न मनोविघातों को भी प्रतिद्वन्द्वी भावों को उत्पन्न कर शान्त करना चाहिये।

दोषज और भूतज उन्माद में देश उम्र सात्म्य दोषकाल बलाबल आदि का विचार करके ही उपर्युक्त सम्पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिये।

बुद्धिमान वैद्य देव ऋषि पितर गन्धर्व, इन ग्रहों से उन्मत्त हुए पुरुष को तीक्ष्ण अंजन नस्य आदि करवाये और नाहीं उनके प्रति बांधना कशाघात आदि क्रूरकर्म करें। उनकी घृतपान आदि द्वारा मृदु चिकित्सा करनी चाहिए। पूजा बलि उपहार मन्त्रविधान अंजन विधान शान्तिकर्म इष्टि (यज्ञ) होमजप स्वस्त्ययन वेदोक्त नियम और प्रायश्चित्त करवाये।

प्रयत्नशील पुरुष भूतों के अधिपति जगत् के स्वामी परमेश्वर की नित्य पूजा करता हुआ उन्माद से उत्पन्न होने वाले भय को जीत लेता है।

रुद्र के प्रमथ नाम के गण जो इस लोक में विचरते हैं उनकी पूजा से भी पुरुष उन्माद से मुक्त हो जाता है।

आगन्तुक उन्माद—बलि मंगल कर्महोम औषधि धारण अगद धारण सत्य सदाचार तप ज्ञान दान नियम व्रत का पालन और देव गुह्यक ब्राह्मण एवं गुरुओं की पूजा तथा सिद्ध मन्त्र वा औषधों से शान्त होता है।

अत: उन्माद और अपस्मार के हेतु और द्रव्य एक ही हैं अत: जो अपस्मार चिकित्सा में उपदेश किया जायगा वह भी उन्माद में करना चाहिये।

जो मद्यमांस का सेवन नहीं करता जो हिताहार करता है प्रयत्नशील पवित्र तथा सत्वगुणान्वित पुरुष निज और आगन्तुक उन्मादों से ग्रस्त नहीं होता।

विगतोन्माद के लक्षण—*इन्द्रिय विषय बुद्धि आत्मा तथा मन की प्रसन्नता* तथा धातुओं का प्रकृतिस्थ होना (समता) ये उन्मादमुक्ति के लक्षण हैं।

प्रश्न—कम्पन एवं ताण्डव का चिकित्सा सहित वर्णन कीजिए।

उत्तर—कम्पन (Tremour)—एक रोगी जिसमें नियमपूर्वक हिलना शरीर के किसी भाग में रहता है, तब उसकी अवस्था कम्पन की होती है। शरीर के किसी एक या अधिक भागों का तलबद्धतापूर्वक अनैच्छिक रूप में

हिलते रहना कम्पन है, जिसमें कि मांसपेशियों में क्रिया होती रहती है (Antogonists)।

कम्पन के कारण—वियजन्य कारण

१. अवटु ग्रन्थि की वृद्धि
२. चिरकालीन पानात्यय
३. तमाखू का विष (Nicotin Poisoning)
४. पारदविष मस्तिष्क में अवयव सम्बन्धी विकार
५. पार्किनसोविज्म
६. ः।पटो - टोव्यूलर डिजनरेशन
७. फिरंगसर्वानिघात
८. विकीर्ण जरठ्ताजन्य काठिन्य (Disseminated Selercsis)
९. फ्रीड्रिक का एटैक्सीया (Friedreichs Ataxia) सहजरोग
१०. मस्तिष्क का अर्बुद
११. जरावस्था का कम्पन

क्रियाजन्य कारण—

१२. उद्वेगजनित न्यूरोसिस
१३. हिस्टीरिया
१४. पारिवारिक कम्पन वच्चों में
१५. स्पाजमस न्यूटेन्स (Spasms Natana)

कम्पनों की उत्पत्ति विप के कारण से भी हो सकती है। इनको जानने के लिए रोगी को कहना चाहिए कि वह अपने दोनों हाथों को सामने की ओर लम्बा फैलाये, अंगुलियों को फैलाकर रक्खे, तव कम्पन उसके करपुष्ट पर देखे जा सकते हैं, या अनुभव किए जा सकते हैं। विपजन्य कम्पनों में निम्न कारण रहते हैं, यथा—अवटु ग्रन्थि की अति वृद्धि जिसके साथ में हृदय की द्रुतगति, अवटु ग्रन्थि की वृद्धि, पलक का अपकर्षण, आंख का वाहर आना और कार्श्य रहता है। चिरकालीन मद्यपान और तमाखू विष (अधिक हुक्का या सिगरेट पीने से) तथा भारी धातु विपों से विशेषत: पारद और सीसक विप के कारण विषैले कम्पन होते हैं।

कम्पन मस्तिष्क के अवयव सम्बन्धी विकार के परिणाम रूप भी हो जाते हैं—यह कम्पन स्ट्रायेटल स्तब्धता (Striatal Rigidity) के साथ में मिलते

यथा—पार्किनसोनिज्म में या हिपॅटोलैन्टीक्यूलर डिजनरेशन में, फिरंगज, सर्वांगघात में कम्पन अनियमित रूप के होते हैं, ये जिह्वा और ओठों में प्रायः होते हैं, अथवा रोगी से लिखवाकर देख सकते हैं। प्रायः इनका भ्रम सामान्य उद्वेग (Simple Nesrousness) से हो जाता है। पुतलियां अनियमित और असमान रहती है, उत्तेजना का अभाव, उदासीनता भाव (Apathy)। बिना कारण के चिढ़ना, क्रोध, काम में भूल करने के इतिहास से इनका पता चलता है। सन्देहात्मक अवस्था में ब्रह्मवादी की परीक्षा से निर्णय ठीक हो जाता है। सारे शरीर में व्यापक रूप से कम्पन विकीर्ण जरठता (Disseminated Sclerosis) में मिलते हैं, ऐच्छिक कम्पन भी इस रोग मे मिलते हैं। ऐच्छिक कम्पन केवल स्थूल ऐच्छिक चेष्टाओं में ही मिलते हैं। इसमें शिर तेजी से निरन्तर हिलता रह सकता है, शिरः कम्प (Tiribation) कम्पन, ऐच्छिक कम्पन और शिरःकम्प फ्रिड्रिक के एटैक्सिया (Friedreich's Ataxia) सहज रोग, जो कि तरुणावस्था या युवावस्था में स्पष्ट होता है, में मिलते हैं। कण्डराओं के प्रत्यावर्तनों का इसमें अभाव रहता है, वाणी तुतलाती रहती है। मस्तिष्क के सम्मुख खण्ड में, मध्य मस्तिष्क में या कोर्पस कोलोज्म में अर्बुद होने पर कम्पन एवं पार्श्व में होते हैं। जरावस्था के कम्पनों में, या बड़ी आयु में हुए कम्पनों में अंग या शिर सतत हिलता तहता है।

क्रिया सम्बन्धी कम्पन (Functional Tremars)—ये मानसिक उद्वेग जन्म बेचेनी (Anxiety Neuroris) का परिणाम होते हैं हिस्टीरिया रोग के कम्पनों का अवयव सम्बन्वित रोग के कम्पनों से भेद करना प्रायः कठिन होता है। तथापि इन की पहचान निम्न प्रकार से होती है—इनका, प्रारम्भ सहसा होता है, पीछे से उत्तेजक आघात होने लगते हैं। ये कम्पन, आदेशों या निर्देशों से कम किये जा सकते हैं अथवा पूर्णतः कम हो सकते हैं। यदि स्तब्धता भी हो तो ये हिस्टीरिया जन्य होते हैं, अर्थात् यदि इनको रोकने के लिए दूसरा व्यक्ति बल या शक्ति लगाये तो इनमें प्रतिरोध अधिक नहीं मिलता (Cogwheal) रूप में कम्पनों को रोकने के लिए जितना बल प्रयोग करते हैं, उतना ही प्रतिरोध अधिक मिलता है, वह इसमें नहीं होता।

पारिवारिक कम्पन (Familiar Tremar)—ये ऐच्छिक रूप के होते हैं, कम मिलते हैं। निर्बल बच्चों में स्पाज्मस न्युटंन्स (Spafmur Nutars) होता है, तस्तवद्धता रूप में सिर हिलता रहता है, आंख की पेशिया अनिच्छा रूप से

जल्दी-जल्दी गति करती है (Nystagms) सुलुलित चक्षु। रोगी का स्वास्थ्य सुधार दिया जाये तो पूर्वकथन उत्तम है। प्राय: फेक्क रोग को इसका कारण माना जाता है। काड लिवर ऑयल आयुर्वेद में अश्वगन्धा का उपयोग अश्वगन्धा घृत, कुमार कल्याण इसका, उपयोग होता है, सिताकाश्मर्य मधुकैः 'हितगुत्थापनेपय:'। धूप, उत्तम भोजन देना चाहिए।

अनियमित एवं उद्वेष्टन युक्त अनैच्छिक गतियाँ, जो कि माँस पेशी समूह में विश्राम के समय होती हैं और परिश्रम से बढ़ जाती हैं, जो कि चेहरे के दोनों पार्श्वों में मिलती हैं, जो कि पीछे से अर्धांग रूप से शाखाओं में फैल जाती हैं, ऐच्छिक गतियां एक साथ में नहीं होती (Inco ordinate) इस अवस्था का नाम ताण्डव (Chorca) है।

ताण्डव (Chorea)—इस रोग में गति अनियमित, झटका लिये, लगातार और असम्बन्धित रूप में होती है। यह अवस्था अन्य नर्व सम्बन्धित रोगों में भी लक्षण और चिन्ह के रूप में मिलती है। यह लक्षण छः रोगों में भिन्न-भिन्न कारणों से देखने में आता है, यथा—

१. आमवात जन्य ताण्डव
२. हन्टिंगरन का ताण्डव (Hintingtn's chorea).
३. निन्द्रालसी रोग (Encephalitis cettargica).
४. सहज ताण्डव
५. मस्तिष्क में रक्तस्राव के कारण ताण्डव
६. हिस्टीरिया जन्य ताण्डव

आमवात जन्य ताण्डव (Rheumatic Chorea)—यह आमवात जन्य मस्तिष्क शोथ की अवस्था है, जो कि स्वस्थ हो जाता है, जिससे हृदय में क्षति होती है, प्राय: करके छोटे बच्चों में या तरुण व्यक्तियों में ५ वर्ष से २० वर्ष की आयु में मिलती है, लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में तीन गुण अधिक मिलते हैं।

लक्षण—इस आमवात रोग का इतिहास—दर्द का होना, गले में सूजन, का निरन्तर बने रहना, आमवात जन्य ग्रंथियाँ या त्वचा पर सुर्खी, प्राय: करके मिलती है। प्राथमिक लक्षण (१) उद्वेग जनित चंचलता, बच्चा जल्दी से थक जाता है, चौंकता है। इस रोग का आक्रमण प्राय: धीरे-धीरे होता है। दस वर्ष की आयु में भी रक्त की कमी दीखती है, मुख में छाले होते हैं, कई बार

भूख कम हो जाती है। बच्ची ध्यान नहीं देती, बेचैन रहती है, प्राय: जल्दी से गुस्सा हो जाती है, बिना किसी कारण के हँसती या रोती है, उसकी गति या चेष्टायें प्राय: शिथिल रहती हैं, हाथ से प्राय: वस्तु नीचे गिर जाती है। (२) प्रारम्भिक लक्षण—चेहरे और अंगुलियों में अनैच्छिक गतियों का होना है कन्धों को हिलाना या ऊपर नीचे करना है। (३) बहुत से रोगियों में ये गतियाँ बढ़ जाती हैं, शाखाएँ और वृक्ष भी आक्रान्त हो जाते हैं। ये प्रायः बदलती रहती हैं, जल्दी से प्रारम्भ होती है और जल्दी समाप्त हो जाती है। इनके साथ में ऐच्छिक गतियाँ भी मिल सकती हैं। प्रत्येक क्रिया में बहुत सी मांसपेशियाँ और यहाँ तक कि सन्धियां भी भाग लेती हैं, जिससे कि गतियाँ बहुत क्लिष्ट हो जाती हैं। आक्रमण के समय ऐच्छिक गति बढ़ी होती है परन्तु आक्रमण के बीच में घट जाती है। चेहरे की मांसपेशियाँ अनियमित रूप में संकुचित होती हैं, इससे सिलवटें आ जाती हैं, मुस्का कोन बन जाता है, जिह्वा, अक्षिमोलक तथा तालु एवं आस्य की मांस पेशियां भी इसमें भाग लेती हैं। रोगी से जिह्वा दिखाने के लिए कहने पर वह सहसा बाहर कर देता है, कई बार अन्दर और बाहर करता रहता है। या दांतों से काट लेता है। ऊर्ध्व शाखायें प्राय: अधिक प्रभावित होती हैं। इसमें हाथ कलाई पर मुड़ जाते हैं और अँगुलियाँ सीधी तन जाती हैं, फैली रहती है, इनमें विवर्तन (Pronatior) तथा आयवर्तन (Supination) होता रहता है। यदि हाथों को सिर के ऊपर ले जाया जाये तब हथेली बाहर की ओर रहती है। अधो शाखायें भी आक्रान्त हो जाती हैं, चाल अस्थिर होती है और कभी-कभी चलना असम्भव हो जाता है, एक समय टांगें एक दूसरे से दूर हो जाती हैं और इसके पीछे तुरन्त ही कैंची की भाँति आपस में मिल जाती हैं। वक्ष की मांसपेशियों के संकोच से भिन्न-भिन्न अवस्था में होती है। श्वास क्रिया की मांसपेशियाँ भी आक्रान्त हो जाती हैं, जिससे श्वास की गति और नियमता बदल जाती है। जब रोगी गहरा श्वास लेता है तब वक्षोदर मध्यस्थ पेशी फूल जाने के स्थान पर अन्दर को दब जाती है। रोगी तुतला कर बोलता है, निगलने में कुछ कठिनाई होती है।

दूसरे भाग की अपेक्षा एक भाग के अंग अधिक प्रभावित होते हैं, विशेषतः बाय भाग के। मांसपेशियाँ दुर्बल, सुस्त, जल्दी थकने वाली और कई बार आंशिक पक्षाघात भी रहता है, जिससे आगे चलकर अपूर्ण वक्षस्थ की अवस्था

आ जाती है। पक्षाघात के परिवर्तन एक तन्तु से दूसरे तन्तु में बढ़ते जाते हैं, कई बार ये परिवर्तन तीव्र रूप में होते हैं। बच्चा पीठ के भार असहाय अवस्था में पड़ा रहता है, हाथ-पाँव मुड़े रहते हैं। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ताण्डव गति दीखती है। सामान्यतः रोग साध्य हैं और स्वस्थता हो जाती है।

पुतली प्रायः फैली होती है, कभी-कभी अनियमित होती है, कपटियाँ स्वस्थ रहती हैं, उत्तान प्रत्यावर्तन ठीक रहते हैं। आम वात वाले रूप में हृदय कपारियों रोग प्रायः मिलते है।

कारण—मस्तिष्क शोथ का रोग है, इस रोग का कारण आमवात का संक्रमण है, जो कि कोर्पस स्ट्रायरम (Corpurstriutam), मस्तिष्क के धूसर पदार्थ (Ceredsal Cortex) एवं एरेक नायड (Pia-aserchnoid) को प्रभावित करता है। यह रोग भारत में बहुत कम है, भारतीयों से पृथक लोगों में जहाँ मिलता है, वहाँ बच्चे में आम वात या नर्व रोग का इतिहास मिलता है। भय, अधिक श्रम, उद्वेग और गर्भावस्था (प्रायः प्रथम गर्भ) कई बार इसको बढ़ा देते हैं।

पूर्व कथन—बहुत से रोगी ६ सप्ताह से ६ महीने में स्वस्थ हो जाते हैं, दूसरे तीव्र रोगी देर तक खिचते हैं। हृदय के उपद्रवों का होना सदा सम्भावित रहता है।

चिकित्सा—रोगी को सुन्दर आकर्षण घर में रखना चाहिये उसे गरम रखना चाहिए। उसे बिस्तर पर आराम दें। पोषक और मन के अनुकूल भोजन देना चाहिए। चम्मच से नासा मार्ग से भोजन देना जरूरी हो वैसे दे। औषधियों के सम्बन्ध में दस से १२ वर्ष तक के बच्चों को एस्थापरीन ग्रेन १० दिन में तीन बार देनी चाहिए। लाइकर आरसैनिक कैलिस दो बूँद (धीरे-धीरे बढ़ाये) दें। क्लोरेपेन ५ ग्रेन और क्युनीम भी लाभ करती है। ब्रोमाईड्स का देना भी उत्तम है, यदि बेचैनी हो तो फिनोबार्बीरोन या हायोसीन हाईब्रोमाइड १/२०० ग्रेन दिन में दो या तीन बार दें। रुग्ण अंग पर शनैः-शनैः मालिश (मापतैल की) करनी चाहियें, आघात या चोट से अंग को बचाना चाहिए।

शक्तिवर्द्धक औषध—लोह, कैलसियम, कौड़ लिवर-ऑइल देना उत्तम है बच्चे का जल्दी दैनिक कार्यों में नहीं लगाना चाहिए। बच्चे को अफीम

वाली कोई भी वस्तु नहीं देनी चाहिए ।

आयुर्वेद में—कम्प और ताण्डव दोनों अवस्थाओं के लिए स्वर्ण का और घृत का उपयोग मुख्य रूप से होता है। इसके लिए वृहत् वात चिन्तामणि, चतुर्मुख, योगेन्द्ररस ये उत्तम औषधियाँ हैं। इनको ब्राह्मी स्वरस या वच और कूट के चूर्ण के साथ और मधु से देना चाहिए। घृतों में अश्वगन्धा घृत ब्राह्मी घृत उत्तम हैं, मालिश के लिए माष तैल या सप्तप्रस्थ महामाष तैल वरतना चाहिए अंग को विलेशम पशुओं की खाल में लपेट कर रखना चाहिये।

प्रश्न—मद, मूर्च्छा और संन्यास का हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा सहित वर्णन कीजिए ?

उत्तर—मद मूर्च्छा तथा संन्यास की सम्प्राप्ति—अपथ्यभोजी रज एवं मोह से आच्छादित है आत्मा जिसका ऐसे पुरुष के जब कुपित हुए २. पृथक्-पृथक् वा मिले हुए दोष रक्तवाही, रसवह तथा संज्ञावह स्रोतों को रोककर वहीं ठहर जाते हैं, तब मद, मूर्च्छा तथा संन्यास नामक रोग हो जाते हैं। बुद्धिमान वैद्य को इन्हें हेतु लिंग (लक्षण) तथा शान्ति में क्रमशः बल में अधिक जानना चाहिए। अर्थात् मद से मूर्च्छा बलवान है और मूर्च्छा से संन्यास।

दुर्बल चित्त के स्थान पर जब वायु पहुंच जाता है तब पुरुष के मन को निक्षुब्ध करता हुआ संज्ञा (होश) को मुग्ध कर देता है, संज्ञा को खराब कर देता है। इसी प्रकार पित्त और कफ भी मनुष्यों को विक्षुब्ध करते हुए संज्ञा को व्याकुल कर देते हैं। चित्त का स्थान (Center) मस्तिष्क में है। अथवा टीकाकारों ने हृदय को चित्त का स्थान माना है। यहाँ पर सामान्य रूप से सम्प्राप्ति कही गई है।

अब विशेष लक्षण पृथक-पृथक कहे जाते हैं—

वातमद से आक्रान्त पुरुष के लक्षण—रुक-रुक कर वा अव्यक्त, बहुत और जल्दी बोलने वाले, जिसकी चेष्टायें अस्थिर एवं स्खलित हों जैसे जब चलता हो तो ऐसा प्रतीत हो कि जैसे फिसल गया हो इत्यादि उसे तथा साथ ही जिसकी आकृति रुक्ष, श्यामवर्ण व अरुणवर्ण की हो, उसे वातमद से आक्रान्त जाने।

पित्तमद के लक्षण—जो पुरुष क्रोध युक्त हो, कठोर वचन बोलता हो, उसे पैत्तिक मद से आक्रान्त जानें।

कफ मद के लक्षण—जो पुरुष क्रोध युक्त हो, कठोर वचन बोलता हो, तन्द्रा एवं आलस्य से युक्त हो, पाण्डु वर्ण हो, किसी ध्यान में मस्त रहता हो, उसे कफ मद से आक्रान्त जाने।

सन्निपातिक मद के लक्षण—सन्निपातज में उपर्युक्त तीनों दोषों के मद के सम्पूर्ण लक्षण होते हैं।

इस मद में मद्यजन्य मद के तुल्य लक्षण होते हैं, यह शीघ्र ही उत्पन्न होता है और शीघ्र ही शान्त हो जाता है। अर्थात् इसका दौरा शीघ्र ही आ जाता है और शीघ्र ही हट जाता है।

जो मद्य से उत्पन्न होने वाला, विषज वा रक्तज मद कहा जाता है—जैसा कि सुश्रुत उत्तर तन्त्र ४६ अ में 'वाताादिभिः शोणितेने मद्येन च विषेण च'। द्वारा कहा गया है। वे सब मद भी वात, पित्त, कफ, सन्निपात के विना नहीं होते। अतएव उनका भी इन्हीं में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए।

चक्रपाणि तो कहता है कि इस श्लोक से आचार्य ने मद्यज तथा विषज मद को भी वातज, पित्तज, कफज एवं सन्निपातिक भेद से चार-चार प्रकार का बताया है।

वातज मूर्च्छा के लक्षण—वातज मूर्च्छा में आकाश को नीलवर्ण, काला अथवा अरुण वर्ण को देखते हुए अन्धकार आ जाता है। पुनः वह पुरुष शीघ्र ही होश में आ जाता है। तथा जिसमें वेपथु (काँपना), अँगमर्द, हृदयदेश की पीड़ा; कृशता एवं शरीर की छाया श्याम वा अरुण (ईंट सा लाल) हो, उसे वातज मूर्च्छा जानना चाहिए।

पित्तज मूर्च्छा के लक्षण—पित्तज मूर्च्छा में आकाश के मेघ के सदृश अथवा घने अन्धकार से घिरा हुआ देखते हुए आँखों के सामने अन्धेरा आ जाता है इसमें होश देर से आती है। होश आने पर अंग ऐसे भारी प्रतीत होते हैं जैसे गीले चमड़े से आच्छादित हो। लार बहती है। जी मचलाता है।

सन्निपातज मूर्च्छा के लक्षण—सन्निपात से तीनों दोषों की मूर्च्छाओं के लक्षण होते हैं। अपस्मार की तरह सन्निपातिज मूर्च्छा का दौरा आकर परन्तु वीभत्स (घृणित) चेष्टाओं के बिना पुरुष को शीघ्र ही गिरा देता है। अर्थात् जैसे अपस्मार में रोगी एकदम गिर जाता है और उसे चोट आदि लग जाती है, वैसे ही सान्निपातिक मूर्च्छा में भी। परन्तु अपस्मार में मुँह से झाग निकलना,

जिह्वा का करना, दाँतों का भींचा जाना आदि वीभत्स लक्षण भी होते है, वे इसमें नहीं होते।

मदमूर्च्छा से संन्यास की विभिन्नता—देहियों में दोषों के वेग का दौरा पूरा कर चुकने पर मद तथा मूर्च्छा स्वयं शान्त हो जाती है। अर्थात् चाहे औषध न भी दें तो भी दौरा हट जाता है पर संन्यास में दोषों का वेग औषध के विना अन्त नहीं होता। अर्थात् जब तक होश में लाने के लिए उपयुक्त तीक्ष्ण नस्य आदि औषध न दी जायगी, तब तक संन्यास का रोगी काष्ठवत् वेहोश पड़ा रहेगा।

संन्यास की सम्प्राप्ति—अति बलवान् तीनों दोष प्राणायतनों (हृदय आदि) में आश्रित हुए २ वाणी, देह और मन की चेष्टा को नष्ट कर निर्बल प्राणी को संन्यास का शिकार बना लेते हैं—निःसंज्ञ कर देते है। वह मनुष्य संन्यास के रोग से निःसंज्ञ हुआ २ काष्ठ के समान (सर्वथा क्रिया रहित) तथा मरे हुए के सदृश होता है। यदि इस रोग में सद्यःफल के देने वाली चिकित्सा न की जाये तो वह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होता है। अर्थात इस रोग में तत्काल ही होश में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। "प्राणापत" शब्द से रक्त और शिर का भी ग्रहण किया जा सकता है। वित का ही ये प्रकरण है और प्रथम "प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते" ये कहा जा चुका है और शिर में संज्ञावह तथा चेष्टावह नाड़ियों के केन्द्र हैं और उनसे दोषों द्वारा आक्रान्त होने पर मूर्च्छा, संन्यास आदि रोग हो जाते हैं।

अतः 'प्राणपतन' से शिर वा मस्तिष्क का भी ग्रहण किया जाता है। यह इसी अध्याय में पूर्व ही कहा जा चुका है कि मद, मूर्च्छा एवं सन्यास में रक्तवह रसवह, तथा संज्ञावह स्रोतों को वात, पित्त, कफ तीनों दोष अवरुद्ध कर वहीं ठहर जाते हैं।

पाश्चात्य मत—

१. मूर्च्छा (Syncope)—मस्तिष्क में रक्त की कमी हो जाने से मूर्च्छा होती है। अत्यन्त थोड़े से समय में ही मस्तिष्क में आवश्यकतानुसार रक्त पहुंच जाता है और मूर्च्छा दूर हो जाती है। इसके कारण रक्तवाहिनियों अथवा हृदय से सम्बन्धित रहते है। इसलिए उनके मतानुसार इसके दो भेद किये जाते हैं—(१) वाहिनी जन्य मूर्च्छा और (२) हार्दिक मूर्च्छा।

(i) वाहिनीजन्य मूर्च्छा (Vascular syncope)—इसके पुनः तीन भेद हैं।

(अ) मन्याविवर्ट संरूप (Corotidsinus syndrome)—कुछ व्यक्तियों का माया-विवर अत्यन्त सम्वेदनशील रहता है जिससे वहां किंचित दवाव पड़ते ही मूर्च्छा आ जाती है। त्वचा पीताभ हो जाती है और आक्षेप भी उत्पन्न हो सकते हैं। मूर्च्छा लगभग आधे मिनट में ही दूर हो जाती है किन्तु मानसिक अस्थिरता कुछ अधिक काल तक रहती है।

(ब) आसन परिवर्तनजन्य मूर्च्छा (Postural syncope)—इस प्रकार की मूर्च्छा अधिकतर वृद्ध व्यक्तियों को भोजन के बाद खड़े होते समय, नीचे झुकते समय प्लैहिक रक्तवाहिनियों में रक्त रुक जाने के कारण आ जाती है।

(स) प्राणदा-धमनी आवेग (Varo-Vagal Attuchu)—यह मूर्च्छा प्राणदा नाड़ी (Vagus Nem) के कार्य में गड़बड़ी होने के फलस्वरूप रक्त प्रवाह में बाधा पहुंचाने से उत्पन्न होती है। अत्यन्त गम्भीर एवं लम्बी बीमारियों से क्षीण एवं दुर्बल हुए अथवा अत्यन्त थके हुए और दुर्बल व्यक्तियों को खड़े होते समय, दुर्बल प्रकृति के व्यक्तियों को पीड़ा, दुख या भय पहुंचने पर तथा हृत्कपारों के चिरकारी रोगों की अवस्था में प्राणदा धमनी के अतिकार्यशाली हो जाने से हृदय-गति एवं रक्तनिपिड़ का ह्रास होकर इसकी उत्पत्ति होती है। मूर्च्छा आने के पूर्व घवराहट अवसाद, हृल्लास। (अथवा मल त्याग की इच्छा) और दृष्टिमान्य आदि रूप होते हैं। इसके वाद ही मूर्च्छा उत्पन्न हो जाती है। इस समय त्वचा पीताभ एवं अत्यधिक प्रस्वेद युक्त हो जाती नाड़ी प्रारम्भ में तीव्र रहती है किन्तु बाद में अत्यन्त घट जाती है। कभी-कभी आक्षेप भी उत्पन्न हो सकते हैं। मूर्च्छा २ से १० मिनटों में दूर हो जाती है किन्तु अवसाद, वेचैनी आदि लक्षण कई घण्टों तक रहते हैं।

(ii) हार्दिक मूर्च्छा (Cardiae Syncape) हृत्स्तम्भ (Heart block) शीघ्र हृदयता (Tachy Cardia), हृदय की पेशियों की सौत्रिक परिवर्तन (Fbroid Changes of the Heart muscles) अन्य वायदा धमनी के रोगों के कारण हार्दिक मूर्च्छा उत्पन्न होती है यह मूर्च्छा अपेक्षाकृत अधिक काल तक रहती है तथा इसमें नाड़ी अत्यन्त दुर्बल एवं मन्द रहती

है और पीताभता अधिक स्पष्ट रहती है। इसके अतिरिक्त लेटे रहने की दशा में इसका अधिक आक्रमण कदापि नहीं होता।

अत्यधिक परिश्रम के कारण उत्पन्न होने वाली मूर्च्छा भी इसी कोटि में आती है रोगी इसके पूर्व पूर्णतया स्वस्थ हुआ करता है किन्तु अचानक शक्ति के बाहर परिश्रम से मूर्च्छा आ जाती है, अवसाद, भ्रम, हृल्लास वमन, नाड़ी-गति तीव्र, क्षुद्रश्वास, हृदयाग्र भाग में पीड़ा आदि लक्षण होते हैं तथा हृदय के दक्षिण भाग का अतिपात होता है रोगी काफी समय तक के लिये काम-काज करने में असमर्थ हो जाता है।

२. संन्यास (Coma)—यह पूर्ण संज्ञाहीनता की दशा है जिसमें से रोगी को आसानी से जगाया नहीं जा सकता। रोगी इस प्रकार पड़ा रहता है जैसे सो रहा हो और घर्घराहट युक्त श्वास चलती है। गम्भीर प्रकार के संन्यास में संकोचिनी पेशियाँ ढीली पड़ जाती हैं जिससे मल-मूत्रादि का विसर्जन अनैच्छिक रीति से होने लगता है तथा कई प्रकार के प्रतिक्षेप नष्ट हो जाते हैं। अत्यन्त सौम्य प्रकार के संन्यास को तन्द्रा (Stupors) कहते हैं, यदि तन्द्रा की उपेक्षा की जावे तो अन्त में संन्यास हो जाता है। संन्यास की उत्पत्ति निम्न कारणों से होता है—

१. अभिघात—खोपड़ी पर जोरदार अभिघात लगने के कारण अस्थिभग्न अथवा रक्तस्राव होकर मस्तिष्क का सम्पीडन या स्तब्धता होना।

२. मस्तिष्कगत रक्तसंवहन में गड़बड़ी—मस्तिष्क एवं उसके समीपस्थ भागों की किसी धमनी में घनास्त्रता, अन्तःशल्यता अथवा उसमें रक्त स्राव, शरीर के अन्य अवयवों के रोगों के कारण रक्ताल्पता अथवा मस्तिष्क तक रक्त पहुंचने में रुकावट।

३. मस्तिष्कगत रोग—प्रदाह, मृदुता, जठरता, अर्बुद, विद्रधि, रक्तार्बुद आदि तथा अपस्मार के उपद्रव।

४. हिस्टीरिया—इसमें अधिकतर लाक्षणिक अचेतनता के ही आवेग आते हैं किन्तु कभी-कभी संन्यास भी पाया जाता है।

५. विष—मद्य, आहिफेन, नाग, क्लोरोफार्म, ईथर, इन्सलीन, क्लोरल, हाइड्रेट, वारविच्युरेट, ब्रोमाईड, कार्वनमोनोक्साइड, कार्बन डाइआक्साइड, कार्वोलिक ऐसिड, गांसवार, फासफोरस आदि।

६. तीव्र संक्रामक ज्वर—प्रधानतः तन्द्रिक ज्वर (Trypane somiasis)

आन्त्रिक ज्वर, गम्भीर तृतीयक विषमज्वर, पीतज्वर, अग्निरोहिणी प्लेग, (plague), मस्तिष्कावरण, प्रदाह, दोषमयता आदि।

७. अंशुघात—

८. आभ्यन्तर विष—मूत्रमयता, मधुमेह, ऐडिसिन का रोग, अम्लोत्कर्ष (Acid esis), आवटुका विकारजन्य, श्लेष्म शोथ (Myxoedeme), तीव्र अकृत शोथ (Acute Hepatic Neerosis) आदि के आभ्यन्तर विष।

९. कृमि रोग—गण्डूपद कृमि (केंचुएं, पटार)

१०. वायुनिपीड़ में सहसा परिवर्तन—डुबकी लगाने अथवा राकेट आदि में ऊँची उड़ान भरने के कारण।

११. अन्तिम दशायें—कालज्वर (Kale azar) वैनाशिक रक्तक्षय (Perni cieus Anamia), श्वेतमयता (Leukacmia), यकृद्दाल्युत्कर्ष आदि रोगों की।

संन्यास किसी भी कारण से हो, सदैव ही घातक माना जाता है। कुछ प्रकारों को छोड़कर शेष सभी प्रकार का संन्यास असाध्य है। इतिहास तथा लगभग सभी प्रकार की परीक्षाओं के आधार पर कारण तक पहुंचने का प्रयास करना चाहिए। रोगी के हृदयादि की रक्षा करते हुए कारण की चिकित्सा करने पर ही आरोग्य-प्राप्ति की सम्भावना रहती है।

जैसे अत्यन्त गहरे पानी में डूबते हुए पात्र को तल पर पहुंचने से पूर्व ही शीघ्रता से निकालना पड़ता है, वैसे ही बुद्धिमान वैद्य को चाहिए कि संन्यास से पीड़ित पुरुष को अन्तिम अवस्था पर पहुंचने से पूर्व ही बड़ी शीघ्रता से रोगी को बचाने का प्रयत्न करना चाहिए। जितनी देरी होती जाएगी रोगी को बचाना उतना ही कठिन होता जायगा। इसमें शीघ्रातिशीघ्र चिकित्सा करनी चाहिए।

सद्यःफला क्रिया (Emergency medicine)—(तीक्ष्ण) अंजन, अवपीड (नाक में रस आदि का निचोड़ कर देना), धूम (नाक से धुँआ) देना वा जैसे अमोनिया (Ammonia) सुंघाया जाता है, प्रधमन (चूर्ण रूप नस्य जिसे मुख की फूंक वा विशेष प्रधमन यन्त्र द्वारा नाक में दिया जा सकता है) सुइयां वा शस्त्रों का चुभाना, दाह करना, नख और उसके मांस के मध्य में सुई आदि चुभो कर पीड़ा करना, केश और लोमों को उखाड़ना, दांत से काटना और कौंच की फली का रगड़ना ये क्रियायें संन्यास के रोगी को होश में लाने के

लिए हितकर हैं। कौंच की फली पर बहुत से रोयें होते हैं, जिनसे असह्य कण्डू होती हैं।

विविध प्रकार की तीक्ष्ण मद्यों को मिलाकर जिसमें मरिच, पिप्पली आदि कटु द्रव्य प्रभूत मात्रा में डाले गये हों, वारम्बार रोगी के मुख में प्रयत्न से डालें अर्थात् उस समय रोगी का मुख बन्द होता है, प्रयत्न से उसे खोलकर उसे एक नाली उसकी अन्नप्रणाली में पहुंचा दें उस नली के बाहर के मुख से मद्य डाल दें। ऐसा बार-बार करें।

इसी प्रकार सोंठ के चूर्ण से युक्त मातुलंग (बिजौरा) का रस रोगी के मुख में बार-बार डालें तथा उसी प्रकार मद्य तथा खसी कांजी से युक्त सौवीर में हींग और काली मिर्च (अथवा पिप्पली) डालकर रोगी के गले से नीचे उतरना चाहिए जब तक रोगी होश में न आ जाय।

जब रोगी होश में आ जाय तब लघु अन्नों से चिकित्सा करें। विस्मय को उत्पन्न करने से, इष्ट विषयों के स्मरण कराने से, रोगी के मन को प्रिय कथा आदि के सुनाने से, चतुर पुरुषों के गाने बजाने से, स्त्रसन्न (विरेचना) उल्लेखन (वमन), धूमपान, अजन, कवलधारण, रक्तमोक्षण, व्यायाम, उद्घर्षण (अम्पग न करके उबटन आदि मलना) इनके द्वारा बुद्धिमान वैद्य होश में आये हुए रोगी के अनुबन्ध की निरन्तर चिकित्सा करें अर्थात् रोगी को होश आने पर यह समझना चाहिए कि सम्पूर्ण दोष हट गया है। उसमें अभी दोष बचा रहता है, जिससे पुनः उसी प्रकार का संज्ञानाश हो जाया करता है। अतः उससे बचाने के लिए बचे हुए दोष की विस्मयोत्पादन आदि द्वारा चिकित्सा अवश्य करनी चाहिए। उस रोगी के मन को, डुबोने वाले कारणों से बचाए रखना चाहिए। रोगी के सामने ऐसी कोई चेष्टा न करनी चाहिए जिससे रोगी का मन डूबने सा लगे नहीं तो उसको फिर वही दौरा हो जायेगा। इसकी चिकित्सा में इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है।

अर्थात् अत्यधिक प्रवृद्ध दोषों वाला पुरुष जब तक के अत्यधिक बढ़ा होने से मूर्च्छित होकर होश में नहीं आता ऐसा संन्यास रोगी अति कष्टसाध्य होता है। इसकी शीघ्र तीक्ष्ण अंजन आदि द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। यदि क्रियाओं से होश में न आये और रोगी को आनाह हो, लालास्राव हो, श्वास बहुत कठिनता से आता हो तो उसे असाध्य जाने। जब होश में आ जाय तो तीक्ष्ण वमन, तीक्ष्ण अनुलोमन (विरेचन) आदि द्वारा शोधन करके

ओज के गुणों के विपरीत हैं—अतः 'विशेष' होने से ओज का नाश करेंगे और इस तरह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध होंगे। यह गुण ही विष में हैं और विष प्राणनाशक कहा गया है। अतः हम यह किस प्रकार स्वीकार करें कि मद्यपान स्वास्थ्य के लिए हितकारक हो सकता है वह तो स्वास्थ्य के लिए अहितकारक द्रव्य है। परन्तु महर्षि चरक ने जिस मद्य से मदात्य नामक रोग की उत्पत्ति बताई है। उसे ही एक हितकारक पेय बताया है। यहां पर उसकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि—"देवराज इन्द्र सहित देवताओं से जिसने पुराकाल में प्रतिष्ठा पाई थी, सौत्रामणि यज्ञ में जिसकी आहुति दी जाती है, जो यज्ञ कर्मों में प्रतिष्ठित है। जो यज्ञ का वहन करने वाली है। जिसके द्वारा सोमरस के अत्यन्त पान से निर्बल ओजरहित और अन्धकार से आच्छन्न इन्द्र का उस दुःख से उद्धार किया गया था, यज्ञ करते हुए महात्माओं की यज्ञ की सिद्धि के लिए जिसका दर्शन या स्पर्शन करना अभीष्ट है और उस समय जिसकी प्रकल्पना की जाती है, जो यज्ञ के लिए हितकारक है, जो योनि, संस्कार तथा नाम आदि विशेषताओं से बहुत प्रकार की होती है। जो अमृतरूप में देवताओं को, स्वधा होकर पितरों को और सोम ही कर द्विजातीयों या ब्राह्मणों को उत्तम कल्याणों से युक्त करती है। जो अश्विनी कुमारों का महान तेज है, जो सरस्वती का बल है, इन्द्र का वीर्य है और जो सिद्ध की हुई सौत्रामणि यज्ञ में सोमरस रूप होती है। जो शोक, अरति, भय, उद्वेग को नष्ट करती है, जो महाबल देने वाली है जो प्रीति, मति, वाणी, पुष्टि और शान्ती है। जिस सुरा को देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस तथा मनुष्यों ने रतिनाम से कहा है, उस सुरा को विधिपूर्वक पान करना चाहिए।"

उपर्युक्त गुणों को तभी करेगी जबकि उसका विधिपूर्वक प्रयोग किया जाए। उसकी विधि बताते हुए कहा गया है कि—"देह का संस्कार आदि द्वारा संस्कार करके, पवित्र, उत्तम चन्दन आदि गन्धों का अनुलेपन कर, तीव्र सुगंधों से युक्त एवं ऋतुओं के अनुकूल निर्मल वस्त्र धारण कर, विचित्र विविध पुष्पमालाओं को धारण करके, रत्न और आभूषणों से भूषित होकर देवता और ब्राह्मणों की पूजा तथा उत्तम मंगल द्रव्यों का स्पर्श करके, ऋतु के अनुसार प्रशस्त देश में, जहाँ फूल बिखरे या बिछे हुए हों, जो संवास के लिए अभीष्ट हो, श्रेष्ठ हो, धूप की गन्ध से अभीष्ट हो, जहाँ सजे हुए पलंग एवं

कुर्सियाँ रक्खी हों, वहां अपने शरीर को जैसे आराम अनुभव हो वैसे बैठकर अथवा लेटकर सोने, चाँदी, मणियों से जड़े सुन्दर विचित्र, विविध पात्रों में मद्य डालकर पीवें।"

"मद्यपान के समय रूप और जवानी के कारण मतवाली विशेषत: शिक्षित ऋतु के अनुसार वस्त्र, आभूषण तथा पुष्पमालायें धारण किए पवित्रता तथा अनुराग युक्त प्रिय एवं सुन्दरी स्त्रियाँ इधर-उधर अंगों का संवाहन कर रही हों, उस समय में श्रेष्ठ मद्य का पान करना चाहिए।"

"सबसे पूर्व देवताओं की पूजा और स्तुति करके तथा अर्थियों के निमित्त पृथ्वी पर सजल मद्य डाल कर मद्य के अनुकूल मौसमी शुभफलों, हरितकों, नमकीन पदार्थों तथा सुगन्ध से लुभा लेने वाली चटनियों, बहुत प्रकार के भूचर, जलचर, आकाशचरों के भर्जित मांसों तथा पाकशास्त्र में पण्डित रसोइयों द्वारा प्रस्तुत विविध प्रकार के भक्ष्यों के साथ मद्यपान करें।"

"यह सम्पूर्ण विधि धनाढ्यों के लिये है। जो भविष्य में ऐश्वर्यशाली होंगे उन्हें चाहिए कि वह अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार मात्रा में हितकर मद्य का पान करें।"

"मद्य बहुत द्रव्यों से तैयार की जाती है। इसके गुण बहुत हैं। कर्म भी बहुत प्रकार के हैं यह कारक है। अत: हितकार एवं हानिकर दोनों प्रकार भी है। यदि देशकाल प्रकृति आदि की विवेचना से विधिपूर्वक पी जाय तो हितकर होती है और यदि उन नियमों का पालन न करते हुए ग्रहण की जाय तो दोषकर होती है।

"जो पुरुष प्रसन्न चित्त होकर विधिपूर्वक मात्रा में उचितकाल में अपने बल के अनुसार और हितकर अन्नों के साथ मद्य पीता है, उसके लिए वह अमृत सदृश होता है। और जो रूक्ष देह तथा नित्य परिश्रम का कार्य करने वाला पुरुष जब जैसा भी मद्य मिले, उसे ही बिना विचारे ही पान करता है, उसके लिए वह विष के सदृश होती है।"

ऊपर का वर्णन कितना वैज्ञानिक है इस विषय में कुछ कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। स्वयं ही आचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि मद्यपान स्वास्थ्य के लिए हितकारक है। किन्तु तभी जब मात्रावत तथा विधिपूर्वक सेवन की जाए। अन्यथा कहीं अमृततुल्य मद्य विष के समान हो जाती है।

प्रश्न—मदात्यय रोग की उत्पत्ति किस प्रकार होती है। मदात्यय की अवस्थाओं का निरूपण कीजिए ? चिकित्सा का भी वर्णन कीजिए ?

उत्तर—मद्य के अतिपान के कारण ओज के न्यून हो जाने से हृदय और हृदय में आश्रित धातुएँ (रस तथा सत्व आदि) विकृत हो जाती हैं।

मद्य के तीन मद—१ ओज का विघात न होने पर और हृदय के प्रतिबुद्ध (विकसित) होने पर प्रथम मद होता है। दो ओज की अल्प हानि होने पर मध्यम मद होता है। तीन ओज के सर्वथा पराभूत होने पर उत्तम वा परिचय मद होता है।

मद का लक्षण— मद्य के अत्यन्त सेवन के कारण उसके गुणों से हृदय के प्रभावित होने पर हर्ष सर्प (प्यास वा अन्य अभिलाषा) रतिसुख (आनन्द) तथा मन के अनुकूल विचित्र नाना प्रकार के राजस वा तामस विकार तथा अंत में मोहनिया (Coma) भी हो जाती है। इस मद्य विभ्रम को मद नाम से कहा जाता है। विभ्रम, चित्तवृत्तियों की अनवस्थिति वा अस्थिरता को कहते हैं।

पी जाने वाली मद्य के तीन मद जानने चाहिए। १—प्रथम २—मध्यम और ३—अन्त्य (अन्तिम)। इन तीनों मदों को अब लक्षणों द्वारा बताया जाता है।

प्रथम मद के लक्षण—प्रथम मद हर्ष वा आनन्द का देने वाला, प्रीती का उत्पादक अन्नपान के गुणों का दर्शक। अर्थात् मद्य आहार के पचने और आत्मीकरण में सहायक होती है। आत्मीकरण होने से देह पर उसका स्पष्ट प्रभाव दीखता है अथवा आहार के जो गुण हैं वही इस मद के मद्य में होते हैं अर्थात् मद्य भी एक प्रकार का आहार (food) है यदि आहार न भी माना जाय तो भी कुछ न कुछ उसके गुण इसमें अवश्य होते हैं। गाना, वजाना हँसी, मखोल तथा कथाओं का प्रवर्त्तक होता है। इसमें बुद्धि और स्मृति का नाश नहीं होता। यह मद पुरुष को विषयों में असमर्थ भी नहीं बनाता। इस में सुखकर नींद आती है और सुगमता से सेवन कर्त्ता को जगाया जा सकता है अथवा पूरी नींद के बाद जागने पर भी सेवन कर्त्ता किसी कष्ट को अनुभव नहीं करता। यह प्रथम मद सुख का देने वाला है।

मध्य पद के लक्षण—मद्यप को मध्यम मद में प्रविष्ट होने पर वारम्बार स्मृति और वारम्वार मोह (विपय ज्ञान) होता है। वाणी भी कभी-कभी

अव्यक्त होती है और बोलते-बोलते रुक जाती है। कभी युक्तियुक्त कहता है कभी अयुक्तियुक्त वा असम्बद्ध चक्कर आते हैं। स्थान खान पान संकथा। कथा एकत्र बैठकर परस्पर किसी विषय की चर्चा को कभी उचित प्रकार से करता है और कभी विपरीत प्रकार से है।

मध्यम और उत्तम मद की मध्यावस्था के लक्षण—मध्यम मद को लांघ कर उत्तर वा अन्तिम पद में पहुंचने से पूर्व (दोनों मदों की सन्धि से) रजोगुणी और तमोगुणी पुरुष, ऐसा कोई अशुभ कार्य नहीं जो न करे।

कौन विद्वान पुरुष उन्माद के सदृश परिणाम में दुःखकर तथा बहुत दोषयुक्त इस मद का पाना चाहेगा ? अर्थात् कोई नहीं। जैसे पथिक अन्त में दुःखस्थान पर पहुंचने वाले कण्टकादि बहुत दोषों से पूर्ण मार्ग पर जाना नहीं चाहता इसी प्रकार कोई भी विद्वान् इस मद को नहीं चाहेगा।

तृतीय मद के लक्षण—तीसरे मद में पहुंचने पर मन के अत्यधिक मोह से आच्छादित हो जाने के कारण टूटी हुई लकड़ी की तरह निश्चेष्ट होकर गिर पड़ता है। वह जीता हुआ भी मुर्दे के सदृश होता है। वह रमणीय विषयों को नहीं जानता। अपने मित्र को भी नहीं पहचान सकता। जिस रति आनन्द वा हर्ष के लिए मद्य पी जाती है उसे भी नहीं पीता। जिस अवस्था में रहते हुए संसार के कार्याकार्य सुख दुःख हिताहित का कोई ज्ञान नहीं होता उस अवस्था को कौन बुद्धिमान पाना चाहे ? अर्थात् कोई भी नहीं। ऐसी अवस्था में स्थित पुरुष की सब लोग निन्दा करते हैं, उसे दोषी बताते हैं। वह अग्रास है उसके साथ कोई रहना नहीं चाहता। मद्य का व्यसन होने से फलस्वरूप दुःखकर रोग (मदात्यय) हो जाता है।

इसका सक्षेप में सुगम तात्पर्य वही है जो आचार्य ने तीन मद में विभक्त कर बताया है। मद्य सबसे पूर्व मस्तिष्क के प्रवरतम क्रियाओं (बुद्धि प्रतिभा विचार आदि) को उत्तेजित करता है। पश्चात् मध्यम और पश्चात् अवर। इसके बाद जब शिथिलता प्रारम्भ होती है वह भी इसी क्रम से होती है।

सब देहधारियों के लिए इस संसार में वा मृत्यु के पश्चात् जो कल्याण है और जो मोक्ष में परम कल्याण है, वह सब मनः समाधि पर आश्रित है। चित्त की वृत्तियों के निरोध पर ही कल्याण निर्भर करता है। मन की चंचलता से दुःख होता है।

मद्य से मन में महान् क्षोभ उत्पन्न होता है। जैसे किसी नदी के तट पर स्थित वृक्ष में आँधी के वेग से क्षोभ हुआ करता है।

उस महादोष युक्त तथा महारोग--कम मद्य प्रसंग को रज और मोह वा तम से पराभूत मूर्ख लोग सुख समझते हैं।

मद्यपान के कारण जिनका विज्ञान (कार्याकार्य ज्ञान प्रतिभा आदि) नष्ट हो गया है। सात्विक गुणों से रहित, मद्य से अन्धे मद की लालसा (प्रबल इच्छा, व्यसन) वाले पुरुषों का भी कल्याण नहीं होता।

मोह, भय, शोक, क्रोध, मृत्यु, उन्माद मद मूर्च्छा अपस्मार और अपतानक ये सब मद्य में आश्रित हैं।

जहां एक स्मृतिविभ्रंश (स्मृति नाश) ही हो वहाँ से जो कुछ भी असाधु वा अशुभ है, सब आश्रित हैं। अर्थात् मद्यपान से स्मृतिभ्रंश होने पर पुरुष कोई ऐसा निन्दित कार्य नहीं जो न करे।

इस प्रकार मद्य के दोषों को जानने वाले यथार्थत: ही मद्य को निन्दनीय कहते हैं।

प्रायश: प्रथम मद में सत्व (तीनों प्रकार के मन) प्रबुद्ध होते हैं यथा दूसरे और तीसरे मद के मध्य में व्यक्त हो जाते हैं। दूसरे मद में थोड़ा व्यक्त होते हैं। उत्तम और मध्यम मद की सन्धि में पूर्ण व्यक्त हो जाते हैं। उत्तम (तृतीय) मद में तो सत्व सर्वथा अव्यक्त हो जाता है। उत्तम और मध्यम की सन्धि में मन के वश से सर्वथा आदि हो जाने पर जो प्रलाप वा वकवास है उससे उसके मन की प्रकृति का ज्ञान हो जाता है।

मदात्य के हेतु और उनके अपने-अपने लक्षण और चिकित्सा यथाक्रम करूँगा।

वातज मदात्यय का हेतु—स्त्री भोग, शोक, भय, भार उठाना, अधिक मार्ग चलना, इत्यादि कर्मो से क्षीण अथवा रुक्ष एवं अल्पप्राण (मात्रा में कम) में भोजन करने वाला और रात्रि के समय निद्रा का नाश कर के जो रुक्ष परिणत (पुरानी और पूर्ण वीर्य युक्त) मद्य का अतिमात्रा में पीता है उस पुरुष के लिए वह मद्य शीघ्र ही वाताधिक मदात्यय का कारण हो जाती है।

वातिक मदात्यय के लक्षण—हिचकी, श्वास, शिर: कम्पन, (सिर का)

काँपना) पार्श्वशूल, प्रजागर (नींद न आना) तथा बहुत प्रलाप करना। इन लक्षणों से वाताधिक मदात्यय जाना जाता है।

पैत्तिक मदात्यय के हेतु—जो अम्ल, उष्ण तथा तीक्ष्ण पुष्पों का भोजन करने वाला, क्रोधी, आम और घाम काम का प्यादा (आग और घाम तापने वाला) पुरुष तीक्ष्ण (वीर्य में) तथा अम्ल मद्य का अतिमात्रा में सेवन करता है, उसे विशेषतया पैत्तिक मदात्यय हो जाता है।

पैत्तिक मदात्यय के लक्षण—तृष्णा, दाह, ज्वर पसीना आना, मूर्च्छा, अतिसार, सिर में चक्कर आना तथा देह के वर्ण का हरा सा हो जाना, इन लक्षणों से पित्ताधिक जाना जाता है।

श्लैष्मिक मदात्यय के हेतु—जो मधुर, स्निग्ध एवं गुरु भोजन करने वाला और व्यायाम (परिश्रम) न करना, दिन में सोना, लेटे रहना वा बैठे रहना इत्यादि आरामों में पड़ा रहने वाला नथी, प्रायशः मधुर, गुड़ से प्रस्तुत वा पौष्टिक (शालि षष्टिक आदि के पिष्ट से प्रस्तुत) मद्य को अति मात्रा में पीता है वह शीघ्र ही कफाधिक मदात्यय का शिकार हो जाता है।

वातप्राय, पित्तप्राय, कफप्राय (कफाधिक) करने से सब मदात्ययों की त्रिदोषजता बतायी है। परन्तु वहाँ (वातज आदि) उन उन (वात आदि) दोषों के अधिक मात्रा में होने से उस अधिक प्रमाण में स्थित दोष से उत्पन्न मदात्यय कहा जाता है।

कफज मदात्यय के लक्षण—कै, अरुचि, हृल्लास (जी मिचलाना) तन्द्रा, स्तिमितता (जकड़ा सा जाना), गुरुता तथा देह का शीत होना इन लक्षणों से कफाधिक मदात्यय की पहिचान होती है।

कोई विप तो शीघ्र होता है और कोई रोग को उत्पन्न कर देता है। मद्य के अन्तिम मद को भी विष के सदृश ही जानना चाहिये। इस मद में मद्य की—जो विप के सदृश ही होते हैं तीव्रता होने से कभी शीघ्र मृत्यु हो जाती है और कभी शीघ्र रोग हो जाता है।

विष के सदृश ही मध के गुणों के त्रिदोषकोपक होने से सदात्यय में सर्वत्र ही त्रिदोषज्ञ लक्षण दिखाई देते हैं। उन्हीं से ही विभिन्नता (वातज, पित्तज, कफज आदि) मानी जाती है।

मदात्यय के लक्षण—देह का अत्यन्त दुःखी होना, संमोह (इन्द्रिय विषयों में असमर्थता) हृदयपीड़ा, अत्यन्त तृष्णा, शीत वा उष्णता के लक्षण वाला

ज्वर। जिस ज्वर के आदि में शीत लगता है अथवा गर्मी अनुभव होती है (दोनों प्रकार का) शिरपार्श्व हड्डियों तथा सन्धियों में विद्युत के समान अस्थिर वा चंचल वेदना। अत्यन्त बलवान् जम्भाई स्फुरण (आंतों का फुदकना) वेदन (कंपकंपी) थकावट, छाती का बन्द सा अनुभव होना (उरोविबन्ध) कास, हिचकी, खास। प्रजागर (नींद न आना), देह का काँपना, काम के रोग, मुखरोग, गिकगाह। गिक सन्धि में वायु से पकड़े जाने की सी वेदना का अनुभव करना, वातज पित्तज व कफज, कै अतिसार और जी मचलाना, भ्रम (Giddiness) प्रलाप, आसत रूपों का दिखाई देना। (जो रूप उपस्थित नहीं उसका दिखाई देना), ये लक्षण होते हैं। वह चित्तभ्रम से युक्त हुआ अपने को तृण, भस्म, लता, पत्ते तथा धूल से अवपूरण (दवाया जाना) तव पक्षियों द्वारा प्रधर्षण (तिरस्कार) किया जाता हुआ मानता है और व्याकुल तथा अप्रशस्त स्वप्नों को देखता है। ये सब मदात्यय के लक्षण हैं। इन लक्षणों को कई एक त्रिदोषक मदात्यय के लक्षण मानते हैं।

पाश्चात्य मत

मदात्यय रोग (Acconolism)—तीव्र और चिरकारी भेद से मदात्यय रोग दो प्रकार माना गया है।

(i) तीव्र मदात्यय (Acute Acconolism)—अधिक मात्रा में मद्यपान कर लेते पर मांस पेशियाँ सम्यग रीति से काम नहीं करतीं, मानसिक विकृति होती है और अन्त में निद्रा आ जाती है। रोगी का चेहरा रक्ताधिक्य से लाल रहता है किन्तु कुछ मामलों में श्यावता हो सकता है। नेत्र-कनीनिकाएं प्रसारित रहती हैं। नाड़ी भारी हुई, खास गम्भीर एवं फर्फर युक्त होती है। शरीर का उत्ताप अक्सर सामान्य से कम होता है और यदि रोगी शीतल वातावरण में रहा हो तो अत्यन्त कम हो सकता है। टेलर (Taylor) ने अपनी पुस्तक में एक ऐसे रोगी का उल्लेख किया है जिसका उत्ताप अस्पताल में भरती होते समय ७५° और १० घण्टे बाद ९१° तक पहुंच पाया था। रोगी संज्ञाहीन हो जाता था किन्तु संज्ञाहीन अवस्था शायद ही इतनी प्रबल होती है कि उसे जमापान जाता है। पुकारने पर वह धीरे-धीरे कुछ बड़बड़ाता है। मांसपेशियां में उद्वेष्ठन हो सकते हैं किन्तु आक्षेप प्रायः नहीं आते। श्वास में शराब की गन्ध आती है।

(ii) चिरकारी मदात्यय (Chronic Acconolism)—अल्पमात्रा वा अधिक मात्रा में दीर्घकाल तक मद्य के सेवन से इसकी उत्पत्ति होती है। मद्य का चिरकालीन प्रयोग शरीर के विभिन्न अंगों में विकार अवश्य पैदा करता है किन्तु सभी मामलों में वे विकार इतने प्रबल नहीं होते कि रोग स्पष्ट लक्षण उत्पन्न कर सकें, केवल कुछ ही मामलों में स्पष्ट शीतोत्पत्ति होती है।

वातनाड़ी संस्थान के विकार अत्यधिक पाये जाते हैं। काम करते समय हाथ कांपना और बोलते समय जीभ लड़खड़ाना सामान्य लक्षण हैं। मानसिक क्रिया क्षीण हो जाती है·किन्तु मद्य का सेवन कर लेने पर कुछ अंशों में ठीक ही है। स्वभाव क्रमशः परिवर्तित होता जाता है, चिड़चिड़ापन उत्पन्न हो जाता है और भूलने की आदत हो जाती है। सोचने की शक्ति भी क्षीण हो जाती है, मन स्थिर नहीं रहता है, कुछ को उन्माद और बहुतों को अपस्नम् हो जाता वातनाड़ी प्रदाह किसी भी भाग में सर्वांग में हो जाता है जिससे झुनझुनी करने के समान पीड़ा आदि लक्षण होते हैं। कुछ रोगियों को मस्तिष्कावरण प्रदाह या मस्तिष्क-मस्तिष्कावरण प्रदाह हो जाता है।

पाचन-संस्थान में आमाशय सबसे अधिक प्रभावित होता है। अधिकांश रोगियों में चिरकारी आमाशय, प्रदाह पाया जाता है। भूख ठीक-ठीक नहीं होती। अन्न का पाचन भली-भाँति नहीं होता। जिह्वा मलवृत्त रहता है और श्वास में दुर्गन्ध आती है। यकृत में मेद वृद्धि होती है और अन्ततोगत्वा यकृद्दाल्युत्कर्ष होता है। आमाशय और यकृत में विकार होने पर चेहरे में स्पष्ट परिवर्तन लक्षित होते हैं—गालों और नासिका की वेशिकायें विस्फारित होकर लाल हो जाती हैं और अजीर्ण मुख-दूषिका (Acne Roscala) उत्पन्न होती है, नेत्र अश्रुप्लावित एवं लाल पीले रहते हैं।

रक्तवह संस्थान में रक्त वाहिनियों में मिजिञ्चया (Athesom) उत्पन्न होते हैं और हृदय में मेद वृद्धि एवं तन्तूत्कर्ष होता हैं। कुछ रोगियों में धमनी जठरता और हार्दिक-विस्फार की उत्पत्ति होती है।

वृक्कों में मेद-वृद्धि होती है और चिरकारी वृक्क प्रदाह होता है।

कुछ रोगियों में वार-वार अभिष्यन्द और प्रतिश्याव की उत्पत्ति, कुछ में सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति का विनाश और कुछ में वातरक्त, आमवात आदि की उत्पत्ति होती है पहले यह विश्वास किया जाता था कि मद्य-सेवन से राजयक्ष्मा होने की सम्भावना नहीं रहती किन्तु यह निश्चित रूप देखा जा

चुका है कि शराबी राजयक्ष्मा में अतिशीघ्र आक्रान्त हो जाते हैं।

मद्य के व्यसनियों पर प्रायः सभी रोगों का आक्रमण अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा शीघ्र होता है और उनके रोग अधिक बलवान् एवं कष्टसाध्य होते हैं।

चिकित्सा क्रम—सब मदात्ययों को त्रिदोपज जानें। परन्तु वैद्य को चाहिए कि सब मदात्यों में तीनों दोषों से जिस दोष के लक्षण अधिक देखें उसी दोष का ही पूर्व प्रतिकार करें।

अथवा मदात्यय में कफ स्थान की पूर्व तथा पित्त और वात की तदन्तर क्रमशः चिकित्सा करनी चाहिए। क्योंकि प्रायः मदात्यय में पित्त और वायु अन्त में अधिक बलवान होते हैं। अभिप्राय: यह है कि मदात्यय में सामान्यतः सबसे पूर्व कफ बलवान् होता है और पीछे से पित्त और कफ बढ़ा करते हैं। कफ स्थान की पूर्व चिकित्सा करने का यह क्रम प्रायः वहाँ लिया जाता है, जहाँ तीनों दोष समभाव से कुपित वा प्रवृद्ध दिखाई दें।

जो रोग मद्य के मिथ्यापान अतिमात्रा में पीने वा हीन पान से होता है वह उसी मद्य के सममात्रा में पीने से शांत हो जाता है। 'तेनैव' (उसी) कहने से सजातीय मद्य का ग्राहक है। जिस मद्य के पीने से मदात्यय रोग होता है उस मद्य की सजातीय मद्य के पीने से ही वह शांत हो जाता है।

आम (कच्चे, अजीर्ण) मद्य दोष के जीर्ण हो जाने पर प्रकांक्षा (मद्य वा आहार की अभिलाषा) तथा लघुता होने पर जो जिसके लिए हितकर हो वह मद्य उसे देनी चाहिए।

वह मद्य सौंचर नमक, विडनमक, सेंधानमक, बिजौरे का रस और अदरक से युक्त, जल मिलाकर हलकी वा मृदु की गई तथा शीतल होनी चाहिये। उसे रोगी मात्रा में पीवें।

तीक्ष्ण उष्ण अम्ल तथा विषादीकरण—युक्त मद्य के अतिमात्रा में पीने से अन्नरस सड़कर और विदग्ध होकर क्षारगुण-युक्त हो जाता है। जिसके कारण अन्तर्दाह (अन्दर जलन), ज्वर, तृष्णा, प्रमोह (रूपरसादि विषयग्रण में असमर्थता), विभ्रम, मद, इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। उनकी शांति के लिए मद ही देना चाहिए। क्योंकि क्षार अम्ल के साथ मिलने पर मधुरता को प्राप्त (Nentra cize) हो जाता है अम्लपदार्थों में मद्य श्रेष्ठ हैं। अतः ऐसी

अवस्था में क्षार को मधुर करने के लिये मद्य का प्रयोग ही उत्तम है।

वात की शान्ति के लिए पुरानी पौष्टिक मद्य में वजिप्रर (विजोरा) वृक्ष-अम्ल (विपाविल, तिन्तिदींक) कोल (वेर) तथा अनार इनके रस, अजवाइन, हाऊवेर, अजाजो (श्वेत जीरा), शृंगवेर (अदरक वा सौंठ) इनको चूर्ण और सेन्धानमक डालकर रोगी को पिलावें। इस समय अवदन्श के लिये (मद्यपान के समय आहारार्थ) घृत आदि स्नेहों से युक्त सत्तू होने चाहिए।

वातप्रधान लक्षणों को देखकर वैद्य, लावा तीतर मुर्गा इनके स्निग्ध और अम्ल मांसरक्तों एवं आनूपदेश के पक्षी मृग और मछली तथा विलेशय और प्रसह जाती के जंतुओं के शुण्ठी आदि से संस्कृत मांसरसों के साथ शाली के भात के पथ्य द्वारा उपचार करें।

स्निग्ध उष्ण नमकीन और श्वेद स्वादु वेशवार (मशाले तथा मशालों से युक्त कुदित माँस आदि के भक्ष्य), गेहूं द्वारा बनाये गये नाना प्रकार के भोज्य पदार्थ, वारुणीमाण्ड (मदिरा का उपरितन स्कन्द भाग) तथा माँश और अदरक जिनके बीच में भरा गया हो ऐसी स्निग्ध पूर्ववर्तियाँ और उड़द पीठी भरी कचौरियाँ, इनके द्वारा वातिक पुरुष की चिकित्सा करें।

जो अभी पूर्व मध्य (मेपुर) माँस कहे गये हैं उनमें काली मिर्च और अदरक डालकर उन्हें प्रस्तुत करना चाहिए। परन्तु उसे घृत आदि अत्यन्त स्निग्ध और अमलाकृत न करें। इसे पूपों के साथ खाने को दें।

भोजन में प्यास लगने पर रोगी को वारुणी के ऊपर का अच्छा भाग पीने को देना चाहिए। अथवा अनार का रस दे सकते हैं। अथवा पंचमूल का पडांगयानिय—विधि से सावित जल दिया जाता है। अथवा धनियाँ और सौंठ का जल अथवा दही का पानी या खट्टी काँजी का मण्ड (ऊपर का स्वच्छ द्रव) अथवा शुक्तोदक (शुक्त वा सिरके में जल मिलाने से शुक्तोदक होता है) पीने को देना चाहिए।

क्षुद्रपचंमूल वा महापंचमुल दोनों ही वातनाशक हैं। क्षुद्रपंचमूल वातापित्त नाशक है और महापंचमूल बात वातनाशक। वातोल्वण महात्यय में पिपासा की शान्ति के लिये क्षुद्रपंचमूल ही उत्तम है।

मात्रा और काल के अनुसार प्रयुक्त की गई उक्त सिद्ध चिकित्सा से शांत होता है, वल और चूर्ण की वृद्धि होती है।

भोजन में रुचि को उत्पन्न करने वाले अथवा आहार का स्वाद बना देने वाले विविध प्रकार के रामपांडवों (आचार आदि) मांसों, शाकों, पिष्टातों और जो गई या शालि चावलों के आहार में प्रयोग से, उष्ण उबटनों और स्नानों से, कम्बल आदि घने और गरम वस्त्रों के ओढ़ने से अगर को जल में घिसकर उसका घना लेप लगाने से और अगर के ही घने धूपों से, जवानी के कारण उष्ण नारियों के श्रोणि ऊरु तथा स्तनों के मांसल का पुष्ट होने के कारण संश्लेषजनित उष्णता, द्वारा सुख का देने वाले गाढ आलिंगनों से, उष्ण शय्या और ओढ़ने के वस्त्रों से एवं सुखदायक गरम अन्तर्गृहों (गर्भगृहों) में निवास से वातोल्वण मदात्यय शीघ्र शान्त हो जाता है।

पित्तोल्वण मदात्यय की चिकित्सा—भव्य (कमरख), खजूर, अंगूर, फालसा अनार इनके रसों से युक्त, शीतल तथा सत्तुओं को अवचूर्णित किया हो, खाँड गली हो,—ऐसी शर्करा (खांड ही) मार्द्वीक (अंगूर की) अथवा अन्य पित्तनाशक द्रव्यों से प्रस्तुत मद्य को उपयुक्त समय में (प्यास के समय) रोगी पीवे। मद्य को हल्का करने के लिये जल भी बहुत मात्रा में डालना चाहिये।

मद्य प्रस्तुत करने के प्रायशः सत्तुओं से चौगुना द्रव डाला जाता है। अथवा सत्तू इतने ही डालें जिससे मद्य छना न हो और वह सुगमता से पीया जा सके।

रोगी भोजन में शशक (खरगोश), उपिंजल एण, काला हिरण, लावा पक्षी, असितमुच्छक। काली मूँछ का मृग वा हरिण, इनके मधुराम्ल मांस तथा साठी के भात का प्रयोग करे।

अथवा पऐल के पूष्य से मिश्रित बकरे के मांस रस की कल्पना करे अथवा मटर और मूंग के साथ बकरे के मांस रस को तैयार कर सकते हैं। इन्हें थोड़ा खट्टा करने के लिए अनार और आंवले का प्रयोग करना चाहिए।

अथवा अंगूर, आंवला, खजूर और फालसे के रस से लाजा के सत्तुओं का मद्य का विविध प्रकार के यूप और रसों की आहारार्थ कल्पना करें।

मदात्यय में बहुदोष—पुष्कल और जो तृष्णा (प्यास) वा विदाह से पीड़ित हों ऐसे व्यक्ति के आमाशय में स्थित कफपित्त को उत्क्लिष्ट (बहिर्गमनोन्मुख) हुआ जानकर उसे मद्य अंगूर का रस मल अथवा तर्पण (सत्तू) ही पिलाकर शीघ्र ही सारा कै करवा दें। इस प्रकार रोगी रोग से मुक्त हो जाता है।

वमन के पश्चात् भूख लगने पर उपयुक्त काल में तर्पण आदि क्रम से पथ्य

रखे। अर्थात् वहाँ प्रारम्भ में पैया नहीं देनी। पेया के स्थान पर सत्तुओं का तर्पण देना है। शेष संसर्जत क्रम एक सा ही है। इस प्रकार संसर्जन में ः अग्नि प्रदीप्त होकर अवशिष्ट दोष और अन्न को सम्यक्त या पचाती है। पेया अभिष्यन्द कर देती है।

खांसी, रुधिर का थूकना, पार्श्वशूल, स्तन में वेदना, प्यास, विदाह तथा हृदय और छाती में उत्क्लेश। इन लक्षणों के होने पर वैद्य गिलोय और नागरमोथ अथवा परोलयत्र के क्वाथ में सौंठ का प्रक्षेप को देकर रोगी को पिलावे। औषध के जीर्ण होने पर रोगी को तीतर के मांस रस के साथ शालि आदि का अन्न खाना चाहिए।

अत्यन्त बलवान पित्त के उद्धत वा नियर्गामी होने पर पिपासा से व्याकुल रोगी को पीने के लिए अंगूर का रस देना चाहिये। यह शीतल और दोष का अनुलोमक है। इसके जीर्ण हो जाने पर बकरे मांस रस—जो मधुराम्ल हो—के साथ भोजन खिलावें और भोजन के समय प्यास लगने पर अनुमान रूप में मद्य पिलाये।

अनुतर्ष की मात्रा—भोजन के समय प्यास लगने पर अनुपान रस में पिलाई जाने वाली मद्य की मात्रा इतनी ही होनी चाहिये जिससे मन दूषित वा क्षुब्ध न हो। रोगी को जब-जब प्यास लगे तब-तब थोड़ी और जल-मिश्रित मद्य देनी चाहिये। जिससे तृष्णा को शान्त हो, पर मद न चढ़े।

अथवा फालसों का रस वा पीलुओं का रस पीने को दे अथवा चारों पर्णियों (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुदपर्णी, मादपर्णी) से षडमंपानीय विधि के अनुसार साधितजल स्वभावतः ही अतिशीतल हो पद रोगी पीवे। अथवा मोथा, अनार, का लाजा से यथा विधि जल को संस्कृत कर पीने को देना चाहिए। यह तृष्णानाशक है।

पंचाम्लकयोग—खट्टे बेर, खट्टा अनार, वृक्षाम्ल (विदाविल, तिन्तिऐक) चुकीका (चांगेरी), चुक्रिका (चूक), खदी पालक अथवा कई चुक्रिका से इमली ग्रहण करते हैं। इन पाँच अम्लों के रस का मुख में किया गया लेप शीघ्र तृष्णा को नष्ट करता है।

पित्तज मदात्यय में शीतल (वीर्य और स्पर्श में) अन्नपान, शीतल शय्या, शीतल आसन (सोने बैठने के स्थान शीतल हो), क्षौमवस्त्र, पद्म (श्वेत कमल) नीलोत्पल इनके शीतल स्पर्श, चन्दन जल से सिक्त मणिमोतियों को चन्द्रमा

की किरणों के समान शीतल स्पर्श, शीतल जल से भरे हुए सुवर्ण चांदी वा काशी के पात्रों के स्पर्श हिम (वरफ) से फरे पृतियों (चमड़े के थैले) के स्पर्श वेगवान वायु के थपेड़ों से, चन्दन जल से आर्य नारियों के स्पर्श, चन्दन से आर्द्र पंखों की वायुओं के स्पर्श, मुख्य चन्दनों (हरिचन्दन आदि) के स्पर्श का लेपन। वे सव प्रशस्त हैं। और भी जो कुछ शीतल वीर्य है उस सवका प्रयोग करा सकते हैं।

चन्दन जल से सींचे गये कुमुद और कमल के मनोहर पत्तों के स्पर्श मद्य से उत्पन्न दाह में हितकर होते हैं।

विविध शीतल कथाएं और पौदों के कल्याणकारक शब्द और मेघों की गर्जन मदात्यय को शान्त करते हैं। शीतल कथाओं से अभिप्राय पर्वत की शीतल घाटियों और जलाशय आदि की कथाओं से है। तृष्णा दाह ज्वर तथा रक्तपित्त की चिकित्साओं में भी पित्त की शान्ति के लिए इसी प्रकार का वर्णन हो चुका है।

दाह में, जल की वर्षा करने वाले यन्त्रों वातवहयन्त्र (पंखे आदि बिजली के) तथा धारागृहों की कल्पना करनी चाहिए। रोगी को ऐसे स्थान पर रखें जहाँ जलकणों की वर्षा हो, जहाँ वायु चलता है या जल की धारायें गिरती हों। दाह निवारण के लिए गृह ऐसा होना चाहिए, जहाँ उक्त सव प्रवन्ध किया हुआ हो।

फलिन्यादि प्रलेप—फलिनि (प्रियङ्गु), सेव्य (खस), लोध गन्धवाला, नागकेसर, पत्र (तेजपत्र), कुरन्तर (केवटी मोथा), कालपिक (चन्दनभेद) इनका लेप दाह में प्रशस्त है। लेपार्थ इन्हें शीतल जल से पीसकर नवीन मृत्पात्र में रखना चाहिए।

दाह होने पर वैरी के पत्तों का फेन (झाग) अथवा रीठे की झाग अथवा फेनिल (सोमराजी, कालीजीरी) की झाग का लेपन प्रशस्त है। अन्य अरिष्टक से नीम के पत्तों का और फेनिला से रीठे का ग्रहण करते हैं। फेन वनाने के लिये किसी एक द्रव्य को कांजिक के साथ पीसकर पुनः प्रचुर परिमाण में कांजिक मिला मथानदण्ड (मथानी) से मथा जाता है।

सुरा, सुरामण्ड, रग्हा दही वा दही का खट्टा पानी विजौरे का रस, मधु

तथा खट्टी कांजी, इन सबका दाह से नाशार्थ परिषेचन और लेपों में प्रयोग करना चाहिए।

इनमें से किसी एक द्रव्य को पीसकर और मथकर भी कहे गए फेन लेपर्थि लिए जा सकते हैं। परन्तु अधिकतर व्यवहार अम्ल काँजी से ही है।

दाह और तृष्णा की शान्ति के लिए परिषेचन अवगाहन और व्यजन (पंखे) की वाफ के सेवन अतिशीतल जल का प्रयोग प्रशस्त माना गया है।

मात्रा और काल में, प्रयोग किए गए उक्त कर्म से वैद्य के कहे अनुसार चलने वाले बुद्धिमान रोगी का पित्तज मदात्यय शीघ्र शान्त हो जाता है।

कफज मदात्यय की चिकित्सा—कफज मदात्यय को वमन और उपवास द्वारा जीतना चाहिए।

रोगी को जब प्यास लगे तब गन्धवाला द्वारा यथा विधि संस्कृत जल पीने को दें। अथवा वला, पृश्नि पर्णी, छोटी कटेरी इनमें से किसी एक से षडगंथा-नीय विधि के अनुसार साधित जल रोगी को दें। अथवा गन्धवाला, वला, पृश्निपर्णी, कण्टकारी, सोंठ, बन पाँचों औषधियों को एकत्र मिला उनसे साधित जल को शीतल कर रोगी को पिलावें।

अथवा दुदालभा और मोथा, या मोथा और पित्तपापड़ा अथवा केवल मोथे से साधित जल पीने को देना चाहिए। यह दोष को पका देता है। इस जल का यदि सब मदात्ययों में निरन्तर वा निपोए पान कराया जाय तो वह पिपासा और ज्वर को नष्ट करता है।

आम दोष रहित मदात्यय के रोगी को भूख लगने पर पुरानी शार्कर (खाँड से प्रस्तुत मद्य) माधव (मधु से प्रस्तुत मद्य) अरिष्ट (नाना द्रव्यों को संयोग से प्रस्तुत) अथवा शीध्र (ईख के रस की मद्य) में रूखे (घृत आदि स्नेह से रहित) लाजा के सत्तू मिला अजवाइन और सोंठ का प्रक्षेप देकर प्रभूत मात्रा में शहद मिला पीने को दें। अष्टांगसंग्रह चि० अ० ६ में भी ऐसा ही पाठ है। केवल 'कांगक्षितं' के स्थान पर 'क्षुधितं' और 'माधवं' के स्थान पर 'मधुवा' पढ़ा है।

जौ और गेहूं के घृत आदि स्नेह से रहित रूखे अन्न को कुलत्थ या सूखी मूली के यूष के साथ खाने को दें। यूष पतला, मात्रा में अल्प लघु, अल्पघृत-युक्त तथा काली मिर्च पिप्पली आदि के चूर्ण से कटु और अनार आँवले

आदि के रस से अम्लीकृत किया होना चाहिए।

अथवा जौ के अन्न के साथ अनार आदि के रस से अम्लीकृत पटोल (परवल) का यूप अथवा आँवले का यूष जिनमें प्रभूत मात्रा में मरिच आदि कटु-द्रव मिलाये हों खाने को दें।

अथवा अनार आदि के रस से अम्लीकृत व्योप (त्रिकुट, सोंठ, मरिच पिप्पली) का यूप अथवा अम्लवेलस युक्त बकरे का रूख (स्नेहरहित) मांसरस अथवा जांगल पशु पक्षियों के रूक्ष तथा अम्लीकृत मांसों का रोगी को प्रयोग कराना चाहिए।

अथवा व्योपयूप का अभिप्राय व्योपप्रशन सूत्रं आदि के यूप का लिया जाता है। अर्थात् जिस यूप में त्रिकटु प्रभूत मात्रा में डाला गया हो उसे भी व्योषयूष ही कहा जाता है।

स्थाली (हांडी) का मृत्कपाल या कड़ाही में माँस को मन्द-मन्द आँच पर हिला हिलाकर (घी में) भून लें। जब देखे उसका रस सूख गया है तब निकाल लें। इस मिर्च आदि से कटु अनारदाने आदि से अम्लीकृत तथा सेन्धा नमक से नमकीन करके रोगी को खिलावें। रोगी इसे खाते हुए अनुतर्म के तौर परम धूम्रधान मद्य पीवें। इस मद्य के गुण सू० अ० २७-१८६ में कहे जा चुके है।

मांस को प्रथमपूर्ववत् नीरस भूनकर अदरक के टुकड़े प्रभूत मात्रा में मिलावें। पश्चात् काली मिर्च और नमक इतना डालें जिससे स्वाद व्यक्त हो। अजवाइन और सोंठ का चूर्ण भी अल्पमात्रा में मिलाना चाहिए। पश्चात् इसे बिजौरे के रस और अनार के रस से खट्टा कर डालें। मांस अदरक और मिरच आदि के चूर्णों को पहिले ही मिलाकर घी में भून सकते हैं और पीछे से उसे अम्लीकृत कर लें। इस मांस का गरम आपूय वा रोटी में लपेट कर अग्नि के अनुसार रोगी भोजन कप में खाये और निर्दोप मद्य पीवे।

अष्टांगलवण—सौचंल नमक, श्वेतजीरा, वृक्षाम्ल (तिन्तिडाक) अम्लवेतस प्रत्येक १ भाग, दालचीनी, छोटी इलायची, कालीमिर्च, प्रत्येक आधा भाग, खांड १ भाग, इनके चूर्ण को एकत्र मिलावें। यह अष्टांगलवण परम अग्निदीपक और स्रोतो को शुद्ध करने वाला है। इसे कफाधिक मदात्यय में प्रयोग कराना चाहिये मात्रा ३ मासे।

इसी अष्टांगलवण को ही मधुर और अम्ल रसों से युक्तिपूर्वक चटनी के सदृश पतला कर लें। यह गेहूं और जौ के अन्न तथा मांस को अत्यन्त स्वादिष्ट

बना देता है।

श्वेत अंगूर वा आबजोश की चटनी—आवजोश वा अंगूर लेकर उसके बीज निकाल लें। और उसमें सौंचर नमक, छोटी इलायची, कालीमिर्च, श्वेतजीरा, दालचीनी, दीप्यक (अजवाइन) इन कटु द्रव्यों का चूर्ण यथायोग्य डालकर बिजौरे के रस अथवा अनार के रस से पीस दें। पश्चात् कुछ मधु मिलावें। यह राग रुचि उत्पन्न करता है और अग्निदीपक है।

मृद्विका के ही अनुसार फारवी का भी राग तैयार करवाये। परन्तु बिजौरे के रस वा अनार के रस के स्थान पर शुक्त और शहद के स्थान पर मत्स्यण्डिका (राब) मिलावें। फारवी से छोटे अंगूर वा किशमिश का ग्रहण है। यह राग अग्निदीपक और पाचक है। अथवा यह अर्थ हो सकता है कि मृद्विका के विधान के अनुसार ही फारवी की भी चटनी बनावें।

शक्त और मत्स्यण्डिका से युक्त राग दीपन पाचन होता है। यह चटनियों के लिए सामान्यतः कहा है।

त्वचारहित कच्चे आम की पेशी (अमचूर) और आंवलों के पृथक्-पृथक् राग बनाने चाहिए। राग धनियां, सौंचरनमक, श्वेतजीरा, कालाजीरा, काली मिर्च, इनके चूर्णों से युक्त हो। और उसमें गुड़ वा मधुशुक्ल (मधु मात्रा द्वारा निर्मित शुक्ल) मिलाने के कारण खटाई और मिठास का स्वाद भी स्पष्ट अनुभव होना चाहिए। अभिप्राय यह है कि इस चटनी में मधुशुक्त इतना डालें कि स्वाद स्पष्ट हो, अव्यक्त न हो। कच्चा आम और आमला यद्यपि स्वयं भी खट्टे होते हैं परन्तु धनियाँ और सौंचरनमक इत्यादि मिलाने पर खटाई कुछ कम हो जाती है अतः उसे ही व्यक्त करने के लिए थोड़ा सा मधुशुक्ल डाला जाता है चटनी में गुड़ उतना डालें जिससे मिठास का भी साथ-साथ ही अनुभव हो अथवा चटनी न करके इन्हीं द्रव्यों से अचार भी बन सकता है।

रूखे गरम अन्नपान से, गरम जल के स्थान से, युक्तिपूर्वक व्यायाम लंघन और जागरण से, उपयुक्त काल में किए गए रूक्ष स्नान और उवटन से प्राण कर एवं वर्ण कर प्रघर्षो (चूर्ण आदि का देह पर घर्षण) के सेवन से भारी वस्त्रों के पहनने से, आग के तपे और धूप से काम के युक्त होने के कारण उष्ण तथा सुख आनन्द के देने वाले अंगों वाली कामिनियों के सेवन से (अर्थात् कामिनियों द्वारा किये गये आठ आँलिंगनों से) तथा शिक्षित स्त्रियों के सुखद हाथों से संवादन (देहभेदन, मुट्ठी चाप्पी) द्वारा कफाधिक मदात्यय शीघ्र ही

शान्त हो जाता है ।

सन्निपातज मदात्यय की चिकित्सा—पृथक्-पृथक् दोषों के बलवान होने पर जो मदात्यय की चिकित्सा कही गई है वैद्य को चाहिए कि शेष दस प्रकार के सन्निपातों में भी विवेचनापूर्वक उनकी कल्पनायें करके प्रयोग करावें ।

सन्निपात तेरह प्रकार का होता है—उसमें दोषोल्वण तीन मदात्ययों की चिकित्सायें पूर्व कह दी हैं । शेष १० में उन्हीं की विविध कल्पनायें करके प्रयोग किया जा सकता है । द्व्युल्वण दोष से उत्पन्न (तीन) मदात्ययों में दो-दो को मिलाकर चिकित्सा की जायेगी । हीन मध्य अधिक भेद के (छह) सन्निपातों में उन २ दोषों की उक्त चिकित्साओं को हीन मध्य अधिक भेद से मिश्रित कर चिकित्सा की जाती है । यदि तीनों दोष ही समभाव से मिले हुए हों (एक) तो तीनों की समभाव से मिली चिकित्सा करनी चाहिए ।

जो दोष के विकल्पों को जानता है, जो औषध के विकल्पों को ज्ञान रखता है और जो रोगों की साध्यता और असाध्यता को पहिचानता है वह साध्य रोगों में सिद्धि लाभ करता है ।

मदात्यय में हर्षोत्पादक कर्म का विधान—रमणीय वन कमलों से सुशोभित जलाशय विशद अन्नपान, आनन्दवर्द्धक साथी-मित्र, पुष्प मालायें, अन्ध योग (इत्र फुलेल तथा अन्य चंदन आदि सुगन्धि द्रव्य), निर्मल वस्त्र, मनोरम गान्धर्व शब्द (संगीत के शब्द अथवा पुंस्कोकिल के शब्द), हृदय की प्रिय गोष्ठियाँ, संकथा हास्य (हँसी मखौल) एवं संगीतों की विषय [निर्दोष] योजनायें तथा अनुगामी एवं प्रिय स्त्रियाँ, ये सब उपाय मदात्यय को नष्ट करते हैं ।

इन उक्त चिकित्साओं से मदात्यय शान्त हो जाता है । यदि शान्त न हो तो उक्तमय विधान को छोड़कर रोगी को दूध का प्रयोग करावें ।

दूध के प्रयोग का विषय—मद्यत्याग के पश्चात् लंघन पावन दोष-संशोधन (वमन विरेचन) तथा संगमन चिकित्साओं से कफ के क्षीण तथा रोगी के दुर्बल और लघुता-युक्त होने पर उस मद्य से विदग्ध (जले) और (वातपित्ताधिक) पुरुष के लिए अत्यन्त ही हितकर है । जैसे घास के तपे खेतों को वर्षा हरा-भरा कर देती है, लहलहा देती है वैसे ही दूध मद्य से जले पुरुष को पुनर्जीवन देता है ।

दूध के प्रयोग से रोग हर लेने और बल के हो जाने पर दूध का प्रयोग

को क्रमशः बन्द कर दे और मद्य को क्रमशः थोड़ा-थोड़ा सेवन प्रारम्भ करे।

मद्यत्याग के पश्चात् सहसा अति मद्यपान से हानि—एक बार मद्य के छूट जाने पर जो पुरुष सहसा मद्य का अतिसेवन करता है उसे ध्वंसक रोग वा विज्ञय रोग हो जाता है।

दूध के प्रयोग के समय मद्य का त्याग किया जा सकता है अतः पुनः मद्यपान करना चाहिए। इसी प्रकार पुरुष कभी मद्यपान करना चाहे तो उसे क्रमशः अल्प-अल्प ही प्रारम्भ करना चाहिए।

प्रश्न—मनोदैन्य (Neurasthenia) का वर्णन कीजिए।

उत्तर—मनोदैन्य (Neurasthenia) यह शब्द चिकित्सा में प्रायः सुनाई देता है, इसमें मुख्य विशेषतायें थकान कुछ बेचैनी प्रायः रहती है।

लक्षण—१. मुख्य लक्षण थकान (Tiredness) है, बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के मन थका हुआ और शरीर शिथिल अनुभव होता है। मनोदैन्य का थकान सामान्य श्रमजनित थकान से भिन्न प्रकार का होता है, यह मानसिक थकान रात को विश्राम करने से नहीं मिटती, जबकि शारीरिक या श्रमजनित थकान में सोने के पीछे मनुष्य अपने आपको स्वस्थ या ताजा पाता है।

२. इसमें नियंत्रण और मस्तिष्क के प्रतिरोध में थकान हो जाती है, जिसका परिणाम छोटी-छोटी बातों पर असामान्य रूप में उत्तेजित होना, उत्तेजना में नियंत्रण का अभाव तथा चेष्टाओं में उद्वेग वा बेचैनी हो जाती है। रोगी अपने हृदय के स्पन्दन से, आंतों की आकुंचन गतियाँ (Pesstaltic movements) आदि की ओर अधिक ध्यान देता रहता है। सामान्यतः मस्तिष्क नियन्त्रण अवयव सम्बन्धी संवेदा को शरीर के संवेदना वाले गर्व तन्त्र में नहीं जाने देता।

३. रोगी के सब विचार अपने में ही केन्द्रित रहते हैं (Egoceustic) और अपने ही अन्दर सीमित (Introspective) रहता है, उसका सब ज्ञान असाधारण शारीरिक संवेदना से भर जाता है। वह अपनी चिन्ता या बीमारी में इतना लीन हो जाता है कि वाह्य कार्य या वस्तुओं की ओर ध्यान नहीं दे सकता। उसमें एकाग्रता, ध्यान की कमी हो जाती है।

४. इसमें एक विशेष प्रकार की शिर दर्द होती है, जिसमें वेदना की

अपेक्षा भार का अधिक अनुभव होता है या चुभती हुई वेदना, जिसमें बंधन की संवेदना रहती है, ललाट भाग से उठकर ग्रीवा के पीछे धारा में या पृष्ठ-वंश में निकलती प्रतीत होती है। कई वार मस्तिष्क में शून्यता या खोखला-पन अनुभव होता है। वेचैनी या घवराहट दर्द के कारण से नहीं होती, उसे कुछ अस्वाभाविक या वुरा अनुभव होता है दर्द की अपेक्षा कम सप्त होता है।

५. नींद न आना रोगी की चिन्ता को और भी बढ़ा देता है।

६. स्वतन्त्र नाड़ी संस्थान तथा अन्तःस्रावक ग्रन्थियों से सम्वन्धित लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यथा—हृदय की द्रुतगति, कम्पन, भार में कमी और वाहिनियों में विक्षोभ हो जाता है। तीव्र रोगियों में सामान्यतः रक्त का दवाव कम होता है, चक्कर आते हैं, हाथ, पैर ठण्डे और चिकने रहते हैं, हृदयव रहता है, श्वेतिमा या सहसा सीधा खड़े होने में मूर्च्छा आ जाती है।

७. स्त्रियों में ऋतु चक्र अनियमित भी हो सकता है। सम्भोग क्रिया में सव प्रकार के विकार भी हो सकते हैं। सम्भोग में निर्वलता अशक्ति, जल्दी वीर्यस्राव, स्वप्न दोष, इच्छा मात्र से वीर्यच्युति पुरुष में हो जाती है। मूत्र में फॉस्फेट्स की मात्रा वहुत अधिक रहती है इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। फॉस्फेट्स मूत्राशय में भी निक्षिप्त हो सकते हैं। मूत्रस्राव में पिछले समय भी आ सकते हैं। रोगी फॉस्फेट्स को वीर्य भी समझ वैठता है और समझ लेता है कि उसकी शक्ति का ह्रास हो रहा है।

८. रोगी अपने चारों ओर की परिस्थितियों से उदासीन हो जाता है, सिर भारी या खाली अनुभव करता है, कमर में दर्द, भूख की कमी, आध्मान जन्य अजीर्ण, हृदय में धड़कन, थोड़ा सा वढ़ा हुआ श्वास, नाड़ी सामान्यतः तेज होता है। कण्डराक्षेप थोड़ा सा वड़ा होता है। इसका क्रम लम्वा होता है और यदि ध्यान न दिया जाये तो सारी आयु तक वना रहता है।

पहिचान—स्नायुकोन्यूरोसिस की अन्य अवस्थाओं से इसकी पहिचान कठिन नहीं है। थकान हिस्टीरिया भी लक्षण हो सकता है, मनोदैन्य और उदासी की वीमारी (Depressine illness) में भेद करना प्रायः कठिन है। थकान दोनों में समान है, परन्तु मनोदैन्य में उदासी की विकृति अधिक रहती है। प्राथमिक इतिहास, घरेलू घटनायें प्रायः पहिचान में मदद देती हैं।

कारण – मानसिक कारण इसके प्रारम्भिक कारण होते हैं अतिज्ञान इसका

कारण नहीं है, काम का न करना तथा बाह्य उत्तेजना या उद्वेग इसके पूर्व-वर्ती कारण हैं।

चिकित्सा—उद्वेग और मनोदैन्य के मानसिक कारण का पता लगाना आवश्यक है १. रोग या शिकायत के प्रारम्भ होने से पूर्ण विस्तृत जानकारी तथा लक्षणों का क्रमिक विकास एवं अपनी बीमारी के विषय में रोगी के अपने विचार जानना आवश्यक हो। २. शारीरिक रोग से वह डरता है। इसलिए शरीर की परीक्षा पूर्ण रूप से करनी चाहिए, वह परीक्षा सम्पूर्ण रूप में ही होनी चाहिए क्योंकि यदि कोई भी शिकायत न हो तो रोगी को निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तुम स्वस्थ हो।

३. रोगी को समझा देना चाहिए कि स्वस्थता अनियमित रूप में होती है, अच्छे दिन के पीछे बुरे दिन आते हैं और बुरे दिनों के पीछे अच्छे आते हैं। इसलिए तुम भी अच्छे हो जाओगे। ये बुरे दिन भी बीत जायेंगे, तुम स्वस्थ हो जाओगे।

४. उद्वेग या बेचैनी का कारण जानना चाहिए, इसके लिए मानसिक क्रिया का ज्ञान आवश्यक है। रोगी को समझा देना चाहिए कि वह प्रसन्न रहे, काम में मन लगाये, सब लक्षण एक-एक करके सब नष्ट हो जायेंगे। वीर्य-स्राव के कारण अशक्ति होने पर उसमें शारीरिक हानि का झूठा विश्वास बैठ गया हो तो उसे दूर करना चाहिए। हस्तमैथुन या अन्य पिछले किसी इसी प्रकार के कारणों का विश्वास बैठा होने पर यह स्थिति प्रायः देखने में आती है।

५. यदि मानसिक दैन्यता बाह्य परिस्थितियों का परिणाम हो तो रोगी को कुछ समय के लिए बाहर अन्यत्र चला जाना चाहिए, कोई इससे न मिल सके, पत्र व्यवहार न करे। थोड़ी अवस्था में मनोदैन्य होने पर रोगी को अभ्यास करवाना चाहिए कि वह कष्ट को सहन करे, उन कठिनाइयों के अनुकूल अपने को बनाये।

नींद न आने पर—नींद का आना आवश्यक है, इसके लिए रोगी को प्रभावशाली निद्रालु औषध बरतनी चाहिए। जिससे उसे गहरी नींद आये। फिर उसको धीरे-धीरे कम करना चाहिए, बीच में नींद टूटे तो गरम दूध या कुछ भोजन ले ले। दाँयत थोड़ी ऊंची करनी चाहिए। शीर्षासन लाभदायक है। रोगी का मन काम में लगना चाहिए। इसके लिए उसे पढ़ना-लिखना

चाहिए, यदि रोगी पढ़ न सके तो उससे बुनने का या सुई से काढ़ने का काम कराना आरम्भ करें। मन को किसी भी काम में फंसाये रखें। भोजन-रोगी यदि वहुत ही निर्बल प्रकृति का हो तो उसे घी और दूध अधिक मात्रा में देना चाहिए। इससे मौल्ट और कौडलिवर औयल मिला कर देना चाहिए। तैल-मालिश यह वहुत आवश्यक है, प्रतिदिन तैलयाम्माँग और व्यायाम करना चाहिए। उसकी माँसपेशियों को पुष्ट वनाना चाहिए। व्यायाम खुली वायु में आधी शक्ति से थकान न हो इतनी करनी चाहिये। औषध सामान्यतः सब रोगियों के लिए सोडियम ब्रामाईड ७ ग्रेन, लाईकर आरसैनिक कैलिस १ बूँद टिंचर वैलेगेना ६ बूँद, एम्वा औरेनशिपाई ½ औंस मिलाकर दिन में तीन वार भोजन के पीछे देना उत्तम है। मद्य और तम्वाकू का उपयोग कम से कम करना चाहिए। कुचला (Stryehnine) थोड़ी सी मात्रा में रोगी के लिये हानिकारक है, इससे संवेदना अधिक वढ़ जाती है। वाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन जब रोगी स्वरूप हो जाये तब उसे शुष्क उष्ण जलवायु में कुट्टी के दिन व्यतीत करने चाहिये। उसको अनावश्यक प्रतिदोप में नहीं रखना चाहिए।

संक्षेप में रोगी को लक्षणों का विश्लेषण—व्याख्या करके वता देना चाहिए, उसे सान्त्वना या आश्वासन देना चाहिए। उसे सामान्य उपायों का अभ्यास करना चाहिए।

आयुर्वेद की दृष्टि से—श्लैष्मिक लक्षण इस अवस्था में मिलते हैं, इसलिए प्रथम वमन और पीछे विरेचन देना चाहिए। कोष्ठ शुद्धि के लिए अमलतास या त्रिवृत्त का प्रयोग करना चाहिए। इसके पीछे चतुर्भेजरस, उन्माद गज-केशरी, स्वल्प लक्ष्मीविलास, महालक्ष्मीविलास, रसोनपिण्ड तथा ब्राह्मीरस से मकरध्वज देना चाहिए। कूठ चूर्ण ४ आना इसको मधु और ब्राह्मीरस या कुष्माण्ड वीज चूर्ण और मधु के साथ देना उत्तम है, इससे नींद ठीक आती है। वच चूर्ण एक तोला, कूट चूर्ण ¼ तोला, मधु १ तोला मिलाकर देना चाहिए। योगेन्द्ररस वीर्यस्राव जीवन मनोदैन्य में उत्तम है। इसको हरड़, वहेड़ा, आमला के शीतकषाय और मधु के साथ या गोदूध के साथ वरतना चाहिए। शरीर पर मालिश के लिये दशमूल तैल वृहत् या शिवा तैल वरतना चाहिए। रक्त का दवाव कम होने पर जरमासी का उपयोग उत्तम है। अश्व-गन्धा का उपयोग चूर्ण के रूप में लाभप्रद है।

प्रश्न—हिस्टीरिया (Hysteria) का वर्णन कीजिए ?

उत्तर—हिस्टीरिया (Hysteria) या अयन्त्रक—इसमें शारीरिक क्रियाओं का नाश होता है। परन्तु अवयव सम्बन्धी किसी रोग का कोई चिन्ह नहीं होता। यह अवस्था मानसिक होती है, यह उन व्यक्तियों में जिनमें नाड़ी संस्थान अस्थिर होता है, जब किसी प्रकार की मानसिक उत्तेजना या शारीरिक श्रम होता है, तब यह स्थिति आती है, प्रायः करके वह रोग स्त्रियों में होता है।

कारण—अज्ञात है, सम्भवतः एक से अधिक बात इसमें भाग लेती हैं, जो व्यक्ति अस्थिर मन या अविकसित मन वाले होते हैं, उनमें अपनी कल्पना या विचारों से बाह्य रूप में दूसरे व्यक्ति से मिली कल्पना या विचारों से यह स्थिति आ जाती है। रोगी किसी उलझन या समस्या को उलझाने का यत्न कर रहा होता है यद्यपि उसका परिणाम सन्तोषजनक नहीं मिलता। लक्षण प्रायः उस समय उत्पन्न होते हैं, जब कि कोई साहस का काम करने का विचार होता है रोगी अपनी चेष्टा के प्रति पूर्ण सचेत नहीं होता। यह रोग प्रायः करके १५ से ३० वर्ष तक तरुण युवतियों में होता है, मन में नर्व विकार के रोगों का परिवारिक इतिहास रहता है आत्मसंयम की कमी है, सामान्यतः स्वास्थ्य गिरा होता है। उत्तेजक कारणों में प्रायः मानसिक कथा शारीरिक आघात (Shock) कारण होता है, चिन्ता, उद्वेग और निराशा कारण होती है। इसमें शरीर सम्बन्धी कारण मुख्य रहते हैं स्त्रियों में प्रायः ऋतुस्राव के समय यह होता है।

इस रोग में मृत्यु की प्रकृति बच्चों जैसी हो जाती है; वह दूसरों पर आश्रित करता है, रोगी अपनी समस्याओं को सुलझाने में शारीरिक लक्षण उत्पन्न कर लेता है, इसी सुलझाने में इतना लीन हो जाता है कि उसमें मोह (Unconsciousness) उत्पन्न हो जानता है। रोगी को पता नहीं चलता कि लक्षण कितनी दूर तक पहुंच चुके हैं। प्रायोगिक दृष्टि से इन अवस्था में शारीरिक और मानसिक लक्षण दीखते हैं।) इसमें—

१. **शारीरिक लक्षण**—निर्देश या आदेश के द्वारा लक्षण उत्पन्न किए जा सकते हैं और आदेश के द्वारा अच्छे भी किये जा सकते हैं।

२. **मानसिक लक्षणों में**—स्मृतिनाश, प्रलाप, निद्रा, निरुद्देश, चेष्टायें (Juguer) रात में या बिना ज्ञान के चलना या क्रिया करना (somnam-

bulism) और अपने आप ही बड़बड़ाना होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि एक ही रोगों में हिस्टीरिया तथा अवयव रोग भी साथ में हो सकते हैं। ऐसा आघात वाले रोगियों में प्रायः अधिक सम्भव है।

१. शारीरिक लक्षण—

(क) चेष्टा सम्बन्धी—जब अंगों में स्तब्धता या काठिन्य होता है, तब अंगों में दूसरे व्यक्ति से गति करवाना कठिन होता है, इनको मोड़ नहीं सकते या ढीला नहीं कर सकते। जब रोगी स्वतः ऐच्छिक चेष्टायें करने का यत्न करता है, तब मांसपेशी में स्वतः उत्पन्न शैथिल्य या संकुचन का अनुभव किया जा सकता है। इस रोग में शिथिल रूप का घात अधिक होता है अपेक्षया स्तम्भिक रूप के। जब टाँगें आक्रान्त होती हैं, तब ये रोगी के पीछे-पीछे खिचती हैं। मांसपेशियों में विद्युत संचार ठीक प्रकार से होता है, इनमें किसी प्रकार का कार्श्य नहीं होता। हिस्टीरिया जनित कम्पन भिन्न-भिन्न मात्रा में होता है, ध्यान से बढ़ जाता है। हिस्टीरिया के कारण वाणी से शब्द नहीं निकलता (Aphonia), रोगी अस्पष्ट बोलता है, परन्तु खाँसने पर ठीक प्रकार से उच्चारण कर सकता है। स्वरपत्र द्वारा परीक्षा करने पर स्वरपत्र पूर्णतः संलग्न नहीं दीखता। मूकत्व (Mutism) में वाणी से बिल्कुल शब्द नहीं निकलता। यद्यपि गले को साफ करने या खांसने पर अथवा चर्वण में सब मांस पेशियां ठीक कार्य करती हैं। हिस्टीरिया जनित कास प्रायः बार-बार मिलता है।

(ख) इन्द्रिय सम्बन्धी लक्षण—इन्द्रिय ज्ञान का नाश केवल त्वचा में ही उत्तान रूप में होता है। सामान्यतः यह पूर्ण रूप से होता है। स्थिति ज्ञान अप्रभावित रहता है। १. एक आंख से न दिखाई देना या धुँधला अस्पष्ट दीखना, दृष्टिक्षेत्र का संकुचित हो जाना, किसी प्रकार के ऐन्द्रिय विकृति के बिना ही आक्षेप होना।

२. बाधिर्य प्रायः नींद में लुप्त हो जाता है।

३. स्वाय में न्यूनता, घ्राण में कमी।

४. नाना प्रकार की वेदनाओं की प्रतीति तथा स्पर्श ज्ञान को बढ़ जाना, विशेषतः बालों को खींचता प्रतीत होता है, पिण्डलियों में दर्द या ऐंठन होती है। छाती में कहीं पर स्पर्श अक्षमता अनुभव होती है यह अक्षमता, उदर, लक्षण में भी हो सकती है।

५. स्पर्श ज्ञान में परिवर्त्तन या स्पर्श ज्ञान का अनुभव न होना, एक पार्श्व में या दोनों पार्श्व में होता है। हिस्टीरिया के कारण अन्धत्व होता है वह सहसा होता है, यह सम्पूर्ण या अपूर्ण रूप में होता है। सम्पूर्ण अन्धत्व में आँख देखने के अक्षर पर में देखने में असमान रूप से दृष्टि क्षेत्र संकुचित होता है। एक आँख पर दवाव देकर एक वस्तु के दो रूप दिखाये जा सकते हैं। पुतली और दृष्टि वितान सदा स्वस्थ रहते हैं। हिस्टीरिया जनिक वाधिर्य में रोगी सोते समय नाम लेने से जाग जाता है, परन्तु जागने पर सुन नहीं सकता। हिस्टीरिया के कारण घ्राण शक्ति का नाश प्राय: करके सीसक नलकों का काम करने वालों में होता है, इसका कारण गैस का प्रधमन है, इससे ये लोग अमोनिया (NH_3) के वाष्प भी सूंघ नहीं सकते।

(ग) **अवयव सम्बन्धी लक्षण**—पाचन सम्बन्धी शिकायत प्राय: नहीं होती गले में किसी वस्तु का रुका होना हिस्टीरिया के कारण हो जाता है, जिससे रोगी निगरण नहीं करता, हिस्टीरिया के कारण रोगी को उदर फूला लगता है उसे गर्भावस्था या ओवेरियन सिस्ट का भ्रम हो जाता है (Hystirical aerophagu) हिस्टीरिया जनित वमन में भार में बहुत कमी आती है। इस वमन में किसी प्रकार का उत्क्लेश नहीं रहता, किसी भी प्रकार के भोजन से यह वमन नहीं सकता। कई रोगियों में आमाशय में कोई भी पदार्थ नहीं रुकता, जिससे कृशता आ जाती है। इन अवस्थाओं को पहिचानने में बहुत सावधानी वरतनी चाहिए। हिस्टीरिया प्रकृति वाली स्त्रियों में चिरकालीन उदरशूल के लिए कई बार पुन:-पुन: शस्त्रोपचार करना पड़ता है।

अरुचि—भूख का न लगना या वार-बार भोजन को इन्कार करना प्राय: होता है, यह वहुत गम्भीर स्थिति है, प्राय: युवती स्त्रियों में मिलती है। और सतत वढ़ती हुई कृशता अन्त में मृत्यु का कारण बन जाती है। प्रथम भोजन में अनिच्छा अनैच्छिक रूप में होती है, परन्तु पीछे जल्दी ही भोजन की चाह लुप्त हो जाती है। उदासीनता (Melancholia) रोग में जो अरुचि होती है, उससे इसका भेद करना चाहिए तथा अत: ग्रन्थियों या अवयवों से उत्पन्न क्षणिता से इसे पृथक करना आवश्यक है।

नर्वस की अवस्था में परिश्रम सम्बन्धी लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, इन लक्षणों में—श्वास फूलना [Brethlessness] चक्कर आना, हृदय धड़कन,

हृदय की द्रुत गति, स्वेद, दर्द. थकान हैं। ये व्यायाम से उत्पन्न हो जाते हैं अथवा बढ़ जाते हैं। ये लक्षण प्राय: उसके उद्वेग या उदासी से उत्पन्न हो जाते हैं और हिस्टीरिया के अथवा मानसिक विकृति के कारण ये बढ़ जाते हैं। शनैःशनै व्यायाम, काम में मन को लगाना उत्तम है, शारीरिक व्यायाम लाभ दायक है, विशेषत: सूर्य नमस्कार तथा आसन व्यायाम।

(च) **त्वचा सम्बन्धी लक्षण**—नीलिमा, धुंधलापमा, कृष्णता, नाना प्रकार की शोथ, हिस्टीरिया के कारण निष्क्रिय बने अंग में होती है। त्वचा पर नाखून से रेखा करने पर लाली देर तक बनी रहती है।

२—**मानसिक लक्षण**—हिस्टीरिया के कारण स्मृति का नाश सीमित समय के लिए हो जाता है, इसी प्रकार उत्तेजना के कारण प्रलाप बड़बड़ाहट भी हो जाती है। स्मृति नाश, चेतना विकार, झूठा भ्रम (Gainsess Synd. some) प्राय: कैदियों में होता है, मनुष्य अपनी जिम्मेदारी को नहीं समझता रोगी देर की निद्रा की स्थिति में रहता है, निरुद्देश चेष्टा; करना, स्मृति नाश तथा बिना चेतना के कार्य करना असम्बद्धता की साक्षी है।

३ – **हिस्टीरिया जनित मूर्च्छा का आक्रमण** (Lits)—कभी भी दिन में निश्चित समय पर नहीं होता, न रात्रि में सोते समय होता है। जैसा कि अपस्मार के आक्रमण में होता है। इससे रोगी जीभ नहीं काटता, सभा या समाज के सामने भी ये आक्रमण हो जाते हैं, रोगी कभी भी अपने को नुकसान नहीं पहुंचाता, यद्यपि दूसरों से इसको हानि हो जाती है। आँखें प्राय: खिची रहती हैं, हाथ एक दूसरे में फंसे रहते हैं। हिस्टीरिया के आक्रमण के पीछे अपस्मार का आक्रमण हो सकता है। इसमें हंसना, चिल्लाना हो सकता है।

पूर्वकथन – अकेले लक्षण स्वस्थ करने बहुत सरल हैं परन्तु वे फिर भी हो सकते हैं। साध्यासाध्यता काम के कारण पर तथा कहाँ तक रोगी में प्रभाव हो गया है, इस पर निर्भर है।

चिकित्सा—इसमें स्थानिक लक्षणों की चिकित्सा ही की जाती है। मानसिक चिकित्सा विशेष लाभदायक है। खास कारण तथा परिस्थितियों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। रोगी के मन को कार्य में लगाए रखना चाहिए। रोगी के स्वभाव में किन कारणों से उत्तेजना होती है, उन कारणों को अवश्य जानना चाहिए। रोगी

में आत्मसपन, आत्मविश्वास पैदा करना चाहिए, आक्षेप और मानसिक उत्ते-जना के लिए ब्रोमाईक १५ ग्रेन, टिंचर वैलेरियन १६ बूँद मिलाकर देना चाहिए। मूर्च्छा या संन्यास अवस्था को रोकने के लिए तीव्र सूँघने की वस्तु, जिससे छींक आए, आँखों में तेल या चन्द्रोदय वर्ती या मधु का अंजन चाहिए। पाचन सम्बन्धी शिकायतों तथा आध्मान के लिए टिंचर एसैफिरेट १० बूँद ऊपर के मिश्रत में मिला देना चाहिए। पक्षाघात के लिए विद्युत संचार उत्तम है। हिंग्वाष्टिक चूर्ण या हिंग्वादिवटी या लसुनादिवटी, आध्यान के लिए उत्तम है।

आयुर्वेद में—प्रथम रोगी को संज्ञा में लाने के लिए कटफलनस्य या वचा-दिनस्य या महेन्द्र सूर्यरस या श्वास कुंठार सूँघने को देना चाहिए। इससे रोगी में चेतना आने पर वातिक अपस्मार में वातकुलान्तक, त्रैलोक्य चिन्ता-मणि वरतने चाहिए। रोगी के शरीर पर पीली सरसों का लेप करें श्लैष्मिक अपस्मार में नारदीय लक्ष्मीविलास, उन्माद भजकेशदी, कल्याणक चूर्ण, चतुर्भजरस, रसोनपिण्ड का प्रयोग करना चाहिए। पैत्तिक अपस्मार में वात कुलान्तक, चतुर्भजरस, लह्वान्दरस त्रैलोक्य, चिन्तामणि वरतना चाहिए। इसमें अनुमान कुठभाण्ड रस होना चाहिए। वातिक अपस्मार में कृशता होने पर चतुर्मुख, चिन्तामणि चतुर्मुख, या योगेन्द्ररस वरतना चाहिए। शरीर पर त्रिशती प्रसारणी तेल या पलंगसांध तैल वरतना चाहिए। इसके साथ में शिवाघृत या चैतसघृत देना चाहिए। पैत्तिक अपस्मार की पुरातनावस्था होने पर चिन्तामणि चतुर्मुख रस, योगेन्द्ररस, वृहत्पंचगव्य घृत, कुष्माक घृत आदि देने चाहिए। श्लैष्मिक अपस्मार की पुरातन अवस्था में रसोनभिण्ड, महार-सोनापिण्ड, त्रैलोक्य चिन्तामणि वरतने चाहिए। रोगी कृश हो तो पौष्टिक भोजन देना चाहिए।

आघातजनित हिस्टीरिया (Tracematic Hystiria)—किसी प्रकार की घटना होने तत्काल पीछे अथवा घटना के कुछ दिन या सप्ताहों पीछे रोगी में हिस्टीरिया के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यह अवस्था विशेषता शिर या पीठ पर आघात लगने से होती है। इस अवस्था में सदा विद्धन या बेचैनी रहती है, जिसका कारण रोगी के मन अस्थिरता है, रोगी जब भी अपने काम में लगता है, उनमें पुनः उस पुरानी अवस्था के लौट आने का भय बना रहता है। यह स्थिति प्रायः करके श्रमिक लोगों में होती है, जो कि भयानक कार्य

या धन्धे में लगे होते हैं। जो लोग जमीन से ऊपर ऊँचाई में काम करते हैं; उनमें भी यह स्थिति आती है।

लक्षण—मानसिक दृष्टि से, रोगी अपने लिए अतिशय चिन्तित रहता है, सदा अपने विषय में ही सोचता या अनुभव करता रहता है, वह अपनी शिकायत को बहुत गम्भीर रूप में सोचता या देखता है। यह चिड़चिड़ा और नींद न आने से परेशान हो जाता है। उसकी बेचैनी पूर्ण स्वस्थता न मिलने पर, काम पर लौटने से, धन के प्रश्न के कारण और भी बढ़ जाती है। शारीरिक दृष्टि से, हिस्टीरिया के सब लक्षण इसमें दीखते हैं, कम्पन, घात, आक्षेप, हिस्टीरिया जैसी चाल और स्थिति, इन्द्रियों की संवेदना तथा त्वचा का ज्ञान हिस्टीरिया रोगी के समान हो जाता है। प्रायः करके हृदय में द्रुतगति, रक्त दबाव का कम होना, और भार में न्यूनता होती है। सब प्रकार की वेदना में अनुभव होती है, ये वेदनायें वास्तव में अवयव के रोग के कारण भी हो सकती हैं, जैसे पृष्ठवंश की सृजन (Spoudy litris)। अवास्तविक रूप में यह प्रवृति रहती है कि अपने लाभ के लिए दूसरों को ठगा जाए।

चिकित्सा—विस्तर पर दो सप्ताह के लिए विश्राम देना चाहिए। साथ में एक्स-रे और नर्व सम्बन्धी पूर्ण परीक्षा करवानी चाहिए। यदि अवयव सम्बन्धी विकार न हो, तो रोगी को उसकी बीमारी स्पष्ट कर देनी चाहिए और उसके लक्षण सावधानी से समझा देने चाहिए। नींद लाने के लिए निरातु या आवसादक औषध का देना आवश्यक है। शनैः शनैः यांत्रिक आसन व्यायाम सूर्यनमस्कार जिमने जियम व्यायाम, शारीरिकक्रम, सीढ़ी पर चढ़ना उतरना, भार उठना, ये सब करने चाहियें। प्राणायाम उत्तम है।

नोट :—योसापस्कर के नाम से इस रोग का वर्ण प्रसूतितन्त्र नामक विषय में पोदे कराए हैं उसका अवलोकन करना चाहिए।

चतुर्थ पत्र

आयुर्वेद का इतिहास

प्रश्न—आयुर्वेद किसे कहते हैं ? उसकी प्राचीनता के विषय में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर—आयुर्वेद शब्द मुख्य रूप से दो शब्दों का योगिक है आयु और वेद। इसका सीधा अर्थ हुआ कि आयु का वेद आयुर्वेद कहलाता है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि आयु किसे कहते हैं। आयु का लक्षण बताते हुए चरक संहिता में लिखा है कि "शरीर, इन्द्रिय, सत्व और आत्मा के संयोग को धारि जीवित कहा जाता है यह और नित्यग, अनुबन्ध भी आयु के पर्यायवाची नाम हैं।"[1] अब रहा वेद किसे कहते हैं—इसके लिए 'विद ज्ञाने' के अनुसार वेद का सीधा अर्थ ज्ञान होगा। इस तरह आयुर्वेद की परिभाषा वही रही कि आयु का ज्ञान। और आयु में न केवल शरीर अपितु आत्मा मन आदि चारों भावों का ज्ञान। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शरीर इन्द्रिय—मन एवं आत्मा विषय ज्ञान जिस शास्त्र में उस शास्त्र को आयुर्वेद कहा जाता है।

उपर्युक्त विषय को ही और स्पष्ट करते हुए चरक संहिता में आयुर्वेद की परिभाषा इस प्रकार लिखी है—

"हितमय, अहितमय, सुखमय, दुखमय, आयु का तथा आयु के लिए हितकारक तथा अहितकारक (द्रव्य-गुण-कर्म) का एवं आयु के मान का जिस शास्त्र में वर्णन हो उस शास्त्र को आयुर्वेद कहते हैं।"[2]

काश्यप संहिता के विमान स्थान में तो और भी स्पष्ट रूप से आयुर्वेद के विषय में व्याख्या की गई है। उसका आधार सम्भवतः इस बात पर आधारित है कि "धर्म का मुख्य साधन शरीर है।"[3] इसी लिए वहाँ आयुर्वेद का स्थान और भी उच्च बताया गया है। वहाँ पर कहा गया है

---

१. "शरीरेन्द्रीय सत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम् !
नित्यगश्चानु बन्धस्च पर्यायैरायु रुच्यते ॥" (च० सू० अ० १)

२. "हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेद स उच्यते ।" (च० सू० १.)

३. "शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्" (कालिदास)

"कि आयुर्वेद पांचवां वेद है। उनकी कल्पना है कि जिस प्रकार एक हाथ में चार अंगुलियाँ होती हैं और एक अंगूठा, उसी प्रकार चार वेद हैं और एक आयुर्वेद। वहाँ अंगूठा हाथ में एक ही होता हुआ नाम और रूप से भिन्न है। उसका शासन चारों अंगुलियों पर रहता है—वह चाहे पांचवाँ वेद है तो भी इन चारों में प्रमुख है।"[1]

वास्तव में यह बहुत महत्व की बात कही गई है। वेदों में आत्मा, मन, शरीर आदि विषयों की व्याख्या की गई है और यह कहा जाता है कि इनके द्वारा धर्म अर्थ-काम और मोक्ष नामक साधनों की प्राप्ति होती है। इसीलिए इन चारों वेदों को महान कहा गया है कि देखा जाए तो इन भागों से भी आरोग्य को अधिक महत्वपूर्ण कहा गया है क्योंकि यदि मनुष्य को आरोग्यता प्राप्त नहीं तो वह चारों धर्मार्थ आदि को प्राप्त नहीं कर सकता। इस दृष्टि से आरोग्य सर्वोत्तम है और इसीलिए उसको प्राप्त करने का साधन आयुर्वेद अन्य वेदों की अपेक्षा सर्वोत्तम होगा।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आयुर्वेद आयु का वेद है, वह अन्य चार वेदों की तरह पाँचवां वेद है और उसका अपना महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि धर्मार्थ काम मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति आरोग्य से होती है और आरोग्य का देने वाला आयुर्वेद है।

आयुर्वेद की प्राचीनता के विषय में विचार करते समय हम ऐसे प्रमाण पाते हैं कि यह सृष्टि के आरम्भ से ही है इसकी उत्पत्ति कब हुई इस विषय में कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं। उनका कहना है कि बालक के पैदा होने से पूर्व ही जैसे स्तन दूध बनाने लग जाते हैं उसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति से

---

१. "तद्यथा—दक्षिणे पाणौ चत सृणामङ्गुलीनामङ्गुष्ठ आधिपत्यं कुरुते न च नाम ताभिः सह समता गच्छति, एकास्मिश्च पाणौ भवति। एवमेव-ां यमृग्वेदयगुर्वेद सामवेदाथर्व वेदभ्यः पञ्चयो भवत्यायुर्वेदः। यथा हि वेदेषु सततं ब्रह्मश्रौत्रिवर्गसंयुक्तं पुरुप निश्रयसं चिन्त्यते ; एवमेवास्मिन्नपि वेदे निदानोत्पत्तिलिगरिष्ट चिकित्सितैः सततमैव हितसुखकरं त्रिवर्गसगभूतं पुरुप निश्रयसं चिन्त्यते। (काश्यप)

"धर्मार्थकाममोक्षाणं आरोग्यं मूलयुन्तमम्।" (चरक)

पूर्व ही उस सृष्टि के लिए कुछ साधनों का प्रादुर्भाव होता है और उनमें एक साधन आयुर्वेद भी है। हम आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में ऐसे प्रमाण पाते हैं जो कि सिद्ध करते हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व ही आयुर्वेद की उत्पत्ति हो गई थी।[1]

अब दूसरी ओर विचार कीजिए। प्रलय के पश्चात् जो भी उत्पन्न होता है उसको ब्रह्म जी से उत्पन्न माना जाता है और ऐसा नियम है कि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, अतः सृष्टि आरम्भ में जो भी होता, है, उसकी विद्यमानता (कारण) प्रलय से पूर्व अवश्य होगी। और ऐसी सभी चीजों को 'शाश्वत' कहा जाता है। आयुर्वेद भी 'शाश्वत' है। यह भी ब्रह्मा जी ने जाना था देखिए स्वयं चरक में कहा गया है—"स्वयं एवं आतुर सम्बन्धी हेतु ज्ञान, लिङ्ग ज्ञान और औषध ज्ञान इन तीनों सूत्रों वाले आयुर्वेद को शाश्वत जानना चाहिए यह पुण्यजनक है और ब्रह्मा जी ने जाना था।"[2]

इसकी उत्पत्ति के विषय में कोई प्रमाण नहीं मिलते और यह अनादि है, इसका वर्णन करते हुए चरक संहिता में कहा गया है कि "वह आयुर्वेद अनादि होने से; लक्षण के स्वभाव सिद्ध होने से तथा भावों के स्वभाव के नित्य होने के कारण शाश्वत (नित्य) है।

"अनादि होने का यह कारण है कि कभी भी ऐसा नहीं जब शरीर इन्द्रिय मन आत्मा इनके संयोग रूप आयु का प्रवाह न रहा हो, और न ही कभी ऐसा हुआ जब बुद्धि का प्रवाह न रहा हो, अतः आयु तथा बुद्धि के प्रवाह के अनादि होने के कारण आयुर्वेद अनन्त है। एतंद नित्य है, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति नहीं होती उसका विनाश भी नहीं होता। आयु का ज्ञाता (क्षेत्रज्ञ आत्मा-राशि पुरुष) भी नित्य है। अतः ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय के नित्य होने से आयुर्वेद भी नित्य है।"

"द्रव्य, लक्षण, हेतु के साथ सुख और दुःख भी अनायि हैं। कभी

---

१. "अनुत्पद्यैव प्रजा आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत्॥ (सु० सू० १.)
"आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत ततो विश्वानि भूतानि॥" (काश्यप)

२. "हेतुलिंगौषधज्ञानंस्वस्थातुर परायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामह॥" (चरक सू० अ० १.)

आरोग्य होता है और कभी रोग। और यह भी सत्य है कि दुख से छुटकारा पाने की इच्छा प्राणीमात्र में रहती है और सुख के स्थिर रखने की इच्छा भी रहा करती है। जहाँ इच्छा हो वहां उपाय अवश्य होता है। और सुख को स्थिर रखने वाला तथा दुःख के दूर करने का उपाय आयुर्वेद है क्योंकि इसका प्रयोजन ही स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगी के रोग को दूर करना कहा गया है। इस प्रकार दुःख एवं सुख के नित्य होने से उनका उपाय आयुर्वेद भी नित्य है—ऐसा मानना ही होगा।"

"लक्षण के स्वभाव सिद्ध होने से भी मानना पड़ता है कि आयुर्वेद शाश्वत है। आयुर्वेद के प्रतिपाद्य विषय सुख दुख आयु आदि का जहां वर्णन है—वही आयुर्वेद है। और यह लक्षण स्वभाव सिद्ध हैं अतः आयुर्वेद शाश्वत है।"

"भावों के स्वभाव के नित्य होने से ही आयुर्वेद को नित्य मानना पड़ता है गुरु लघु आदि द्रव्यगत गुण स्वभाव से ही शरीर में गुरुता लघुता आदि उत्पन्न करते हैं। चाहे अनित्य हो तो भी इनके लक्षण (गुरु से शरीर का पोषण होना) आदि नित्य है। इसी प्रकार पंचमहाभूतों के स्वभाव भी नित्य हैं अतः व्याधिजनक भावों के स्वभाव के नित्य होने के कारण आयुर्वेद को नित्य मानना होगा।

अब शंका होती है कि "आयुर्वेद की तो उत्पत्ति सुनी जाती है अतः किस प्रकार कहते हैं कि यह शाश्वत है?" इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि "आयुर्वेद पहले नहीं था पश्चात् उत्पन्न हुआ ऐसा कहीं नहीं मिलता। हाँ, यह अवश्य मिलता है कि किसी व्यक्ति विशेष को बोध हुआ और उसने अपने शिष्यों को उपदेश किया। कई बोध और उपदेश को ही दृष्टि में रखकर 'उत्पत्ति' शब्द का व्यवहार करते हैं। वस्तुतः वही 'उत्पत्ति' नहीं है। किसी को बोध हुआ और उसने अपने शिष्यों को उपदेश दिया उस को उत्पत्ति नहीं कहा जा सकता।"

"जैसे अग्नि की उष्णता तथा जल की द्रवता यह लक्षण स्वाभाविक ही हैं—उसी प्रकार आयुर्वेद का, "सुखमय-दुखमय आयु और उसके लिए सुख कारक एवं दुखकारक पदार्थ तथा आयु का प्रमाण" वाला लक्षण भी स्वाभाविक है—इसे किसी ने नहीं बनाया अतः यह नित्य है। और 'गुरू पदार्थों के सेवन करने से धातुओं की वृद्धि और लघु धातुओं का ह्रास होता

है" यह भी नित्य स्वभाव है किसी ने बनाया नहीं है। इस तरह हम कह सकते हैं कि "आयुर्वेद के अनादि होने से, लक्षण के स्वभाव सिद्ध होने से तथा भावों के स्वभाव के नित्य होने से वह (आयुर्वेद) शाश्वत है।"[1]

इस प्रकार के प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है आयुर्वेद की प्राचीनता के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसका कोई आदि नहीं मिलता। इस बात को और तरह भी सिद्ध कर सकते हैं। वेदों को सर्व प्रथम रचना कहा जाता है। हम इस विषय में न पड़कर इतना तो मानेंगे ही कि प्राचीनतम रचना है। इनका अवलोकन करने से विदित होता है कि आयुर्वेद के त्रिसूत्र विषयक अनेक सन्दर्भ वहाँ यत्र तत्र बिखरे मिलते हैं जो सिद्ध करते हैं कि आयुर्वेद उससे पूर्व काल में अथवा उस समय में था। यह बात भी आयुर्वेद की प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

अतः हम कहेंगे कि आयु का विद्वान आयुर्वेद है और वह इतना प्राचीन है कि जिसका हम आदि नहीं ढूंढ़ सकते।

प्रश्न—"वेदों में आयुर्वेद विषयक ज्ञान हैं।" सप्रमाण सिद्ध कीजिए ?

उत्तर—वेद चार हैं।

(क) ऋग्वेद।

(ख) यजुर्वेद।

---

१. सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्स्वभाव संसिद्धलक्षत्वाद् भावस्वभावनित्यत्वाच्च न हि नाभूत्कदाचिदायुषः सन्तानो बुद्धि सन्तानो वा, शाश्वतश्चायुषो वेदिता, अनादि च सुख दुःखं सद्रव्यहेतु लक्षणमपरापरयोगात्, एव चार्थसंग्रहो विभाव्यते आयुर्वेद लक्षणमिति, गुरुलघु शीतोष्ण स्निग्धरूक्षादीनां च द्वन्द्वानां सामान्य विशेषाभ्यां वृद्धिह्रासौ यथोक्तं—'गुरुभिरभ्यस्वयानैर्गुरुणामु पचयो भवत्यपचयो लघूनामेवमेवेतरेषाम्' इत्येष भावस्वभावो नित्यः स्व स्वलक्षणं च द्रव्याणां—सन्ति त द्रव्याणि गुणाश्च नित्या नित्याः। न ह्यायुर्वेदस्याभूतोत्पत्तिरुपलभ्यते, अन्यत्रावबोधो प्रदेशाभ्याम् एतद्वै द्वयमधिकृत्योत्पत्तिमुपदिशन्त्ये के। स्वभाविकं चास्य लक्षणमकृतकं, यदुक्तमिह चाद्येऽध्याय। यथाऽग्नेरौष्ण्यमपां द्रवत्वं, भाव स्वभाव नित्यत्वमपि चास्य, यथोक्तं—गुरुभिरभ्यस्य मानैर्गुरूणामुपचयो लघूनामित्येवमादि।" (च० सू० अ० ३०)

(ग) सामवेद।
(घ) अथर्ववेद।

ऋग्वेद—ऋग्वेद का विभाग दो रूपों में किया गया है—

(i) अष्टक, अध्याय, सूक्त।
(ii) मण्डल, अनुवाक, सूक्त।

इसमें १० मण्डल, १०२८ सूक्त तथा कुल मिलाकर ११००० मन्त्र हैं।

(i) शाकल।
(ii) वाष्कल।
(iii) आश्वलायन।
(iv) सांखायन।
(v) माण्डूकायन।

वेदों की रचना में ऋग्वेद का निर्माण सबसे प्रथम हुआ है। इसके निर्माणकाल के विषय में बहुत मतभेद है तो भी इतनी बात सबने स्वीकर की है कि यह बौद्ध धर्म से बहुत पूर्व की रचना है। इसका काल १२०० ई० पूर्व से ६००० ईसवी पूर्व तक का मानते हैं। इसमें उस समय की संस्कृति, सभ्यता एवं शिल्प का दिग्दर्शन किया जा सकता है।

ऋग्वेद में आयुर्वेद विषयक कितने ही तथ्य उपलब्ध होते हैं जिसके द्वारा सिद्ध होता है कि उस समय भी आयुर्वेद का ज्ञान था। कुछ प्रमाण नीचे दे रहे हैं—

(१) आयुर्वेद के आचार्यों के नाम—ऋग्वेद के मन्त्रों में दिवोदास, भारद्वाज, अश्विनी के नाम आता है। आयुर्वेद में दिवोदास को शल्य तन्त्र का पृथ्वी पर प्रचार करने वाला और भारद्वाज को पृथ्वी पर काया चिकित्सा का प्रचार करने वाला मानते हैं। अश्विनी दोनों शाखाओं के पारंगत थे। एक मन्त्र में पुरोहित अगस्त्य खेल नामक राजा की पत्नी विस्पला की युद्ध में टाँग टूट जाने पर लोहे की टाँग लगाने लिए प्रार्थना करता है।

(२) आँखों का दान—ऋजाश्व को उसके पिता वृषगिरी ने शाप से अन्धा बना दिया था, क्योंकि उसने वृक के लिए एक सौ भेड़ों को दिया था। इस ऋजास्व को अश्विनों ने पुनः आँख प्रदान की थीं, क्योंकि अश्विनी ही वृक रूप में थे।

(३) च्यवन ऋषि को पुनः यौवन—इसका उल्लेख भी मिलता है।

(४) दिव्य वैद्य—वेद में दिव्य वैद्य के लक्षण बताए हैं वह लक्षण चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता में पाए जाने वैद्य के लक्षणों से साम्यता रखते हैं।

(५) राक्षसों का वर्णन—रक्षः असुर, मातुधान आदि नामों से राक्षसों का वर्णन किया है जो कि आयुर्वेद के कृमि समझने चाहिएँ। सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय २० में वेदों के वचनों द्वारा इनका उपाय करने के लिए लिखा है।

(६) औषध का वर्णन—औषधि के विषय में कई प्रकार का वर्णन मिलता है। वहाँ पर औषध को माता कहा गया हैं। वहाँ पर कहा गया है किन्तु जलजन्तु युग, सर्वयुग और पशु युग इन युगों के पश्चात् मनुष्ययुग हुआ किन्तु औषध इन सबसे पहले उत्पन्न हुई। औषध की शक्ति (वाजमन्) का भी वर्णन वहाँ पर आया है।

(१) रोगों का वर्णन—कई प्रकार के रोगों को शरीर से निकाल देने के विषय में सूत्र आए हैं। भिन्न-भिन्न अंगों से रोग को दूर करने का विधान कहा गया है।

(८) जल चिकित्सा—जल को सर्वश्रेष्ठ औषध कहा गया है। सभी रोगों के लिए जल सर्वोत्तम कहा गया है।

(९) प्रसूति सम्बन्धी ज्ञान—गर्भाशय तथा योनि के रोगों को दूर करने के लिए अग्नि तथा अन्य साधनों का उपयोग बताया गया है।

(१०) सौर चिकित्सा—सूर्य की किरणों द्वारा कृमि नाशक कर्म का उल्लेख मिलता है। आज भी सूर्य राशि से चिकित्सा की जाती है।

(११) वायु का वर्णन—प्राण और अपान वायु का वर्णन किया गया है। वायु को अमृत का खजाना कहा गया है।

(१२) मानसा चिकित्सा—मन और आतुरी के बल के विषय में भी वहाँ वर्णन किया गया है।

यजुर्वेद—इसके दो भाग है—कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद। वैशम्पायन कृष्ण यजुर्वेद के और यज्ञवल्क्य शुक्ल यजुर्वेद के ऋषि हैं। यजुर्वेद में ४० अध्याय है। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएँ हैं—

(१) तैत्तिरीय।

(२) मैत्रायणी।

(३) काठक।

(४) कपिष्टल।

शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ हैं—

(१) काण्व (२) माध्यान्दिन।

यजुर्वेद में आयुर्वेद सम्वन्धित ज्ञान वहुत स्थानों पर आया है। उसके अनेक प्रमाण मिलते है। कुछ निम्न हैं, जो सिद्ध करते हैं कि उस समय आयुर्वेद का ज्ञान था—

(१) औषधि सूक्त—यजुर्वेद में औषधियों के लिए अनेक मन्त्र आए हैं। इनसे स्पष्ट है कि औषधियों का प्रयोग यज्ञ कर्म तथा स्वास्थ्य के लिए विशेष रूप से होता था। इसमें औपधियों से नाना प्रकार की प्रार्थनाएँ की गई हैं। ऋग्वेद के मन्त्र भी इसमें दिये गए हैं।

(२) दिव्य वैद्य—दिव्य वैद्य के गुणों का वर्णन किया गया है।

(३) वातादि का उल्लेख—वायु-पित्त के विपय में भी वर्णन उपलब्ध होता है, जो कि आयुर्वेद के मूल आधार है।

(४) धातुओं का वर्णन—स्वर्ण, चाँदी, लोह, सीसक का ज्ञान था और उसका वर्णन भी किया गया है।

सामवेद—सामवेद की ऋचाएँ छन्द कहलाती हैं। केवल ७५ ऋचाएँ स्वतन्त्र है शेष सव ऋग्वेद आदि से ग्रहण की गई हैं। इसकी तीन शाखाएँ हैं।

(क) कौथुमी।

(ख) जैमिनीय।

(ग) राणायनीय।

इसमें विशेष रूप से गायन आदि के विषय में वर्णन मिलता है।

अथर्ववेद—इसमें वीस काण्ड है, जो प्रपाठक, अनुवाक और सूक्तों में वंटे हुए हैं। इसकी दो शाखायें हैं—

(१) शौनक, (२) पिप्पलाद।

वास्तव में आयुर्वेद का घनिष्ठ सम्वन्ध अथर्ववेद से ही है। आयुर्वेद इसी का उपवेद कहा जाता है। इसमें आयुर्वेद के विपय वहुत विस्तार से वर्णित किये गए हैं। कुछ पुष्ट प्रमाण निम्न हैं—

(१) शान्ति कर्म—अथर्व वेद में विशेष रूप से स्वस्ति पाठ आदि है। वास्तव में यह भी चिकित्सा कर्म है। काश्यप संहिता में व्रत, तप, दान, आदि शान्ति कर्मों के लिए भेपज शब्द का प्रयोग किया है।

(२) कृमि विज्ञान—अथर्व वेद में कृमि विज्ञान बहुत बढ़ गया होगा। उसमें रक्त और माँस को दूषित करने वाले कृमियों को मारने के साधन कहे हैं। आँत्रों में, सिर में और पीठ में उत्पन्न कृमियों को नाश करने का विधान कहा गया है। एक स्थान पर कहा गया है कि जिन कृमियों का पेट काला है, भुजाएँ श्वेत हैं और जो कृमि नाना रूप बदलते हैं उनको नष्ट करता हूँ। इसी प्रकार कहा है कि जिन कृमियों के पैर पीछे को और ऐड़ी आगे को है और मुख सामने हैं, ऐसे कृमियों को नष्ट करता हूँ। इस प्रकार उड़ कर रोगों को लाने वाले सभी मच्छरों को नष्ट करने का विधान भी आया है। इस प्रकार अनेक और भी प्रसंग आए हैं।

(३) वनस्पतियों का ज्ञान—अथर्ववेद में वनस्पतियों का वर्णन विस्तार से मिलता है। उनमें से कुछ वनस्पतियाँ प्रसिद्ध हैं—कुछ के नाम आज प्रचलित हैं। उन वनस्पतियों के विशेष प्रयोग का वर्णन भी है। उस समय में रोग नाशनार्थ केवल एक वनस्पति के प्रयोग का ही विधान था, कई वनस्पतियों को मिलाकर प्रयोग नहीं करते थे।

पिप्पली, अपामार्ग, पृश्निपर्णी, माँस रोहिणी, अश्वत्थ, न्यग्रोध, अर्जुन, पिलखन, अजश्रृंगी आदि का वर्णन है।

किलास और कुष्ठनाशनार्थ श्यामा नामक औषध का केषवर्धन के लिए क्लीवत्व नाश के लिए औपन का वर्णन किया गया है।

हृदयरोग और कामला की चिकित्सा सूर्य की किरणों के द्वारा किया जाना बताया गया है।

मूढ़गर्भ और अश्मरी, अश्मरी मूत्राघात में यन्त्र आदि से शस्त्र कर्म तथा विदारण करने का विधान मिलता है।

(४) रक्त संचार—दो प्रकार की रक्तवाहिनियों का वर्णन किया है जिन में एक लाल रक्त का वाहन करती है और दूसरी नीले रक्त का वाहन करती है।

यहाँ पर सिरा धमनी आदि का विस्तार से विचार किया गया है। उनकी संख्या भी कही गई है।

(५) अंगों के नाम—गुल्फ, अँगुली, जानुसन्धि, उरू, स्कन्ध, स्तन, मस्तिष्क आदि शरीरांगों का वर्णन भी अथर्ववेद में मिलता है।

(६) रोगों के नाम—अथर्ववेद में भिन्न २ अंगों में होने वाले रोगों के नाम भी वर्णित पाए जाते हैं।

(७) सद्वृत—अथर्ववेद में सद्वृत का वर्णन उपलब्ध होता है।

(८) रोग विज्ञान—जलोदर, राज्यक्ष्मा, अर्श आदि का वर्णन उपलब्ध होता है। ज्वर का वर्णन भी मिलता है।

(९) त्रिदोषवाद—वातादि की समता को आरोग्य और विषमता को रोग संज्ञा दी है। वात पित्त कफ का अलग २ वर्णन भी उपलब्ध होता है।

(१०) शल्यतन्त्र—क्षत, विद्रधि, व्रण, भग्न, रक्तस्राव, अपची बन्धन, छेदन, वेधन आदि विषयों का वर्णन भी अथर्ववेद में प्राप्त होता है।

(११) रसायन वाजीकरण—रसायन वाजीकरण आदि के विषय में भी वर्णन उपलब्ध होते हैं।

(१२) स्वर्ण का प्रयोग—यजुर्वेद में धातुओं का वर्णन है, यहाँ पर भी स्वर्ण का वर्णन मिलता हैं।

(१३) अंगद तन्त्र—विषनाशक क्रियाओं का वर्णन भी यत्र तत्र मिलता है।

इस प्रकार से आयुर्वेद सम्बन्धित विषयों का अथर्ववेद में विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है।

इस प्रकार देखने से तथा ऊपर के प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वेदों में आयुर्वेद विषयक ज्ञान है। अन्य वेदों की अपेक्षा अथर्ववेद में इस विषय में अधिक विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है। अथर्ववेद अन्य वेदों की अपेक्षा काफी बाद की कृति है उस समय तक रोगों की औषधि की आवश्यकता हो गई होगी। इसी से उस समय इसका विस्तार से वर्णन किया होगा।

यह बात स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि वेद कोई आयुर्वेद के स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं उनमें तो कृषि शिल्प आदि जीवनोपयोगी विषय तथा आध्यायम विषयों का भी वर्णन है। क्योंकि उस समय संस्कृति, सभ्यता, साहित्य इतिहास एवं विज्ञान इन सब की अलग शाखाएँ नहीं हुई थीं। अतः सभी विषयों का उपयोगी विवरण वेदों में ही उपलब्ध होता है।

इतनी बात अवश्य सिद्ध है कि वेदों में आयुर्वेद विषयक महत्वपूर्ण विषयों का समावेश किया गया है।

अथर्ववेद के विषय में एक बात और भी ज्ञातव्य है कि उसकी अपनी चिकित्सा है जिसे अथर्व चिकित्सा कहा जाता है। इस चिकित्सा को अथर्व ऋषि ने कहा है।

अथर्व चिकित्सा चार प्रकार की कही गई है—

(क) आथर्वणी—इसमें जय, होम, दान स्वस्तिवाचन आदि द्वारा उपचार किया जाता है।

(ख) आंगिरस—यह चिकित्सा मानसिक शक्ति से सम्बन्ध रखती है।

(ग) दैवी—वायु जल पृथ्वी आदि से सम्बन्ध रखती है।

(घ) मानुषी—औषधियों से सम्बन्ध रखती है।

मनु ने कहा है कि आथर्वणी चिकित्सा आथर्व ऋषि ने बनाई। आङ्गिरसी आंगिरस ऋषि ने बनाई। इसमें कृत्या उत्थापन आदि क्रियाओं का वर्णन किया गया है।

प्रश्न—ब्राह्मण ग्रन्थों में और उपनिषदों में आयुर्वेद विषयक विवरण का सप्रमाण वर्णन कीजिए ?

उत्तर—(१) ऋग्वेद के ब्राह्मण—(क) ऐतरेय (ख) कौषीतकी

(२) शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण—शतपथ

(३) कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण—तैत्तिरीय

(४) सामवेद के ब्राह्मण—ताण्ड्य (ख) छान्दोग्य

(५) अथर्ववेद का ब्राह्मण—गोपथ

ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रधान विषय यज्ञ का वर्णन करना है। इसके अतिरिक्त इतिहास, आख्यान, पुराण तथा प्रार्थनाओं की व्याख्या है। शतपथ नामक ब्राह्मण ग्रन्थ एक सौ अध्यायों का विशाल और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें यज्ञों के विधानों के अतिरिक्त प्राचीन आख्यानों और सामाजिक विषयों का वर्णन भी है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में आयुर्वेद विषयक ज्ञातव्य उपलब्ध होते हैं। उनमें से कुछ निम्न हैं—

(१) रोग उत्पत्ति—व्याधियाँ ऋतु सन्धि काल में विशेष रूप से उत्पन्न होती है। इसमें कहा गया है कि ऋतु सन्धि काल में विशेष रूप का आहार विहार का प्रयोग करना चाहिए और रोगों से बचने का यही अच्छा उपाय है। आयुर्वेद की प्राप्त संहिताओं में जिस प्रकार की ऋतु चर्या कही गई है उसी प्रकार की ऋतुचर्या का वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में भी पाया जाता है।

(२) चतुर्विध औषध—ब्राह्मण ग्रंथों में औषध को चार प्रकार का कहा गया है।

(क) सुगन्धित—केसर, कस्तूरी, अगर, तगर, चन्दन, जायफल, इलायची आदि।

(२) पुष्टिकारक—घी, दूध, फल, अन्न, कन्द आदि
(३) मिष्ट द्रव्य—शक्कर, शहद, दाख, छुहारे आदि
(४) रोगनाशक—कूठ, गिलोय आदि द्रव्य

(३) अस्थिसंख्या—चरक संहिता के समान ही शरीर रचना का वर्णन करने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों में शरीर को छः भागों में विभक्त किया है। यथा दो टाँगें, दो हाथ, सिर और मध्य भाग।

चरक के समान ही ३६० अस्थियाँ कही गई हैं जो सुश्रुत के अनुसार वेदवादियों के मतानुसार है क्योंकि सुश्रुत ३०० अस्थियाँ मानता है।

शतपथ ब्राह्मण में शरीर के बहुत से अंगों का नाम निर्देश किया गया है।

(४) कृमियों का वर्णन—जो आँख से नहीं दिखाई देते ऐसे सूक्ष्म प्राणियों को वैदिक साहित्य में कृमि, राक्षस, सर्प आदि नामों व वर्णित किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इनका वर्णन उपलब्ध होता है।

(५) रोग और चिकित्सा—ऐतरेय ब्राह्मण में देवताओं का चिकित्सक अश्विनों को कहा गया है। वहाँ पर ज्ञानेन्द्रियों का वर्णन है। रोग के निवारण के लिए औषधियों का वर्णन है। शाप आदि से उन्माद कुष्ठ आदि की उत्पत्ति बताई गई है।

इस प्रकार हम देखते है कि ब्राह्मण ग्रंथों में आयुर्वेद विषयक ज्ञातव्यों का वर्णन प्राप्त होता है। उस समय में आयुर्वेद का क्या स्वरूप था यह इन से स्पष्ट होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में कहा जाता है कि यह ब्राह्मण के द्वारा दिया गया ज्ञान है। जो कुछ उनके मुख से कहा गया उसका चयन ब्राह्मण ग्रन्थों में किया गया है।

उपनिषद का अर्थ होता है—समीप बैठकर ज्ञान को प्राप्त करना। इसका अर्थ यह हुआ कि ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद व्याख्या उपनिषदों में की गई है। गुरू का ज्ञान दो प्रकार का है।

(i) परा
(ii) अपरा

अपरा में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष है। परा में ब्रह्म-ज्ञान है। भारतीय अध्यात्म शास्त्र के देदीप्यमानरत्न उपनिषद ही हैं। इनका मुख्य विषय ब्रह्मज्ञान है।

यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि भारत के सभी दर्शनों का उदय उपनिषदों की परम्परा से हुआ। ज्ञान के प्रति उदारता का परिचायक भी उपनिषद है जहाँ मीमाओं का वन्धन नहीं रहता। अच्छे २ ब्राह्मण क्षत्रियों के निकट जाकर ज्ञान का उपदेश लेते हैं। क्षत्रिय राजा वुद्ध और महावीर वन कर उपदेशक वनते हैं।

यों तो उपनिषदों की संख्या दो सौ तक कही गई है तो भी प्रधान रूप से ग्यारह उपनिषद कहे गए हैं—

(१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तरीय (८) ऐतरेय (९) छन्दोग्य (१०) वृहदारण्यक (११) श्वेताश्वतर।

ब्रह्मज्ञान का आधार शरीर है। अतः इनमें भी आयुर्वेद विषयक वहुत ज्ञातव्य उपलब्ध होते हैं। कुछ प्राण निम्न हैं—

(१) **अन्न एवं पाचन**—तैत्तिरीय उपनिषद में अन्न 'को शरीर का धारण करने वाला कहा है। अत्रिपुत्र ने उस अन्न के पाचन के पश्चात् रस एवं किट्ट दो भागों का वर्णन किया है। अन्न के पाक की अवस्थाओं को समझाने के लिए गन्ने के रस से गुड वनाने की क्रिया को समझाया गया है। वहाँ सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म और स्थूल तीन प्रकार का अन्न का पाक वताया गया है।

(२) **पामारोग**—छान्दोग्य उपनिषद में पामारोग से पीड़ित को देख कर उस विषय में जिज्ञासा की गई है।

(३) **घोड़े का सिर लगाना**—वृहदारण्य उपनिषद में कहा गया है कि अश्विनों ने अथर्वण के घोड़े का सिर जोड़ दिया था।

(४) **हृदय की क्रिया का वर्णन**—वृहदारण्य में हृदय को तीन अक्षरों से वना कहा गया है और उन तीन अक्षरों की व्याख्या करते हुए वताया है कि 'हृ' का अर्थ आहरण करना है—इसीलिए यह सारे शरीर का रक्त ग्रहण करता है। 'द' का अर्थ देना; यह सारे शरीर को रक्त देता है। 'य' सारे

शरीर की क्रियाओं को नियमित रखता है। यह सभी कार्य इसके नाम से स्पष्ट हो जाते हैं।

(५) भूतविद्या—उपनिषद में (वृहदारण्यक) गन्धर्व से गृहीत स्त्री का उल्लेख है। छान्दोग्य में भी भूतविद्या का वर्णन आता है।

अतः हम पाते हैं कि उपनिषदों में भी आयुर्वेद के विचारों की छाया दीखती है। हाँ—उपनिषदों में जहाँ भी विद्याओं का स्पष्ट लेख आता है वहाँ आयुर्वेद का स्वतन्त्र उल्लेख नहीं है। चरक की विचार परिपाटी पर उपनिषदों की छाया है, वहाँ भी इसी प्रकार का विधान पाया जाता है।

प्रश्न—रामायण एवं महाभारत काल में आयुर्वेद का क्या स्वरूप था सप्रमाण दिग्दर्शित कीजिए ?

उत्तर—भारत का प्राचीन इतिहास देखने के लिए हमें प्राचीन समय में पाए जाने वाले साहित्य पर निर्भर करना पड़ता है क्योंकि उस समय तक भिन्न २ विद्याओं का अलग २ विकास नहीं हुआ था। इतिहास नाम की तो उस काल में कोई विद्या ही नहीं थी। इसके लिए 'नाराशसी' का प्रयोग होता था। वंशानुचरित भी कहा जाता रहा है। हमें आयुर्वेद के विषय में भी उस काल के प्रसिद्ध साहित्य पर निर्भर करना पड़ता है।

उपनिषद काल के पश्चात् का समय रामायण एव महाभारत का समय कहलाता है। इस काल में मुख्यतः तीन प्रसिद्ध साहित्यिक रचनाओं का सृजन हुआ। वे हैं—

(१) रामायण (वाल्मीक कृत)

(२) महाभारत

(३) पाणिनीय व्याकरण

इनका काल निर्णय कर पाना एक समस्या है कारण यह है कि इस विषय में बहुत मत उपलब्ध होते हैं तो भी इतनी बात मान्य है कि रामायण इन में प्राचीनतम रचना है। इसका कारण यह कि महाभारत में रामोपाख्यान है—जो रामायण की पूर्वपरता सिद्ध करता है।

रामायण के समय का विचार करते हुए हम पाते हैं कि कुछ श्रद्धालु विद्वान इसका समय ईसा से ५ हजार वर्ष पूर्व का मानते हैं परन्तु इतिहास के तथ्यों के आधार पर यह बात मानने को कोई तैयार नहीं होता। उनका कहना है कि रामायण का समय ५०० वर्ष ईसा पूर्व माना गया है। इस

विषय में निम्न प्रमाण दिए जाते हैं—

(क) रामायण में कौशल प्रदेश की राजधानी "अयोध्या" का ही उल्लेख है। बुद्ध के समय में इसका नाम साकेत हो गया था। बौद्ध ग्रन्थों में 'साकेत' को ही कोशल की राजधानी कहा गया है। इसका अर्थ है कि रामायण बौद्ध काल के पूर्व की रचना है।

(ख) बौद्धकाल के प्रसिद्ध "पाटिलपुत्र' का भी उल्लेख रामायण में नहीं है, मिथिला का ही उल्लेख है। पाटलिपुत्र को मगध नरेश अजातशत्रु ने ५०० वर्ष ईसा पूर्व बनाया था।

(ग) रामायण में वर्णित विशालता और मिथिला दो स्वतन्त्र राज्यों का अस्तित्व समाप्त हो गया था। बौद्धकाल में उसके स्थान पर वैशाली गणतन्त्र बन गया था।

महाभारत का युग रामायण के बाद का था और पाणिनी से पूर्व का वैदिक साहित्य में कहीं भी महाभारत अथवा महाभारत के पात्रों के नाम नहीं मिलते। पाणिनी को महाभारत का ज्ञान था और बौद्ध साहित्य में भी महाभारत की कथाओं का वर्णन उपलब्ध होता है, इससे सिद्ध होता है कि यह बौद्ध काल से पूर्व भी और वैदिक काल के मध्य की रचना है। इसलिए इसका काल ईसा पूर्व चार सौ वर्ष के लगभग लगता है।

पाणिनी का समय भी महाभारत के समय के आस-पास का ही।

यह तीन ग्रन्थ हैं। इनमें उस समय के साहित्य का, सभ्यता का, संस्कृति का एवं ज्ञान विज्ञान का दर्शन किया जा सकता है। आयुर्वेद विषयक तथ्य भी इनके अवलोकन द्वारा विचार करते हैं।

रामायण में प्रसंगवश चिकित्सा सम्बन्धी कुछ वचन मिलते हैं। ये वचन मुख्यतः शल्य चिकित्सा से सम्बन्ध रखते हैं। कुछ प्रसंग निम्न हैं—

(१) मेषवृषण—इन्द्र के नामों में एक नाम 'मेषवृषण' भी है। गौतम ऋषि के शाप से इन्द्र के वृषण निकम्मे हो गये थे। तब अश्विनौ ने मेष के वृषणों को लगाया था।

(२) मूढ़गर्भ में शल्यकर्म—सुन्दर कांड में सीता जी कहती हैं कि रावण मेरे अंगों को शस्त्रों से बहुत जल्दी काट देगा जिस प्रकार कि शल्य चिकित्सक गर्भस्थ शिशु के अंगों को काट कर निकालते हैं।

(३) **तैलद्रोणी**— राजा दशरथ का मृतक शरीर तेल में रखने का प्रकरण ताकि वह सुरक्षित रह सके आयुर्वेद की परिपाटी का परिचायक है।

(४) **आसव का वर्णन**—रावण का वर्णन करते हुए आसवों के नाम बताए गए हैं और उनके पान का विधान स्थान बताया गया है, वही विधान आज भी उपलब्ध आयुर्वेद संहिताओं में देखने को मिलता है।

(५) **औषधपर्वत**—लक्ष्मण मूर्च्छा पर हनुमान द्वारा लाए गए कांचन पर्वत पर मृत संजीवनी विशल्यकर्णी सावर्यकरणी और संधान करणी आदि औषधियों का नाम आता है।

(६) **मृत और जीवित परीक्षा**—लक्ष्मण की परीक्षा कर सुषेण वैद्य ने जो लक्षण बताते हुए उसे जीवित बताया वह सब आयुर्वेद की दृष्टि से कहे गये हैं। आज भी संहिताओं में वहीं आते हैं।

(७) **नस्य का प्रयोग**—उस औषध को कूट कर रस निकाल कर नस्य देने से लक्ष्मण की मूर्च्छा ठीक होने का वर्णन मिलता है।

(८) **वैद्य शब्द का प्रयोग**—वैदिक साहित्य में भिषक शब्द मिलता है, सर्व प्रथम रामायण में ही वैद्य शब्द का प्रयोग हुआ है।

रामायण में आयुर्वेद के विषय में बहुत कम प्रसङ्ग आते हैं जबकि महाभारत में उससे अधिक विस्तृत ज्ञान का आभास मिलता है कुछ प्रमाण निम्न है—

(१) **आश्विनों का वर्णन**—चिकित्सा के विषय में इनका वर्णन आता है।

(२) **अष्टांग आयुर्वेद**—नारद जी युधिष्ठिर से पूछते हैं कि क्या आप के वैद्य आठों अंगों में निपुण हैं।

(३) **स्थावर विष को जंगम विष नष्ट करता है**—दुर्योधन ने भीम को विष दे दिया और मूर्च्छित होने पर उसे नदी में गिरा दिया। वहाँ उसे साँपों ने काट लिया, इससे वह जीवित हो गया। ऐसी कथा मिलती है।

(४) **मन्त्रों द्वारा विष नष्ट करना**—सुश्रुत ने कल्प स्थान में स्पष्ट कहा है कुछ विष औषध से साध्य नहीं होते परन्तु वह मन्त्र द्वारा ठीक हो जाते हैं। महाभारत में भी तक्षक के विष से नष्ट वृक्ष को मन्त्र द्वारा पुनः जीवन प्रदान करने की कथा है।

(५) **राजयक्ष्मा रोग**—एक कथा जिसमें राजा चन्द्रमा और प्रजापति की अट्ठाईस कन्याओं के विवाह का दृष्टान्त दिया है और उससे राजा चन्द्रमा को क्षय हुआ बताया है, वह आयुर्वेद को शुक्र नाश को सिद्ध करने के लिए है।

(६) **युद्ध में वैद्य**—महाभारत में स्पष्ट वर्णन है कि युधिष्ठिर ने युद्ध के समय में वैद्यों को अपने साथ रक्खा था।

(७) **संजीवनी विद्या**—देव एवं राक्षसों के युद्ध में एक कथा आती है जिसमें मृत को जीवित करने का विधान है। आज वह विद्या अज्ञात है।

(८) **कुष्ठ रोग**—शांतनु के बड़े भाई देवायु को कुष्ठ रोग होने के कारण गद्दी न मिलने की कथा है।

पाणिनीय के व्याकरण में हम कुछ तथ्य पाते हैं। वह निम्न है—

(१) **रोग नाम**—व्याकरण में रोग विषयक तथा उनकी चिकित्सा के सम्बन्ध में रखने वाले अनेक नाम और उनके पर्याय कहे गये हैं।

(२) **त्रिदोष**—'संयोगोत्यातौ' शब्द का त्रिदोष के लिए वर्णन किया गया है और 'वातकों' आदि कहने से वायु का वर्णन लगता है।

(३) **आचार्यों का नाम**—पाणिनी ने अग्निवेश पारावार जतु कर्ण आदि का नाम उल्लेख किया है। यह आयुर्वेद के प्रवर्तक आचार्य थे।

इस प्रकार अवलोकन करने से हम पाते हैं कि रामायण, महाभारत एवं पाणिनीय व्याकरण में जो कि वैदिक काल के पश्चात की और बौद्ध काल से पूर्व की रचनाएँ हैं उनमें चिकित्सा अथवा आयुर्वेद विषयक स्वरूप यत्र-तत्र बिखरा हुआ मिलता है। जो यह अवश्य सिद्ध करता है कि आयुर्वेद का ज्ञान उस समय में भी समाज में प्रचलित था। चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो।

प्रश्न—बौद्धकालीन साहित्य के आधार पर तत्कालीन आयुर्वेद का स्वरूप स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर—बौद्धकाल एक क्रांति का समय था। तब भारत की धार्मिक राजनैतिक स्थिति वैदिक काल से बिल्कुल बदल चुकी थी। उस समय अनेक वाद चल रहे थे। आत्मा परलोक आदि को लेकर लोगों में बहुत मतभेद था चरक संहिता में जिन विभिन्न वादों का वर्णन किया है वह सब उस समय की छाया समझनी चाहिये। बौद्धों के चार ब्रह्म विहार हैं—

(क) मैत्री (ख) करुणा (ग) मुद्रिता (घ) उपेक्षा।

आयुर्वेद के ग्रन्थ चरकसंहिता में भी सू० अ० ६ में चार प्रकार की वैद्य-वृत्ति कही गई हैं जो ठीक उक्त चार हैं।

इस समय में बौद्ध धर्म का प्रचार भारत से बाहर दूर तक हुआ। अतः उस समय का साहित्य भी यहाँ से बाहर तक मिलता है। इस समय में आयुर्वेद के स्वरूप को देखने के लिए हमें तत्कालीन निम्न उपलब्ध साहित्य का अवलोकन करना होगा।

(१) 'नवनीतकम' जो कि मध्य एशिया में प्राप्त हुआ।

(२) सदधर्म पुण्डरीक—यह भी मध्य एशिया में मिला। इस ग्रन्थ को चीन, जापान आदि महायान धर्मी देशों में बहुत पवित्र माना जाता है।

(३) विनयपिटक—यह आयुर्वेद की अमूल्य निधि है।

(४) मिलिन्द प्रश्न—कुछ विशेष बातें मिलती हैं।

वास्तव में बौद्ध काल ही ऐसा समय आया जबकि किसी विषय का क्रमबद्ध ज्ञान उपलब्ध हुआ। वैदिक काल तक वास्तव में अलग २ वर्णन की प्रथा नहीं थी।

(१) नवनीतकम्—यह पूर्णतः आयुर्वेद की रचना है। यह एक संग्रह ग्रन्थ है, जिसमें भिन्न २ आचार्यो के योग उन्हीं के नाम से संगृहीत किये गये हैं। उसका मुख्य आधार चरकसंहिता एवं भेल संहिता के २६ योग और भेल संहिता के १५ योग लिये हैं। ४४ योग ऐसे हैं जिनके विषय में लेखक ने कुछ नहीं लिखा।

इसकी भाषा प्राकृत भाषा मिली हुई संस्कृत है, इसमें अनुष्टुप, त्रिष्टुप और आर्या छन्द का मुख्यतः प्रयोग किया गया है।

'लशुन कल्प' से इसका आरम्भ किया है जहाँ 'लशुन' शब्द को 'लवण न्यून' (लवण रस रहित) कहा गया है। इसमें लशुन के जो गुण कर्म बताए हैं वह अष्टांग संग्रह एवं अष्टांग संग्रह से भी कहीं श्रेष्ठ हैं।

लशुन कल्प के अतिरिक्त पाचन के योग रसायन वाजीकरक के योग, आश्चोतन, मुखलेप आदि के योग दिये गए हैं। यह सभी प्रथम भाग में हैं।

दूसरे भाग में सामान्य रोगों के लिए योग कहे गये हैं। तृतीय भाग में भी योग हैं। चतुर्थ एवं पञ्चम भाग में प्राप्तक और तन्त्र विद्या है। छटे और सातवें भागों में महामायूरी और विधाराज्नी सूत्र हैं जिनका सम्बन्ड सर्पो से है।

वास्तव में नवनीतकम की विशेषतः 'लशुन कल्प' का वर्णन कहा जाता है। मातंगी विद्या का वर्णन और उसका स्रोत भी नवनीतकम में मिलता है।

(२) विनयपिटक—वास्तव में इस ग्रंथ में आयुर्वेद विषयक बहुत महत्व पूर्ण विषयों की व्याख्या की गई है। इसे देख कर लगता है कि उस समय आयुर्वेद अपने पूर्ण यौवन में होगा जिसका स्वरूप वैदिक काल में इतना स्पष्ट नहीं था। इस पिटक में भिक्षु भिक्षुणियों के लिए आचार सम्बन्धी नियम कहे गये हैं इतिहास के तथ्य भी कहे गए हैं। इसके मुख्यतः दो भाग हैं—

(१) महावस्तुक (२) क्षुद्रवस्तुक।

इसके अध्ययन से आयुर्वेद विषयक महत्वपूर्ण तथ्य प्राप्त होते हैं। कुछ निम्न हैं—

(१) स्वेदन कर्म—आयुर्वेद में स्वेदन कर्म को चिकित्सा में बहुत महत्व-पूर्ण कहा है। एक वात रोग के लिए बौद्ध द्वारा इस चिकित्सा का उपदेश कराया गया है। वहाँ पर चार प्रकार के स्वदेन कर्म का उपदेश है—

(क) सम्भार स्वेद—अनेक प्रकार के पसीना लाने वाले पत्तों के बीच में सोना। (संस्तरस्वेदवत्)

(ख) महास्वेद—यह गढ़ा वनाकर जो पुरुष प्रमाण हो उसमें अंगारों से भर कर विशेष विधि से बैठकर स्वेदन करने का विधान है।

(आयुर्वेदोक्त कूपस्वेदनवत्)

(ग) उदक कोष्ठक—गरम पानी में बैठ कर स्वदेन लेना।

(घ) भंगोदक—पत्तों के काढ़े से सींच २ कर स्वेद लेना। इन चतुर्विध स्वेदन कर्म के अतिरिक्त उसमें 'जन्ताघर' नामक विशेष विधि का वर्णन है जो 'जेन्ताक स्वेद' चरकोक्त के रूप में आयुर्वेद में वर्णित किया गया है।

(२) शस्त्र चिकित्सा—शल्य शास्त्र विषयक ज्ञान भी है—गठिया (पर्ववात) के रोगी को 'सींग द्वारा रक्तमोक्षण' का विधान कहा गया है। फोड़े को शस्त्र द्वारा चीरना, पट्टी बाँधना, घाव पर तैल की वर्ती लगाना आदि का विधान कहा गया है। इसमें एक प्रसंग आया है जब एक भिक्षु के भगन्दर का शस्त्र कर्म करने का निषेध किया गया है और कहा है यहाँ त्वचा कोमल है, व्रणरोपण देर में होता है—शस्त्र चलाना कठिन है—अतः शस्त्र कर्म न करें।

(३) परिचर्या—रोगी की सुविधा के लिए पाँच सुविधायें होनी चाहिए—ऐसा उपदेश किया है। परिचारक के गुण वताये गये हैं। इसके अतिरिक्त अञ्जन प्रयोग विषयक, अभ्यंग विषयक, धूम्रवर्ती प्रयोग विषयक कई विषय वर्णित मिलते हैं।

(४) जीवक चरित—जीवक नामक वैद्य की जो बातें लिखी हैं—वह सिद्ध करती हैं कि वह समय आयुर्वेद के उत्कर्ष का समय था। जीवक आयुर्वेद में इतना निपुण था कि उसका सम्मान राजा करते थे। धन की कमी नहीं थी। वैद्यों के विषय में सबसे पहला महत्त्वपूर्ण इतिहास जीवक का ही मिलता है।

उसके द्वारा नस्य देने की बात कही गई है। भगन्दर को लेप से ठीक करने की कथा है। खोपड़ी को शस्त्र कर्म द्वारा खोल कर वहाँ से कृमि निकाल कर पुनः जोड़ देने की कथा है। उदर को खोलकर गाँठ निकालने का वर्णन है। वमन कराने का प्रसंग आया है। सूँघने की औषध से विरेचन का वर्णन मिलता है।

इस सारे वर्णन को देखकर ऐसा लगता है कि आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में जो वर्णित हैं वह आज लुप्त हो गई, किन्तु उस समय उनका अच्छा प्रचलन होगा जब कि जीवक जैसे वैद्य विद्यमान थे।

वह समय अवश्य ही आयुर्वेद का मध्याह्न काल कहा जाना चाहिए क्योंकि उस प्रकार का वर्णन उससे पूर्व भी नहीं मिलता और न ही उसके पश्चात् ऐसा रहा। बीसवीं शताब्दी में भी मस्तिष्क का शल्य कर्म उतनी सफलतापूर्वक नहीं कर पा रहे हैं जब कि कहा जाता है कि विज्ञान ने बहुत उन्नति की है।

अन्य दो ग्रन्थों में इस विषय में विशेष वर्णन उपलब्ध नहीं होता।

प्रश्न—पुराणों और स्मृतियों में आयुर्वेद साहित्य का वर्णन कीजिए।

उत्तर—पुराणों और स्मृतियों में धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक महत्त्व है। चिकित्सा के इतिहास के सम्बन्ध भी इनका महत्त्व है। अतः उनका अवलोकन करना आवश्यक है।

पुराणों की संख्या अठारह कही गई है, वह निम्न हैं—

(१) ब्रह्मा (२) विष्णु (३) अग्नि (४) वायु (५) मत्स्य (६) स्कन्द (७) कूर्म (८) लिंग (९) भविष्य (१०) पद्म (११) भावगत (१२),

ब्रह्माण्ड (१३) गरुड़ (१४) मार्कण्डेय (१५) ब्रह्मवैवर्त्त (१६) वामन (१७) वराह (१८) शिव।

इन पुराणों की रचना कब हुई इस ऐतिहासिक तथ्य को ठीक प्रकार व्यक्त करना कठिन है तो भी इतना अवश्य है कि इनकी रचना गुप्त काल तक होती रही है और यह लगभग १३ सौ वर्ष तक के लम्बे समय में लिखे गये हैं।

इनका अवलोकन किया जाए तो हम चिकित्सा विषयक अनेक तथ्य पाते हैं। कुछ तथ्य निम्न प्रकार है—

(१) ब्रह्मवैवर्त पुराण में आयुर्वेद की उत्पत्ति का वर्णन किया है। वहाँ पर ब्रह्मा को आदि में स्वीकार किया है और उन्होंने भास्कर को आयुर्वेद का ज्ञान दिया, यह कहा है। ऐसा वर्णन अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता।

(२) अग्निपुराण में आयुर्वेद के अनेक विषय उद्धृत किए गये हैं। यह पुराण बहुत पीछे का है। इसमें चरक संहिता के बहुत से सूत्र ज्यों के त्यों मिलते हैं। इसमें घोड़े और हाथियों की चिकित्सा का भी वर्णन है और विष चिकित्सा तथा मन्त्र चिकित्सा का भी वर्णन उपलब्ध होता है।

इसमें धातुओं की भस्म करने का विधान है, जो कि आयुर्वेद की संहिताओं में भी नहीं मिलता। इससे स्पष्ट होता है कि यह अंश पुराना बाद का है।

(३) गरुण पुराण में भी आयुर्वेद विषयक बहुत बातों का वर्णन है किन्तु यह पुराण भी बहुत प्राचीन नहीं लगता। १४६ से २०२ तक के अध्यायों में चिकित्सा विषयक ज्ञान ही भरा पड़ा है।

रोगों के सामान्य कारण बताते हुए सुश्रुत को सम्बोधित किया गया है जिनमें अष्टांगसंग्रह का सा वर्णन मिलता है।

अन्नयानविधि एवं द्रव्य विवेचन मिलता है। पाण्डुरोग में लोह चूर्ण के साथ तक्र का प्रयोग कहा हुआ है।

(४) स्कन्दपुराण और अन्य पुराणों में आरोग्यशाला का बहुत विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। वैद्य के गुणों का वर्णन मिलता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि पुराणों में आयुर्वेद विषयक प्रचलित बातों का समावेश किया गया है।

स्मृतियां भी अनेक हैं । स्मृतियों का आधार श्रुति है। इनमें प्राचीन भारत की सभ्यता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। चिकित्सा विषयक तथ्य भी हम इनमें पाते हैं। कुछ निम्न हैं—

(१) मनुस्मृति—में उद्भिजों के चार भेदों का वर्णन मिलता है। वहाँ पर गृहस्थाश्रम के लिए अच्छा उपदेश है वैसा उपदेश ही आयुर्वेद के वृहत्रयी में मिलता है। चिकित्सक की भूल पर दण्ड देने का विधान में विस्तार के साथ वर्णित किया गया है।

(२) विष्णुस्मृति—वहुत पीछे की रचना है—उसमें दिए गए तथ्य अष्टांगसंग्रह से मिलते हैं। यह गुप्तकाल से पहले की रचना नहीं लगती। स्वास्थ्यवृत्त तथा सद्वृत्त का उपदेश मिलता है।

(३) याज्ञवल्क्य स्मृति—मनुस्मृति के वाद की प्रामाणिक स्मृति यह ही है। इसमें अस्थि गणना, दैव पौरुष सम्बन्धी विचार, गर्भ निर्माण आदि का विचार किया गया है। यह सब चरक संहिता के वर्णन से साम्यता रखता है।

(४) नारदीय मनुस्मृति—यह वहुत वाद की रचना है सम्भवतः गुप्तकाल के वाद की है। इसमें गूढ़ शल्य को निकालने का विचार मिलता है।

(५) वोधायन स्मृति—यह भी वहुत पीछे की स्मृति है। इसमें भी कुछ वर्णन चरक संहिता से मिलता हुआ मिलता है।

इस प्रकार देखने से हम पाते हैं कि पुराणों में और स्मृतियों में आयुवद विषयन ज्ञान है। इनकी रचना का निश्चित समय नहीं वताया जा सकता, तो भी यह नहीं कह सकते कि यह वहुत प्राचीन साहित्य है। आयुर्वेद के वृहत्रयी में जो वर्णन उपलब्ध होता है, लगभग वैसा ही वर्णन इनमें मिलता है। तो भी यह सिद्ध है कि उस समय में आयुर्वेद का अच्छा प्रचार था जो इन्होंने उसके विषय में कुछ लिखा।

प्रश्न—मौर्यकाल में आयुर्वेद का क्या स्वरूप था ?

उत्तर—मौर्यकाल से इतिहासकार ३६३ ईसा पूर्व से २११ ईसा पूव तक के समय का ग्रहण करते हैं। इस समय में आयुर्वेद विषयक जो भी तथ्य देखने को मिलते हैं उनका आधार उस समय के प्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थशास्त्र को माना जा सकता है। उसी में आयुर्वेद विषयक तथ्य मिलते हैं। इसका अवलोकन करने से पूर्व यह आवश्यक जान पड़ता है कि इस समय में चिकित्सक का क्या स्वरूप था। इस विषय में स्पष्टीकरण किया जाए।

चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में मैगस्थनीज ने अपनी पुस्तक 'इन्डिक' में किया है। उस पुस्तक को आज प्राप्त नहीं कर पा रहे तो भी उसके कुछ अंश अन्य पुस्तकों में उद्धृत हुए मिलते हैं। उनके आधार पर उस समय के चिकित्सकों के विषय में निम्न तथ्य व्यक्त किए थे—

"वे अपने शास्त्र के बल पर अनेक सन्तान उत्पन्न करा सकते हैं तथा दवाइयों द्वारा इच्छानुसार नर अथवा मादा बच्चे भी पैदा कर सकते हैं। उनके बनाए मलहम और लेप सुप्रसिद्ध है। दवाइयों के स्थान पर वे भोजन को ठीक से संचालित करके रोग को ठीक किया करते थे।"

मौर्यकाल में राज्य की तरह से ब्राह्मणों के समान ही चिकित्सकों को भी कर-मुक्त भूमि दी जाती थी। इससे यह सिद्ध होता है कि वह चिकित्सकों को बहुत बढ़ावा देते थे ताकि वह अपने शास्त्रों में निपुणता प्राप्त कर सकें।

कौटिल्य के अर्थ शास्त्र का अवलोकन करने से पूर्व यह आवश्यक लगता है कि जान लिया है इसका स्वरूप है।

इस अर्थशास्त्र के कर्ता चाणक्य हैं। इसकी रचना गद्य-पद्यमय है। इसमें आयुर्वेद के विषय में कुछ बातें मिलती हैं जो निम्न हैं—

(१) अर्थशास्त्र की भाषा और शैली चरक संहिता से मिलती है। तन्त्र-युक्तियाँ ३२ कही हैं जैसा कि सुश्रुत संहिता में कही गई हैं।

(२) श्रेयसी प्रजा के लिए चरक आदि में वर्णित जातीसूत्रीय अध्याय के समान ही वर्णन किया है। गर्भ रहना गर्भ की रक्षा तथा प्रसव आदि क्रियाओं पर बहुत विचार किया गया है।

(३) **विष परीक्षा**—भोजन में विष परीक्षा के विषय में वर्णन किया है। विष देने वाले व्यक्ति की पहचान का वर्णन है। रत्नों और धातुओं के विषय में बहुत विचार किया गया है। विष कन्या का वर्णन किया है, जो कि आयुर्वेद के संहिता ग्रंथों में भी मिलता है।

(४) **रोग विषयक**—कुष्ठ एवं उन्माद के रोगियों के विषय में तथा नपुंसक के विषय में लिखा है।

(५) **महामारी से बचाव**—महामारी और उनसे बचने के उपाय भी बताए गए हैं।

(६) आशुमृतक परीक्षा—मृत शरीर की परीक्षा, मृत्यु के कारण की पहिचान, शव को सुरक्षित रखने के उपाय आदि विषयों का सांगोपांग वर्णन मिलता है जो जूटिस प्रूडैन्स विषय के बोध को स्पष्ट करता है।

(७) औषव एवं मन्त्र—औषधि एवं मन्त्रों के विषय में भी अर्थशास्त्र में वर्णन उपलब्ध है।

(८) औषध-वनस्पति—अशोक ने जहाँ अनेक कार्य किए वहाँ उसने औषधियों के वृक्षों का रोपण भी कराया।

(९) मान—आयुर्वेद में प्रचलित कालिंग मान और मागध मान भी इसी समय की देन हैं।

(१०) पशु चिकित्सा—कौटिल्य ने हाथियों के रोगों और उनके उपचार के विषय में भी विचार व्यक्त किए हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अतिरिक्त कुछ और साहित्य भी मिलता है जो कि उस समय की स्थिति को स्पष्ट करता है। उसमें भी आयुर्वेद विषयक जानकारी है।

मिलिन्द प्रश्न जिसका उल्लेख हम पीछे भी कर आए हैं, में भी चिकित्सा विषयक तथ्य हैं। यह मिलिन्द के प्रश्न नागसेन से पूछे गए हैं। कुछ तथ्य निम्न हैं—

(१) स्वप्न के विषय में—स्वप्न के विषय में चरक संहिता में वर्णित पद्धति के अनुसार ही विचार किया गया है।

(२) काल-अकाल की मृत्यु—इस विषय में भी विस्तार से विचार व्यक्त किया है। चरक संहिता में भी काल एवं अकाल मृत्यु के सम्बन्ध में विचार है।

(३) वेदनाओं के कारण—चरक संहिता में वेदनाओं का क्या कारण है इस विषय में विस्तार से विचार किया है। इसमें भी इस विषय में विचार व्यक्त किए गए हैं।

(४) वैद्य की शिक्षा—जैसे सुश्रुत संहिता में योग्या सूत्रीय अध्याय में शिष्य के लिए पठन पाठन का विचार व्यक्त किया गया है उसी प्रकार का वर्णन मिलिन्द प्रश्न में भी मिलता है।

(५) व्रण चिकित्सा—व्रण की चिकित्सा का विधान भी विस्तार से बताया गया है।

महायान सम्बन्धी कथाओं को अवधान में व्यक्त किया गया है। उनका अवलोकन किया जाए तो हम पाते है कि उनमें भी आयुर्वेद सम्बन्धी विषय है। इनका रचना काल ईसा की दूसरी सदी से लेकर चौथी सदी तक का है। कुछ उदाहरण निम्न हैं—

(१) ऊर्ध्व गुद रोग---अशोक को ऊर्ध्व गुद नामक रोग होने का वर्णन है और प्याज द्वारा उसकी चिकित्सा बताई गई है।

(२) अत्याग्नि—इसका वर्णन आज भी आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलता है।

(३) कृमि—इसका वर्णन भी मिलता है।

(४) गोशीर्ष चन्दन—इसमें इसका वर्णन मिलता है। शंखनाभि करके एक दिव्योषध का वर्णन भी मिलता है।

इस प्रकार हम देखने हैं कि मौर्य काल में आयुर्वेद की दशा बहुत अच्छी थी। चिकित्सकों का सम्मान होता था। उस समय में बने कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में आयुर्वेद विषयक बहुत ज्ञातव्य है और मिलिन्द प्रश्न तथा 'अवदानों' में भी उस समय में समाज में प्रचलित आयुर्वेद विषयक बातों का वर्णन मिलता है चाहे वह अत्यल्प ही है।

प्रश्न—चरक संहिता के विषय चयन एवं शैली पर प्रकाश डालिए ?

उत्तर—चरक संहिता को प्रथम बार देखने पर ही उसके विषय में निम्न जानकारी देने वाली बातें मिलती हैं।

(क) निर्णय सागर प्रेस बम्बई की चरक संहिता के मुख्य पृष्ठ पर लिखा है :—

"महर्षिणा पुर्नवसुनोपदिष्टा, तच्छिष्येणाग्निवेशेन प्रणीता चरक दृढ़बलाभ्यां प्रतिसंस्कृता चरक संहिता"।

(ख) प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में निम्न वचन मिलते हैं। अध्याय का नाम लिखा मिलता है :—

"इतिहस्माह भगवानात्रेय:"

इन दो वाक्यों को देखने से चरक संहिता के विषय में एक तथ्य स्पष्ट होता है कि इससे निम्न व्यक्तियों का सम्बन्ध रहा है—

पुर्नवसु, अग्निवेश, चरक, दृढ़बल और आत्रेय। चरक संहिता में बहुत से स्थानों पर 'पुनर्वसुरात्रेय' एक ही नाम आया है इससे पुनर्वसु और आत्रेय एक ही व्यक्ति थे, ऐसा माना जाता है। अतः केवल चार व्यक्तियों

का सम्बन्ध चरक संहिता से रहता है—

पुनर्वसु आत्रेय, अग्निवेश, चरक एवं दृढ़बल।

यह चारों कौन थे, इस विषय में हम आगे विचार करेंगे।

(२) प्राचीन समय में ज्ञान देने के दो प्रकार के विधान थे—

(क) उपनिषदों के ढंग पर जिसके अनुसार शिष्य गुरु के पास जाता था। गुरू शाला बनाकर रहते थे और उनको शालीन कहा जाता था। उन्हीं के पास बैठकर शिष्य अपनी ज्ञान पिपासा बुझाते थे। यह ज्ञान एक स्थान पर ही प्रदत्त ज्ञान होता था।

(ख) दूसरी प्रकार का ढंग महात्मा बुद्ध का था। इसके अनुसार गुरू स्थान-स्थान पर जाता था और ज्ञान-पिपासा दूर करता था। महात्मा बुद्ध आनन्द आदि शिष्यों के साथ चारिका (चक्रम-भ्रमण) करते थे और भिन्न-भिन्न स्थानों पर उपदेश देते रहते थे। यह चतुर्मास में ही आश्रम बना कर रहते थे। यह जो भी वचन कहते थे वह अपने शिष्य को सम्बोधित करके कहते थे। महात्मा बुद्ध ने सारा उपदेश अपने शिष्यों में से एक शिष्य आनन्द को सम्बोधित करके कहे हैं। कभी-कभी शिष्य भी विषय पर शंका कर लेता था और उसका समाधान भी किया जाता था।

चरक संहिता के अवलोकन से सिद्ध ही हो जाता है कि उसका ढंग महात्मा बुद्ध के ढंग पर है। उसमें पुनर्वसु आत्रेय ने भी कभी हिमालय में, कभी कैलाश पर, कभी कम्पल्य में उपदेश दिए हैं। वह देशाटन करते रहते थे। उन उपदेशों को देते समय अग्निवेश को सम्बोधित किया गया है।

चरक सूत्रस्थान अध्याय प्रथम में पुनर्वसु आत्रेय के छः शिष्य कहे हैं और सभी ने मुनि के वचनों को सुना है तथा सबने अपनी-अपनी संहिताएँ बनाई हैं। अग्निवेश का तन्त्र सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[1]

इसका सीधा अर्थ है कि उपलब्ध चरक संहिता में पुनर्वसु आत्रेय के उपदेशों को बाद में अग्निवेश द्वारा संगृहीत किया गया है।

(३) विद्यमान चरक संहिता प्रति-संस्कृत (संस्कार किया हुआ) ग्रन्थ है। उसमें कुछ ऐसे संदर्भ उपस्थित हैं जिनसे यह बात सिद्ध हो जाती है।

१. "अग्निवेशश्च भेडश्च जतूकर्णः पराशरः।
हारीतः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तन्मुनेर्वचः॥

(च० सू० अ० १)

प्रथम तो यह कि 'चरक प्रति संस्कृते' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। इससे भी पुष्ट प्रमाण यह कि चरक संहिता में कई स्थानों पर ऐसे शब्द आए हैं जो तीसरा व्यक्ति ही कह सकता है। यथा—

"भगवानग्निवेशाय प्रणताय पुनर्वसु" (नि० अ. १.)

और "आत्रेयेणाग्निवेशाय भूतानां हितकाम्यया" (चि० अ. १.)

इन सूत्रों से स्पष्ट हो रहा है कि यह शब्द पुनर्वसु आत्रेय और अग्निवेश के अतिरिक्त किस व्यक्ति के हैं और यह तीसरे व्यक्ति प्रतिसंस्कर्त्ता चरक हैं।

और कुछ समय पश्चात् उसका कुछ भाग नहीं मिला तब दृढ़बल ने उसका प्रतिसंहार करते हुए उसको पूर्ण किया। इसने इस संहिता के चिकित्सा-स्थान के सत्रह अध्याय, कल्पस्थान और सिद्धिस्थान की पूर्ति की। चिकित्सा-स्थान के सत्रह अध्याय कौन से हैं—इस विषय में दो क्रम मिलते हैं तो भी एतर्थ हमें विचार करना है—

चक्रपाणिदत्त का कहना है कि उन्माद, अपस्मार, क्षत, शोथ, उदर, ग्रहणी, पाण्डु, श्वास, काश, छर्दि, तृष्णा, विष, त्रिमर्मीय, उरुस्तम्भ, वात-व्याधि, वातशोणित, योनिव्यापत् नामक चिकित्सास्थान के सत्रह अध्याय दृढ़बल ने पूर्ण किए। कलकत्ता से प्रकाशित चरक संहिता में इन सत्रह को चिकित्सास्थान में क्रमशः अध्याय १४ से ३० तक गिना है।

अतः हम कहेंगे कि पुनर्वसु आत्रेय के वचनों को अग्निवेश ने संग्रह किया और चरक ने उस संग्रह का प्रति संस्कार किया। बाद में दृढ़बल द्वारा पुनः प्रतिसंस्कार किया हुआ और पूर्ण किया हुआ चरक आज हम देखते हैं।

(४) संहिता की रचना के विषय में यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि यह गद्य पद्य मय भाषा में लिखी गई है। अन्य साहित्य जिसकी रचना वैदिक काल में हुई वह छन्दोबद्ध है। कृष्ण यजुर्वेद में गद्य और पद्य दोनों मिलते हैं। इससे चरक संहिता की रचना का साम्य कृष्ण यजुर्वेद से मिलता है।

(५) चरक संहिता में विषयसूचि, अध्याय नाम, सूत्रस्थान के अन्तिम अध्याय में पीछे से दिया गया है। और सूत्रस्थान के लिए 'श्लोक स्थान' शब्द का प्रयोग किया गया है जो केवल चरक संहिता की ही विशेषता है—अन्य किसी आयुर्वेद की संहिता में ऐसा नहीं मिलता।

(६) चरक संहिता में मुख्यतः उत्तरीय भारत का उल्लेख है। इसमें भी मुख्यतः उत्तरीय पश्चिमी प्रदेश का। पूर्व में काम्पिल्य अन्तिम सीमा है।

काम्पिल्त नाम संहिताओं में पुराना है। तैत्तिरीय संहिता में ग्रामणी संहिता एवं काठक संहिता में भी यह नाम आए हैं। वाहलीक, पहलव, चीन, शूलीक, यवन और शक ये शब्द चरक संहिता में आए हैं। यह सभी जातियाँ पश्चिमी भारत की हैं। इससे स्पष्ट है कि चरक संहिता का मुख्य सम्बन्ध भारत की पश्चिमी सीमा से है तथा उत्तर में हिमालय पर्वत से सम्बन्ध है।

इस बात से ऐसा सिद्ध होता है कि चरक संहिता का उपदेश काल बुद्धकाल के आस-पास का लगता है क्योंकि बुद्ध के समय में भी उत्तर-पश्चिम में विद्या का केन्द्र था। यह समय लगभग ६०० वर्ष ईसा पूर्व का था। उसी समय की तथा उसी स्थान की जानकारी चरक संहिता में मिलती है।

(७) चरक संहिता में प्रसिद्ध लोक साहित्य से कुछ शब्द सीधे लिए गए हैं। इसके अतिरिक्त उस समय के प्रसिद्ध भोज्य पदार्थों एवं उनके स्वरूप के विषय में भी विचार किया गया है।

(८) चरक संहिता में तीन तरह से विषय को प्रस्तुत किया गया है— कुछ विषय तो पुनर्वसु आत्रेय से स्वतः उपदेश देकर स्पष्ट किए हैं, कुछ में अग्निवेश प्रश्न करते हैं और फिर पुनर्वसु आत्रेय उपदेश देते हैं। तीसरी प्रकार से विषय चयन सम्भाषा रूप में किया गया है। जबकि अनेक ऋषि उपस्थित होते हैं और उनके साथ वाद-विवाद होता है फिर तथ्य निर्णय होता है। यह चरक संहिता की ही विशेषता है—सुश्रुत आदि में ऐसी सम्भाषा कहीं नहीं मिलती।

(९) चरक संहिता का क्षेत्र काम-चिकित्सा तक सीमित है। जहाँ भी इसके अतिरिक्त कोई विषय आया उसका निर्देश शिष्य की जानकारी के लिए किया गया है परन्तु उसका विस्तार नहीं किया गया क्योंकि वह पराधिकार का विषय है। ऐसे स्थलों पर चरक ने उस शास्त्र के ज्ञाताओं से सहायता लेने को कहा है।

(१०) चरक की भाषा एवं शैली बहुत सरल है। वहाँ पर लम्बे २ वाक्य भी दिए हैं और छोटे २ वाक्य भी मिलते हैं। भाषा प्रवाह अविच्छिन्न है और सरल शब्दों का तथा साधारण उदाहरणों का प्रयोग किया गया है। जैसा कि पीछे लिख आए हैं कि सम्भाषा की शैली चरक की अपनी विशेषता है।

(११) चरक में दार्शनिक विचार बहुत से स्थानों पर स्पष्ट किए गए हैं। उन को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि चरक किसी एक दर्शन का अनुकरण नहीं करते, वहाँ पर सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक के मतों का भी उल्लेख मिलता है और अपना स्वतन्त्र मत भी व्यक्त किया गया है। चरक पुनर्जन्म को मानने वाला है। वह वैदिक काल के देवताओं की पूजा आदि का निर्देश करता है। वह आप्तागम वेद को ही कहता है और कहता है कि वह भी ठीक हैं जो वेदों का अनुकरण करते हैं।

(१२) चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता में बहुत अंतर है। चरक संहिता में जन्म से जाति को नहीं माना गया जब कि सुश्रुत संहिता में जन्म से स्वीकार किया गया है और सूतिकागार में जाति के अनुसार विचार किया गया है। चरक संहिता में संस्कार से द्विज को माना गया है। बहुत से स्थानों पर सुश्रुत संहिता में चरक के वाक्यों को ज्यों का त्यों रख दिया है।

(१३) वैद्य के विषय में चरक संहिता में बहुत कुछ मिलता है। उसमें नकली वैद्यों को छद्मचर एवं सिद्धसाद्धित कह कर स्पष्ट किया है और इनको लोक के लिए काँटा कहा गया है। उसमें ऐसा भी वर्णन मिलता है कि रोगी को खतरा हो तो उसके सम्बन्धियों को बुलाकर वैद्य सूचित कर देवे। कोई विशेष रोग को दूर किया हो तो उसका विज्ञापन एवं विशेष औषध आदि की जानकारी होने पर उसका प्रचार करने का भी रिवाज बताया गया है। यह यश एवं धन के देने वाले साधन कहे हैं।

(१४) चरक संहिता से स्पष्ट होता है कि वह वैद्य को सम्मानित व्यक्ति मानता था। उनको ऐसी विधि से रहन सहन एवं काम का निर्देश मिलता है जिससे समाज में प्रतिष्ठा हो। उस समय में धन लेने की प्रथा थी, यह स्पष्ट किया गया गया है।

(१५) चरक संहिता में आठ स्थान हैं। (१) सूत्र (श्लोक स्थान) (२) निदान स्थान, (३) विमान, स्थान (४) शरीर स्थान, (५) इन्द्रिय स्थान, (६) चिकित्सा स्थान, (७) कल्प स्थान, (८) सिद्धि स्थान।

अध्यायों की कुछ संख्या १२० है। सूत्र स्थान में ३० अध्याय हैं। यह बहुत महत्वपूर्ण हैं। सभी विषयों को सूत्र रूप में यहाँ कह कह दिया है। इनमें दो अध्याय संग्रह अध्याय हैं, शेष अट्ठाईस को सात भागों में बाँट रखा है।

(१) प्रथम चार अध्याय भेषज चतुष्क हैं।

(२) द्वितीय चार अध्याय स्वस्थ वृत्तिक हैं।
(३) तृतीय चार अध्याय निर्देश विपयक है।
(३) चतुर्थ चार अध्याय प्रकल्पता चतुष्क हैं।
(५) पाँचवें चार अध्याय रोगध्याय चतुष्क हैं।
(६) छठे चार अध्याय योजना चतुष्क हैं।
(७) सातवें चार अध्याय अन्नपान चतुष्क हैं।
यह क्रम अन्य किसी संहिता में इस प्रकार नहीं मिलता।

निदान स्थान में निदान विपयक आठ प्रधान रोगों का वर्णन है। निदान स्थान से दोप-भेषज का विशेप ज्ञान कराया गया है। शरीर स्थान में शरीर सम्बन्धी ज्ञान कराने का आत्मा, मन. इन्द्रिय आदि का योग तथा अध्यात्म विपक का वर्णन किया गया है। इन्द्रिय स्थान में मृत्यु सम्बन्धी लक्षणों की व्याख्या है। चिकित्सा स्थान के प्रथम दो अध्याय रसायन वाजीकरण के हैं शेप में प्रथम निदान स्थान में कहे गए आठ रोगों की व्याख्या की गई है और बाद में अन्य रोगों का निदान चिकित्सात्मक वर्णन है। कल्प स्थान में वमन विरेचन के छः सौ योगों का वर्णन है। सिद्धिस्थान में पंचकर्म के विषय में वर्णन किया गया है।

इन सभी अध्यायों में स्वस्थ और आतुर विपयक हेतु, लिंग और औषध विपय की व्याख्या की गई है। चरक संहिता देखने से पता चलता है कि वहाँ आयुर्वेद का विपय तो प्रधान रूप से समझाया ही गया है—साथ ही साथ कहा गया है कि उस समय में सांस्कृतिक, ऐतिहासिक स्थिति क्या थी। उस काल की सभी बातों की जानकारी चरक संहिता से मिलती है।

(१६) चरक संहिता के विषय में इतना जान लेने के बाद एक विपय रह जाता है कि उसकी टीकाएँ कितनी हैं। इस विपय में इतना कहना है कि चरक संहिता की अनेक टीकाएँ हुईं। उनमें से कुछ प्रसिद्ध टीकाओं के विपय में हम नीचे स्पष्टीकरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(क) चरक न्यास व्याख्या—यह भट्टार हरिचन्द्र की बनाई टीका है। बाण कवि ने हर्ष चरित्र में भट्टार हरिचन्द्र के गद्य की बहुत प्रशंसा की है। इनके विपय में तीन मत मिलते हैं—प्रथम मत पादताड़ित नामक गुप्तकालीन रचना में इनको वाह्लीक के रहने वाले कांकायन गोत्री वैद्य ईशान चन्द्र का

पुत्र कहा गया है। विश्व प्रकाश कोश में ये साहसांक नृपति के राजवैद्य कहे गए हैं। काव्य मीमांसा में इनका वर्णन चन्द्रगुप्त के साथ किया है।

(ख) निरन्तर पद व्याख्या—यह जैज्जटाचार्य ने की। इसका कुछ अंश बीच में से त्रुटित है। जेज्जट वाग्भट्ट के शिष्य थे। इन्होंने भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है। इससे सिद्ध है कि यह भट्टार हरिचन्द्र के बाद के हैं।

(ग) आयुर्वेद दीपिका व्याख्या—यह चक्र पाणिदत्त ने की है। इस टीका का सम्प्रति बहुत सम्मान है। चक्र पाणिदत्त गोड़ देश में वैद्य जाति के अन्दर लोध्रुवली संज्ञक दत्त कुल में उत्पन्न हुए थे। ये गोडाधिपति नयपालदेव की पाकशाला के अधिकारी एवं मन्त्री नारायणदत्त के पुत्र थे। इनके भाई का नाम भानुदत्त था। नयपाल का राज्यकाल ग्यारहवीं शती के मध्य का है। इनक द्वारा बनाये गए चिकित्सा संग्रह और द्रव्य गुण संग्रह प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। चक्रपाणि टीका में आयुर्वेद के तथा इससे सम्बन्धित पचास से अधिक आचार्यों के नाम आये हैं और उनके ग्रंथों का उल्लेख भी मिलता है। आज उनमें से कई ग्रंथ प्रायः नहीं मिलते। मुक्तावली और शब्द चन्द्रिका दो और ग्रंथ भी आपके लिखे हुए कहे जाते हैं।

(४) तत्व प्रदीपिका व्याख्या—यह बंगाल के मालांचिक ग्राम में उत्पन्न अनन्तसेन के पुत्र शिवदास सेन द्वारा की गई व्याख्या है। यह बार्बरशाह के समय में हुए। वह समय १४५७ से १४७४ तक का था।

चरक की इस टीका के अतिरिक्त उन्होंने चक्रदत्त की तत्व चन्द्रिका व्याख्या, द्रव्यगुण संग्रह पर द्रव्यगुण संग्रह व्याख्या और अष्टांग हृदय पर अष्टांग हृदय तत्व बोध व्याख्या की।

(५) चरकोपस्कार व्याख्या—यह योगीन्द्रनाथ सेन ने की। किन्तु यह अपूर्ण है फिर भी विद्यार्थियों के लिए बहुत लाभदायक है।

(६) जल्पकल्पतरू व्याख्या—यह गंगाधर कविरत्न द्वारा की गई व्याख्या है। इसमें दर्शन के विषय में अधिक विचार किया गया है।

इस प्रकार चरक सहिता के विषय में उसकी विषय चयन विधि, शैली, उसका तत्कालीन इतिहास, सभ्यता, संस्कृति विषयक वर्णन को स्पष्ट किया गया और उसकी विधि टीकाओं एवं टीकाकारों के विषय में स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया गया।

प्रश्न—अग्निवेश को उपदेश करने वाले 'आत्रेय' कौन थे ?

उत्तर—प्राचीन व्यक्तियों के विषय में कुछ कहते हुए निश्चितता शब्द का प्रयोग कर पाना सम्भव नहीं। उस विषय में जो भी प्रमाण मिलते हैं उन्हीं के द्वारा अनुमान लगाया जा सकता है। अतः उसी आधार पर हम ऐसे विषयों में व्याख्या कर रहे हैं।

चरक संहिता का अध्ययन करने से वहाँ पर पुनर्वसु आत्रेय, कृष्णात्रेय, भिक्षु आत्रेय और अत्रि के नाम मिलते हैं। ऐसा माना जाता है कि पुनर्वसु आत्रेय और कृष्णात्रेय एक ही व्यक्ति हैं। पुनर्वसु साथ में लगाना सिद्ध करता है कि वह पुनर्वसु नक्षत्र में उत्पन्न हुए थे। और कृष्ण विशेषण उनकी शाखा का बोध कराती है। जैसा पीछे भी लिख आए हैं कि चरक संहिता का साम्य कृष्ण यजुर्वेद से है। अतः कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित होने से ही उनको कृष्ण आत्रेय कहा जाता है।

शास्त्रों में आत्रेय शब्द अनेक स्थान पर आये हैं यथा कृष्णात्रेया, गोरात्रेया, अरुणात्रेया, नीलात्रेया, यह सब शब्द इनके अत्रि के वंशज होने को ही सिद्ध करते हैं। इनमें कृष्णात्रेय ही पुनर्वसु आत्रेय थे जैसा कि ऊपर लिख भी आए हैं। साहित्य के अवलोकन से यह बात सिद्ध हो गई है कि यह वैशम्पायन शाखा से सम्बन्ध रखते थे।

यह किस काल में रहे, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ न कह कर भी कुछ प्रमाणों का सहारा लेना पड़ता है। चरक सहिता का अवलोकन करने से यह सिद्ध होता है कि पुनर्वसु आत्रेय एक भ्रमणशील व्यक्ति थे, वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते जाते थे और वहाँ उपदेश देते थे। उनके उपदेशों के साथ कुछ ऐसे स्थानों का वर्णन चरक संहिता में मिलते हैं जहाँ उन्होंने उपदेश दिए। उन स्थानों में 'काम्पिल्य' नामक नगर का नाम आया है और कहा गया है कि वह स्थान 'द्विजातिवराध्युषित' था। शतपथ ब्राह्मण में भी 'काम्पिलय' के विषय में निम्न तथ्य मिलते हैं।

"यहाँ पर वैदिक संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि, शिष्टाचार के आदर्श संस्कृत भाषा के उत्तम वक्ता, मखों में विधिपूर्वक यजन करने वाले लोग रहते थे।" इस बात से भी सिद्ध होता है कि उस समय 'काम्पिलय' नामक स्थान पर जहाँ पर पुनर्वसु आत्रेय ने उपदेश किया वह एक प्रसिद्ध स्थान माना जाता था।

इतिहास के अध्ययन से सिद्ध हो जाता है कि गौतम बुद्ध के समय में 'तक्षशिला' का महत्व बहुत था और उस समय 'काम्पिलय' का महत्व घट गया था। तक्षशिला की प्रसिद्धि बुद्ध के समय में अत्यधिक थी किन्तु चरक संहिता में उसका कहीं अस्तित्व नहीं मिलता। यदि पुनर्वसु आत्रेय उस समय होते तो तक्षशिला का वर्णन अवश्य करते। पाणिनी ने जिनका समय ४७६ ईसा पूर्व का माना जाता है उन्होंने तक्षशिला का वर्णन किया है। इसका सीधा अर्थ निकलता है कि काम्पिल्य की प्रसिद्धि से लेकर तक्षशिला के अस्तित्व में आने के मध्य का समय पुनर्वसु आत्रेय का समय था। यह बुद्ध से पूर्व एवं उपनिपदों के बाद का समय था। अतः यह समय ७००-७५० ईसा पूर्व का होगा।

इस प्रकार हम कहेंगे कि पुनर्वसु आत्रेय जिन्हें कृष्णात्रेण भी कहा गया है—कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित है और वैशम्पायन शाखा में थे। उनका समय बौद्ध काल के समय तक्षशिला की प्रसिद्धि से पूर्व का है जो कि लगभग ७००-७५० ईसा पूर्व का कहा जा सकता है।

प्रश्न—अग्निवेश के विषय में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर—चरक सूत्रस्थान अध्याय प्रथम में पुनर्वसु आत्रेय के उपदेशों को सुनने के लिए छः शिष्य थे, ऐसा स्पष्ट वर्णन किया है। उनमें से प्रत्येक ने अपनी अपनी संहिताएँ बनाई और उन सब में अग्निवेश की संहिता सबसे महत्वपूर्ण मानी गई यह भी कहा गया है।

विद्यमान चरक संहिता में लिखे अनुसार यह संहिता अग्निवेश संहिता है और चरक ने इसको प्रति संस्कृत किया है—अतः मानना होगा कि वह विद्यमान चरक संहिता के प्रणेता थे।

पाणिनी ने अग्निवेश, मेल, पारासर आदि का नाम गर्गादि गण में भेपज चिकित्सा के सम्बन्ध में लिखा है अतः सिद्ध होता है कि यह पाणिनी से पूर्व के थे।

अग्निवेश यदि एक ही हों तब तो समय निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पुनर्वसु आत्रेय का उपदेश सुनने वाले शिष्य थे अतः उनका समय भी वही था जो पुनर्वसु आत्रेय का किन्तु अग्निवेश नाम अन्य कई प्रसंगों मे भी आये हैं जो कि उलझन पैदा करते हैं यथा—महाभारत में भारद्वाज से आग्नेयस्त्र प्राप्त करने के लिए अग्निवेश का उल्लेख किया गया है। गौतम

बुद्ध के साथ आध्यात्मिक चर्चा प्रसंग में सञ्चक को भी गोत्र रूप में अग्नि-वेश जो पुनर्वसु आत्रेय के शिष्य थे वह उसी समय में उत्पन्न हुए थे।

इनके विषय में एक विशेष बात और भी है वह यह कि चरक के टीका-कार जेज्जट ने टीका करते हुए कई स्थानों पर अग्निवेश तन्त्र के उद्धरण दिए हैं—वे उपलब्ध चरक में नहीं मिलते। इनको देखने से लगता है कि यह श्लोक बहुत नवीन है—पीछे के बनाए हुए हैं। इनमें से कुछ तो माधव निदान से मिलते हैं और कुछ शारङ्गधर से। ऐसा कहा जाता है कि किसी ने बाद में अग्निवेश के नाम पर यह श्लोक बनाकर अग्निवेशतन्त्र के नाम पर प्रचलित किया यह इतिहासकारों का मत है।

अत: अग्निवेश आत्रेय के शिष्य थे और उन्होंने उनके उपदेशों के आधार पर संहिता की रचना की जो बाद में चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत होने पर चरक संहिता के नाम से उपलब्ध होती है। यह आत्रेय के शिष्य होने से उसी काल में रहे होंगे।

प्रश्न—चरक के विषय में ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत करें ?

उत्तर—चरक उपलब्ध चरक संहिता के प्रति संस्कार कर्ता थे। वह कौन थे—यह जानने के लिए हमें प्राचीन साहित्य में उपलब्ध अनेक 'चरक' शब्दों का विचार करना होगा। मुख्य रूप से निम्न प्रसंगों में चरक शब्द आया है—

(१) शतपथ ब्राह्मण में कृष्ण की यजुर्वेद की एक शाखा का नाम 'चरक' लिखा है—

(२) ललितविस्तर में वयोवृत्ति भ्रमणशील संन्यासियों को 'चरक' कहा है।

(३) चक्रधारण करने वाले और योग अभ्यास करने वालों को भी 'चरक' कहा गया है।

(४) सामण ने 'चरक' उन लोगों को कहा है जो बाँस पर नृत्य करने वाले नट हैं।

(५) बृहदारण्यक में 'चरक' शब्द आया है।

(३) व्रण को फारसी में 'चरक' कहा जाता है।

(७) विद्या समाप्त कर ज्ञान उपार्जन के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करने वालों को 'चरक' कहा जाता है।

(८) जातकों में तक्षशिला के विद्यार्थियों को चरक कहा है।

(९) भावप्रकाश में शेषनाग द्वारा लोक वृत्तान्त जानने की इच्छा से चर-रूप में पृथ्वी पर आने के कारण चरक कहा है।

(१०) श्युआनच्यआङ ने लिखा है कि पाणिनी ही चरक थे और उन्हें चरक इसलिए कहा गया क्योंकि उन्होंने शब्दों की खोज में बहुत यात्रा की।

इन सभी अर्थों में 'चरक' शब्द आया है। ऐसा लगता है कि इनमें से ही किसी वर्ग के व्यक्ति ने उस संहिता का प्रतिसंस्कार किया होगा।

चरक और पातंजली को एक सिद्ध करने की प्रथा कुछ अधिक चल पड़ी है। उनके पक्ष और विपक्ष में प्रमाण मिलते हैं किन्तु अधिक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध होता है कि यह दोनों अलग २ व्यक्ति थे। नागेश भट्ट, चक्रपाणी, विज्ञान भिक्षु आदि का मत उचित नहीं लगता कि उन दोनों को एक मान लिया जाये। इस विषय में निम्न तथ्य सहायक हैं—

इतिहास बताता है कि पातंजली का समय पुष्यमित्र के राज्य का था। वह मौर्यवंश के अन्तिम राजा का सेनापति था। उसने उस राजा जिसका नाम बृहद्रथ था मारकर राज्य प्राप्त किया। वह ईसा पूर्व १८५ की बात है। उसने ३६ वर्ष तक राज्य किया। वही समय पातंजली का था।

पातंजली ने महाभाष्य में अपने को गोनर्द देश का वासी बताया है। उसने महाभाष्य में कहीं भी 'चरक' नाम नहीं लिखा यदि यह दोनों एक ही होते तो महाभाष्य में चरक नाम होता और चरक सहिता में कहीं भी गार्नद शब्द का प्रयोग किया गया होता। इससे सिद्ध होता है कि यह दोनों भिन्न २ व्यक्ति थे।

चरक ने चरक संहिता का केवल प्रतिसंस्कार किया है और पातंजली ने महाभाष्य के समान महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। यह पातंजली के लिए कोई सम्मान की बात नहीं थी।

महाभाष्य में लोकोक्तियों और समास व्यासोक्तियाँ कई स्थानों पर मिलती हैं और वहाँ पर प्रतिपक्षी को बहुत कठोरता से उत्तर दिए गये हैं किन्तु चरक संहिता में यह दोनों बातें नहीं मिलती। इससे इन दोनों को एक नहीं कहा जा सकता।

महाभाष्य में सार्पविद्यः; काङ्गविद्यः, धर्म्मविद्यः आदि उदाहरणों के साथ आयुर्वेद विद्या सम्बन्धी उदाहरण नहीं मिलते। क्या आयुर्वेद के प्रसिद्ध

ग्रंथ चरक संहिता का प्रतिसंस्कर्ता आयुर्वेद सम्वन्धी उदाहरण नहीं देता।

महाभाष्य में रजस्वला के विषय में जो पालनीय नियम बताए हैं, उनका साम्य सुश्रुत संहिता के सूत्रों से होता है, चरक संहिता में जाति सूत्रीय अध्याय में दिये गये वचनों से समानता नहीं।

इन सभी बातों से यह सिद्ध होता है कि महाभाष्यकार पातंजली भिन्न थे और अग्निवेश तन्त्र के प्रतिसंस्कार करने वाले चरक भिन्न व्यक्ति थे।

प्रतिसंस्कार करने वाले चरक का समय कौन था—यह विचार करते हुए हम त्रिपिटक के चीनी अनुवाद में कनिष्क के राज्यवैद्य का नाम चरक कहा है। नागार्जुन भी इसी समय के थे। नागार्जुन की कृति उपाय हृदय और चरक संहिता की वाद विषयक शैली एक समान होने से दोनों की समकालीनता सिद्ध करती है। कनिष्क की सभा में अश्वघोष कवि भी था, उसकी रचनाओं में चरक की उपमाएँ भाव आदि की झलक मिलती है। इसके अतिरिक्त चरक संहिता में जम्पराज्य, पक्षविपक्ष गौतम बुद्ध कालीन परिपाटी का भी प्रभाव है जो सिद्ध करता है कि यह इसके बहुत बाद की रचना है। इन सभी बातों से सिद्ध होता है कि चरक का समय कनिष्क का समय था जो कि ईसा की प्रथम शताब्दी का समय था।

इस विषय में एक प्रसंग ऐसा मिलता है जो कुछ संदेह उत्पन्न करता है वह यह है कि नागार्जुन भी समकालीन थे। उन्होंने 'उपायहृदय' में भैषज्य विषय में सुश्रुत का नाम लिखा है चरक का नहीं। अतः कहा जाता है कि यदि वह समकालीन होता तो उस प्रसंग में अवश्य ही चरक का नाम आता। इसका उत्तर देते हुए कहा जाता है कि नागार्जुन ने केवल सुश्रुत का ही नाम दिया है, अग्निवेश, पुनर्वसु आत्रेय का नाम भी नहीं है। अतः यह सिद्ध नहीं करता कि चरक समकालीन नहीं थे। ऐसा माना भी जाता है कि नागार्जुन सुश्रुत सम्प्रदाय को ही मानते थे, इसीलिए सम्भवतः केवल सुश्रुत का नाम लिखा हो।

इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि चरक जिन्होंने चरक संहिता का प्रतिसंस्कार किया पातंजली से भिन्न थे। वह कनिष्क के राजवैद्य थे और उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी है। उसी समय में उनके द्वारा अग्निवेश के बनाये तन्त्र का प्रतिसंहार हुआ था जो आज चरक संहिता कहलाता है।

प्रश्न—दृढ़बल कौन थे ? उनके समय का और आयुर्वेद सेवा का वर्णन कीजिए ?

उत्तर—दृढ़बल ने चरक संहिता का प्रतिसंस्कार किया और आज तो उपलब्ध चरक संहिता है उसका कुछ अंश स्वयं दृढ़बल ने पूर्ण किया।

चरक को देखने से पता चलता है कि इनका दूसरा नाम 'कापिल बलि' था। इनके पिता का नाम कपिल बल था, सम्भवतः इनका पुत्र होने के कारण ही दृढ़बल का यह नाम रहा होगा। यह पंचनदपुर के रहने वाले थे। यह काश्मीर देश में था। वितस्ता और सिन्धु नदी जहाँ पर मिलती हैं, वहाँ पर आज 'पंचमनोर' नामक स्थान है वास्तव में वह पचनन्दपुर था। आज भी यह स्थान काश्मीर नगर से उत्तर में साढ़े तीन कोस की दूरी पर पाँच नदियों के संगम पर विद्यमान है।

दृढ़बल का समय वाग्भट्ट से पूर्व का है क्योंकि अष्टांगहृदय में उनके वचन उद्धृत किए हुए मिलते हैं। जैज्जट ने भी अपनी निरन्तर पद व्याख्या में दृढ़-बल के वचन प्रमाण रूप में उपस्थित किए हैं इससे सिद्ध है कि यह जैज्जट से भी पूर्व के हैं।

चरक के जिस भाग की पूर्ति दृढ़बल ने की है उसमें जया विष्णु, वासुदेव कृष्ण का नाम आता है। इससे स्पष्ट होता है कि गुप्तकाल में जब कृष्ण वासुदेव की पूजा का प्रचलन हो चुका था तभी दृढ़बल हुए थे। यह समय गुप्तकाल के प्रारम्भ में वाग्भट्ट से पूर्व का था। इनका समय चतुर्थ शती का आरम्भ या तृतीय शती का उत्तरार्द्ध होगा।

दृढ़बल की आयुर्वेद सेवा में महत्वपूर्ण विषय चरक संहिता का प्रति-संस्कार एवं पूर्ति करना है। चरक संहिता के चिकित्सा स्थान के अन्त में लिखा है कि इस ग्रन्थ में चिकित्सा स्थान के सत्रह अध्याय कल्प स्थान और सिद्धि स्थान नहीं मिले, उनकी पूर्ति दृढ़बल ने की ताकि इसकी पूर्ति होकर ग्रन्थ का उपयोग हो सके।

चरक चिकित्सा स्थान के कौन से सत्रह अध्याय दृढ़बल ने पूरे किये इस विषय में हमें चिकित्सा स्थान के दो क्रम मिलते हैं अतः दोनों पर ही विचार करना होता है। एक क्रम बम्बई की प्रकाशित पुस्तक है और दूसरा कल-कत्ता से प्रकाशित पुस्तक का। इस विषय में अनेक बातें यत्र-तत्र मिलती हैं

उनके आधार पर कलकत्ता से प्रकाशित चरक संहिता के १४ अध्याय से ३० अध्याय तक दृढ़बल ने पूरे किए हैं। उनके नाम हैं—

१. उन्माद २. अपस्मार ३. क्षत ४. शोथ ५. उदर ६. ग्रहणी ७. पाण्डु ८. श्वास ९. कास १०. छर्दि ११. तृष्णा १२. विष १३. त्रिमर्मीय १४. उरूस्तम्भ १५. वातव्याधि १६. वातशोणित १७. योनिव्यापत।

इस प्रकार दृढ़बल ने चरक संहिता के उक्त १७ अध्याय लिखे और कल्प स्थान तथा सिद्ध स्थान भी पूर्ति के और चरक संहिता का विद्यमान स्वरूप सम्मुख रखा।

दृढ़बल के विषय में कहेंगे कि वह गुप्तकाल से वाग्भट्ट से पूर्व तृतीय शती के उत्तरार्द्ध में अथवा चतुर्थ शती के आरम्भ में उत्पन्न हुए। उनका स्वरूप काश्मीर प्रदेश था और चरक संहिता की पूर्ति एवं प्रतिसंस्कार किया।

प्रश्न—सुश्रुत संहिता के स्वरूप पर प्रकाश डालिए ?

उत्तर—सुश्रुत संहिता का अवलोकन करने से उसके विषय में अनेक तथ्य प्राप्त हो जाते हैं जो उसके स्वरूप को स्पष्ट करने वाले हैं। उनमें से प्रसिद्ध तथ्य निम्न हैं—(१) सुश्रुत संहिता के उपदेष्टा काशिराज धन्वन्तरि हैं। वहाँ पर जो भी कहा गया है वह सब सुश्रुत को सम्बोधित करके कहा गया है—सुश्रुत को 'वत्स' कहकर धन्वन्तरि ने उपदेश किया है। एक राजा होने से उपदेष्टा में अभिमान बहुत है वहाँ आयुर्वेद का दान 'अर्थिभ्य' माँगने वालों के लिए देने को कहा है। चरक संहिता तथा अन्य संहिताओं में ऐसे नहीं मिलते वहाँ पर आरोग्य के हेतु आयुर्वेद के प्रचार हेतु उपदेश किया गया है।

सुश्रुत ने शल्य शास्त्र के अध्ययन की इच्छा प्रकट की है इसीलिए धन्वन्तरि ने केवल शल्य शास्त्र का ही उपदेश किया है। इस अंग की प्रमुखता का कारण भी बताया है।

(२) सुश्रुत संहिता में ब्राह्मण धर्म का फिर से प्राबल्य मिलता है। बौद्ध धर्म के प्रति द्वेष मिलता है। सूतिकागार बनाने का विधान बताते हुए भिन्न २ जाति के लिए अलग २ विधान कहा गया है। शूद्र आयुर्वेद का अध्ययन नहीं कर सकते केवल एक मत में कहा गया है कि मन्त्र छोड़कर उपनयन करके आयुर्वेद का अध्ययन कर सकते हैं। ब्रह्म भोज का विधान तथा रामकृष्ण की पूजा का विधान भी मिलता है।

सुश्रुत संहिता में भूगोल विषयक जानकारी बहुत है। पूर्व में वह कालिंग देश को खूब जानते थे इसी से सुश्रुत में कालिंगमान का वर्णन मिलता है। उत्तर में काश्मीर की जानकारी श्रीपर्वत, मलायचल आदि की जानकरी यह सिद्ध करती है कि वह सारे भारत के विषय में जानते थे। कौन चीज कहाँ मिलती है यह वर्णन भी सुश्रुत संहिता में मिलता है।

(५) सुश्रुत में स्थान २ पर भ्रमण करते हुए कोई उपदेश नहीं किया गया अपितु एक स्थान पर ही उपदेश दिया गया है। न ही ऋषियों के साथ बैठकर किसी विषय में विचार विमर्श का विधान बताया गया है। उस समय में अनेक वाद चल रहे थे जो स्वभाव ईश्वर आदि को मानते थे, वही सुश्रुत ने भी व्यक्त किये हैं।

(६) शल्प तन्त्र के क्रियात्मक ज्ञान का उस समय प्राबल्य था इसी कारण शिक्षा के साथ क्रियात्मक ज्ञान अधिक सिखाया जाता था सुश्रुत ने 'योग्यासूत्रीय' अध्याय का वर्णन कर यह बात स्पष्ट की है।

(७) शवच्छेदन का वर्णन सुश्रुत संहिता में विस्तार से बताया गया है। वहाँ पर कैसे शव का छेदन किया जाये किस प्रकार छेदन करें और अंग-प्रत्यंगों की जानकारी कैसे की जाए यह सब विस्तार से कहा गया है।

(८) व्राणीतागार (अस्पताल) के स्वरूप रोगी शय्या का विधान, नर्स की सेवा, खानपान का विधान सब विस्तार से कहा गया है।

(९) शस्त्र कर्म के सम्बन्ध में यन्त्र शास्त्र क्षार अग्नि अलौका आदि का वर्णन किया है। उन यन्त्र आदि की संख्या स्वरूप आदि की विस्तृत जानकारी की गई है। शास्त्र का स्वरूप उसके कर्म उसकी धार आदि का सारा विधान वर्णित किया गया है। क्षार अग्नि अलौका के विषय में सभी ज्ञातव्य बताये गये हैं।

(१०) प्लास्टक सर्जरी का उल्लेख सुश्रुत में है एक स्थान का माँस काट कर दूसरे स्थान पर लगाने का विधान दिया हुआ है। अश्मरी, अर्श, उदर रोग मूत्रगर्भ आदि के ओपेशन के विधान बहुत महत्वपूर्ण हैं। व्रण के उपचार के उपक्रम कहे हैं।

(११) कल्प स्थान में राजाओं की विष से रक्षा का विधान बताया गया है। विष का प्रयोग किन २ अवस्थाओं में और किस प्रकार हो सकता है यह

बताया गया है। भोजन की परीक्षा, रसोईघर का प्रबन्ध, विषदाता के लक्षण आदि विस्तार से कहे गये हैं।

(१२) सुश्रुत में ग्रहों का वर्णन विस्तार से किया गया है। ग्रह शांति के लिए ग्रहों की पूजा का विधान है यह ध्यान रखना चाहिए कि ग्रह पूजा का विधान प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में आरम्भ हुआ था। इस अध्याय में निशाचरों का भी वर्णन उपलब्ध होता है। यह वास्तव में कीटाणु हैं।

(१३) सुश्रुत का विभाजन ६ स्थानों में किया गया है वे निम्न प्रकार हैं—

१. सूत्र स्थान	४६ अध्याय
२. निदान स्थान	१६ अध्याय
३. शरीर स्थान	१० अध्याय
४. चिकित्सा स्थान	४० अध्याय
५. कल्प स्थान	८ अध्याय
६. उत्तर तन्त्र	६६ अध्याय

उत्तार-तन्त्र को छोड़कर शेष अध्यायों को गिना जाये तो १२० होते हैं।

कुछ का कहना है कि उत्तर तन्त्र सुश्रुत के किसी प्रति संस्कृता ने लिखा होगा किन्तु यह बात ठीक नहीं जंचती। क्योंकि इस विषय में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। शल्य प्रधान ग्रन्थ होने से १२२ अध्यायों में प्रधान रूप शल्य विषयक जानकारी ही है और बाद में उत्तार तन्त्र में अन्य विषयों का चयन किया है।

उपर्युक्त तथ्यों का अवलोकन स्पष्ट कर देता है कि सुश्रुत संहिता का क्या स्वरूप है।

प्रश्न—सुश्रुत की टीकाओं एवं टीकाकारों का संक्षिप्त वर्णन करो ?

उत्तर—सुश्रुत की निम्न टीकाएं हुईं—

(१) सुश्रुत की टीका जैज्जट ने की थी यह मधुकोश टीका डल्लन के उल्लेखों से सिद्ध होता है। यह काश्मीर के रहने वाले बताये गये हैं और वाग्भट्ट के शिष्य माने गए हैं।

(२) सुश्रुत के दूसरे टीकाकार गया दास हैं। इनकी टीका का नाम पंजिका है। डल्लन ने बार २ उनका उल्लेख किया है। ऐसा कहा जाता है कि

गयादास जैज्जट के पीछे डल्लन से पूर्व लगभग सातवीं या आठवीं शती में हुए थे।

(३) डल्लनाचार्य ने सुश्रुत की टीका की है। कविराज गणनाथ सेन ने बताया है कि यह मथुरा प्रदेश के रहने वाले थे। मथुरा के निकट भादानक देश के भरतपाल नामक वैद्य के पुत्र थे। सहपाल नामक राजा जो भादानक का राजा था के प्रीति पात्र थे।

इनकी टीका का नाम 'निबन्ध संग्रह' है। यह बहुत सरल है। प्राचीन पाठों का संग्रह किया गया है। विद्यार्थियों के लिए उपयोगी टीका है। यह सुश्रुत भी सम्पूर्ण टीका है। चक्रपाणिदत्त ने डल्लन के मत का खंडन किया है इससे सिद्ध होता है कि यह चक्रपाणिदत्त से पूर्व के हैं। चक्रपाणिदत्त का समय ११वीं शताब्दी का है अतः यह दसवीं शताब्दी में हुए होंगे।

(४) चक्रपाणिदत्त ने सुश्रुत की टीका की है जो बहुत पांडित्यपूर्ण है तथा अपूर्ण है। इनकी टीका का प्रसिद्ध नाम 'भानुमति' टीका है। कुछ का कहना है कि सरस्वती भवन पुस्तकालय बनारस में इसकी पूर्ण टीका थी जो ब्रिटिश म्यूजियम में चली गई है। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का कहा गया है।

इस तरह प्रसिद्ध टीकाएँ चार ही हुई हैं। भास्कर, माधव, ब्रह्मदेव आदि के नाम भी आये हैं जो प्रसिद्ध नहीं हैं।

प्रश्न—माधव निदान के प्रणेता 'माधव' के विषय में आप क्या जानते हैं?

उत्तर—माधव के विषय में जोधपुर निवासी श्री अम्बालालजी जोशी ने काफी अध्ययन के पश्चात् लिखा है—इस विषय में हम उसे नीचे उद्धृत कर रहे हैं।

आयुर्वेद के इतिहास में प्राचीन पृष्ठों में तीन माधव का अस्तित्व मिलता है।

(i) माधवाचार्य—आप 'सर्वदर्शन संग्रह' नामक ग्रन्थ के लेखक थे तथा वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार श्री सायण के भाई थे।

(ii) वृन्द माधव—आप सिद्ध योग ग्रन्थ के लेखक थे।

(iii) रुग्विनिश्चयकार माधवकार।

इतिहासकारों ने ही तो माधवों को एक करने का प्रयत्न किया है जो उनका भ्रम मात्र है। गोंडल के ठाकुर साहिब ने सृंगेरी मठ के शंकराचार्य

पदस्थ जो पूर्व माधवाचार्य के नाम से प्रसिद्ध थे उनकी माधव निदान का लेखक माना है। परन्तु यह उचित नहीं है, कारण ये विजयनगर के सम्राट् वक्क (१४वीं शताब्दी ईस्वी) के समकालीन थे।

जौली इण्डियन मैंडिसन के अनुसार वृन्द माधव ७ शताब्दि के बताये गये हैं। परन्तु यह भी ठीक नहीं है। कारण यह अपने ही शब्दों में 'नारायणस्य तनयः' है न कि 'इन्दुकरात्मज'। एक अन्य स्थान पर 'वृन्देन सलिख्यते गद विनिश्रम क्रमेण' लिखकर उन्होंने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि मैंने माधवकर के रोग विनिश्चय ग्रन्थ के क्रम से अपने ग्रन्थ सिद्ध योग को लिखा है। डाक्टर होरनले ने भी दोनों माधवों को एक माना है। परन्तु उन्होंने अपने उक्त कथन की पुष्टि के लिए कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया है।

तीसरे माधव हैं। हमारे 'निदाने माधव श्रेष्ठ' के मान्य लेखक इन्होंने आर्य ग्रन्थों के आधार पर 'रोग विनिश्चय' नाम से निदान विपयक इस संग्रह ग्रन्थ की रचना की है। जो कालान्तर में उन्हीं के नाम पर 'माधव निदान' संज्ञा से विद्वानों द्वारा बोधित की गई है। यही इन्दुकर के सुपुत्र माधवकार हमारे विपय के नायक हैं। ये स्वयं अपने विपय में मौन है अतः इनका इतिहास प्रस्तुत करने के लिए हमें इतर ग्रन्थों तथा प्रसंगों का अध्ययन करना पड़ेगा।

माधवकर स्वयं एक वैद्य थे तथा वैद्य कुल में उत्पन्न हुए थे, ऐसा अनेक इतिहासकारों का मत है। यह भी अनुमान किया जाता है कि वे बंगाल के एक सम्भ्रांत वैद्य कुल के सदस्य थे। कारण वंगाल में 'कर' उपाधि वैद्यों को एक ऐसे ही कुल का बोधक है। अन्य बंगीय लेखकों ने जैसे वृन्द, चक्रपाणी आदि ने अपने ग्रन्थों में रुग्विनिश्चिय ग्रन्थ के विपय क्रम का अनुसरण किया है।

माधवकर इन्दुकर के पुत्र थे। 'कर' उपाधि उन्हें परम्परा से प्राप्त हुई थी ऐसा अनुमान किया जा सकता है। वहुत सम्भव है माधवकर के विद्वान पिता एक सफल (पीयूषपाणी) चिकित्सक रहे हों। इसलिए 'इन्दु' (चन्द्रमा) जो पीयूष का आगार है तथा 'कर' (हस्त) में रहने के कारण ही उनका नाम 'इन्दुकर' (पीयूषपाणी) रखा गया हो और वही परम्परागत पीयूषपाणीत्व का चिन्ह 'कर' माधवकर तथा उनके आत्मजों के भी लगाया जाता रहा हो।

मान्य कविराज गणनाथसेन सरस्वती का मत है कि माधवकर ईसा की सातवीं शताब्दी में पैदा हुए। अन्य कई इतिहासकारों ने इस मत का समर्थन किया है। हमारा भी ऐसा ही मत है। यद्यपि कुछ इतिहास लेखक अन्यथा मत प्रकट करते हैं। परन्तु उनका पक्ष न्यायसंगत तथा सिद्ध नहीं है। अपने मत के समर्थन में हम निम्नलिखित तर्कों को उपस्थित कर सकते हैं।

चक्रदत्त के रचयिता आचार्य चक्रपाणी ने अपने ग्रंथ में इस श्लोक से दर्शाया है कि उन्होंने अपनी रचना चक्रदत्त को वृन्द के 'सिद्ध योग' के क्रम से प्रस्तुत किया है तथा उसमें योग भी उद्धृत किये हैं।

इससे यह भी स्पष्ट है कि वृन्द चक्रपाणी से पूर्व हुए हैं क्योंकि चक्रपाणी का समय ११वीं शताब्दि ईस्वी सिद्ध है।

वंग प्रदेश के एक भाग गौड़ प्रदेश के राजा नयपाल आदि पाल राजा ऐतिहासिक व्यक्ति हुए हैं। उसका राज्य ईसा की दशवीं शताब्दि तथा ग्यारहवीं शताब्दी तक रहा है। नयपाल का राज्य ११वीं शताब्दि (सं० १०६० ई०) के लगभग रहा है अतः चक्रपाणि का भी करीब यही समय था। वृन्द यदि हम इससे २०० वर्ष का पूर्व का मानले जो ९वीं शताब्दि का ठहरता है तो ठीक रहेगा। परन्तु वृन्द ने भी अपने ग्रन्थ में यह स्वीकार किया है कि उसने अपने ग्रन्थ की रचना 'वृन्देन सलिख्यते गदविनिश्चययच क्रमेण' माधवकर के गतविनिश्च नामक ग्रन्थ के विपय क्रमानुसार ही की है। इससे यह निश्चय होता है कि 'रूग्विनिश्चकार' 'सिद्ध योगकार' से पूर्व हुए हैं। ठीक उपरोक्त २०० वर्ष का बीच मान लिया जाय तो माधवकर का काल ७वीं शताब्दी ईस्वी पड़ता है।

आठवीं शताब्दी में बगदाद के खलीफा हरून-अल-रसीद ने (ई० सं० ७८६ से ८०८ तक) अपनी चिकित्सा के लिए एक भारतीय चिकित्सक माणिक्य (मनकाह-अल-हिन्दी) को बगदाद बुलाया और स्वस्थ होने पर उसे पुरस्कार देकर वहीं रखकर बगदाद के अस्पतालों तथा महाविद्यालयों का संचालक नियुक्त किया। इसी समय में भारतीय आयुर्वेद ग्रन्थों-सरक (चरक) सरसद (सुश्रुत) वेदान (माधव निदान) संकर (अष्टांग संग्रह) आदि का अरबी में अनुवाद कराया गया। इससे यह प्रतीत होता है माधवकर इस समय से अर्थात् आठवीं शताब्दी से पूर्व हुए हैं।

माधवकर वग्भट्ट के बाद हुए क्योंकि उन्होंने अपने निदान ग्रन्थ में निदानम् पूर्वरूपाणि आदि, अनेक उद्धरण वाग्भट्ट से लिये हैं । वाग्भट्ट का समय चतुर्थ शताब्दी का है । अतः माधवकर का सातवीं शताब्दी में होना सत्य हो सकता है ।

माधव निदान के तीनों नाटककर (i) अरुणदत्त (ii) विजयरक्षित तथा श्रीकण्ठदत्त और (iii) वाचस्पति अनुमान से क्रमशः ११०५, ११५९ तथा १२०९ ईस्वी सन् में हुए तथा उन्होंने (i) शब्दार्थ-दीपिका (ii) मधुकोष और (iii) आंतक-दर्पिणी टीकायें क्रमानुसार लिखीं ।

भारत में शैवगत का प्रचार वौद्धों की वज्रयान शाखा के कुछ पूर्व से ही आरम्भ था मत: इस मत का अधिक प्रचार ईसा की सातवीं तथा आठवीं शताब्दी में रहा था । माधवकर पर भी शैवों का प्रभाव पड़ा है । जैसा कि 'निदान' के मंगलाचरण से प्रतीत होता है ।

माधवकर स्वयं विद्वान होते हुए एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे । इसीलिए तो उन्होंने आयुर्वेद के आर्यग्रन्थों का अध्ययन तथा मंथन कर अनेक वैद्यों की प्रार्थना को स्वीकार कर 'रूग्विनिश्चय' नामक संग्रह ग्रंथ अल्प वैद्यों के लिए प्रस्तुत किया । ये हिन्दू शैवमत के अनुयायी थे ।

उन दिनों प्रचार के इतने सीमित साधनों के होते हुए तथा अन्य प्रकाशनीय सामग्रियों के न रहते हुए भी माधवकर के इस रोग विनिश्चय ग्रन्थ का एक डेढ़ शताब्दी में ही विदेशों तक प्रचार हो जाना ग्रंथ की आवश्यकता तथा उपयोगिता की ओर एक निश्चित संकेत देता है । वस्तुतः इस उपयोगी ग्रन्थ को आज भी उतनी ही प्रतिष्ठा है ।

श्री कविराज गोपीमोहन ने अपने मुक्तावली नामक ग्रन्थ के उपक्रम में यह स्वीकार किया है कि माधवकर ने रत्नमाला संज्ञक एक अन्य ग्रन्थ की रचना की है ।

माधवकर ने पातञ्जलि वृत्तिकार वृद्ध भोज के सम-सामयिक श्री गोविन्द रचित सूक्तिकर्णमृत ग्रंथ की मुक्तावली बनाने वाले को अपना गुरू स्वीकार किया है । अवश्य यह मुक्तावलीकार ऊपर लिखे मुक्तावलीकार श्री गोपी मोहन से भिन्न व्यक्ति हैं गोविन्द नामक एक विद्वान उत्तर पश्चिम बंगाल में सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए थे । वे गौड पादीय कारिमा, जिसमें २१५ श्लोक हैं, लेखक श्रीगौडपादक के शिष्य थे । महान्तर

से श्री शंकराचार्य को इन्हीं गोविन्द का शिष्य बताया गया है। जो संशयपूर्ण है। इस कथन की प्रामाणिकता को यदि स्वीकार कर लिया जाए तो श्री माधवकर का समय सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रहता है।

माधवकर के पारिवारिक जीवन के विषय में कुछ भी लिखना सम्भव नहीं है। साधारणतया एक संयुक्त हिन्दू परिवार के सदस्य होने के नाते वे सभी परिस्थितियों तथा समस्याएं जो हिन्दू परिवार में अधिकतर रहा करती हैं। माधवकर उसके अपवाद न रहे होंगे। उनके माता, स्त्री, पुत्र, पुत्रियाँ आदि के विषय में कुछ भी अधिक कहना अनधिकारपूर्ण ही होगा।

प्रश्न—धन्वन्तरि कौन थे ?

उत्तर—'धन्वन्तरि' एक ऐसा शब्द है जो बहुत व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होता है। सुश्रुत संहिता के आरम्भ में उपदेश करते हुए कहा गया है कि मैं ही आदि देव धन्वन्तरि हूँ। इसका अर्थ यह हुआ कि यह बहुत प्राचीन देव थे, जिन्होंने पुनः जन्म लेकर सुश्रुत को शल्यांग का उपदेश किया। चरक संहिता में जहाँ ब्रह्मा, अग्नि, अश्विनौ का नाम लेकर आहुति देने को कहा गया है वहाँ धन्वन्तरि के लिए भी कहा है—इससे इनका आदि देव होना सिद्ध होता है।

धन्वन्तरि एक सम्प्रदाय का नाम भी है। चरक संहिता में जहाँ भी कोई शल्य विषयक, क्षार-अग्नि आदि विषयक अवसर सम्मुख आया तभी कहा गया है कि यह धन्वन्तरि का अधिकार है—वह ही उपचार करें। यह सिद्ध करता है कि चरक संहिता के उपदेश काल में अवश्य ही इस सम्प्रदाय का प्रचार रहा होगा।

उपलब्ध सुश्रुत सहिता में धन्वन्तरि का काशीराज और दिवोदास नामों से उल्लेख किया गया है। हरिवंश पुराण के अनुसार यह काशीराज के वंश में उत्पन्न हुए और धन्व राजा के पुत्र थे—इसलिए काशिराज धन्वन्तरि कहलाए। दिवोदास धन्वन्तरि की चौथी पीढ़ी में उत्पन्न हुए परन्तु आयुर्वेद का विद्वान मानकर इन्हें धन्वन्तरि का अवतार स्वीकार किया गया और धन्वन्तरि दिवोदास नाम प्रचलित हो गया।

महाभारत में समुन्द्रमंथन के प्रसंग में धन्वन्तरि के आविर्भाव का वर्णन आता है। पुराणों में भी इसी रूप में इनका उल्लेख है। परन्तु वेदों में धन्वन्तरि का नाम नहीं आता।

विक्रमादित्य के नवरत्नों की गणना में 'धन्वन्तरि' का नाम आता है।

हरिवंश पुराण के समान ही अग्निपुराण एवं गरुड़ पुराण में भी दिवोदास को वैद्य धन्वन्तरि की चौथी पीढ़ी में उत्पन्न होना स्वीकार किया गया है।

महाभारत में चार स्थानों पर दिवोदास का नाम आया। इसके अनुसार भी दिवोदास का काशिपति होना, वाराणसी का बसाना, हैहयों द्वारा पराजित होकर भारद्वाज की शरण में जाना पाया जाता है।

सुश्रुत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सुश्रुत को वेदवादियों तथा चरक संहिता सम्मत अस्थियों की गणना का ज्ञान था, इससे सिद्ध होता है कि यह शतपथ ब्राह्मण और चरक संहिता के बाद में हुए। याग्यवल्क्य स्मृति में भी अस्थि गणना है, वहाँ पर सुश्रुत की गणना को महत्व नहीं दिया गया। यह स्मृति ईसा की दूसरी शताब्दी में निर्मित मानी जाती है। इस समय देश में बहुत से छोटे २ राज्य थे। इन छोटे २ राज्यों में ही दिवोदास नामक एक राजा होंगे जिनका काशी में राज्य होगा। इनका समय ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी रहा होगा। यही बात सुश्रुत संहिता में राम-कृष्ण-श्रीपर्वत के नाम से सिद्ध होती है।

चाहे धन्वन्तरि अथवा दिवोदास नाम कितने ही स्थानों पर आया हो तो भी सुश्रुत संहिता के उपदेशक का समय निर्धारित करने के लिए ऊपर दिया प्रमाण बहुत महत्वपूर्ण है। दूसरी या तीसरी ईसवी का मानना ठीक ही है। भाषा सामान्य सस्कृत है—कालिदास, अश्वघोष की शैली से सर्वथा भिन्न है।

चरक संहिता के बाद का होना। इसमें चरक के विषयों के ज्यों का त्यों ग्रहण करना है।

अतः हम कहेंगे कि ईसा की दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी में काशी नामक किसी राज्य के राजा दिवोदास हुए—जिन्होंने सुश्रुत को उपदेश दिया। राजा होने से ही 'अहं' होने से अपने को 'आदि देव' धन्वन्तरि कहा है।

प्रश्न—सुश्रुत के विषय में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर—सुश्रुत संहिता का उपदेश दिवोदास ने किया और श्रोता रूप में सुश्रुत थे। सूत्रस्थान अध्याय प्रथम में एक स्थान पर आया है कि सुश्रुत के

साथ अन्य शिष्य भी थे जिन्होंने दिवोदास जी से प्रार्थना की कि सुश्रुत ही हमारा प्रतिनिधित्व करेगा। इसके बाद केवल सुश्रुत को ही सम्बोधित कर सब उपदेश किया है।

सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र कहा गया है। सुश्रुत में भी यह बात मिलती है।[1] चक्रदत्त ने भी यही लिखा है। पर विश्वामित्र कौन थे—यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कितने ही स्थानों पर विश्वामित्र का नाम आता है। रामायण के प्रसिद्ध विश्वामित्र का इससे कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता। सत्य हरिश्चन्द्र के विश्वामित्र से भी इनका कोई सम्बन्ध नहीं जुड़ता। भावप्रकाश में विश्वामित्र द्वारा अपने पुत्र सुश्रुत को आयुर्वेद पढ़ने के लिए दिवोदास के पास भेजने का वर्णन है। किन्तु इन सबसे काल निर्णय में कोई सहायता नहीं मिलती।

आग्नेय पुराण में धन्वन्तरि एवं सुश्रुत के मध्य गुरु शिष्य रूप में चिकित्सा विषयक वार्ता मिलती है। केवल नाम के आधार पर निर्णय न कर यदि विचार करें तो स्पष्ट हो जाता है कि राजा दिवोदास के उपदेशों को सुश्रुत ने सुना है—अतः उनका समय भी वही था और वह समय ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी का था। वह उसी समय के किसी विश्वामित्र के पुत्र हैं।

प्रश्न—चक्रपाणिदत्त के विषय में तुम क्या जानते हो ?

उत्तर—जैसा कि चरक के टीकाकारों में लिख आए है कि चक्रपाणिदत्त ने चरक की टीका की थी। पाल राजाओं में नयपाल राजा के शासन काल में यह हुए। इनके पिता नारायण थे और वह सूदाध्यक्ष थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् यह नयपाल राजा के सूदाध्यक्ष हुए और उनके नयपाल राजा के पदवी धारण करने पर मन्त्री बने यह समय १०४० ईसवी का था।

चक्रपाणिदत्त की प्रतिभा चतुर्मुखी थी। उन्होंने साहित्य में कई ग्रंथों की टीकायें कीं और आयुर्वेद में साहित्य सृजन किया।

ग्यारहवीं शताब्दी में चिकित्सा सार संग्रह का निर्माण किया। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के अन्तराल में श्री निश्चल ने इसकी रत्नप्रभा टीका की थी। इस रत्नप्रभा टीका का आश्रय लेकर १५वीं, १६वी शताब्दी में शिवदास सेन

---

१. विश्वामित्रसुतः श्रीमान् सुश्रुतः परिपृच्छति (उ० अ० ६६)

ने तत्त्व चन्द्रिका नामक टीका लिखी। इस ग्रन्थ का आधार वृन्द का सिद्धयोग है। किन्तु वृन्द की अपेक्षा इसमें योगों की संख्या बहुत अधिक है। भस्मों का एवं धातुओं का प्रयोग विधान भी बताया गया है। वृन्द के योगों में कुछ परिवर्तन भी किये गये हैं।

द्रव्य गुण संग्रह नामक द्वितीय ग्रंथ है। इसकी टीका शिवदास सेन ने की है जो बहुत पांडित्यपूर्ण है इसमें रस-गुण-वीर्य-विपाक आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है।

आपने चरक पर आयुर्वेद दीपिका नामक टीका लिखी और सुश्रुत पर भानुमति टीका की।

इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी के चक्रपाणिदत्त एक विद्वान आयुर्वेदज्ञ हो चुके हैं जिन्होंने आयुर्वेद शास्त्र की बहुत महत्वपूर्ण सेवा की।

प्रश्न—मुगल साम्राज्य में हुए आयुर्वेद के विकास पर प्रकाश डालिए ?

उत्तर—गुप्त सम्राट् के पीछे आयुर्वेद का कोई महत्वपूर्ण ग्रंथ नहीं बना। इस बीच में केवल संग्रह ग्रंथ बने। इसके साथ ही साथ निघंटु विषयक एवं रस शास्त्र विषयक ज्ञान की वृद्धि भी हुई। इन दो विषयों पर स्वतंत्र ग्रंथों की रचना भी हुई। इसके साथ ही साथ नाड़ी विज्ञान का प्रचार भी इसी समय में हुआ।

आइने अकबरी को देखने से पता चलता है कि मुगल राज्य में चिकित्सा शास्त्र की क्या स्थिति थी। मुसलमान या तुर्क, अंग्रेज या यूरोपियन सभी अपने साथ अपने देश के चिकित्सक लाए जिससे आयुर्वेद को पनपने का अवसर नहीं मिला। दक्षिण में महाराष्ट्र में हिन्दू राज्य था, इसीलिए वहाँ पर आयुर्वेद का स्वरूप बचा रहा और इसीलिए वहाँ पंचकर्म पद्धति, वस्ति चिकित्सा आदि आज भी बने हुए हैं। उस समय में केवल उसी प्रदेश में आयुर्वेद साहित्य का सृजन हुआ, किन्तु वह साहित्य अधिकतर संग्रह ग्रंथों के रूप में ही हुआ।

अकबर के समय में यूनानी का प्रचार बढ़ा। हकीमों की उन्नति हुई। उसने ज्योतिष के शास्त्रों, महाभारत तथा रामायण के अनुवाद कराये किन्तु किसी आयुर्वेद के ग्रंथ के अनुवाद कराने का वर्णन उपलब्ध नहीं होता, इससे ऐसा लगता है कि आयुर्वेद राज्य की उपेक्षा दृष्टि का भाजन रहा होगा। वैसे इस समय हकीमों का विस्तार से वर्णन मिलता है और उस समय में

प्लास्टिक सर्जरी, सिरावेध, दाहकर्म आदि का प्रचलन था। छोटे-बड़े कितने ही हकीमों का वर्णन मिलता है

इस समय में नाड़ी विज्ञान का प्रचलन हुआ। इस समय में परदा प्रथा बहुत बढ़ गई थी। यूनानी हकीम नब्ज देख कर रोग का निदान करते थे। वह हकीम की सर्व प्रथम इस विद्या को भारत में लाए और उनसे ही यह ज्ञान आयुर्वेद ने ग्रहण किया। उस समय में ग्रंथ शार्ङ्गधर में सर्वप्रथम नाड़ी का ज्ञान मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्य संग्रहों में भी नाड़ी विषयक ज्ञान उपलब्ध होता है। नाड़ी विज्ञान पर अलग से भी पुस्तकें बनीं जो दक्षिण भारत में एवं उत्तर भारत में लिखी गई। इनमें कणाद का नाड़ी विज्ञान बहुत प्रसिद्ध है। नाड़ी विज्ञान सम्बन्धी ४६ ग्रन्थ मिलते हैं—जिनमें से अधिकतर हस्तलिखित मिलते हैं। इनमें से निम्न बहुत प्रसिद्ध हैं—

(१) नाड़ी विज्ञान।
(२) नाड़ी ज्ञान तन्त्र।
(३) नाड़ी दर्पण।
(४) नाड़ी ज्ञान तरंगनी।
(५) नाड़ी ज्ञान शिक्षा।
(६) नाड़ी ज्ञान दीपिका।

संक्षेप में नाड़ी ज्ञान विषयक प्रसार देश में १३वीं शताब्दी में हुआ। इससे पूर्व इसका प्रचलन नहीं था।

गुप्त काल में भारत में हर तरफ उन्नति हुई और उसके पश्चात् मुगल काल में ही भारत की चतुर्मुखी उन्नति का दिग्दर्शन करते हैं। चिकित्सा शास्त्र में जिस प्रकार नाड़ी विषयक ज्ञान मिला उसी प्रकार रस शास्त्र विषयक ज्ञान भी चिकित्सकों को मिला। इससे पूर्व रस शास्त्र की मियागिरी, सोना, चाँदी बनाने का काम सिद्धों के हाथों में थे। इनका प्रचार उन्हीं लोगों में सीमित था। मुगल काल में विलासिता बहुत थी—इसकी पूर्ति करने के लिए और रोगों को शीघ्रता से ठीक करने के लिये ही रस शास्त्र का चिकित्सा क्षेत्र में पदार्पण हुआ। चरक में भी कहीं २ लोह का प्रयोग मिलता है और चक्रदत्त ने भी लिखा है तो भी वह केवल चूर्ण करके देने को है। इस समय में पारद का प्रयोग बहुत बढ़ गया और पारद के साथ धातुओं का उपयोग भी बढ़ा।

मुसलमानों ने अफीम और संविदा का प्रयोग करना भारतवासियों को सिखाया और तभी से इनको चिकित्सा में ग्रहण किया गया।

इस काल में आयुर्वेद विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना हुई जिनमें प्रसिद्ध ग्रन्थ निम्न हैं—

(१) शार्ङ्गधर संहिता

(२) भाव प्रकाश

(३) योग चिन्तामणि

(४) वैद्य जीवन

(५) योग रत्नाकर

इनके अतिरिक्त भी अन्जन निदान, टोडरानन्द, स्त्री विलास, अर्क प्रकाश, अनुपान दर्पण, और अनेक ग्रन्थों का सृजन हुआ।

रस शास्त्र पर अनेकों ग्रन्थ बने, जिनमें से कुछ प्रकाशित हुए और कुछ अप्रकाशित हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि मुगल-साम्राज्य में एवं अंग्रेजों के आने के समय में आयुर्वेद में नाड़ी ज्ञान, रस शास्त्र का ज्ञान तथा योग चिकित्सा का प्रचार अधिक हुआ। यूनानी हकीमों से बहुत सी चीजें आयुर्वेद में आत्मसात कर ली गई।

प्रश्न—वाग्भट्ट के विषय में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर—अष्टांग संग्रह एवं अष्टांगहृदय के रचयिता के विषय में अष्टांग-हृदय की भूमिका में श्री यदुनन्दन उपाध्याय ने जो मत व्यक्त किये हैं—वह यहाँ उद्धृत कर रहे हैं।

वाग्भट्ट के रचयिता श्री भट्टाभट्टाचार्य है यह सर्व सम्मत है, किन्तु अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय नाम के दोनों ग्रन्थों के रचयिता वाग्भट्ट एक ही हैं या भिन्न २ इस विषय में मतभेद है। मेरा स्वयं मत है कि दोनों ग्रन्थ एक ही विद्वान् के लिखे हैं, क्योंकि दोनों ही में भाषा भाव आदि के साथ ही पितृनाम में भी साम्य है। केवल संग्रह गद्यपद्यमय विस्तृत ग्रंथ है किन्तु हृदय केवल पद्यमय और संक्षिप्त है। प्राचीन टीकाकारों ने; विशेषत: इन्दु ने जो कि वाग्भट्ट के शिष्य थे, अष्टांगसंग्रह की टीका में कई स्थानों पर हृदय का भी उल्लेख किया है और दोनों के रचयिता एक ही आचार्य को माना है।

स्वयं ग्रन्थकर्ता ने स्पष्ट शब्दों में अपने ग्रन्थ के अन्त में भी निर्देश किया है कि 'अष्टांग' वैद्यक रूपी समुद्र मन्थन से प्राप्त अष्टांग संग्रह नामक अमृत का फल अल्प श्रम से ही लोगों को प्राप्त हो एतदर्थ यह पृथक् ग्रन्थ वनाया गया तथा इस ग्रन्थ के अध्ययन से संग्रह को समझाने की शक्ति से सम्पन्न अभ्यस्त कर्मावैद्य कहीं पर ववड़ा नहीं सकता।

वाणभट्ट के शिष्य तथा अष्टांग संग्रह और हृदय के टीकाकार इन्दु का वचन इस बात का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है कि संग्रह और हृदय दोनों ही ग्रन्थ समकालीन हैं और दोनों ही एक ही आचार्य द्वारा लिखित हैं। एक ही काल में एक ही नाम वाले दो आचार्य विशेपत: दोनों के पिता का नाम भी एक हो ऐसी कल्पना करने और इन्दु के वचन का अविश्वास करने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता है। अत: संग्रह और हृदय दोनों के रचयिता वाग्भट्ट एक ही हैं इसमें सन्देह नहीं। एक विस्तृत ग्रन्थ की रचना के वाद उसी का संक्षिप्त रूप दूसरा ग्रन्थ लिखने के प्राचीन और अर्वाचीन अनेक उदाहरण भी मेरे मत का समर्थन करते हैं।

वाग्भट्ट के प्रत्येक अध्याय के अन्त में आचार्य ने अपना और अपने पिता का नाम ही लिखा है। पर अष्टांग संग्रह में अपने पितामह का भी नाम वाग्भट्ट, पिता का नाम सिंहगुप्त और अपना जन्मस्थान सिन्ध देश भी वताया है। साथ ही अपने गुरू का नाम अवलोकित भी वताया है, किन्तु आपके समय का निर्णय करने के लिए आपके ग्रन्थों में आये हुए नामों और आपके वचनों का उद्धरण देने वाले अन्य ग्रंथकारों के समय निर्णय की अपेक्षा होती है।

अष्टांग संग्रह में पलांडु का गुण वर्णन करते हुए आचार्य शकराज और शकागनाओं का उल्लेख करते है अत: अन्य भारत में शकों के राज्य के समकालीन प्रतीत होते हैं। भारत में शकों का राज्य दूसरी से चौथी ईस्वीय शताब्दी तक इतिहासवेत्ताओं ने माना है। इन तीन शतकों में से अन्तिम शतक में आपने इस ग्रन्थ का निर्माण किया ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि वाग्भट्ट के शिष्य इन्दु और जैज्जट ने चरक की टीका में भट्टार हरिचन्द का उल्लेख किया है। इससे यह सिद्ध है कि भट्टार हरिचन्द ने चरक की टीका इन्दु और जैज्जट के पूर्व की अत: वे इन दोनों के समकालीन या पूर्व कालीन थे। साथ ही स्वयं वाग्भट्ट द्वारा हरिचन्द का उल्लेख कहीं न होने

से यह वाग्भट्ट के पूर्व कालीन भी नहीं प्रतीत होते। भट्टार हरिचन्द राजा साहसांक के राज वैद्य थे। साहसांक ही चन्द्रगुप्त द्वितीय, विक्रमादित्य थे, इसे अनेक प्रमाणों द्वारा पुरातत्ववेत्ताओं ने स्वीकृत किया है और इन्हीं महाराज विक्रमादित्य ने अपने राज्यकाल (३७५ से ४१३ ई०) में निरन्तर युद्ध कर ३९५ ई० में शकों को पराजित कर देश से निर्वासित किया था। इससे भट्टार हरिचन्द का काल भी यही सिद्ध होता है। तथा वाग्भट्ट हरिचन्द्र के समकालीन या ईषत्पूर्ववर्ती थे यह पहले ही प्रमाणित किया जा चुका है। शकललनाओं के पलण्डु सेवन और तज्जनित लावण्यातिशय का वाग्भट द्वारा वर्णन सुना हुआ नहीं किन्तु प्रत्यक्ष देखा हुआ प्रतीत होता है। और यह शकों के निर्वासन के वाद सम्भव नहीं। इससे प्रमाणित होता है कि इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य वाग्भट्ट ईसवीय चौथी शताब्दी के मध्य या अन्त में वर्तमान थे।

देश में विशेषतः दक्षिण में यह प्रसिद्ध है कि अमरकोषकार अमरसिंह का ही दूसरा नाम वाग्भट्ट था। वे जाति के ब्राह्मण थे।

वाद में उन्होंने वौद्धधर्म को स्वीकार कर लिया था, कुछ लोगों का कथन है कि बौद्धधर्म का खण्डन विना उसका पूर्ण अध्ययन के सम्भव न देखकर उन्होंने वौद्धभिक्षु अवलोकित का शिष्यत्व स्वीकार किया। वौद्धधर्म की वहुत सी वातें उन्हें जंची, जिससे वे वैदिक धर्म के नियमादिकों के साथ वौद्धधर्म के भी उपयोगी आचारादि का सेवन करने लगे। इस पर तत्कालीन समाज ने उन्हें वौद्ध ही कहना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार आचार्य वाग्भट्ट के धर्म के सम्बन्ध में वहुत ही मतभेद है तथा अनेक आधुनिक विद्वानों ने उन्हें वैदिक, जैन या वौद्ध प्रमाणित करने का प्रयास करते हुए अपने-अपने मतों के समर्थन में अनेक प्रमाण भी उपस्थित किये हैं, किन्तु प्रत्येक के विरुद्ध भी प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं।

इस सम्वन्ध में मेरा स्वयं मत द्वितीय लोक प्रसिद्ध के पक्ष में है अर्थात् आचार्य वाग्भट्ट वस्तुतः वैदिक ब्राह्मण थे, किन्तु रूढ़िवादी नहीं थे। युगानुरूप सुधार आपको प्रिय था। अपने समाज की प्रचलित कुरीतियों का त्याग तथा अन्य समाज के सद्विचारों को ग्रहण करना उन्हें इष्ट था। अन्य समाज के महात्माओं का भी वे आदर करते थे। वुद्ध में भी वे श्रद्धा रखते थे। आखिर वुद्धाविहार भी तो वैदिक मत सम्मत है। यों कहिये कि बौद्धमत

भी वैदिक धर्म का एकागीयांश है। उसका विरोध इस वास्ते होता है कि वैदिकधर्मोक्त एकांश मात्र के सत्यमान शेषांश की बौद्ध धर्म में उपेक्षा की गई है। इसका अनुमान आज के सुधारवादियों पर दृष्टिपात करने से सहज में ही हो जाता है और की तो बात जाने दीजिये, लोकभाषा से राम-चरित मानस की रचना और उसके प्रचार मात्र के लिए परम भागवत भक्तशिरोमणि महात्मा तुलसीदास जी काया समाज के कतिपय कुरीतियों के विरुद्ध मत प्रदर्शन करने का कारण चरम वैदिक, आदर्श ब्राह्मण एव तपस्वी स्वर्गीय महामना मालवीय जी का भी विरोध क्या कुछ लोगों ने किया नहीं या जगद्गुरु आद्य संकराचार्य जी को कुछ लोगों ने प्रच्छन्न बौद्ध नहीं कहा ? किन्तु इन विरोधियों के कारण स्वर्गीय गोस्वामी या महामना जी विधर्मी तो नहीं हो गये, तथा उनके समाज देश धर्म और और जाति के हितैषी तथा लोक श्रद्धाभाजन उनके विरोधियों में कौन हुआ ? जगद्गुरू भगवान् शंकराचार्य जी तो शंकर के अवतार ही माने जाते है। मेरे मत के समर्थन में निम्नलिखित प्रमाण पर्याप्त है।

प्राचीन शिष्टाचार के अनुकूल किन्तु बौद्धमत के प्रतिकूल आचार्य वाग्भट अष्टांगहृदय ग्रन्थ तथा अष्टांगसंग्रहादि ग्रन्थों का भी आरम्भ मगलाच ण पूर्वक किया है। यद्यपि इस ग्रन्थ में इष्टदेवता का स्पष्ट नामोल्लेख नहीं है। जैसे 'अपूर्व वैद्याय नमोस्तु तस्मै कि-तु सग्रह में बुद्धाय तस्मेनमः' स्पष्ट है। कुछ लोग यहाँ बुद्ध का 'ज्ञानी' अर्थ करते है। पर मेरा मत है कि आचार्य ने स्पष्ट बुद्ध (गौतम बुद्ध) को ही प्रमाण किया है और वे बुद्ध के प्रति श्रद्धा रखते थे क्योंकि वे उस युग के महापुरुप थे, इस में सन्देह नहीं। अथवा वैदिक और बौद्ध दोनों ही समाज के प्रीत्यर्थ श्लिष्ट शव्द का प्रयोग भी सम्भव है। किन्तु ग्रन्थ का आरम्भ धर्म्म शरणं गच्छामि बुद्धं शरण गच्छाभि संघं शरणं गच्छामि या या ओ३म् नमः सिद्धम् इसी का अपभ्रष्ट रूप आज भी महाजनी के अक्षरारम्भ में आनामासीठम् है। आदि से नहीं किया है। इसके अतिरिक्त संग्रह में ही बुद्ध के साथ ही ब्रह्मादि वैदिक देशों का भी अभिवादन किया है। ग्रन्थ के भीतर ब्रह्मा, शिव भास्कर आदि वैदिक देवताओं के आराधना के विधान के साथ उस समय लो॰ में प्रचलित और पूजित आलोकित अपराजिता तारा आदि बौद्ध देवताओं की पूजा का भी उपदेश कुष्ठादि रोगों के शान्त्यर्थ किया है। तथा बुद्ध, जिन और तारा आदि

देवता वैदिक-मत-सम्मत भी हैं। श्री वाराहमिहिराचार्य ने अनकी मूर्तियों का भी वर्णन किया है। बौद्धधर्म के विपरीत श्री वाग्भट्टाचार्य ने अनेक स्थलों पर मास भक्षण का उपदेश किया है। चैत्य (बौद्ध मन्दिर) गमन का निषेध सदाचार प्रकरण में सुस्पष्ट शब्दों के किया है। शास्त्रकर्म बौद्ध मत विरुद्ध है। स्वयं बुद्ध ने शस्त्रकर्म, करने वाले को थुल्लाख्य दण्ड देने का आदेश दिया है पर वाग्भट्ट ने शस्त्रकर्म का संविधान और सविस्तार वर्णन किया है।

वाग्भट्टाचार्य के शिष्य-प्रशिष्य और पुत्र-पौत्र भी वैदिक मतावलम्बी ही थे। इनके द्वारा की गई टीकाओं और इनके लिखे ग्रन्थों में शुद्ध वैदिक देवताओं और आचार्यो का अभिवादन किया गया। सबसे बडा प्रमाण तो यह है कि चतुर्वर्गचिन्ता मणिकार परमवैदिक एवं धर्मशास्त्र के अधिकारी विद्वान यादववंशीय मालवेश महाराज महादेव तथा उनके बाद महाराज रामदेव के प्रधानामात्य एवं धर्माधिकरण आचार्य हेमाद्रि ने अष्टांगहृदय की आयुर्वेद रसायन टीका की है। और उसमें बड़ी श्रद्धा और आदर के साथ आचार्य वाग्भट्ट का नामोल्लेख किया है। यदि वाग्भट्ट बौद्ध होते तो हेमाद्रि द्वारा उनके लिए इतना प्रकट करना सम्भव न होता।

इसमें आगुल्फकञ्चुली से भले ही बौद्ध की कल्पना करें पर लम्बी दाढ़ी यज्ञोपवीत, चन्दन की माला और नेत्र मे अंजन आदि बौद्ध धर्म से विपरीत तथा एक विचित्र और स्वतन्त्र वेशभूषादिरुचि एवं निजमार्ग में दृढ़ वाग्भट्ट का स्वरूप सामने उपस्थित करते हैं।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि श्री मद्वाग्भट्टाचार्य वैदिक धर्मावलम्बी थे, किन्तु दूसरे मतों का भी आदर करते थे जो उनके-जैसे स्वतन्त्र वृत्ति विद्वान के अनुरूप ही था। साथ ही यह भी निश्चित प्रतीत होता है कि रूढ़ि प्रिय लोगों ने अवश्य ही कुछ काल तक उनका विरोध किया और उनसे द्वेष रखते थे, जिसका निर्देश सुस्पष्ट शब्दों में उनके ग्रन्थ में मिलता है।

रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ का कितना विरोध हुआ पर बाद की पीढी ने उनका कितना सम्मान किया यह सर्वविदित है। इसी प्रकार आचार्य वाग्भट्ट के समय अवश्य ही कुछ दम्भियों ने उनका अनादर किया होगा पर उनकी तथ्योक्ति तथा पाण्डित्य के प्रभाव से उनके ग्रन्थ का प्रचार आसेतु हिमालय भारत में ही नहीं, अपितु सिंहलद्वीप और तिब्बत तक में हुआ। उनका सम्बन्ध व्यवहार और तत्कालीन विरोध ने इस प्रचार में और

भी सहायता पहुँचाई। यह ईत्सिंग नामक चीनी यात्री के वर्णन तथा तिब्बत में प्राप्त ताञ्जूर नामक ग्रन्थ से प्रमाणित है। आज भी जिसका थोड़ा सा भी आयुर्वेद से सम्बन्ध है, जिसकी जिह्वा पर वाग्भट्ट का नाम है।

वाग्भट्ट में चरक और सुश्रुतादि में वर्णित विषयों से भी अधिक सामग्री प्राप्त होती हैं। बौद्धों या अन्य किसी भी विद्वान से प्राप्त उपयोगी ज्ञान, द्रव्य विधि या मन्त्रोपचार आदि का भी संग्रह आपने किया है। और इस प्रकार आज उपलब्ध आयुर्वेद साहित्य में इस ग्रन्थ को अत्युच्च स्थान प्राप्त है। इसमें आचार्य के आयुर्वेद ही नहीं, अपितु व्याकरण, साहित्य आदि अन्य शास्त्रों के परिपुष्ट ज्ञान के निर्देशक उदाहरण मिलते हैं। 'अर्थगाम्भीर्य' भाषासौष्ठव पर्यायप्राचुर्य, पदलालित्य, यमक, श्लेष, अनुप्रासादि अलंकार आदि काव्य के विविध गुणों के उदाहरण से ग्रन्थ परिपूर्ण है और कहीं भी वाक्य शास्त्र विरुद्ध या कल्पित नहीं है।

आपके शिष्यों में इन्दु और जेज्जट प्रधान थे। इन्दु ने अष्टांग संग्रह और हृदय की शशिलेखा नामिका विवेचना और पांडित्यपूर्ण टीका की है। जेज्जट ने तो चरक और सुश्रुत संहिताओं की भी व्याख्या की है। दोनों ही अत्यन्त विद्वान आयुर्वेद पारंगत एवं वैदिक मतावलम्बी थे।

भण्डारकर प्राच्य संशोधन मन्दिर में प्राप्त हस्तलिखित पुस्तक के अन्त "इति वाग्भट्ट सूनुना तीसर देवेन रचित चिकित्सा शास्त्रम्' यह लेख मिलता है। किन्तु तीसट रचित चिकित्सा कलिका ग्रन्थ में मंगलाचरण श्लोक में सूर्य अश्विनीकुमार धन्वन्तरि सुश्रुत आदि के साथ पिता श्री चरणों की भी वन्दना की गई है, किन्तु पिता के नाम का उल्लेख नहीं है तथा इसी ग्रन्थ के टीकाकार और तीसट देव के ही पुत्र श्रीचन्द्र ने भी स्पष्ट नामोल्लेख नहीं किया है। पर तीसट के पिता और चन्द्र के पितामह आयुर्वेद के धुरीण विद्वान थे यह 'पितुश्च पादान' की व्याख्या करते हुए 'तदनु आयुर्वेदाब्धिप्रतरणपोतपात्राणां पितुः पादानां नमस्कृतिः' इस वाक्य में प्रमाणित है। साथ में ही दोनों ही वैदिक मतावलम्बी थे यह इनके मंगलाचरण से ही स्पष्ट है।

श्री वृद्धवाग्भट्टाचार्य द्वारा लिखित अष्टांग निघण्टु एवं अष्टांगावतार नामक दो अन्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी प्रमाण मिलते है। इनके अतिरिक्त और भी ग्रन्थ वाग्भट्ट लिखित मिलते हैं। पर वे सभी वाग्भट्ट, प्रस्तुत

ग्रन्थ कर्त्ता आचार्य वाग्भट्ट से भिन्न हैं यह सर्व-सम्मत है। केवल 'रसरत्न-समुच्चय' कर्त्ता वाग्भट्ट के सम्बन्ध में मतभेद है। इस पुस्तक के भी लेखक का नाम वाग्भट्ट और पिता का नाम सिंहगुप्त मिलता है। किन्तु मेरा मत है कि किसी प्रतिलिपि कर्त्ता ने भ्रमवश पिता का नाम सिंहगुप्त भी सम्मिलित कर लिया है क्योंकि—

(१) अष्टांग संग्रह या 'हृदय' में प्राप्त भाषा, व्याकरण और साहित्य आदि प्रखर पांडित्य गुणों की दृष्टि से यह ग्रन्थ हीन है। इसमें अनेक व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ मिलती हैं।

(२) संग्रह या हृदय के रोगानुक्रम और रसरत्न समुच्चय के रोगानुक्रम में अन्तर है।

(३) समुच्चय में अर्वाचीन रक्तवात शीतवात सोम आदि रोगों का वर्णन तथा अपतानक आदि कतिपय प्राचीन रोगों का अभाव है।

(४) रस चिकित्सा का प्रचार भारत में छठी शताब्दी ईस्वी के पूर्व नहीं हुआ था, अन्यथा भगवान शंकराचार्य द्वारा रसेश्वर दर्शन का भी उल्लेख अवश्य हुआ होता।

(५) अष्टांग संग्रह या हृदय में मल्ल या अहिफेन का तथा अन्य रसों का उल्लेख नहीं मिलता। यदि हृदय कर्त्ता वाग्भट्ट के समय में रस चिकित्सा प्रचलित होती तो उसका उल्लेख संग्रह या हृदय में अवश्य होता।

(६) समुच्चय में कतिपय अर्वाचीन [७वीं ८वीं शताब्दी] के ग्रन्थों का अवतरण मिलता है।

कतिपय हस्तलिलित प्रतियों में सुनना 'संघगुप्तस्य' पाठ मिलता है। स्वर्गीय आचार्य प्रफुल्लचन्द राय आदि विद्वानो के मतानुसार समुच्चय कर वाग्भट्ट का समय १३वीं शताब्दी सिद्ध होता है। तथा अष्टांगहृदयकार से भिन्न और अति अर्वाचीन वाग्भट्ट द्वारा रसरत्नसमुच्चय की रचना प्रमाणित होती है।

सम्भवत: धन्वन्तरि के समान विशिष्ट वैद्यों के लिए वाग्भट्ट उपाधि का प्रयोग करने की प्रथा थी। स्वयं हृदयकार का वास्तविक नाम अमरसिंह था, ऐसी किवदन्ती पहले ही बताई गई है।

आप्रयसंहिता में आचार्य वाग्भट्ट के सम्बन्ध में दो श्लोक हैं, जो आपकी

प्रामाणिकता और आप्तता के प्रखर प्रमाण हैं। दूसरी भी एक जन श्रुति वाग्भट्ट के सम्बन्ध में अति महत्व की है कि एक बार भगवान धन्वन्तरि ने कलि काल के वैद्यों की परीक्षा के लिए पक्षी के रूप में प्रसिद्ध वैद्यों के समीप जाकर 'कोडरूक, कोडरूक, कोडरूक' प्रश्न करते सिंधु देश में वाग्भट्ट के प्रांगण में पहुँचे और वहाँ भी यही प्रश्न किया। वाग्भट्ट ने बड़े आदर के साथ फल आदि उपायन से स्वागत करते हुए प्रश्नों का उत्तर दिया हितभुक, मितभुक, अशाकभुक। इस उत्तर को सुनकर परम प्रसन्न हो भगवान धन्वन्तरि प्रकट रूप में अनेक आशीर्वाद और संग्रह ग्रन्थ में निर्माण का आदेश देकर अन्तर्ध्यान हो गए।

प्रश्न—शार्गंधर संहिता एवं भावकाश तथा उनके रचनाकारी के विषय में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर—प्रकाशित शार्गधर संहिता में शार्गधर को दामोदर का पुत्र कहा गया है।[1] इसके अतिरिक्त ग्रंथकर्त्ता ने इस संहिता में अपने विषय में कुछ नहीं लिखा। दूसरा ग्रन्थ शार्गधर पद्धति है उसमें ग्रंथकर्त्ता ने अपने विषय में लिखा है उसके अनुसार हम लिख रहे हैं। उसमें लिखा है कि शाकम्भरी देश में हम्मीर नाम का राजा हुआ है जोकि चौहान वंश का था। उसकी सभा में राघदेव नाम का ब्राह्मण था, उसके तीन पुत्र हुए—

[१] दामोदर
[२] गोपाल
[३] देवदास

इनमें दामोहर के तीन पुत्र हुए जिसमें शार्गधर सबसे बड़े थे। उनसे छोटा लक्ष्मीधर और सबसे छोटे का नाम कृष्ण था। शार्गधर ने शार्गधर पद्धति बनाई।

शार्गधर संहिता में ग्रन्थकर्त्ता ने अपना परिचय नहीं दिया केवल इतना लिखा है कि मैं शार्गधर सज्जनों को प्रसन्न करने के लिए मुनियों से कहे और चिकित्सकों से अनुभूत योगों का संग्रह करता हूँ। अल्पायु एवं अल्पमित जो सारे शास्त्र नहीं पढ़ सकते, उनके लिए यह संहिता है।

---

१. "इति श्री दामोदर सूनुना श्रीशार्गधरेण विरचितायां श्री शार्गधर संहितायां।"

शार्गधर संहिता तीन खण्डों में है। प्रथम खण्ड में परिभाषा औषधग्रहण-काल, नाड़ी परीक्षा, दीपन पाचन अध्याय, कल्कादि विचार, सृष्टिक्रम और रोग गणना यह सात अध्याय हैं। मध्य खण्ड में पंचविध कषाय कल्पना गुग्गुल, अवलेह, स्नेह, आसव, धातुओं का शोधन, मारण, रसशोधनमारण एवं रसयोगों का वर्णन है। इसमें सब प्रसिद्ध योगों का संग्रह है। इसमें औषध निर्माण प्रतिक्रिया है। तृतीय खण्ड में पंचकर्म विषयक सिद्धान्तों का वर्णन है। इसमें कवल, गंडूष, धूम्रपान अभ्यंग, लेप, रक्तस्राव का वर्णन किया है।

शार्गधर पद्धति के एवं संहिता के विषय में अन्तर है अतः यह कह पाना सम्भव नहीं कि दोनों के ग्रन्थकर्त्ता एक हैं या अलग-अलग।

यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि शार्गधर पद्धति में जिस हम्मीर का उल्लेख है, वह मेवाड़ का राजा हम्मीर ही होगा। वह स्वयं विद्वान था तथा विद्वानों का आदर करने वाला था। हम्मीर काव्य नाटक संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध है। उसकी सभा में विद्वान रहा करते थे। उसका समय १२२६ ईस्वी का है।

शार्गधर की दो टीकाएँ प्रकाशित हुई है ये दोनों संस्कृत टीकाएँ हैं।

[१] दीपिका टीका आदिमल्ल की बनाई हुई है। यह मीरपुर श्रीवास्तव्य कुल के वैद्य चक्रपाणि के पुत्र भावासिंह के पुत्र थे। इन्होंने हस्त-कांतिपुरी के राजा जर्जसिंह के राज्य में टीका लिखी है। इनका समय तेरहवीं शताब्दी का है।

[२] दूसरी टीका काशीराम जी ने की है। यह टीका शाह सलीम के समय में लिखी है। शाह सलीम अकबर का पुत्र था और उसका समय सोल-हवीं शती है। यह कृष्ण भक्त थे।

शार्गधर संहिता का हिन्दी, गुजराती, बंगला, मराठी में अनुवाद हुआ है। इससे यह पता चलता है कि इसका प्रचार उत्तर भारत और मध्य भारत में विशेष रूप से हुआ। संग्रह ग्रन्थों में शार्गधर उत्तम ग्रन्थ है, इसीलिए इसे आयुर्वेद की लघुत्रयी में गिना गया है। यह मुख्य रूप से काया चिकित्सा का ग्रन्थ है।

शार्गधर संहिता के अतिरिक्त आयुर्वेद का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ भाव प्रकाश भी दृष्टिगोचर होता है जिसमें आयुर्वेद का हेतु लिंग औषध विषयक ज्ञान

दिया हुआ है। भाव प्रकाश भी महत्वपूर्ण ग्रंथ है और आयुर्वेद की लघुत्रयी में इसका स्थान है। भाव प्रकाश के कर्त्ता श्री भावमिश्र हैं और उन्होंने अपने पिता का श्री मिश्र लटक तनय कहा है। इससे अधिक कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं होता। श्रीगणनाथसेन इनको कान्यकुब्ज (कन्नौज) का बताते हैं जबकी जोली इन्हें बनारस का रहने वाला बताते हैं।

इनका समय निर्धारण करने के लिए हमें इस में प्राप्त विषयों पर विचार करना पड़ेगा। भाव प्रकाश में फिरंग रोग, चोयचीनी तथा शीतला का वर्णन प्रथम बार उपलब्ध होता है। फिरंग रोग फिरंगी (पोर्चगीज) से सम्बन्ध होने के कारण कहे जाते हैं। यह पन्द्रहवी शताब्दी में भारत में आये किन्तु इनका सम्बन्ध उत्तर भारत में सोलहवीं शताब्दी में हुआ। भाव प्रकाश ही इस रोग का वर्णन आया है अतः यह निश्चित हो जाता है कि इनका समय सोलहवीं शताब्दी से पूर्व का नहीं। जोली का कहना है कि टुवीन्जन में भाव प्रकाश की एक प्रति १५५८ ईस्वी की है।

भाव प्रकाश के तीन खण्ड हैं—पूर्वखण्ड, मध्यम खण्ड और उत्तर खण्ड। पूर्वखण्ड और मध्यम खण्ड प्रथम तथा द्वितीय भागों में विभक्त है। पूर्वखण्ड के प्रथम भाग में आयुर्वेद के आचार्यों की उत्पत्ति से सृष्टि क्रम का वर्णन किया है। गर्भ प्रकरण, दोष और धातु प्रकरण, दिनचार्या एवं ऋतुचर्या का वर्णन दिया है और बाद में निघटु दिया गया है। दूसरे भाग में मान परिभाषा, धातुओं का जारण-मारण दिया गया है एवं पञ्चकर्म विधि का वर्णन है।

मध्यम खण्ड में ज्वर आदि रोगों की चिकित्सा है। उत्तरखण्ड में वाजीकरण का वर्णन है। भाव प्रकाश प्राचीन आयुर्वेद साहित्य के आधार पर बनाई गई एक रचना है। इस पर मुसमानों का कोई विशेष असर दृष्टिगोचर नहीं होता। केवल उस समय के प्रसिद्ध कुछ रोग एवं द्रव्यों का वर्णन भी प्राचीन साहित्य के साथ-साथ किया है।

प्रश्न—दक्षिण भारत में प्रचलित आयुर्वेद के स्वरूप का वर्णन कीजिये ?

उत्तर—दक्षिण भारत में आयुर्वेद का स्वरूप उत्तर भारत से कुछ भिन्न है। वहाँ के भिन्न २ प्रदेशों में क्या स्थिति थी यह हम अलग २ स्पष्ट कर रहे हैं।

द्राविड़ देश में आयुर्वेद—पौराणिक कथा के अनुसार विन्ध्याचल पर्वत की ऊँचाई को रोकने के लिए उससे अपने वापस आने तक न बढ़ने का वचन लेकर अगस्त्य ऋषि दक्षिण में चले गये और तब से वहीं रह गये। यह ही वहाँ की संस्कृति के आधार माने जाते हैं।

दक्षिण भारत की श्रुत परम्परा के अनुसार अगस्त्य सम्प्रदाय का प्रथम महादेव ने पार्वती को उपदेश किया। पार्वती ने नन्दीश्वर को, नन्दीश्वर ने धन्वन्तरि को और धन्वन्तरि ने अगस्त्य को उपदेश दिया। अगस्त्य ने पुलस्त्य को और उसने तेरायर को उपदेश दिया। उसमें अठारह या बाईस सिद्धों को वैद्यक विद्या प्राप्त हुई। इन सिद्धों के दो सम्प्रदाय हो गए—

(क) वड़ सम्प्रदाय—जिन्होने संस्कृत भाषा में आयुर्वेद के ग्रन्थ बनाये अथवा संस्कृत भाषा के ग्रन्थों का द्राविड़ में अनुवाद किया।

(ख) तेन सम्प्रदाय—इन्होंने द्राविड़ भाषा में ग्रन्थों की रचना की।

अगस्त्य सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मुख्य रस कर्म का वर्णन है। इसका आरम्भ सिद्धों से हुआ—इसलिए इसे सिद्ध सम्प्रदाय कहा जाता है। "वसवराजीयम" ग्रन्थ चिकित्सा का एक ग्रन्थ है।

द्राविड़ प्रदेश से वैद्यक सिंहल द्वीप तक पहुँचा। उस समय सिंहल द्वीप की राज सभा के वैद्य मन्थान भैरव ने एक प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की जिसका नाम आनन्दकन्द है। तान्त्रिक रस वैद्य दक्षिण में ठेठ सिंहल द्वीप तक फैले हुए थे। सिंहल द्वीप के वैद्यक साहित्य में ७-८ ग्रन्थों का नाम गिनाया जाता है। इनमें 'भैषज्य मंजूषा' पाली भाषा में लिखा हुआ है। सार सक्षेप सिंहल भाषा में है। योगशतक नामक ग्रन्थ संस्कृत में है—इसमें योगों का संग्रह है और वहाँ के वैद्य इसके आधार पर ही चिकित्सा करते हैं।

केरल में आयुर्वेद—केरल दक्षिण भारत का अन्तिम सिरा है। वहाँ पर अष्टांगसंग्रह का बहुत प्रचार है। केरल आयुर्वेद विषयक दो विशेषतायें हैं—

(क) पञ्चकर्म-स्नेहन-स्वेदन विषयक उपचार को बहुत महत्त्व दिया जाता है और तदर्थ उत्तम साधन बरते जाते हैं।

(ख) सूखी-गीली ओषधियाँ बेचने का एवं अगदतन्त्र का बहुत प्रचार है। इनको विष वैद्य कहा जाता है। केरल में अष्टवैद्य नाम से आठ वैद्य कुटुम्ब हैं। ऐसी दन्तकथा है कि इनके मूल पुरुष परशुराम जी (अवतार) से

अष्टांग आयुर्वेद के एक-एक अंग में पारंगत हुए थे। नम्बूदरी ब्राह्मण है और अच्छी स्थिति में हैं।

केरल के वैद्यक साहित्य में अष्टांग संग्रह की इन्दु द्वारा शशिकला टीका मानी जा सकती है। इसके बाद भदन्त नागार्जुन लिखित रस वैशेपिक नाम का ग्रन्थ तथा इसके ऊपर नरसिंहकृत भाष्य केरल देश में लिखा गया है। इस रसवैशेपिक सूत्र में आरोग्य शास्त्र की मीमांसा है।

रसोपनिपद नामक अठारह अध्यायों का एक ग्रन्थ और बना हुआ है। इसके अतिरिक्त धाराकल्प, हरमेखला, सहस्रयोग नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं।

कर्णाटक में आयुर्वेद—पूज्यपाद नाम के जैन आचार्य का पूज्यपादीय नामक संस्कृत ग्रन्थ कर्णाटक में प्राचीन गिना जाता है। परन्तु जैन वैद्य उग्रवादित्याचार्य स्वयं कहते हैं कि वे राष्ट्रकूट राजा नृपतुंग के वैद्य थे। इस संस्कृत ग्रन्थ के अतिरिक्त कन्नड़ भाषा में निम्न आयुर्वेद के ग्रन्थ मिलते हैं—

[१] **खगेन्द्रमणि दर्पण**—विषतन्त्र का ग्रन्थ है। जैन मंगलराज ने १३६० में लिखा।

[२] **अश्ववैद्य**—ब्राह्मण अभिनवचन्द्र ने १४०० ईस्वी में लिखा।

बालग्रह चिकित्सा—जैन देवेन्द्र मुनि ने रचना की।

आन्ध्र प्रदेश में आयुर्वेद—आन्ध्र प्रदेश में वैद्य चिन्तामणि और बसवराजीयम् नामक दो संस्कृत ग्रन्थों का बहुत प्रचार है। वैद्य चिन्तामणि के कर्त्ता वल्लभेन्द्र नियोगी ब्राह्मण कुल का वैद्य था। इसमें नाड़ी-मूत्र आदि की परीक्षा के साथ ज्वर आदि रोगों का निदान एव चिकित्सा लिखो है। इस ग्रन्थ में चूर्ण गुटिका, अवलेह आदि के साथ रस योग भी हैं।

बसवराजीयम् में रोगों का निदान चिकित्सात्मक वर्णन दिया हुआ है। आन्ध्र प्रदेश में प्रचलित योग भी इस ग्रन्थ में मिलते हैं।

कल्याणकारकम् नामक ग्रन्थ जैन सम्प्रदाय वालों का बना ग्रन्थ है। यह चिकित्सा शास्त्र का ग्रन्थ है और इसे देखने से पता चलता है कि जैनियों ने इस विषय में बहुत साहित्य सृजन किया है। इसमें दूसरे ऐसे ग्रन्थों का तथा उनके निर्माताओं का वर्णन दिया हुआ है जो एक-एक विषय के विशेषज्ञों की तरह बनाए गए ग्रन्थ होंगे।

प्रश्न—सिद्ध सम्प्रदाय अथवा नाथ सम्प्रदाय के विषय में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर—रस विद्या या रसशास्त्र के विषय में विचार करते समय आवश्यक हो जाता है कि इस सिद्ध सम्प्रदाय अथवा नाथ सम्प्रदाय के विषय में विचार कर लेवें क्योंकि प्राचीन समय में यह विद्या इन्हीं के हाथों में थी।

नाथ सम्प्रदाय के विषय में आदिनाथ को सर्वप्रथम माना जाता है और वह उसको 'शिव' रूप में स्वीकार करते हैं। हठयोग प्रदीपिका में नाथ पंथ के सिद्ध योगियों के नाम दिए हैं। उनमें मंथानभैरव, काकचण्डीश्वर, भैरव एवं गोरखनाथ भी हैं। महार्नव तन्त्र में नौ नाथों के नाम हैं उनमें नागार्जुन को भी कहा गया है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने जो सूची दी है—उसमें चौरासी नाथों को गिना गया है।

नाथ सम्प्रदाय में गोरखनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ सम्बन्धी बहुत सी कहानियाँ प्रचलित हैं। उन सबका निष्कर्ष निकालते हुए श्री द्विवेदी जी ने लिखा है—

[१] मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ के गुरु थे। मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा लिखित 'कौलज्ञान निर्णय' के अनुसार इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व का है।

[२] अभिनवगुप्त आचार्य ने अपने तन्त्रालोक में मच्छन्द विभु को नमस्कार किया है। ये मच्छन्द विभु मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं। अभिनव गुप्त का समय दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य का है।

[३] पण्डित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार मीनपा जी मत्स्येन्द्रनाथ के पिता हैं—उनका समय राजा देवपाल का राज्यकाल है। अतः इनका समय ८०९ से ८४९ ईस्वी तक का मानना चाहिए।

इन सब प्रमाणों के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ का समय नवीं शताब्दी का निश्चित होता है।

अल्बेरूनी ११वीं शताब्दी में भारत में आया था, उसने अपने लेख में सिद्धों की कीमियागिरी का उल्लेख किया है। यह लोग इस विद्या को छिपा कर रखते थे और जो उन पर श्रद्धा नहीं रखता था, उसको वह यह विद्या नहीं सिखाते थे। मैंने यह विद्या उनसे नहीं सीखी, ऐसा अल्बेरूनी ने लिखा। उसका कहना है कि मुझे पता नहीं चला कि यह इसके लिए हैणाजि

खनिज अथवा वानस्पतिक कौन द्रव्य काम में लेते थे, हाँ इतना अवश्य है कि वह उर्ध्वपातन, निक्षेपीकरण, विश्लेपण आदि शब्दों का प्रयोग करते थे। इसको वह अपनी भाषा में 'तालक' कहते थे। इसलिए मैं समझता हूँ कि कीमियागिरी कोई खनिज प्रक्रिया रही होगी।

इस विद्या से मिलती जुलती इनकी दूसरी विद्या थी जिसे 'रसायन' कहते थे। इससे यह लोग निराश रोगियों के रोग दूर करते और बल-शक्ति प्रदान करते थे। इन लोगों को सोना बनावे का लालच अत्यधिक था। अल्बेरूनी ने लिखा है कि इस कार्य के लिए यदि इनको यह भी कहा जाये कि छोटे बच्चों क रक्त चाहिये तो यह लोग अनेक बच्चों को मार डालने को तैयार रहते थे।

हरिभद्रसूरि के घूर्तोपाख्यान में सोना बनाने के लिए सहस्त्र वेधी रस का वर्णन किया है। यह ग्रन्थ आठवीं शताब्दी का है इससे स्पष्ट है कि सातवीं शताब्दी में पारस से सोना बनाने की प्रथा रही होगी। नवी और दसवीं शताब्दी में बने आयुर्वेद के ग्रन्थ सिद्धयोग एवं चक्रदत्त में रस विद्या का तथा तत्सम्बन्धी मन्त्र तन्त्र का वर्णन उपलब्ध होता है। स्वर्ण आदि धातुओं का शोधन मारण का वर्णन भी चक्रदत्त ने किया है।

सोलहवीं शताब्दी के पद्मावत में सोना बनाने तथा रसायन क्रियाओं का उल्लेख बहुत स्पष्ट किया है। उस समय में सोना साफ करने की क्रिया को 'सलोनी' क्रिया कहा जाता था। सलोनी की क्रिया बताते हुए कहा गया है कि—"सोने से चाँदी की मिलावट दूर करने के लिए सोने को पीट कर पत्तर बना लेते थे। इन पत्तरों पर कण्डे की राख, ईंटों की बुकनी, सांभर नमक और कड़वे तैल की सलोनी में डुबा कर कंडों की आंच में कई बार तपाते हैं जिससे वह सलोनी चाँदी को खा लेती थी और सोना शुद्ध हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि रस विद्या नवीं शताब्दी में प्रचलित हुई और सोलहवीं शताब्दी में उसका पूर्ण प्रचार हो गया।

सर्वदर्शन संग्रह में रसेश्वर दर्शन सम्मिलित हुआ है। इसमें पारद और अभ्रक से संयोग से शरीर को सिद्ध करने का उल्लेख है। यह सिद्धियां जिनको प्राप्त थ, वही सिद्ध कहलाते थे। इन सिद्धों का सम्प्रदाय ही नाथ सम्प्रदाय, कापलिक, औघड़, वामपंथी, कौलाचार कहा गया है।

नाथ मार्ग में शिव और शक्ति इन दोनों में सामञ्जस्य स्थापित किया जाता है। उनका कहना है कि यह दोनों एक ही वस्तु की दो अवस्थाएं हैं। नाथपंथ के चौरासी सिद्धों में नागार्जुन भी है। उनके विषय में जानने से उस समय के विषय में कुछ जानकारी अच्छी प्रकार हो जाती है।

प्रश्न—नागार्जुन के विषय में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर—'नागार्जुन' नाम के बहुत से विद्वान हुए हैं। कक्षापुट योगशतक, तत्वप्रकाश आदि बहुत से ग्रन्थों में इन कौतुक ग्रंथों का प्रणेता सिद्ध नागार्जुन कहा जाता है। ताड़पत्र पर लिखी एक पुस्तक 'चितानन्द पटीयसी' नागार्जुन कृत कही गई है। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री च्चुआन शाङ भारत में आया था, उसने बौद्ध विद्वान बोधिसत्व नागार्जुन का उल्लेख किया है उसे सातवाहन का मित्र बताया था, ऐसा लिखा है कि रसायन द्वारा पत्थर को भी स्वर्ण बना देते थे। राजतरंगिणी में बुद्ध के एक सौ पचास वर्ष पीछे नागार्जुन के होने का उल्लेख है। इस प्रकार कई नागार्जुनों का वर्णन मिलता है यह कह पाना सम्भव नहीं कि हम आयुर्वेद विषय का विद्वान किस नागार्जुन को स्वीकार करें।

अलबरूनी ने नागार्जुन का वर्णन किया है और कहा है कि इससे पूर्व भी १०० वर्ष पहले एक और नागार्जुन हो चुके हैं। साधनमाला में यह कई साधनाओं के प्रवर्तक माने गए हैं।

प्रबन्ध चिन्तामणि में कहा गया है कि नागार्जुन पादलिप्त सूरि के शिष्य थे। और उनसे ही इन्होंने आकाश गमन की विद्या सीखी थी। समुद्र में पुराकाल में पार्श्वनाथ की एक रत्न मूर्ति द्वारकार के पास डूब गई थी। जिसका किसी सौदागर ने उद्धार किया था। गुरु ने यह जानकर कि पार्श्वनाथ के पादमूल में बैठकर यदि कोई सर्वलक्षण समन्विता स्त्री पारे को घोटे तो कोटिवेधी रस सिद्ध होगा। नागार्जुन ने अपने शिष्य सातवाहन की रानी चन्द्रलेखा से पार्श्वनाथ की रत्नमूर्ति के सामने पारद का मर्दन करवाया था। रानी के पुत्रों ने रस के लोभ से नागार्जुन को मार डाला था।

इन सब वर्णनों को देखकर हम कह सकते हैं कि नागार्जुन बहुत प्राचीन समय में भी हुए और अब सिद्ध सम्प्रदाय में भी। एक नागार्जुन कनिष्क के समकालीन बताए गए हैं और कहा जाता है कि उन्होंने बौद्धों में शून्यवाद

और माध्यमिकवाद प्रचलित किया था। ये ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी में हुए थे।

लोहशास्त्र एवं रस रसायन के ज्ञाता नागार्जुन सिद्ध नागार्जुन कहलाते हैं। इनका सम्बन्ध सिद्धों से है। चौरासी सिद्धों में सरहपा, शबरपा भी गिने गये हैं, इनका समय आठवीं-नवीं शताब्दी है। शबरपा सरहपा के प्रधान शिष्य थे। इनको शबरेश्वर भी कहते थे। सरहपा के दूसरे शिष्यों में योगी नागार्जुन भी आते हैं। इस परम्परा में नागार्जुन सोलहवें सिद्ध होते हैं और इनका समय आठवीं या नवीं शताब्दी का मानना चाहिए। और यह बात ठीक भी है क्योंकि अलबेरूनी ने जिस नागार्जुन का वर्णन किया है वह यही थे—अलबेरूनी का समय भी यही रहा है।

प्रश्न—'धातु विषयक ज्ञान की प्राचीनता का सप्रमाण दिग्दर्शन कराइये ?

उत्तर—स्वर्ण, लोह, ताम्र आदि से हमारा परिचय वैदिक काल से था। प्रागैतिहासिक काल में पाषाणयुग के पश्चात् धातुयुग आया। दक्षिण भारत में लोहयुग और उत्तर भारत में ताम्रयुग का प्रादुर्भाव हुआ। सिन्धु सभ्यता के युग में लोहे का ज्ञान नहीं था—उस समय चाँदी-सोना-ताँबा राँगा-शीसा इन धातुओं का ज्ञान लोगों को था।

ऋग्वेद में हम धातुओं का वर्णन पाते हैं—उसके कुछ प्रमाण नीचे दे रहे हैं—

(१) सुदास का दस राजाओं के साथ युद्ध करने का उल्लेख मिलता है—उन राजाओं के दुर्गों का वर्णन करते हुए उनके 'आपसी' लोहे से निर्मित हुआ कहा गया है।

(२) धातु का काम करने वालों को उस समय में कर्मार कहा जाता था। धातु को आग से जलाने का वर्णन वहाँ पाया जाता है, लोहे को पीटकर बरतन बनाने का भी वर्णन मिलता है!

(३) सुनार सोने के आभूषण गढ़ता था। सोना सिन्धु जैसी नदियों में तथा भूमि में प्राप्त होता था।

(४) हथियार एवं उनको रखने के म्यान लोहे से बनते थे।

(५) स्त्री और पुरुष सोने के आभूषण पहनते थे। उनके कानों में कर्ण-शोभन, गले में निष्कग्रीव, हाथों में कड़े और खंडवे तथा छाती पर सुनहले पदक धारण करने का वर्णन उपलब्ध होता है।

यजुर्वेद में सोना, ताँबा, लोहा, सीसा, रंगा—इन सब का नाम मिलता है। अथर्ववेद में रजत नाम मिलता है। अथर्ववेद में रजत नाम से चाँदी का वर्णन किया है।

अञ्जन का वर्णन बहुत प्राचीन समय से मिलता है। अथर्ववेद में अञ्जन का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। उनके अनेक नाम बताये गये हैं। उनको प्रयोग करने का विस्तार से वर्णन अथर्ववेद में किया गया है। सीसे का वर्णन भी वेदों में मिलता है। शंख का प्रयोग भी वेदों में पाया जाता है और शतपथ ब्राह्मण तथा गोपथ ब्राह्मण में उसका वर्णन मिलता है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में धातुओं का वर्णन उपलब्ध होता है। वहाँ पर धातुओं के निकलने की खानों का वर्णन है। राज्य के आय के साधनों में भी खानों का वर्णन है। कहाँ पर कौन-सी खान है—कौन-सी धातु कहाँ मिलेगी—इसकी पहचान बताई गई है।

अर्थशास्त्र में तीन प्रकार के स्वर्ण का वर्णन किया है—

(क) जातरूप (स्वयं शुद्ध स्वर्ण रूप में प्राप्त)

(ख) रसविद्धम् (पारे के द्वारा बनाया गया)

(ग) आकरोद्गत (खान से मूलधातु के रूप में निकाला गया और शुद्ध किया)

वहाँ पर स्वर्ण के वर्ण का वर्णन है। स्वर्ण में चालबाजी करने का भी वर्णन है। स्वर्णकार किस-किस प्रकार से स्वर्ण चुराते हैं—यह भी वर्णन किया हुआ है।

स्वर्ण के अतिरिक्त लोहे का वर्णन भी किया है। अर्थशास्त्र में पारद-हिंगुल एवं रत्नों का भी वर्णन मिलता है।

सिकन्दर महान के समय लोह विषयक ज्ञान में बहुत उन्नति हो चुकी थी। लोहे पर पायना विशेष क्रिया थी। राजा पौरुष ने जो मूल्यवान भेंट की थी वह ३० पौण्ड लोहा बताया जाता है।

गुप्तकाल में लोहे की पूर्ण उन्नति हुई। इसकी साक्षी दिल्ली में कुतुब-मीनार के पास बनी लोहे की लाट है। इसे चन्द्रगुप्त द्वितीय ने बनवाया था। इसके इतने पुराने होने पर भी किसी प्रकार की विकृति नहीं आई। इसका रासायनिक विश्लेषणकर से कहा गया था कि यह बहुत उत्तम द्रव्य है।

आयुर्वेद में वृहत्त्रयी प्राचीन संहिता ग्रंथ माने जाते हैं। उनका अवलोकन करने से पता चलता है कि उस समय में धातुओं का प्रयोग औषध रूप में किया जाता था। ऐसा लगता है कि उस समय पारद के विषय में कोई अधिक जानकारी न रही होगी।

चरक संहिता का अवलोकन करने से यह बात सिद्ध हो जाती है कि उस समय धातुओं का प्रयोग किया जाता था। कुछ प्रमाण नीचे दिए जा रहे हैं—

(१) तीन प्रकार के द्रव्य बताए गए हैं—उनमें पार्थिव द्रव्यों का वर्णन करते हुए सोना, ताम्र, रजत, त्रपु, सीसक और लोह का वर्णन है। शिलाजत का भी वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त मनःशिला, हरताल, लवण, गैरिक, अंजन आदि का प्रयोग भी बताया गया है। (सूत्र० अ० १)

(२) लोहे के पत्रों को गोमूत्र में, त्रिफला के क्वाथ में अथवा अन्य द्रव्यों में निर्वापित करने का विधान बताया गया है। और भी रसायनार्थ प्रयोग करने का विधान है। (च० चित्र १.)

(३) चरक संहिता में धातुओं के बारीक चूर्ण को 'रजस्' नाम से सम्बोधित किया गया है। वहाँ पर भस्म बनाने का विधान नहीं है। (चि० अ० १६)।

(४) चरक में निम्न संदर्भों में धातुओं को गिना गया है—

(क) मण्डूर—चि० अ० १६.

(ख) ताम्र—चि० अ० २३.

(ग) स्वर्ण—चि० अ० २३.

(घ) स्वर्णमाक्षिक—चि० अ० १६.

(ङ) रजतमाक्षिक—चि० अ० १६.

(५) धातुओं के अतिरिक्त धूमयोगों में मनःशिला आदि उपरसों का वर्णन भी मिलता है। इस शब्द का वर्णन तथा गन्धक का वर्णन भी चरक में मिलता है किन्तु वह स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः उस समय में इतना प्रचलन न हो।

सुश्रुत संहिता में चरक संहिता की अपेक्षा धातुओं का वर्णन अधिक मिलता है और कुछ नए रूप में भी मिलता है। धातुओं के अतिरिक्त इस समय में उपरसों का प्रयोग भी मिलता है। कुछ प्रमाण नीचे दे रहे हैं—

(१) यन्त्र और शास्त्रों के निर्माण के लिए अच्छे लोहे का प्रयोग करने का वर्णन किया है। (सुलोहानि—सू० अ० ८.)

(२) स्वर्ण, चाँदी, ताम्र, त्रपु, लोहा, सीसा के गुणकर्म कहे गए हैं और शरीर में इनका प्रयोग करके लाभ उठाने का निर्देश है। (सू० अ० ४६.)

(३) 'अयस्कृति' का वर्णन सुश्रुत में भी है और उस समय में भी चरक के समान ही चूर्ण करने की विधि का प्रचलन था। (च० अ० १०.)

(४) अंजन का वर्णन सुश्रुत में विस्तार से है। स्रोताञ्जन और सौवीराञ्जन का वर्णन किया है। (चि० अ० २४ और सू० अ० ५.)

(५) स्वर्ण माक्षिक एवं मण्डूर का उपयोग भी बताया है।

(६) पारद का प्रयोग सुश्रुत ने दो स्थानों पर किया है—उनका बाह्य प्रयोग करने को ही कहा गया है (च० अ० २५.)

इसके अतिरिक्त अन्य खनिज द्रव्यों का वर्णन भी सुश्रुत ने विस्तार से किया है।

अष्टांग संग्रह एवं अष्टांग हृदय में भी धातुओं का वर्णन किया है। सुश्रुत की भाँति धातुओं के रस गुण वीर्य विपाक बताए गए हैं। कृष्णलोह और तीक्ष्ण लोह अलग कहे गए हैं। अयस्कृति का वर्णन भी मिलता है।

सोना-चांदी-लोहा इनके चूर्ण को मधु के साथ खाने का विधान बताया गया है (उ० अ० २६) रसायन अध्याय में स्वर्ण का उपयोग विस्तार से कहा गया है।

संग्रह में स्वर्णमाक्षिक को भी रसायन रूप में स्वीकार किया गया है। यहाँ पर पारद और गन्धक का बाह्य प्रयोग मात्र मिलता है।

सातवीं शताब्दी में धातुओं का प्रयोग और भी अधिक बढ़ गया था। बाण का साहित्य ही उसका प्रमाण है। वहां धातुवाद का वर्णन है जिसके अनुसार एक धातु से दूसरी धातु बनाने का वर्णन मिलता है। कच्चा पारद खाने का वर्णन भी बाण ने किया है।

नवीं-दसवीं शताब्दी के सिद्ध योग संग्रह एवं चक्रदत्त में धातुओं का वर्णन पहले से अधिक पाते हैं। इस समय में रस शास्त्र का भी प्रचार होगा, ऐसा लगता है।

इसके पश्चात् रसशास्त्र का प्रचार खूब बढ़ता गया। नागार्जुन ने इस विषय में काफी काम किया। बारहवीं शताब्दी में 'रसार्णव' के नाम से ग्रन्थ बना।

चौदहवीं शताब्दी के ग्रन्थ शार्गधंर में हम रस एवं धातुओं का विस्तार से वर्णन पाते हैं। सम्भवतः उस समय रसशास्त्र का खूब प्रचार हो गया होगा।

इस तरह देखने से पता चलता है कि धातुओं का ज्ञान हमें वैदिककाल या उससे पूर्व का चिकित्सा शास्त्र में भी उनका वर्णन प्राचीन समय से ही मिलता है। हमें जो रसशास्त्र का आज स्वरूप मिलता है उसका विकास नवीं-दशवीं शताब्दी के बाद हुआ लगता है।

प्रश्न—रसशास्त्र के इतिहास का विस्तार से निरूपण कीजिए ?

उत्तर—रसशास्त्र विषयक तथ्यों को जानने के लिए हमें आरम्भ से विचार करना चाहिए। आयुर्वेद के वृहद्-त्रयी में चाहे पारद का नाम आया हो तो भी उसे रसशास्त्र नहीं कहा जा सकता। रसशास्त्र में हम निम्न ग्रन्थों का समावेश करते हैं और वास्तव में यह ही इस विषय के इतिहास को स्पष्ट करने वाले हैं।

(१) **रस रत्नाकर या रसेन्द्र मंगल**—रसशास्त्र का प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थ यह है। इसे न्नागार्जुन का बनाया हुआ कहा जाता है। यह ग्रन्थ सातवीं या आठवीं शताब्दी में लिखा गया था। वास्तव में रसशास्त्र के इतिहास का श्री गणेश यहीं से होता है।

(२) **रस हृदय तन्त्र**—रसेन्द्र मंगल की अपेक्षा यह अधिक व्यवस्थित ग्रन्थ है। इसके रचना करने वाले का नाम गोविन्द बताया गया है।

इस ग्रन्थ में १९ अवबोध हैं। इससे प्रथम अवबोध में रस प्रशंसा है। वह रस को सिद्ध करने के पक्ष में हैं ताकि जगत से रोग एवं जरा को दूर किया जा सके। ग्रन्थकर्ता की भावनाएँ बहुत उच्च हैं। वह वशीकरण एवं वाजीकरण आदि को नहीं लिखता।

दूसरे अवबोध में पारद के अठारह संस्कारों का वर्णन है और उसमें अठारह में आठ का वर्णन मिलता है।

तीसरे से अवबोध में अभ्रक-ग्रास की प्रक्रिया है। चौथे में अभ्रक के भेद और अभ्रक सत्वपातन का विधान है। पांचवे अवबोध में गर्भद्रुति का विधान

है। छठे अवबोध में जागरण विधान, आठवें में विड विधान, नवें में बीज विधान का वर्णन है। दसवें में वैक्रान्तादि में से सत्ववातन का विधान बताया गया है। ग्यारहवें अवबोध में बीज निर्वाहण, बारहवे में द्वन्द्वाधिकार, तेरहवें में संकट बीज विधान, चौदहवें में संकट बीज जारण, पन्द्रहवें में बाह्यद्रुति, सोलहवें में सारण, सत्रहवें में क्रामण, अठारहवें में वेध विधान, उन्नीसवे में शरीर शोधन के पश्चात रसायन प्रयोग का वर्णन किया गया है।

रसशास्त्र पर व्यवस्थित रूप में ज्ञान देने वाला वास्तव में यह ही प्रथम ग्रन्थ है। इसमें पारद के विषय विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है। इसका समय ११वी शताब्दी के आसपास का माना जाता है क्योंकि चक्रदत्त आदि के समय में इस विषय का अधिक प्रचार नहीं था, इसीलिए उन्होंने उक्त विषय में विस्तार से वर्णन नहीं किया।

यह रसशास्त्र के इतिहास में अग्रणी ग्रन्थ है।

(३) **रसार्णव**—यह बारहवीं शताब्दी का ग्रन्थ है। माधव ने सर्वदर्शन संग्रह में इसका वर्णन किया है। इसमें पार्वती परमेश्वर का सम्वाद है। इसके विभागों का नाम पटल है। इसमें भाषाएँ बताई गई हैं। सत्वपातन का विस्तार से वर्णन इसमें उपलब्ध है। रस सिद्ध करने के लिए अनेक द्रव्यों को साथ रखने का वर्णन किया गया है।

(४) **रसेन्द्र चूड़ामणि**—इस ग्रन्थ के कर्ता सोमदेव हैं। यह पुरवर महावीर वंश के थे। इनका समय १२-१३वीं शताब्दी के मध्य का बताया जाता है।

इस ग्रन्थ में रस पूजन, रसशाला, निर्माण विधि, संग्रहण, परिभाषा, मूषा, पुट, यन्त्र का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें महारस, उपरस साधारण रस का वर्गीकरण है। धातु रत्न का भी वर्णन उपलब्ध होता है।

(५) **रस प्रकाश सुधाकर**—रसशास्त्र विषयक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिस की रचना सम्भवतः १३०० ईस्वी में हुई। इसके कर्त्ता यशोधर हैं। यह जूनागढ़ के रहने वाले श्री गौड़ ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पद्मनाथ था जो कि वैष्णव धर्म को मानने वाले थे। इनके बाद में प्रकाशित रसरत्न-समुच्चय में इसमें से बहुत से विषय लिये गये हैं।

(६) **रसराज लक्ष्मी**—इतिहास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का बहुत महत्व है क्योंकि इसमें इससे पूर्व के रसशास्त्र के लेखकों के नाम निर्देश किये गये

हैं। इसके कर्त्ता विष्णुदेव थे। उनका समय १३५४—१३७१ ईस्वी का माना गया है।

(७) रसेन्द्र सार संग्रह—यह ग्रन्थ महामहोपाध्याय गोपाल भट्ट का बनाया हुआ है। यह ग्रन्थ अनेकों पुस्तकों के आधार पर संग्रहित है। यह ग्रन्थ तेरहवीं शताब्दी का होना चाहिए। इसमें रस कपूर की निर्माण विधि का वर्णन मिलता है।

इस ग्रन्थ में प्रारम्भ में पारद का शोधन पातन, मूर्च्छन आदि का विधान बताया गया है। फिर गन्धक-ताल आदि का वर्णन किया गया है। इसके बाद ज्वरादि रोगों में प्रयोजनीय रसयोग भी लिखे हैं। यह एक प्रसिद्ध रस ग्रन्थ माना जाता है और इसका रसशास्त्र के इतिहास में अपना एक महत्त्वपूर्ण विशेष स्थान है।

(८) रसकल्प—यह छोटी सी पुस्तक है। इसमें धातुओं का शोधन मारण मात्र ही कहा गया है। इसका समय तेरहवीं शताब्दी माना जा रहा है।

(९) रससार—यह गोविंदाचार्य कृत ग्रन्थ है। इसमें पारद के अनुग्रह संस्कारों का वर्णन है। इसमें ग्रन्थकार ने कहा कि इस पद्धति में भोट देशी लोग जानते थे और बौद्ध भी जानते थे उन दोनों से सीखकर मैंने यह सब लिखा है। इसका समय १२-१३वीं शताब्दी कहा गया है।

इस ग्रन्थ में अफीम का वर्णन है किन्तु उसकी वास्तविक प्राप्ति का साधन इनको नहीं पता। सर्वप्रथम शार्जधर संहिता में हम उसका ठीक प्रकार वर्णन पाते हैं।

(१०) रसेन्द्र चिंतामणि—इस ग्रन्थ के दो स्वरूप मिलते हैं एक में कर्त्ता नाम कालनाथ का शिष्य ढूढ़ीनाथ कहा गया है। कुछ प्रतियों में गुरुकुल संभव रामचन्द्र नाम है। डा० राय का कहना कि यह ग्रन्थ १३-१४वीं शताब्दी का अंग है। इसमें लेखक ने लिखा है कि जो भी प्रक्रियायें लिखी हैं वह सब अनुभव करके लिखी गई हैं। इस ग्रन्थ में रसार्णव, नागार्जुन, गोविंद, नित्य नाथ आदि के नाम आये हैं।

(११) रसरत्नाकर—इस ग्रन्थ के कर्त्ता का नामा पार्वती पुत्र नित्यनाथ है। इसके पांच खंड हैं—

(क) रस खंड (ख) रसेन्द्र खंड (ग) वादि खण्ड (घ) रसायन खण्ड (ङ) मन्त्र खण्ड

रसरत्न समुच्चय में नित्यनाथ का नाम आया है इससे सिद्ध है कि यह ग्रन्थ रसरत्न समुच्चय से पूर्व का है। इस ग्रन्थ में वालुकामीन का 'समकाल सेदा रेगमाही नाम से यूनानी में प्रसिद्ध है। इससे सिद्ध है कि उस समय यूनानी चिकित्सा का प्रचलन था। इस तरह नित्यनाथ का समय तेरहवीं शताब्दी का होता है।

इस ग्रन्थ में रस के शोधन मारण आदि का विस्तार से वर्णन है और फिर ज्वर रोग तथा अन्य रोगों की चिकित्सा का विस्तार से वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ को देखने से लगता है कि उस समय तक रसशास्त्र का विकास एवं प्रचार बहुत हो चुका था। इसमें चक्रपाणि का भी वर्णन आया है।

(१२) **रसेन्द्र कल्पद्रुम**—यह एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें मुख्यतः धातुओं एवं खनिजों का वर्णन है।

(१३) **धातुरत्न माला**—यह चौदहवीं शती से पूर्व का नहीं है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें सर्व प्रथम अन्य प्राचीन धातुओं के अतिरिक्त खरपट का वर्णन भी प्रथम वार उपलब्ध होता है।

(१४) **रसरत्न समुच्चय**—इसका कर्त्ता वाग्भट्ट है। अष्टांग संग्रह के कर्त्ता वाग्भट्ट के समान ही इसके पिता का नाम भी सिंह गुप्त है। कुछ लोग इसे वही वाग्भट्ट कहते हैं किन्तु यह गलत है। इस ग्रन्थ की रचना १३वीं शती की मानी गई है। वास्तव में इनके पिता का नाम संघगुप्त है जिसको किसी पंडित ने सिंह गुप्त लिख दिया ऐसा श्री गणनाथ सेन मानते हैं।

इस ग्रन्थ के प्रथम एकादश अध्यायों में रसोत्पत्ति, महारसों का शोधन आदि विषय दिए गये हैं। उसमें खनिजों को पाँच भागों में विभक्त किया गया है—रस-उपरस-साधारण रस-रत्न और लोह।

रसरत्न समुच्चय में रसशास्त्र का बढ़ा हुआ स्वरूप देखने को मिलता है।

इसके पश्चात् भी अनेक छोटे २ ग्रन्थ इस विषय में बने किन्तु उनका कोई विशेष महत्व नहीं—केवल संग्रह मात्र ही समझना चाहिए। वास्तव में रस-रत्न समुच्चय के पश्चात् रसशास्त्र विषयक शोधवृत्ति कम होती गई।

इस तरह यदि रसशास्त्र का इतिहास देखें तो हम कहेंगे कि रसविद्या का वास्तविक प्रारम्भ आठवीं शताब्दी से हुआ और १३वीं शताब्दी में उसका

पूर्ण विकास हो चुका था। १६वीं शती तक वह स्थायी रूप में चलता रहा। इसके पीछे यथाश्रुत मात्र रह गया। यों तो आयुर्वेद प्रकाश नामक ग्रन्थ की रचना बाद में हुई और इस तरह १७वीं १८वीं शती तक रसशास्त्र की परंपरा रही।

वास्तव में देखा जाए तो रसतन्त्र में दो विषय हैं—धातुवाद एवं चिकित्सा। धातुवाद बहुत पूर्व से भारत में प्रचलित था। गुप्तकाल का लोह स्तम्भ इसका प्रमाण है। दसवीं शताब्दी के लगभग चिकित्सा में भी इसका उपयोग होने लगा। इसलिए वास्तव में रस शास्त्र का प्रारम्भ १०वीं शती ही माना जाता है।

इस प्रकार रसशास्त्र का प्रारम्भ १०वीं शताब्दी पूर्ण विकास १४वीं से १६ शताब्दी तक रहा और पीछे केवल उसी विषय का ज्ञान ज्यों का त्यों बना रहा।

प्रश्न—निघंटु एवं भेषज्य कल्पना सम्बन्धी साहित्य का ऐतिहासिक दिग्दर्शन कराइए ?

उत्तर—निघंटु विषय औषधियों के रसगुण आदि तथा उनके कर्म का बोध कराने के लिए होता है। आयुर्वेद के वृहत् त्रयी में यह विषय दिया हुआ मिलता है। चरक-सुश्रुत आदि में कई अध्यायों में इस विषय का चयन किया गया है। चरक सुश्रुत में जो भी वर्णन मिलता है वह क्रमवद्ध नहीं। अपने २ दृष्टिकोण से सुश्रुत ने औषधियों के गुण बनाकर वर्णन किया है—चरकसंहिता में ५० महाकाव्यमय बताये गए हैं।

यदि आयुर्वेद साहित्य में निघंटु विषयक सर्वप्रथम कृति देखते हैं तो वह चक्रपाणिदत्त विरचित द्रव्यगुण संग्रह है। इसमें चरक सुश्रुत की भाँति धान्यवर्ग माँस वर्ग आदि द्वारा औषधों का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ में औषध द्रव्यों का इतना विचार नहीं किया गया जितना कि आहार द्रव्यों का। उनका कहना है कि चिकित्सक को चिकित्सार्थ जिन द्रव्यों को रोगी बताना होता है—वह ही बताए गए हैं।

इसके बाद का प्राचीन निघंटु धन्वन्तरि निघंटु है। इसमें आरम्भ में धन्वन्तरि को नमस्कार किया गया है। यह १२वीं शती की रचना है। इसमें छः वर्गो में सभी द्रव्यों को बांटा है—

(१) गूडूच्यादि वर्ग
(२) शतपुष्पादि वर्ग
(३) चन्दनादि वर्ग
(४) करवीरादि वर्ग
(५) आम्रादि वर्ग
(६) सुवर्णादि वर्ग

इस वर्ग में ३७३ द्रव्यों का वर्णन किया गया है।

इसमें औषध के पर्याय दिए गए हैं और संक्षेप में गुण बताए गए हैं ।

शोडल का निघंटु—धन्वन्तरि निघंटु के पश्चात् जो निघंटु महत्वपूर्ण स्थान रखता है वह शोडल का निघंटु है। इसमें धन्वन्तरि निघंटु का अनुकरण किया गया है और विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें द्रव्यों की पहिचान भी बताई गई है।

सिद्ध मन्त्र—यह अपनी तरह का एक ही निघंटु है। इसमें सत्तावन गुण भेद बताये हैं वह वातादि पर निर्भर करते हैं यथा 'वातहन, वातहन पित्तल, वातहन श्लेष्मल' आदि। इस प्रकार का वर्णन करते हुए द्रव्यों का वर्णन किया गया है। इसका समय १२७१ से १३०९ ईस्वी का है।

मदन विनोद—यह मदन पाल विरचित हैं। दो मदन पालों का वर्णन मिलता है। इनमें १४वीं शताब्दी में होने वाले मदन पाल ने यह निघंटु बनाया है।

इसकी रचना धन्वन्तरि निघंटु से मिलती है इसमें द्रव्यों की संख्या अधिक है। अन्तिम मिश्रक अध्याय में दिनचर्या और ऋतुचर्या भी कही है।

मदनपाल कृष्णभक्त थे। उन्होंने प्रत्येक वर्ग के आरम्भ में कृष्ण की उपासना की है।

राज निघंटु—इसके कर्त्ता नरहरि है। उन्होंने अपने को काश्मीर देशवासी कहा है। उन्होंने धन्वन्तरि निघंटु का अनुसरण किया है।

राजनिघंटु में पहले निघंटुओं की अपेक्षा द्रव्यों की संख्या अधिक है। वर्ग भी अधिक हैं।

राजवल्लभ—यह राज वल्लभकृत द्रव्य गुण संग्रह है। इसमें औपधगुण बहुत ही संक्षेप से बताए गए हैं।

भावप्रकाशान्तर्गत—भाव प्रकाश में वर्णित द्रव्यगुण संग्रह-चिकित्सा दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें कुछ नई औषधियों का भी समावेश किया गया है।

इसमें द्रव्यों का वर्गीकरण विशेष प्रकार से किया गया है। उसका क्या आधार है यह नहीं कहा जा सकता। भावमिश्र का समय १६वीं शताब्दी है।

शिवकोश – इसके रचयिता शिवदत्त मिश्र हैं। शिवदत्त के पिता का नाम चतुर्भुज था। इनका सम्बन्ध कर्पूरवंश से था। शिवकोश की रचना लेखक ने नए क्रम से की है। इस ग्रन्थ में यह भी कहा है कि कौन द्रव्य कहाँ मिलता है देश का नाम भी बताया गया है। इनका समय १६२५ से १७०० ईस्वी के लगभग माना है।

कैयदेव निघंटु—इसे 'पथ्यापथ्य ग्रंथ' भी कहते हैं।

इस प्रकार अनेक निघंटु ग्रन्थ बने उनमें राजनिघंटु के पश्चात् महत्त्वपूर्ण निघंटु भावप्रकाश है—उसी का बहुत प्रचार भी है। संग्रह ग्रन्थों में शालीग्राम निघंटु भी है जिसमें पुराने निघंटुओं के सूत्रों का संग्रह किया गया है।

कल्पना का अर्थ योजना से है। औषध किस रूप में प्रयोग कराई जाए यह बताना भेषज्य कल्पना का विषय है।

इसमें औषध का स्वरूप—मात्रा तथा उसकी संग्रह विधि आदि का भी वर्णन मिलता है भेषज परीक्षा का विधान भी बताया गया है। पंचविध कषाय कल्पना कही गई हैं—

(१) स्वरस
(२) कल्क
(३) शृत
(४) शीत
(५) फाण्ट

इन पाँचों में ही चूर्ण, वटी, रसक्रिया, अर्क, शर्बत का भी समावेश हो जाता है।

भेषज्य कल्पना की सभी प्रक्रियाओं को 'संस्कार' शब्द से भी कहा जाता है। इससे वस्तु में गुण परिवर्तन या गुणवृद्धि होती है।

आसव अरिष्ट कल्पना-क्षार कल्पना, उपनाद, प्रलेप, धूमवर्ति आदि सभी भेषज्य कल्पना के विषय हैं। इन सबका ही वृहत्त्रयी तथा इतर संग्रह ग्रंथों में वर्णन मिलता है।

खानपान की विविध कल्पनाएं उनकी मात्रा-विरोधी द्रव्यों का प्रयोग न करना, देश-काल भेद से द्रव्यों का प्रयोग यह सभी विषय जानने चाहिए। इन सभी विषयों का वर्णन प्राचीन शास्त्रों में मिलता है। अलग से इन विषय में कोई ग्रंथ नहीं मिलता। केवल वृहत्त्रयी में तथा अन्य संग्रह ग्रन्थों में इन सबका वर्णन मिलता है।

प्रश्न—आयुर्वेद के इतिहास के आधार पर आयुर्वेद की अध्ययन अध्यापन विधि का वर्णन कीजिये ?

उत्तर—अध्ययन अध्यापन के विषय में प्राचीन समय में दो प्रकार की विद्याओं का वर्णन उपलब्ध होता है। उपनिषदों में इनके नाम एवं अपरा बताये गये हैं। परा विद्या का सम्बन्ध ब्रह्म ज्ञान से था और अपरा शिल्प विज्ञान आदि से सम्बन्ध रखती थी। विद्या का कर्त्तव्य उद्देश्य की शिक्षा देना बताया गया है। आयुर्वेद की शिक्षा का भी वास्तव में यही उद्देश्य था। ग्रन्थों का अवलोकन करने से पता चलता है कि स्थान २ पर वैद्य को उसका कर्त्तव्य बताया गया और उपदेश दिया गया है कि रोगी की सेवा करना ही कर्त्तव्य है, धन कमाना नहीं। इसीलिये चरक आयुर्वेद का उपदेश, सर्वभूत अनुकम्पा से सुश्रुत में 'प्रजाहितकामना' से किया गया है।

अधिकारी—प्राचीन काल में प्रत्येक व्यक्ति आयुर्वेद नहीं पढ़ सकता था सुश्रुत संहिता में जाति के अनुसार शूद्र को आयुर्वेद न पढ़ाने को कहा गया है। एक मत में यह कहा गया कि शूद्र को मन्त्र भाग नहीं पढ़ाना चाहिये। यह भी कहा है कि वे आयुर्वेद पढ़कर द्विज हो जाते हैं क्योंकि उससे ज्ञान चक्षु खुल जाते हैं। कौन शिष्य आयुर्वेद पढ़ने का अधिकारी है यह बात बताने के लिये शिष्य के गुण बताये हैं वे निम्न प्रकार हैं—

'शांत एवं आर्य प्रकृति' नीच व बुरे कामों से अरुचि मुख एवं नासावंश जिह्वा पतली लाल और निर्मल दांत और ओष्ठ ठीक हों आवाज तुतलाती न हो और नाक में न बोलता हो, वह धीर अहंकार रहित वेखली वितर्क बुद्धि मुक्ति उदारचेता और वैद्यक विद्या को जानने वाले कुल में उत्पन्न हुआ हो। कोई इन्द्रिय विकृत न हो विनीत उद्धत वेश को न धारण करने वाला क्रोध

रहित व्यसन से दूर शील, शौच आचार से प्रेम करने वाला कर्मठ आलस्य रहित चतुर विवेकी अध्ययन में रुचि रखने वाला सब प्राणियों के प्रति हित बुद्धि रखने वाला हो। आचार्य की सब आज्ञाओं का पालन करने वाला, आचार्य में प्रेम रखने वाला। जिस शिष्य में यह सब गुण हों वह ही आयुर्वेद पढ़ने का अधिकारी है।

गुरु के गुण—जो आयुर्वेद पढ़ावे उसने अच्छी प्रकार शास्त्र का अभ्यास गुरु से किया हो, कर्माभ्यास देखा हो, सरल बुद्धि चतुर, पवित्र हस्तकोमल में निपुण हो साधन सम्पन्न, सब इन्द्रियों से युक्त प्रकृति को समझने वाला, प्रतिभाशाली, शास्त्रान्तर ज्ञान से विद्या को मांजे हुए अहंकार रहित निन्दा या ईर्ष्या से शून्य, क्रोध रहित क्लेश श्रम को सहने वाला शिष्यों से प्रेम रखने वाला, पढ़ाने में योग्य होना चाहिये।

अध्ययन की विधि—शिक्षाकाल में शिष्य को तन मन से ब्रह्मचर्य का पालन करना होता था। शिष्य के लिए आवश्यक था कि वह कुछ रात्रि शेष रहने पर ही शय्या का त्याग कर देवे। फिर नित्य कर्मों से निवृत्त होकर देवता गौ ब्राह्मण गुरु वृद्ध सिद्धों को नमस्कार करे। अब उत्तम स्थान पर बैठकर मन लगाकर सूत्रों को दोहराये। इस प्रकार बार-बार पढ़े और उसके तत्व को समझे। इसी प्रकार मध्याह्न में अपराह्न में और रात्रि में भी निरन्तर पाठ करे।

उपनयन—शिष्य को विद्या पढ़ाने के लिये स्वीकार करने पर यह संस्कार कराया जाता है। शिष्य के मिलते ही यह प्रक्रिया नहीं होती थी। कुछ समय शिष्य गुरु के निकट रहता, सेवा करता, गाय चराता था और गुरु की आज्ञा का पालन करता था। इस समय में उसको माणवक कहा जाता है। इस बीच में गुरु और शिष्य के स्वभाव से परिचित हो जाता था और यदि योग्य समझता था तो उसे स्वीकार कर लेता और उपनयन का संस्कार कर उसे अध्ययन कराने लगता था। इसे फिर अन्तर्वासी कहा जाता था।

उपनयन संस्कार एक वैदिक संस्कार है। इसमें प्रशस्त मूहूर्त में शिष्य सिर घुटवा कर उपवास रखता था। फिर स्नान कर साफ वस्त्र धारण करता हाथों में सुगन्ध, समिधा, अग्नि, घृत तथा पूजा की अन्य सामग्री लेकर गुरु की सेवा में उपस्थित होता है। आचार्य यज्ञ विधि से उसको दीक्षा प्रदान करते

थे। होम में आयुर्वेद के उपदेष्टा ऋषियों के नाम से भी आहुतियाँ दी जाती थीं। शिष्य से अनुशासन की बातें बताई जाती है।

अवकाश—अध्ययन के बीच में अवकाश भी होता था। सुश्रुत संहिता में कृष्णपक्ष की अष्टमी चतुर्दशी और पंचमी को शुक्ल पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी एवं पूर्णिमा को विद्या अध्ययन निषेध किया है। कुछ और भी ऐसे समय बताये गये है जबकि अध्ययन नहीं कराया जाता यथा बिना ऋतु के बिजली चमकती हो, दिशाओं में आग लग रही हो, भूकम्प होने से उल्कापात होने पर ग्रहण के समय में तथा अन्य ऐसे ही अवसरों पर जो शुभ न हों, शिक्षा अध्ययन निषिद्ध बताया गया है।

शुल्क—प्राचीन समय में आयुर्वेद शिक्षा गुरु के साथ रह करके ग्रहण करनी होती थी। एक गुरु के पास बहुत से शिष्य रहते थे। शिष्य गुरु के द्वारा ज्ञान ग्रहण करता था। सतत सम्पर्क के द्वारा गुरु चरित्र का प्रभाव पड़ता है। किसी प्रकार की शुल्क का वर्णन शास्त्रों में नहीं मिलता। धनी सम्पन्न लोग ही सम्भवतः उनका खर्चा चलाते होंगे। यह गुरु लोग चिकित्सा कार्य करते थे और चिकित्सा के पश्चात् जो स्वस्थ होते थे वह अपनी इच्छा से उनको दान दक्षिणा देते थे। संभवतः इस सबसे ही गुरु का खर्चा चलता रहता और उस समय उनके खर्चे होंगे भी कम।

स्थान—आयुर्वेद की संहिताओं से यह मालूम नहीं देता कि गुरुकुल जंगल में होते थे या नगर में। इतना स्पष्ट है कि चरक ने ग्राम्यवास की अपेक्षा अरण्यवास को अधिक पसन्द किया है। इससे यह अनुमान होता है कि शिक्षा का स्थान ग्राम्य से दूर जंगल में होता होगा। चरक संहिता में अपने गुरु पुनर्वाद आत्रेय का कोई निश्चित स्थान नहीं बताया वह भ्रमण करते थे और भिन्न-भिन्न स्थान पर उपदेश देते थे, सुश्रुत को उपदेश देने वाले धन्वन्तरि एक ही स्थान पर रहते थे।

प्रागैतिहासिक काल में १००२ ईसा पूर्व अध्ययन का क्षेत्र परिवार ही होगा। पीछे से शिक्षा का क्रम पाठशाला के रूप में चला। यहाँ निजी अध्यापक रहते थे जो कि सभी विषय स्वयं पढ़ाते थे। इसी से शाखा प्रशाखा द्वारा वही ज्ञान बना रहा।

सर्वप्रथम यही पाठशालायें शिक्षा संस्थायें थीं बाद में मठों और बौद्ध विहारों में शिक्षा दी जाने लगी विहारों का मुख्य आचार्य योग्य भिक्षुक होता

था। उनके बिहार गुरुकुलों के रूप थे। पढ़ने के पश्चात इस समय में गुरु दक्षिणा दी जाती थी।

छात्रों की संख्या और अध्ययन अवधि—आयुर्वेद के ग्रंथों से इस बात का पता नहीं चलता कि एक गुरु के पास कितने शिष्य एक साथ पढ़ें और कितने समय तक अध्ययन करें। पुनर्वसु ने आत्रेय के छः शिष्य कहे हैं तक्ष-शिला में ३४० विद्यार्थियों का होना बताया गया है।

इसी प्रकार अध्ययन की मर्यादा भी नहीं कही जा सकती। जीवन सात वर्ष तक पढ़ा तो भी उसने इसका पार न पाया। अत में उसने गुरु से सीमा के विषय में पूछा और गुरु ने उसकी परीक्षा लेकर जाने की आज्ञा दी इसमें स्पष्ट है कि आयुर्वेद के ज्ञान की सीमा नहीं है।

जातकों के अध्ययन से पता चलता है कि तक्षशिला उस समय आयुर्वेद शिक्षा का भी केन्द्र था। तक्षशिला में फीस देकर पढ़ाई होती थी, यह स्पष्ट है। जातकों से पता चलता है कि इस समय में तक्षशिला में पढ़ने वाले विद्या-र्थियों को छात्रवृत्तियां भी मिलती थीं यह राजा लोग देते थे।

भोजन का प्रवन्ध गुरु करते थे परन्तु कहीं से निमन्त्रण आने पर सभी वहाँ भोजन करने जाते थे।

अध्ययन का प्रारम्भ प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में किया जता था। लिखने का अभ्यास कराया जाता था और उस समय में पुस्तकों के अध्ययन से शिक्षा दी जाती थी।

विविध पाठ्यक्रम—चरक के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय अनेक पाठ्क्रम थे। शिष्य को स्वयं विचार करना होता था कि वह कौन सा विषय पढ़े। उसे अपनी बुद्धि के अनुसार ही उस का ग्रहण करना पड़ता था। जातकों से पता चलता है कि तक्षशिला में १८ शिक्षाओं का वर्णन किया है।

सिद्धान्त और क्रियात्मक शिक्षा—उस समय में भी विषय के सिद्धान्तों को समझा जाता था और बाद में उसकी क्रियात्मक शिक्षा दी जाती थी। चिकित्सा विज्ञान में वनस्पतियों को जंगल में पहचानने का क्रियात्मक ज्ञान दिया जाता था।

आयुर्वेद के विषय :—शास्त्रों के अध्ययन से पता चलता है कि आयुर्वेद को समझाने के लिए निम्न विषय पढ़ाये जाते थे।

(१) शरीर विज्ञान :—आयुर्वेद के समग्रज्ञान के लिए शरीर का ज्ञान बहुत आवश्यक माना जाता था। उस समय में शास्त्रसम्मत ज्ञान के अतिरिक्त शवच्छेद कराने की प्रथा थी जैसी कि सुश्रुत ने लिखा है जिससे प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता था। सुश्रुत के समय में ही वास्तव में यह बात बढ़ी हुई थी क्योंकि उसके पश्चात् के ग्रन्थ अष्टांग संग्रह में यह ज्ञान नहीं मिलता।

(२) शरीर क्रिया विज्ञान:—यह भी प्राचीन समय से पढ़ाया जाता था। अन्न का पाचन, अग्नियों की क्रिया और धातु निर्माण विषयक सिद्धान्त संहिताओं में देखने को मिलाते हैं। रक्त परिभ्रमण, ओज के कार्य आदि विस्तार से कहे गए हैं। इन्द्रियों के कार्यो का वर्णन किया है। हृदय के विषय में संहिताओं में वर्णन मिलता है।

(३) त्रिदोषवाद:—प्राचीन साहित्य से पता चलता है कि आयुर्वेद में त्रिदोषवाद के आधार पर ही शिक्षा का प्रसार था। इनकी व्याख्या विस्तार के साथ मिलती है।

(४) स्वस्थ वृत्त और सदवृत्त—आयुर्वेद के दो प्रयोजन कहे गए हैं एक स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा करना और दूसरा रोगी के रोग का निवारण। स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए स्वस्थ वृत्त का विस्तार से अध्ययन कराया जाता था और प्रज्ञापराध भी रोग का कारण है और उसका निराकरण सद्वृत्त से हो सकता है इसलिए सद्वृत्त का भी उपदेश आयुर्वेद के विद्यार्थी के लिए अवश्यक कहा है।

आठ अंग:—आयुर्वेद के आठ अंग बताए गए हैं। उनकी शिक्षा दी जाती थी वह आठ अंग निम्न हैं:—

(४) शल्यतन्त्र:—घास, लकड़ी, पत्थर, रज कण, लोह, मिट्टी, अस्थि, बाल, वख पूय अन्य स्राव, मूढ़गर्भ तथा नाना प्रकार के मूल्य निकालने का ज्ञान शस्त्र अग्नि, क्षारों के प्रयोग करने का ज्ञान, व्रणों के निश्चय करने का ज्ञान शल्यतंत्र में कराया जाता है।

(२) शालाक्यतन्त्र:—कर्ण-नासा-नेत्र मुख आदि ऊर्ध्व जत्रुवात रोगों का ज्ञान जिस शास्त्र में कराया जाता है और शलाका का प्रयोग विधान बताया जाता है वह शालाक्यतन्त्र है

(३) कायचिकित्सा—ज्वर, रक्तपित्त, राजयक्ष्मा, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ, प्रमेह, अतिसारादि एवं शरीर गत व्याधियों की शान्ती का उपदेश जिस शास्त्र में दिया है उसे कायचिकित्सा कहा जाता है।

(४) भूत विद्या—देव, दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिचाच, नागादि से पीड़ित चित्त वाले लोगों के ग्रह आदि दोषों को दूर करने, ध्वनि-बलि आदि उपायों के द्वारा लाभ करने का वर्णन भूत विद्या द्वारा कराया जाता था।

(५) कौमार भृत्य—बालकों का पोषण करने के लिए, धात्री के दूध में दोष शोधन करने के लिए, दूषित दूध से तथा बालाओं से उत्पन्न होने वाले बालकों के रोगों की शान्ति के लिए जो अंग होता है उसे कौमारभृत्य कहा जाता है।

(६) अगदतन्त्र—सर्प कीट लूतादि से डसे हुए। अनेक प्रकार के स्वाभाविक कृत्रिम और संयोग विष से उपहत मनुष्यों के विषों का निदान तथा चिकित्सा के लिए जो अंग होता है, उसे अगदतन्त्र कहते हैं।

(७) रसायन तन्त्र—तरुणावस्था स्थापन के लिए, आयु एवं बल की वृद्धि करने के लिए और रोग प्रतिषेधक शक्ति बढ़ाने के लिए जा अंग है उसे रसायनतन्त्र कहते हैं।

(८) वाजीकरण तन्त्र—अल्पवीर्य, दुष्टवीर्य, क्षीणवीर्य और शुष्कवीर्य लोगों में वीर्य पुष्टि, वीर्य शोधन, वीर्यवृद्धि और वीर्योत्पादन के लिए तथा हर्ष बढ़ाने के लिए जो अंग है उसको वाजीकरण तन्त्र कहा जाता है।

आयुर्वेद की अध्यापन विधि में इन आठों अंगों का ही समावेश है। हाँ एक-एक अंग के विशेषज्ञ होते थे। कायचिकित्सा में चरक सम्प्रदाय और शल्य में सुश्रुत सम्प्रदाय सुप्रसिद्ध हैं।

अस्पताल—प्राचीन आयुर्वेद अध्ययन के विषय में क्रियात्मक ज्ञान कराने के लिए अस्पताल होते थे या नहीं किन्तु इतना अवश्य पता चलता है कि उस समय में रोगी का उपचार करने के लिए अस्पताल होते थे। इससे सिद्ध होता है कि शिष्य भी वहाँ पर क्रियात्मक ज्ञान सीखते होंगे। उस समय के अस्पतालों के विषय में हम निम्न संदर्भ पाते हैं—

(क) सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय २९ में 'व्रणितोपसनागृह' का वर्णन किया है जिसमें व्रणी रहते थे।

(ख) चरक सूत्रस्थान अध्याय १५ में आतुरालय का वर्णन किया है। उस वर्णन को देखने से पता चलता है कि उस समय में कितने उत्तम अस्पताल होते थे। उसके उपकरण एवं साज सज्जा का वर्णन देखते ही बनता है।

(ग) सुश्रुत संहिता में सूतिकागार का वर्णन किया है।

(घ) कुमारागार का वर्णन शार्ङ्गधर में उपलब्ध होता है।

इन सबको देखने से पता चलता है कि एक विषय के विशेषज्ञ उसी विषय के अस्पताल भी रखते थे।

सैनिक चिकित्सा—उस समय सैनिक चिकित्सा का प्रचार था। सुश्रुत ने इसका वर्णन किया है कि शत्रु लोग युद्ध के समय अन्नपान-मार्ग-वायु-जल आदि वस्तुओं को दूषित कर देते थे। युद्ध में हताहतों का उपचार एवं सैनिकों की स्वास्थ्य विषयक सहायता के लिए युद्ध में वैद्य साथ रहता था। राजा की सहायता करता था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी यह बात सिद्ध होती है।

इस प्रकार इतिहास का अवलोकन करने से हमें आयुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन के विषय में उपर्युक्त अनेक बातों का ज्ञान होता है।

प्रश्न—आयुर्वेद की प्राचीन परम्परा पर प्रकाश डालिए ?

उत्तर—आयुर्वेद की प्राचीनता सिद्ध करते हुए हम कह आए हैं कि इसकी परम्परा में आरम्भ में ब्रह्मा जी द्वारा उपदेश का प्रसंग आता है। सभी प्रसंगों के आदि में ब्रह्मा जी को माना है। पुराणों में यही परम्परा मिलती है। किन्तु आयुर्वेद की काश्यप संहिता में दक्ष प्रजापति का नाम न देकर ब्रह्मा जी से ही सीधे अश्विनौ के आयुर्वेद ग्रहण की बात कही है जबकि अन्य सब स्थानों पर ब्रह्मा जी के उपदेश को दक्ष ने ग्रहण किया ऐसा वर्णन मिलता है। यह बात सम्भवतः इसलिए हो सकती है कि ब्रह्मा जी का दूसरा नाम प्रजापति भी है। इसलिए उसे अलग न गिना हो। दूसरी बात यह है कि पुराणों में जो परम्परा है उसमें प्रजापति ने पाँचवें वेद आयुर्वेद का उपदेश भास्कर को देने का वर्णन किया है जिसने भास्कर संहिता बनाई किन्तु आयुर्वेद में इस प्रकार का वर्णन उपलब्ध नहीं होता।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में वर्णित परम्परा के अनुसार हम पाते हैं कि ब्रह्मा जी

से इन्द्र तक का वर्णन सबमें समान रूप से बताया गया है। वह क्रम निम्न प्रकार है—
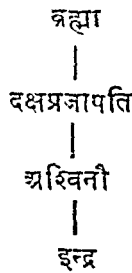
इन्द्र से ज्ञान सभी सम्प्रदाय वालों को मिला। इसी से आगे भी परम्परा में अन्तर मिलता है। आरम्भ में ब्रह्मा जी से दक्षप्रजापति ने, दक्षप्रजापति से अश्विनी ने और अश्विनी से इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। अतः आरम्भ में आयुर्वेद की परम्परा में इन चारों का वर्णन आता है, अतः इनके विषय में दो शब्द कहते चलते हैं।

ब्रह्माजी को आदि देव माना गया है। भारतीय संस्कृति के अनुसार सारा ज्ञान ही दिया गया है। आयुर्वेद के उपदेष्टा भी यही हैं। चरक संहिता में 'पैतामहा'' शब्द इनके लिए ही प्रयोग किया गया है।[1]

दक्ष प्रजापति ब्रह्मा जी के मानस पुत्रों में एक हैं। इनका एक नाम प्राचेतस भी है। आयुर्वेद परम्परा में प्राचेतस दक्ष का उल्लेख है। संग्रह में ज्वर भी उत्पत्ति के विषय में प्राचेतस का उल्लेख है किन्तु चरक में दक्ष का नाम लिखा है।

अश्विनी कौन थे ? यह स्पष्ट कर पाना बहुत कठिन है। वेद में इनको देवता रूप में कहा गया है। महाभारत में इनका प्रसंग आता है—वहाँ पर कहा गया है कि उपमन्यु आक के पत्ते खाकर अन्धा हो गया तब आचार्य ने अश्विनी की स्तुति करने को कहा। जो स्तुति वहां की है इसका स्वरूप निम्नवत है—

---

१. ''हेतु लिंगौषधज्ञानं स्वस्थातुर परायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधे यं पितामहः॥

(चरक स० अ१ १)

"हे अश्विनी कुमारो ! आप दोनों सृष्टि से पूर्व विद्यमान थे। आप ही पूर्वज हैं। आप ही चित्रभानु है, दिव्य स्वरूप हैं। सुन्दर पक्ष वाले दो पक्षियों की भांति सदा साथ रहते हैं। रजोगुण और अभिमान से शून्य है। आप सूर्य के पुत्र है, दिन रात वर्ष को आप ही बनाते है।"

इस स्तुति से अश्विनी के प्रसन्न हो जाने की बात कही गई है और उपमन्यु को पुआ देना कहा गया है। उन्होंने उपमन्यु को कहा कि बिना गुरु को दिये इसका उपभोग न करना। उसने वैसा ही किया। अश्विनी उपमन्यु के इस व्यवहार से प्रसन्न हुए—इसके कारण उन्होने उपाध्याय के दाँत काले लोहे के समान कर दिये और उपमन्यु के दांत स्वर्णमय होने का वर दिया। इस तरह उपमन्यु ठीक हो गया।

इन सारे वृत्तान्त से अश्विनी का देवताओं का वैद्य होना स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त भी इनके विषय में बहुत कुछ कहा जाता है—उसमे से हम कुछ नीचे लिख रहे हैं—

"ये जुड़वाँ भाई है। सदा युवा रहते हैं। चमकदार है। सुनहरी चमक सौन्दर्य और कमल की मालाओं से सदा भूषित रहते हैं। ये दृढ़ांग, स्फूर्तिशील, गरुड़ के समान वेगगामी है इनको दस्त और नासत्य नाम से भी स्मरण किया जाता है। ये मधु प्रेमी है। इनका रथ शहद के अंकुश से हांका जाता है। यह सोमरस का पान करते है। इनका सुनहरा रथ सूर्य के समान चमकता है, उसके तीन पहिये है और पखों वाले घोड़े लगे है। कभी २ रथ मे भैंसे और गदहे भी जुड़ते है। यह रथ पाँचों लोकों को पार करता है। इनके प्रकट होने का समय उषा के उदय होने के पीछे और सूर्योदय के बीच का है। यह अन्धेरे, हानिकारक वस्तु और भूत प्रेत को भगा देते है। ये विवस्वान् तथा त्वष्टा की पुत्री सरण्यु की सन्तान है। सरण्यु अतिरूपवती है। सरण्यु का अर्थ सूर्य और उषा का उदयकाल है। अश्विनी कुमारों का पुत्र पूषा है, उषा उसकी बहन है। सूर्या के साथ सम्बन्ध होता है, सूर्या के दोनों पोते है। ये अपने भक्तों की रक्षा करते है। स्वर्ग के वैद्य है। नवीन आंखें एव नवीन अंग देना, बीमारियाँ दूर करना इनका कार्य है। इनकी अनेक गाथाएँ है जिनमें देवताओं को युवत्व प्रदान करने का वर्णन मिलता है।

इस सब वर्णन से अश्विनी कौन थे, यह जानना होता है। इसीलिए यह पूरा वर्णन हमने ऊपर लिख दिया है। पाठक स्वय इस विषय में निर्णय करें।

इन्द्र राष्ट्रीय देवता है । इनके विषय में पुराणों में अनेक गाथाएँ मिलती हैं। प्रारम्भ में इन्द्र को विद्युत का देवता माना जाता था जो वर्षा को रोकने वाले दैत्यों का संहार करता था। यह युद्ध का भी देवता और आर्यों का रक्षक है। सोमपान आदि कार्यों से मनुष्य के समान लगता है। मनुष्यों की तरह इसके दाढ़ी भी है। आयुर्वेद के मतानुसार मृत्युलोक में जो आयुर्वेद का प्रसार हुआ उसका उपदेश इन्द्र ने ही दिया है।

इन्द्र के उपदेश के विषय में मुख्य रूप से तीन वर्णन आयुर्वेद साहित्य में उपलब्ध होते हैं। वे तीन सम्प्रदाय हुए जिनकी परम्परा आगे बढ़ी। यह निम्न प्रकार हैं—

(१) कायचिकित्सा सम्प्रदाय की परम्परा का वर्णन चरक संहिता में मिलता है। वहाँ पर इन्द्र के पास भारद्वाज के जाने का उपदेश है और इन्द्र से ज्ञान लाकर ऋषि समूह को सुनाने का प्रसंग है। उनसे ज्ञान लिए हुए ऋषियों में आत्रेय पुनर्वसु थे और उन्होंने फिर अपने छः शिष्यों को ज्ञान दिया जिन्होंने अपनी २ संहिताएँ बनाईं।

इस वर्णन के आधार पर निम्न प्रकार से परम्परा चली:—[1]

इन्द्र
|
भारद्वाज
|
पुनर्वसु आत्रेय

(१) अग्निवेश, (२) भेद, (३) जतुकर्ण, (४) पाराशर
(५) हारीत, (६) क्षारपाणि

---

१. कः सहस्राक्षभवनं गच्छेत्प्रष्टुं शचीपतिम् ।
अहमर्थे नियुज्येयमत्रेति प्रथमं वचः ।।
भरद्वाजोऽब्रवीत्तस्मादृषिभिः स नियोजितः
"ऋषयश्च भरद्वाजाज्जगृहुस्तं प्रजाहितं ।"
"अथ मैत्रीपरः पुण्यमायुर्वेदं पुनर्वसु ।"
"अग्निवेशश्च भेडश्च जतूकर्णः पराशरः ।"
हारीतः क्षारपाणिश्च जगृहुस्तंन्मुनेर्वचः । (चरक सू० अ० १)

इन छ: ने ही अपनी २ संहिताएँ बनाईं जिनमें अग्निवेश की संहिता बहुत प्रसिद्ध हुई, उसी का नाम अब चरक संहिता है। क्योंकि उसका प्रतिसंस्कार चरक ने किया।

(२) शल्यतन्त्र की परम्परा दूसरी है। यह परम्परा सुश्रुत संहिता के अनुसार है। इसमें इन्द्र से धन्वन्तरि ने ज्ञान लिया और धन्वतरि ने सुश्रुत—औपधेनु—करवीर्य—वैतरण—औरभ्र—पौष्कलावत, गोपुररक्षित तथा भोज को ज्ञान दिया। इसके अनुसार निम्न प्रकार परम्परा होती है—

इन्द्र
|
धन्वन्तरि (दिवोदास—काशिराज)
|
सुश्रुत—औपधेनु—करवीर्य—वैतरण—औरभ्र—
पौषकलावत—गोपुररणित - भोज
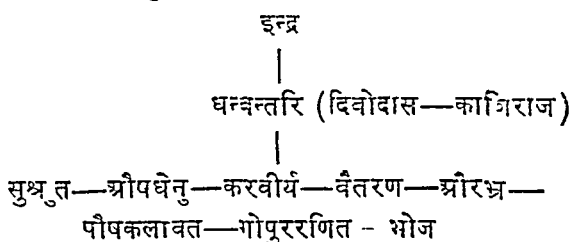
इनमें सुश्रुत संहिता प्रसिद्ध है।

(३) तीसरी परम्परा काश्यप संहिता के अनुसार मिलती है। वह कौमारभृत्य विषयक परम्परा है। इसमें काश्यप, वशिष्ट—अत्रि और भृगु को इन्द्र ने उपदेश दिया। फिर इन्होंने अपने पुत्रों एवं शिष्यों को उपदेश दिया ऐसा वर्णन मिलता है। इसमें काश्यप संहिता एक प्रसिद्ध रचना है।

इस प्रकार हम आयुर्वेद की प्राचीन तीन ही परम्परा पाते हैं। यह परम्परा इन्द्र के पश्चात् चलीं। इनमें भारद्वाज के विषय में नीचे लिखते हैं।

भारद्वाज के विषय में विचार करें तो हम पाते हैं कि चरक संहिता में तीन बार भारद्वाज का नाम आया है—

(१) भरद्वाज—जिनमें इन्द्र से ज्ञान लेकर ऋषियों को दिया। (सूत्रस्थान—अ० अ० १)

(२) कुमारसिरा भरद्वाज—कई विषयों पर विचार के लिए एकत्रित ऋषियों में एक। इनका नाम कुमारशिरा है, भरद्वाज उपनाम है। (चरक सू० अ० १२, सू० अ० २६ और शा० ६)

(३) भरद्वाज—आत्रेय द्वारा इनके मत को स्वीकार नहीं किया गया, अतः यह उनके गुरु नहीं हो सकते (चरक सूत्रस्थान अध्याय २५ और शा० अ० ३)

यह भारद्वाज जो प्रथम हैं वह बृहस्पति के पुत्र माने जाते हैं। यह दीर्घजीवी ऋषि थे। इनका काल क्या था यह अभी निर्णय नहीं हो पाया है।

पुनर्वसु आत्रेय—चरक—अग्निवंश का वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। धन्वन्तरि एवं सुश्रुत के विषय में भी हम पीछे लिख आये हैं। कश्यप के विषय में हम यहां लिख रहे हैं।

कश्यप—कश्यप द्वारा कश्यप संहिता की रचना की गई है। उसके कल्पस्थान में इसके विषय में निम्न प्रसंग उपलब्ध होता है—

'दक्ष यक्ष के विध्वंस होने से देवता लोग इधर-उधर भागने लगे—उनके भागने से दैहिक एवं मानसिक सभी रोग उत्पन्न होने लगे। यह अवस्था सतयुग एवं त्रेता के सन्धिकाल की है। तब लोगों की हितकामना से महर्षि कश्यप ने अपने ज्ञान चक्षुओं से एवं पितामह की आज्ञा द्वारा इस तन्त्र को बनाया। सबसे प्रथम इस तन्त्र को ऋचीक के पुत्र, जीवक नामक एक बाल मुनि ने ग्रहण किया और इसे एक संक्षिप्त रचना में बदल दिया। परन्तु बालक का वचन होने से ऋषियों ने इसका आदर नहीं किया। इसी समय उसने ऋषियों के सामने कनखल में गंगा के अन्दर डुबकी लगाई और क्षण भर में वलि पलितयुक्त वृद्ध रूप में प्रकट हुआ। अब ऋषियों ने बालक का नाम वृद्ध जीवक रखा और इसके ग्रन्थ का अनुमोदन किया। इसके बाद कालक्रम से लुप्त इस ग्रन्थ को भाग्यवश अनायास नामक किसी यक्ष ने प्राप्त किया तथा लोक कल्याण के लिए इसकी रक्षा की। इसके बाद जीवक के ही वंश में उत्पन्न वेद, वेदांग, शिव एवं कश्यप के भक्त वात्स्य नामक विद्वान ने अनायास को प्रसन्न करके इस तन्त्र को प्राप्त किया। धर्म और लोक कल्याण के लिए उक्त विद्वान ने अपनी बुद्धि से प्रति संस्कार कर इसको प्रकाशित कराया। जो विषय इसके आठ स्थानों में नहीं आये उनका वर्णन खाली स्थान में किया गया है।'

इसके अतिरिक्त कुछ भी वर्णन हमें इस विषय में नहीं मिलता। कश्यप का नाम चरक संहिता में भी आया है। वहां पर मारीचि के साथ इनको भी ऋषि समूह में बताया गया है। वास्तव में इनका काल निर्णय आदि करना कठिन है। हां कुछ अनुमान लगावें तो हम कहेंगे कि कश्यप का वर्णन नवनीतक में आया है। कश्यप और जीवक के नाम से योग दिये गये हैं।

इसका यह अर्थ है कि उस समय तक यह बन चुकी थी नवनीतक का समय तीसरी या चौथी शताब्दी का है।

जीवक के विषय में भी कुछ कह पाना सम्भव नहीं—कारण यह कि महावग्ग में जिस जीवक की कथा दी है, वह जीवक बौद्ध है—और इधर कश्यप संहिता के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि इसकी रचना वैदिक परम्परा के अनुसार हुई है। इस तरह यह जीवक कोई अन्य ही रहा होगा।

इस तरह आयुर्वेद की प्राचीन परंम्परा मिलती है। जिसमें नाम के कारण अनेक उलझनें पाई जाती हैं। एक ही नाम भिन्न २ प्रकार से मिलता है जो एक व्यक्ति विशेष का निर्देश नहीं कर पाता। जो भी मिलता है उसके आधार पर अनुमान करना पड़ता है और कुछ नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न—आधुनिक युग के वैद्यों की विभिन्न परम्पराओं का वर्णन कीजिए ?

उत्तर—भारत के वैद्यों की परम्पराओं के विषय में विचार करने से यह बात ध्यान रखनी होगी कि यह परम्परायें भारत के विभिन्न प्रांतों से आधार पर हैं। अतः हम भिन्न २ प्रांतों की परम्पराओं का उल्लेख करेंगे। इन परम्पराओं में सबसे महत्त्वपूर्ण परम्परा बंगाल की परम्परा है अतः सर्वप्रथम उसी का वर्णन कर रहे हैं।

बंगाल की परम्परा में कविराज श्री गंगाधर का नाम सर्वप्रथम आता है। आपका जन्म १८५६ विक्रमी में जैसोर जिले के भागुरा ग्राम में हुआ था। आपने आरम्भ में अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया और १८ वर्ष की आयु में राजशाही जिले के बेलधरिया नामक स्थान के विख्यात कविराज रामकांत सेन जी के पास आयुर्वेद सीखा। यह तीन वर्ष तक यहाँ पढ़े और २१ वर्ष की आयु में कलकत्ता में चिकित्सा कार्य आरम्भ किया। परन्तु बाद में अपने पिता के आदेश पर मुर्शिदाबाद में चिकित्सा आरम्भ की। उन दिनों मुर्शिदाबाद बंगाल बिहार एवं उड़ीसा की राजधानी थी। यहाँ आने पर इनका यश चारों ओर फैला और आपने कासिम बाजार की महारानी की चिकित्सा की और मुर्शिदाबाद के नवाब की चिकित्सा की। आप एक सुयोग्य चिकित्सक रहे और एक विद्वान अध्यापक थे। आपने ७६ ग्रन्थ लिखे। आपकी शिष्य परम्परा में आप के शिष्य छः बताये हैं यथा—द्वारकानाथ सेन, हारायण चन्द्र चक्रवर्ती, परेश-

नाथ सेन, ईश्वरचन्द्र सेन, गोविंदचन्द्र सेन, श्रीचन्द सेन। फिर इनके शिष्य आगे हुए। इनकी परम्परा निम्न प्रकार से है—

इस परम्परा में श्री गणनाथ सेन का नाम नहीं आया किन्तु आपने भी आयुर्वेद के क्षेत्र में बहुत ही प्रसिद्धि प्राप्त की थी। प्रत्यक्ष शरीर एवं सिद्धांत निदान नामक दो ग्रन्थ आपने लिखे जिससे आप बहुत प्रसिद्ध हुए।

बंगाल जैसी परम्परा अन्य किसी प्रदेश में नहीं मिलती। उत्तर प्रदेश में निम्न लोगों ने आयुर्वेद की उन्नति में भाग लिया—

(१) **अर्जुन मिश्र**—आपने संगरूर के वैद्य पं० दिलाराम जी से आयुर्वेद सीखा। आपके नाम पर ही अर्जुन आयुर्वेद विद्यालय बनारस चल रहा है।

(२) **श्यामसुन्दराचार्य**—आप अर्जुन मिश्र के शिष्य थे। आपने 'रसायन सार संग्रह' की रचना की।

(३) **हरिदास राय चौधरी**—आपने आयुर्वेद की शिक्षा कविराज गंगाधर जी के शिष्य श्री ईश्वरचंद्र जी ग्रहण की।

(४) **त्र्यम्बकशास्त्री**—पेशवाओं के साथ आपके पिता काशी आए थे फिर वहीं रहने लगे। आपके सुयोग्य शिष्य श्री हरिदत्त शास्त्री हैं।

(५) **श्री जगन्नाथप्रसाद शुक्ल**—आप प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञ हैं। अनेक ग्रन्थ लिखे हैं और सुधानिधि नामक मासिक पत्र निकालते हैं।

बिहार प्रांत वैद्य

श्री व्रजविहारी चतुर्वेदी हुए हैं। आपके अनुरोध पर सरकार ने पटना में आयुर्वेदिक कालेज खोला था। आपके पुत्र श्री हरिनारायण जी, वहाँ के प्रिंसिपल हुए। पं० हरिनंद जी झा आपके सुयोग्य शिष्य हैं।

राजस्थान के वैद्य

श्री कृष्णराम भट्ट जयपुर में हुए। आपने सिद्ध-वैषज्य मणिमाला नामक पुस्तक लिखी।

स्वामी लक्ष्मीराम जी कविराज गंगाधर की परम्परा में हुये। आपने अनेक सुयोग्य शिष्य बनाए। जिनमें ठाकुरदत्त मुलतानी, नारायणदत्त विद्यालंकार एवं मणिराम जी हैं।

नंदकिशोर जी राजकीय पाठशाला में अध्यापक रहे और राजस्थान के डायरेक्टर बने।

प्रतापसिंह रसायनाचार्य भी राजस्थान के वैद्यों में थे जो भारत सरकार के परामर्शदाता बने थे।

पंजाब के वैद्य

निम्न वैद्य प्रसिद्ध हुये—

(१) कविराज नरेन्द्रनाथ जी मिश्र

(२) पं० रामप्रसाद जी

(३) मनोहरलाल जी शर्मा

सिंध के वैद्य

(१) वैद्य सुखरामदास जी टी ओझा

मद्रास के वैद्य

(१) पं० डी गोपालाचार्यलु

(२) डा० लक्ष्मीपति

(३) कैप्टन श्रीनिवास मूर्ति

(४) वैद्यराज पी० एस० वेरियर

गुजरात के वैद्य

(१) यादव जी विक्रम जी आचार्य

(२) वैद्य हरिप्रपन्न जी
(४) झंडू भट्ट एवं जुगतराम
(५) जीवाराम कलिदास जी

महाराष्ट्र के वैद्य

(१) शंकरदास जी शास्त्री पद
(२) गोवर्द्धन शर्मा छांगनी
(३) गंगाधर शास्त्री गुणे
(४) पंडित शिवशर्मा

प्रश्न—आयुर्वेद की उन्नति के उपायों पर प्रकाश डालिए ?

उत्तर—भारत सरकार ने आयुर्वेद की स्थिति जांचने के लिए तथा उसकी उन्नति के लिये २९ जुलाई १९५९ में एक कमेटी डाक्टर के० एन० उदय सर्जिकल स्पेशियलिस्ट, हिमाचल प्रदेश, शिमला की अध्यक्षता में बनायी थी। इस कमेटी ने सम्पूर्ण भारत का परिभ्रमण करके आयुवेद संस्थाओं, फार्मेसियों और राज्यों में आयुर्वेद की स्थिति का निरीक्षण कर अपनी रिपोर्ट भारत सरकार को दी है।

इस रिपोर्ट में इससे पूर्व की कमेटियों का विवरण संक्षेप से दिया हुआ है, इससे स्पष्ट होता है कि आयुर्वेद की उन्नति विकास के लिए भारत सरकार ने अभी तक क्या किया है। सबसे प्रथम भोर कमेटी (१९४५ ई०) में बैठायी गयी थी।

भोर कमेटी की सूचना—भोर कमेटी ने स्वीकार किया कि वह समय परिस्थितियों के कारण आयुर्वेद सिस्टम के विषय में सूचनाएं नहीं प्राप्त कर सकी, तब भी उसने कहा स्वास्थ्य और चिकित्सा की दृष्टि से आयुर्वेद चिकित्सा के प्रश्न पर निर्णय राज्यों के ऊपर छोड़ देना चाहिए। उसकी ठोस एवं करणीय सूचना यह थी कि सब मेडिकल संस्थाओं में आयुर्वेद के इतिहास की एक चेयर स्थापित की जाय।

इसके पीछे सन् १९४६ में स्वास्थ्यमंत्रियों की एक बैठक हुई, जिसमें आयुर्वेद की शिक्षा और गवेषणा के प्रश्न पर गंभीरता से विचार हुआ।

चोपड़ा कमेटी—इस कमेटी के अनुसार लेफ्टीनैंट कर्नल आर० एन० चोपड़ा की अध्यक्षता में १९४६ ई० में एक कमेटी बनाई गई। इसमें सारे

प्रश्न को नये सिरे से विचार कर १९४८ में एक रिपोर्ट सरकार को दी, इसमें मुख्य सूचनाएँ निम्न थीं।

१. पश्चिम और आयुर्वेद चिकित्सा का समन्वय कराना आवश्यक है।

२. दोनों में जो भाग कमजोर हो उसकी पूर्ति परस्पर विभागों से करनी चाहिये।

३. मिश्रित पाठ्यक्रम से आवश्यक पाठ्यक्रम को निकाल देना चाहिये।

४. संपूर्ण भारत में एक ही पाठ्यक्रम चलाना चाहिये।

५. संस्कृत का सामान्य ज्ञान और अंग्रेजी का आवश्यक एवं साथ में केमिस्ट्री, फिजिक्स, वाइओलोजी (प्राणीशास्त्र) का भी ज्ञान आवश्यक है।

६. पाठ्यक्रम पाँच वर्ष का रखना चाहिये। पाठ्य पुस्तकों में एकरूपता रहनी चाहिए।

७. पाठ्य पुस्तक तैयार कराने के लिए एक बोर्ड की नियुक्ति होनी चाहिए।

८. एक ही अध्यापक पश्चिमी एवं प्राचीन आयुर्वेद विषय को पढ़ाये।

९. मेडिकल कालेजों में आयुर्वेद का इतिहास विषयक पीठ स्थापित हो।

१०. मिश्रित पाठ्यक्रम के लिए अध्यापक शिक्षित करने चाहिये।

११. अध्यापकों को उचित वेतन दिया जाय।

१२. केन्द्रीय सरकार आयुर्वेद शिक्षा और चिकित्सा पर नियंत्रण रखे।

१३. स्वास्थ्य विभाग के आधीन उपसंचालक आयुर्वेद का पद बनाना चाहिये।

१४. दो बोर्ड पृथक बनाने चाहिये।

१. इंडियन मेडिकल कौंसिल २. कौंसिल आफ इंडियन मेडिसिन।

१५. निम्न स्तर वाली शिक्षण संस्थायें या तो समाप्त कर देनी चाहिए अथवा दूसरी संस्थाओं में सम्मिलित कर देनी चाहिए।

१६. सब शिक्षण संस्थायें रिसर्च का केन्द्र बनायें। रिसर्च केन्द्र में दोनों पद्धतियों के शिक्षित विज्ञ व्यक्ति रखने चाहिये।

१७. भारतीय चिकित्सा में खोज की बहुत जरूरत है। आधुनिक और आयुर्वेद दोनों चिकित्सा पद्धतियों में एकरूपता लाने की बहुत आवश्यकता है।

१८. केन्द्रीय गवेषणा केन्द्र स्थापित करना चाहिए।

१९. आयुर्वेदिक फार्मेकोपिया बनानी चाहिए।

२०. भारतीय चिकित्सा में औषधि निर्माण की शिक्षा का प्रवन्ध होना आवश्यक है।

चौपड़ा कमेटी की सूचनाओं पर भारत सरकार का निर्णय संक्षेप में यह है—

१. दोनों पद्धतियों का मिश्रण सम्भव नहीं क्योंकि दोनों पद्धतियों में सैद्धान्तिक मुख्य बातों में पर्याप्त भेद है।

२. केन्द्रीय और राज्य सरकारों को यह निश्चय करना चाहिए कि जातीय स्वास्थ्य के लिए आधुनिक चिकित्सा पद्धति की शिक्षा दी जाय या न दी जाय।

३. आयुर्वेदिक और यूनानी खोज के सम्बन्ध में केन्द्रीय वोर्ड बनाया जाय।

४. आधुनिक चिकित्सा की पूर्ण शिक्षा देकर आयुर्वेद या यूनानी चिकित्सा की शिक्षा विशेष रूप से देनी चाहिए।

५. आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सकों का यन्त्रीकरण होना चाहिए।

६. आयुर्वेदिक और यूनानी चिकित्सा में शिक्षित व्यक्तियों को जनस्वास्थय के कार्य की शिक्षा देनी चाहिए।

पंडित कमेटी—इसके पीछे डाक्टर सी० जी० पंडित की अध्यक्षता में एक दूसरी कमेटी बनाई गई। इसको चोपड़ा कमेटी द्वारा निर्दिष्ट सूचनाओं को क्रियात्मक रूप देने का कार्य सौंपा गया। पंडित कमेटी ने निम्न वातों की सिफारिश की—

१. जामनगर में केन्द्रीय गवेपणा केन्द्र खोला जाय।

२. आधुनिक मेडिकल कालेजों में आयुर्वेद या यूनानी शिक्षा देना सम्भव नहीं।

३. आयुर्वेदिक कालेजों में आधुनिक चिकित्सा का ज्ञान देना उचित नहीं क्योंकि इनका शिक्षास्तर बहुत निम्न श्रेणी का है। इसलिए यदि मिश्रित शिक्षा देनी है, तो इन विद्यालयों में शिक्षास्तर ऊँचा करना चाहिए।

४. आयुर्वेदिक विद्यालयों में प्रवेशस्तर ऊंचा करना चाहिए।

५. आयुर्वेदिक शिक्षा के लिए सर्वत्र एक समान पाठ्यक्रम चालू करना चाहिए। पृथक् २ डिग्री कोर्स या डिप्लोमा कोर्स नहीं चलाना चाहिये।

पंडित कमेटी की सिफारिश पर १९५२ में जामनगर में गवेषणा केन्द्र खोला गया, काम भी प्रारम्भ हुआ परन्तु अभी तक कोई भी निश्चित परिणाम सामने नहीं आया।

दवे कमेटी—केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद (१९५४ ई०) के अनुसार श्री डी० टी० दवे की अध्यक्षता में १९५५ ई० में कमेटी बनाई गई। इस कमेटी को शिक्षा का स्तर तथा भारतीय चिकित्सा की प्रेक्टिस करने के नियम बनाने का काम सौंपा गया। इसकी मुख्य सिफारशें निम्न थीं—

१. संस्थाओं के नियमित शिक्षित एवं परम्परागत शिक्षित व्यक्ति जो पन्द्रह वर्ष से चिकित्सा कार्य कर रहे हैं, उसका पंजीकरण करना चाहिए।

२. प्रत्येक राज्य में एक बोर्ड होना चाहिए जो आयुर्वेद की शिक्षा तथा वैद्यों पर नियंत्रण रखे।

३. पंजीकृत वैद्यों, हकीमों को आधुनिक चिकित्सा पद्धति के डाक्टरों के समान अधिकार मिलने चाहिए।

शिक्षा के सम्बन्ध में दवे कमेटी की निम्न सिफारिशें थीं—

४. सम्पूर्ण भारत में एक ही जैसा पाठ्यक्रम चलना चाहिए यह पाठ्यक्रम ५॥ वर्ष का होना चाहिए। इसमें तीन मास कम से कम देहाती क्षेत्र में काम करना पड़े।

५. प्रवेश योग्यता इन्टरमीडिएट साइन्स (मेडीकल ग्रूप) की होनी चाहिए जिसके साथ में संस्कृत का सामान्य ज्ञान होना आवश्यक है।

६. संस्थाओं के पाठ्यक्रम शिक्षण पर नियंत्रण रखने के लिए इन्डियन मेडिकल कौंसिल के समान एक परिषद होनी चाहिए।

७. विषयवार पुस्तकें लिखाई जाँय या संशोधित की जाएं।

८. पाठ्यक्रम को विश्वविद्यालयों और आयुर्वेद की फैकल्टी से पृथक बना कर स्वीकृत करवाया जाय।

९. आयुर्वेदिक की फार्मेकोपिया और कोश (डिक्शनरी) बनाना चाहिए।

१०. सब मिश्रण संस्थाओं में रोगियों को रखने के लिए अन्तः अस्पताल होना चाहिए। जिसमें एक विद्यार्थी के लिये पांच रोगी रहें।

११. आयुर्वेद की उपाधि ग्रेज्युएट आयुर्वेदिक मेडिसन सर्जरी समान रूप से रखनी चाहिये।

१२. केन्द्र और राज्यों में आयुर्वेद का डाइरेक्टर (संचालक) पृथक रूप से नियुक्त करना चाहिये।

१३. साधन सम्पन्न संस्थाओं में गवेषणा तथा स्नातकोत्तर शिक्षा के द्विवर्षीय पाठ्यक्रम की सुविधा देनी चाहिये।

१४. शिक्षा संस्थाओं में रिफ्रेशर पाठ्यक्रम का प्रबन्ध करना चाहिये।

मिश्रित पाठ्यक्रम के लिए दवे कमेटी ने एक पाठविधि भी बतलाई थी। दवे कमेटी की रिपोर्ट सब राज्यों को भेजी गई और राज्यों से प्राप्त सम्मतियों पर बंगलौर में हुई केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद में विचार किया गया कि वे इसे स्वीकार करें या अस्वीकार करें।

निष्कर्ष—१. चौपड़ा कमेटी और पंडित कमेटी की सिफारिशों को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने यह निश्चय किया कि प्रथम आयुर्वेद के सम्बन्ध में खोज प्रारम्भ की जाय। उसके आधार पर ही दोनों पद्धतियों को मिश्रित करने का विचार किया तथा उसी के आधार पर यह निश्चय हो कि मेडिकल कालेजों में स्नातकोत्तर शिक्षा दी जाय या नहीं।

२. सरकार का ऐसा विचार दीखता है कि खोज के परिणामों को देखकर ही इसकी उपादेयता का अंकन होना चाहिये। परन्तु हमारी सम्मति में औषधि या उसकी उपादेयता ही आयुर्वेद विज्ञान नहीं है, इसलिये हमारी सम्मति में पंडित कमेटी ने आयुर्वेद शिक्षा का जो मार्ग बताया है (अर्थात् आधुनिक शिक्षा के छात्र को अथवा स्नातकोत्तर अभ्यास में आयुर्वेद की शिक्षा देना) वह आयुर्वेद की उन्नति के लिए उत्तम नहीं। चौपड़ा कमेटी की सिफारिशें अभी तक कार्य रूप में परिणत नहीं हुई, इसी से वर्तमान अकर्मण्यता बनी रही।

३. संक्षेप में मिश्रित आयुर्वेद पाठ्यक्रम के लिये की गई चौपड़ा एवं दवे कमेटी की सब सिफारशें रेत में पड़ी पानी की बूँद के समान व्यर्थ हुई। साथ ही दूसरे पक्षवालों के लिए पूर्ण असन्तोषजनक सिद्ध हुई। इसी से शुद्ध आयुर्वेद की चलवल आरम्भ हुई। इससे विद्यार्थियों के मन में एक प्रकार का प्रतिरोध जाग्रत हो गया, जिसका परिणाम स्ट्राइक, महाविद्यालयों का एक दीर्घकाल के लिए बन्द होना हुआ। शुद्ध आयुर्वेद की चलवल प्रायः करके पुराने विचार वाले लोगों के हाथ में रही।

शुद्ध आयुर्वेद शब्द के विषय में पूरा स्पष्टीकरण न होने से कुछ सीमा तक लोगों को भ्रम एवं अस्पष्टता बनी रही। यद्यपि वे स्वयं यह स्वीकार करते थे कि विज्ञान एक समान है, उसमें बराबर उन्नति का स्थान है, उसे आयुर्वेद में सम्मिलित करना चाहिये। फिर भी वे यह मानते हैं कि आयुर्वेद सम्पूर्ण है, और उसमें किसी प्रकार की वृद्धि या जोड़ की आवश्यकता नहीं। शुद्ध आयुर्वेद का जो पाठ्यक्रम इन्होंने बनाया उसमें पुराने पाठ्यक्रम को थोड़ा ही परिवर्तित किया, साथ ही आधुनिक विज्ञान के विषय भी मिला दिये। शुद्ध आयुर्वेद वाले सदा इस बात को स्वीकार करते हैं कि आयुर्वेद के आठ अंगों में से केवल १ अंग (अकेली कायचिकित्सा) ही बचा है, शेष सात अंगों का पुनः उद्धार होना चाहिये। इससे हम यह अनुभव करते हैं कि यह आवश्यक है कि आयुर्वेद की पुट देते हुए आधुनिक विज्ञान की सहायता से इनकी शिक्षा दी जाय।

४. केन्द्रीय सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के उत्तरार्द्ध में आर्थिक सहायता देकर खोज कार्य प्रारम्भ कराया। यह कार्य अब दूसरी योजना में भी जारी है।

५. केन्द्रीय सरकार इस बात की इच्छुक है कि इस प्रकार उसकी सहायता आयुर्वेद की उन्नति करने में सफल हो सकती है, इसके लिए उसने यह कमेटी बनाई। यह कमेटी केवल खोज के विषय में ही सूचना नहीं देगी अपितु आयुर्वेद के सम्बन्ध में चारों ओर से विचार करके सरकार को अपनी सलाह देगी।

उडूप कमेटी—भारत सरकार के स्वास्थ्य मन्त्रालय ने डाक्टर कंठ एन० उडूप की अध्यक्षता में २९ जुलाई १९५८ में कमेटी बनाई। इसके लिए विचारणीय प्रश्न निम्न दिये गये, जिन पर इस कमेटी को विचार करके रिपोर्ट देनी थी—

१. आयुर्वेद को उन्नत करने तथा इसमें सहायता देने के लिये गवेषणा के कार्य में तथा आयुर्वेदिक संस्थाओं का स्तर ऊँचा उठाने में केन्द्रीय तथा राज्यों की सहायता कहाँ तक सफल हुई।

२. आयुर्वेद की शिक्षा एवं खोज में इस सहायता से कहाँ तक मदद मिली।

३. आयुर्वेदिक औषण निर्माण (फार्मेस्युटिकल प्रोडक्ट्स) स्टैण्डर्ड, मात्रा तथा उनके निर्माण के ढंग में कहाँ तक उन्नति हुई।

४. आयुर्वेदिक चिकित्सा—कर्म एवं मान्यता के विषय में वस्तुस्थिति की जांच करना।

कमेटी ने एक प्रश्नावली प्रकाशित की, इसमें आयुर्वेद की शिक्षा, चिकित्सा, राज्यों में भारतीय चिकित्सा परिषद् आयुर्वेदिक संस्थान (साहित्यिक गवेषण सम्बन्धी), औषध निर्माण, आधुनिक मेडिकल कालेजों में फार्मेकीलोजी कार्य तथा दूसरी खोज आदि की जानकारी मांगी।

कमेटी के सदस्यों ने सम्पूर्ण भारत की आयुर्वेदिक संस्थाओं को जाकर देखा और स्थानिक अधिकारियों से विचार-विमर्श करके वास्तविक स्थित को समझने का यत्न किया। रिपोर्ट में प्रत्येक प्रान्त की आयुर्वेद की स्थिति का उल्लेख संक्षेप में तथा वहाँ की जो विशेषता उनको अच्छी लगी उसका उल्लेख किया। साथ ही प्रत्येक प्रान्त के कालेजों में क्या २ सुधार करना चाहिये, यह भी बताया है।

आयुर्वेद की शिक्षा के विषय में कमेटी का निश्चय इस प्रकार है—आयुर्वेद की उन्नति के लिये प्राचीन और नई पद्धतियों का मिश्रण आवश्यक है। आयुर्वेद को स्पष्ट करने के लिये आधुनिक चिकित्सा विज्ञान से जितना मांग लेना आवश्यक हो, वह लेना चाहिये। परन्तु मुख्यता आयुर्वेद की ही रहनी चाहिये। इससे चिकित्सक रोगी के साथ वर्तमान काल में अधिक योग्यता से बरत सकेंगे।

स्नातकोत्तर शिक्षण में—आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त, आयुर्वेद का इतिहास, शरीर विज्ञान, काय चिकित्सा (निदान और पंचकर्म के साथ), द्रव्य-गुण विज्ञान, रसशास्त्र और भेषज्य कल्पना रखने चाहिये।

स्नातकोत्तर शिक्षण के लिए बनारस, पूना और त्रिवेन्द्रम में तीन और केन्द्र प्रारम्भ करने चाहिये। अकेला जामनगर सम्पूर्ण भारत की आवश्यकता पूरी नहीं कर सकता। इन केन्द्रों में स्नातकोत्तर शिक्षण एक वर्ष का रखना चाहिये।

कमेटी ने ट्युटोरियल सिस्टम का सुझाव दिया जिसमें कि विद्यार्थी शिक्षक के साथ विषय की विवेचना कर सकें।

अध्यापकों का स्तर निश्चित करने के लिये केन्द्रीय भारतीय परिषद की स्थापना का सुझाव दिया गया, आयुर्वेद के अध्यापकों का वेतनक्रम मेडिकल कालेज के अध्यापकों की भांति होना चाहिये।

शिक्षण विषय में समिति की सूचना है कि दो प्रकार के पाठ्यक्रम चलने चाहिये। एक मिश्रित एवं दूसरा शुद्ध आयुर्वेद का। जो विद्यार्थी मिश्रित पाठ्यक्रम में उत्तीर्ण हो उनको स्नातक की उपाधि देनी चाहिये और जो शुद्ध आयुर्वेद के पाठ्यक्रम में उत्तीर्ण हों उनको आयुर्वेदाचार्य या प्रवीण की उपाधि देनी चाहिये। सब अवस्थाओं में उपाधि एवं टाइटिल सब स्थानों में एक समान रहने चाहिये।

पाठ्यक्रम, उपाधि, टाइटिल आदि का निर्णय केन्द्रीय भारतीय परिषद के ऊपर छोड़ देना चाहिये। मिश्रित पाठ्यक्रम में प्रवेश-योग्यता माध्यमिक (इंटरमीडिएट) होनी चाहिये। इसमें कैमिस्ट्री फिजिक्स, बाईओलोजी और संस्कृत का ज्ञान आवश्यक हो जो कि माध्यमिक स्तर का हो। शिक्षाक्रम साढ़े चार या पाँच वर्ष का रहे।

शुद्ध आयुर्वेद में प्रवेश योग्यता दसवीं उत्तीर्ण (मैट्रिक्युलेशन) की होनी चाहिये, इसमें विद्यार्थी को संस्कृत लेना आवश्यक है, या इसके बराबर हो। शिक्षा क्रम चार या पांच वर्ष का होना चाहिये। इसमें शरीर क्रिया, शरीर रचना आदि दूसरे आधुनिक विषयों का भी ज्ञान कुछ मात्रा में कराना चाहिये। क्रियात्मक शिक्षा के लिए सम्पूर्ण साज-सज्जा से युक्त अस्पताल इन शिक्षण संस्थाओं से सम्बद्ध रहना चाहिये। इसी प्रकार वनस्पति वाटिका, वनस्पति आदि का म्यूजियम भी बनाना चाहिये।

पुस्तकों के विषय में कमेटी का विचार है कि विषयवार पुस्तकें तुरन्त तैयार करवानी चाहिये—जिनमें आयुर्वेद का विषय प्राचीन संहिताओं से उसी रूप में उद्धृत रहे। आयुर्वेद की प्रत्येक शिक्षण संस्था के साथ उन्नत पुस्तकालय रहना चाहिए। इसमें आयुर्वेद की आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की पुस्तकें पत्रिकाएँ रहनी चाहिये।

विद्यार्थी को क्रियात्मक ज्ञान भी भली प्रकार मिल सके इसके लिए उचित भवन, उत्तम वाटिका, म्यूजियम, फार्मेसी, रुग्णशय्या का प्रबन्ध उचित अंशों में होना चाहिये।

स्नातकोत्तर शिक्षण शुद्ध आयुर्वेद, मिश्रित स्नातकों तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के साथ जिन्होंने आयुर्वेद सीखा है, सबके लिए खुला होना चाहिए।

शुद्ध आयुर्वेद के स्नातक रसशास्त्र, द्रव्यगुण, बालरोग, स्त्री रोग आदि में शिक्षा ले सकते हैं। मिश्रित एवं आधुनिक चिकित्सा के स्नातक आयुर्वेद के सब विषयों में विशेषत: शल्य, शालाक्य, प्रसूत आदि विषयों में स्नातकोत्तर शिक्षण प्राप्त कर सकते हैं।

खोज सम्बन्धी सूचनाएँ निम्न हैं :—

१. जामनगर के सेन्ट्रल रिसर्च इंस्टीच्यूट में आयुर्वेद और आधुनिक (मोडर्न) दोनों चिकित्सकों में एकरागिता का अभाव है, इससे दोनों की जानकारी का एक बड़ा संग्रह इकट्ठा हो गया है। दोनों में कोई भी निर्णय नहीं हो सका। आधुनिक टीम जो कर रही है उसको आयुर्वेद वाले नहीं जानते और आयुर्वेद वाले जो कर रहे हैं, उसको आधुनिक टीम वाले नहीं जानते। अर्थात् प्रारम्भ से ही यह पद्धति सर्वत्र चल रही हैं जो अवांछनीय है। दैनिक रोगियों पर दोनों को ही साथ में बैठकर विचार करना चाहिए। साथ ही जीर्ण रोगों पर भी इनको ध्यान देना चाहिये।

२. रिसर्च के लिए केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद नामक संस्था शीघ्र प्रारम्भ करनी चाहिय, जिससे रिचर्स में वेग और एक समानता आ सके।

३. जामनगर रिसर्च संस्था को साहित्यक, फार्मेसी सम्बन्धी आदि रिसर्च सुनिश्चित योजना बनाकर प्रारम्भ करनी चाहिए।

४. जामनगर से इस समय रिसर्च इन्स्टीच्यूट, स्नातकोत्तर शिक्षण और गुलाब कुवँर बा आयुर्वेद सोसाइटी संचालित आयुर्वेद विद्यालय ये तीन संस्थाएँ चल रही हैं; इनको एक ही मकान में एकत्र करके एक इकाई बना देनी चाहिए।

५. जामनगर जैसे दूसरे तीन प्रतिष्ठान केन्द्रीय सरकार को स्थापित करने चाहिये, इनको शिक्षा सम्बन्धी सूचना लिखे अनुसार स्नातकोत्तर शिक्षण संस्थाओं से सम्बद्ध कर देना चाहिये।

६. बम्बई प्रान्त के रिसर्च बोर्ड ने विविध प्रकार की रिसर्च योजनाएँ

हाथ में ली हैं, उसी पद्धति पर अपने यहाँ सब राज्यों की रिसर्च बोर्ड स्थापित करने चाहिये।

७. प्रारम्भ में आयुर्वेद रिसर्च का काम निम्न सात विभागों में करना चाहिये।

१. क्लीनीकल (प्रत्यक्ष रोग चिकित्सा)

२. साहित्यिक

३. रासायनिक

४. वनस्पतिशास्त्र विषयक

५. फार्मेकोलोजिकल

६. आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त

७. फार्मेकोननोसिकल

८. इनमें क्लीनिकल रिसर्च सबसे प्रथम प्रारम्भ करनी चाहिए, भिन्न २ केन्द्रों में जो काम चल रहा है, वहाँ पर वैद्य और डाक्टर दोनों को मिलकर रिसर्च कार्य करना चाहिये।

९. केन्द्रीय आयुर्वेदिक रिसर्च परिषद को वैद्य और आधुनिक वैज्ञानिकों की मिलित कमेटी स्थापित करनी चाहिये—जो क्लिनिकल रिसर्च की एक समान भूमिका तैयार करे।

१०. साहित्यिक संशोधन प्रारम्भ करना चाहिये। इसके लिए प्राचीन पुस्तकों का संग्रह करना चाहिये। इनमें जो छापने योग्य, हों छापने चाहिए। पुरानी पुस्तकों का अनुवाद करवाना, योग्य पाठ्य पुस्तकें तैयार करवाना, रेफ-रेन्स लाइब्रेरी बनाना चाहिये।

११. प्रत्यक्ष रोगियों पर जिन औषधियों का संतोषजनक लाभ मिला हो, उनकी आधुनिक विज्ञान की सहायता से रिसर्च करवानी चाहिये, रिसर्च का यह कार्य अति विश्वासी वैज्ञानिकों को सौंपना चाहिये।

१२. औषधोपयोगी वनस्पति की गवेषणा के लिए केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसंधान परिपद् को जंगलात विभाग की सहायता लेनी चाहिए। किस प्रान्त में क्या वनस्पति होती है उसका पूर्ण विवरण रखना चाहिये।

१३. फामेकोगनोसिकल रिसर्च को दस वर्ष के अन्दर समाप्त कर देना चाहिए। इस विषय में जो वैद्य निष्णात हों, उसको यह कार्य सुपुर्द करना चाहिए। रिसर्च का काम करने वालों में एकरूपता रहनी चाहिए।

१४. आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों में खोज, पंच महाभूत, त्रिदोषवाद, मन, बुद्धि, आत्मा आदि विषयों पर निष्णातों को प्रकाश डालना चाहिये :—

१५. केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद् को निम्न विषयों पर खोज प्रारम्भ करानी चाहिये।

१. आयुर्वेदिक आहार शास्त्र

२. पंचकर्म

३. बालचिकित्सा

४. मानस रोग की चिकित्सा

५. आँख के रोगों की चिकित्सा

६. मर्म चिकित्सा

७. विष चिकित्सा

८. दन्त विद्या

९. योग विद्या (इसे भी अपने में आत्मसात् करना चाहिये, स्वस्थकृत)

१०. तैलाभ्यंग चिकित्सा

१६. केन्द्र और प्रान्तों में तथा वैयक्तिक रूप में जो खोज चल रही है, वह सन्तोषजनक नहीं है, पद्धतिपूर्वक नहीं है। बहुत स्थानों पर तो पूरे साधन भी नहीं हैं। अब समय आ गया है कि योजना बनाकर केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद् को यह काम हाथ में लेना चाहिये।

फार्मेसी

१. बोटेनिकल सर्वे आफ इण्डिया और जंगल विभाग के साथ पूर्ण सहयोग करके जंगलों का पर्यवेक्षण कराना चाहिये। आयुर्वेदिक औषधियाँ कहां २ अधिक मात्रा में मिल सकती हैं, इसकी सच्ची जानकारी प्राप्त करनी चाहिये।

२. औषधोपयोगी वृक्षों आदि के लिए जंगल का कुछ भाग सुरक्षित करना चाहिये।

३. केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान परिषद को विविध संस्थाओं और कार्यकर्त्ताओं के साथ सहयोग रखकर वनस्पति परिचय और औषध विज्ञान (फार्मेकोगलोसी) का काम हाथ में लेना चाहिये और समय-समय पर इस सम्बन्ध की छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ प्रकाशित करनी चाहिये।

४. इस कार्य के लिए जिन्होंने इस विषय पर काम किया हो तथा मौडर्न वनस्पति शास्त्रियों को मिलकर काम करना चाहिये।

५. ड्रग फार्म बनाने चाहिये, ये ड्रग फार्म वैद्यों एवं फार्मेसियों की जरूरत को पूरा करें। केन्द्रीय सरकार को ड्रग फार्म के लिए आर्थिक सहायता देनी चाहिये।

६. कच्चे द्रव्य और खनिज द्रव्य और दूसरे सन्दिग्ध द्रव्य जो आयुर्वेदिक औषध बनाने में काम आते हैं, उनका चौकस स्टैन्डराईजेशन (मानकीकरण) होना चाहिये।

७. आयुर्वेदिक औषधियों का स्टैन्डराईजेशन (मानकीकरण) एक जरूरी कार्य है, इसके लिए स्टैन्डर्ड फार्मेकोपिया बनाने का कार्य प्रारम्भ करना चाहिये। प्रत्येक औषध का पाठ निश्चित करना चाहिये।

८. पुस्तकों के पाठ के अनुसार चौकस माप, वजन आदि एक समान बदलने चाहिये। भारत में जो भिन्न-भिन्न तोल माप चल रहे हैं, उनमें एक-रूपता रखना आवश्यक है।

९. औषध निर्माण में एक ही प्रकार की पद्धति अपनानी चाहिये। औषधियों में सोना, मोती, रत्न, केसर, कस्तूरी आदि उत्तम श्रेणी के व्यवहार में लाने चाहिये।

१०. कश्मीर में बारामूला के अन्दर कश्मीर सरकार ने औषध संग्रह के कुछ भण्डार बनाये हैं, जंगल विभाग की सहायता से ऐसे भण्डार प्रत्येक प्रान्त में बनाने चाहिये, जहाँ से फार्मेसियाँ, वैद्य अपनी जरूरत के अनुसार सामान ले सकें।

११. सैंट्रल लेबोरेटरी—कलकत्ता के अनुरूप एक सैन्ट्रल लेबोरेटरी (केन्द्रीय प्रयोगशाला) स्थापित करनी चाहिये, जिसमें आयुर्वेदिक औषधियों का परीक्षण किया जा सके। ऐसी केन्द्रीय प्रयोगशाला बम्बई में स्थापित करनी चाहिये।

१२. इस केन्द्रीय प्रयोगशाला के अतिरिक्त प्रत्येक औषध निर्माण उद्योग एवं स्वतन्त्र फार्मेसियों के लिए भी सुसज्जित प्रयोगशाला होनी चाहिये। जिसमें औषध निर्माण में काम आने वाली कच्ची औषधियों, खनिज आदि की परीक्षा की जा सके।

१३. आयुर्वेदिक औषधियों का मानकीकरण ठीक प्रकार से करने के लिए यंत्रों की सहायता लेनी चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि आयुर्वेदिक औषधियों पर इनका कोई प्रतिकूल प्रभाव न हो।

१४. अदयार (मद्रास) में एक सहकारी फार्मेसी है उसी के आधार पर प्रत्येक प्रान्त में कोआपरेटिव फार्मेसी होनी चाहिए। इससे प्रजा और वैद्यों को उत्तम औषधि मिल सकेगी।

१५. प्रत्येक बड़ी और छोटी फार्मेसियों को एक विशेष टैकनिकल स्टाफ रखना जरूरी है। इसमें आयुर्वेद के निष्णात, वैद्य, आयुर्वेदिक फार्मेसिस्ट, माडर्न वनस्पतिशास्त्र रसायन शास्त्री, मेकेनिकल आदि रहने चाहिये।

१६. आयुर्वेदिक फार्मेसिस्ट तैयार करने का काम सरकार को तुरन्त प्रारम्भ कर देना चाहिये।

१७. ऊपर हमने मानकीकरण (स्टैंडर्डाईजेशन) की चर्चा की है, इसके लिए १९४० के ड्रग एक्ट के अनुसार एक नियम बनाना आवश्यक है।

१८. केन्द्रीय सरकार को चाहिये कि जितनी भी जल्दी हो आयुर्वेदिक 'ड्रग्स एडवाइजर' और एक आयुर्वेदिक ड्रग्ज एडवाइजरी कमेटी और एक कौंसिल (परिषद) की स्थापना की जाय।

चिकित्सा कर्म का स्तर

१. केन्द्रीय सरकार को एक आयुर्वेद सलाहकार की नियुक्ति करनी चाहिए। आयुर्वेद की उन्नति के लिए सब प्रकार की आवश्यक सलाह मिल सके इसलिए दूसरे आयुर्वेद निष्णात भी नियुक्त करने चाहिये।

२. मौर्डन मेडिकल सिस्टम और आयुर्वेदिक पद्धति दोनों का लाभ ग्रामीण जनता को एक समान मिल सके, इसका प्रबन्ध सरकार को करना चाहिये।

३. आयुर्वेदिक पद्धति को सरकार स्वीकार करती है, इसकी स्पष्ट सूचना होनी चाहिए और इसको उत्तेजन देना चाहिये।

४. कम्युनिटी डवलपमैन्ट प्रोग्राम के तत्त्वावधान मे जहाँ पर प्राइमरी हैल्थ सैन्टर चल रहे हैं, वहाँ पर आयुर्वेद के मिश्रित पाठ्यक्रम के स्नातकों की नियुक्ति होनी चाहिये। इस कार्य में डाक्टरों की अपेक्षा ये अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे।

५. सरकार का प्रथम और सबसे आवश्यक कर्त्तव्य यह है कि वह आयुर्वेद का स्वतन्त्र संचालक (डाइरेक्टर) नियुक्त करे, जो आयुर्वेद का चुस्त पक्षपाती हो।

६. मजदूरों और मिलों में काम करने वालों के लिए चिकित्सा की जो सहूलियतें दी जाती हैं, उनमें आयुर्वेदिक दवाओं के उपयोग की स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

७. सरकारी या अर्धसरकारी नौकरी में जो वैद्य काम करते हों, उनका वेतन डाक्टरों के बराबर होना चाहिये। आयुर्वेदिक उपाधि वाले वैद्य का वेतनक्रम एक डाक्टर जितना होना चाहिये—अर्थात् २००-५०० होना चाहिये। डिप्लोमा धारण करने वाले व्यक्ति का वेतनक्रम १५०-३००, एल० सी० पी० एस० जितना होना चाहिये। आयुर्वेद के स्नातक जब भी महाविद्यालय में प्रिंसिपल, लैक्चरार, प्रोफेसर आदि नियत किये जायं, उस समय भी उनका वेतनक्रम वर्तमान डाक्टरों के स्तर पर रखना चाहिये।

८. प्रत्येक राज्य, स्टेट, जिला और तहसील के स्तर पर जितने सम्भव हों, उतने आयुर्वेदिक अस्पताल और डिस्पेन्सरियाँ खोलनी चाहिये। जहाँ पर यह सम्भव न हो वहाँ मौडर्न अस्पतालों में आयुर्वेदिक चिकित्सा के लिये एक विभाग पृथक् निकाल देना चाहिए। वहाँ के डाक्टरों को चाहिये कि वहाँ पर काम करने वाले वैद्य के साथ पूर्ण सहयोग करें।

९. प्रजा को आयुर्वेदिक चिकित्सा की सहायता मिले। आयुर्वेदिक चिकित्सा अधिक प्रसिद्ध हो, इसके लिये दानियों को अधिक दान देकर आयुर्वेदिक अस्पताल खुलवाने चाहियें।

१०. वैद्यों का ज्ञान अद्यतनीय रहे इसके लिये सरकार को अल्पकालीन रिफ्रेशर पाठ्यक्रम अपनी देख-रेख में प्रारम्भ करना चाहिये।

११. अपने शिक्षण समय में जिन वैद्यों ने अपने कालेज में शालाक्य, सौतिक, प्रसूति आदि का उचित अभ्यास किया हो, उनको इस प्रकार के आपरेशन करने की सब प्रकार की सुविधा दी जानी चाहिये। मैडिगोलीगल (कानूनी वैद्यक) के लिये भी इनको आज्ञा मिलनी चाहिये।

१२. वैद्यों को सब प्रकार के मेडिकल सार्टीफिकेट देने की अनुज्ञा मिलनी चाहिये। इस विषय में वैद्यों और डाक्टरों को एक समान अधिकार होने चाहिये।

१३. पारद, वंशलोचन आदि आवश्यक आयुर्वेदिक औषधियों पर इस समय बहुत अधिक चुंगी ली जाती है, उसको बन्द करना चाहिये। इसी प्रकार मेडिसिनल एण्ड रीयलेट—प्रेपरसन्स—कानून के अनुसार आसव-अरिष्ट पर जो मद्य चुंगी ली जाती है उसको भी बन्द करना चाहिए।

१४. आज सम्पूर्ण देश में आयुर्वेद के लिए बोर्ड है, केवल मैसूर, उड़ीसा और जम्मू-काश्मीर में बोर्ड नहीं, वहां पर भी बोर्ड बनने चाहिये।

१५. बोर्ड आफ इन्डियन के पास केवल वैद्यों की देखरेख का कार्य रहना चाहिये। शिक्षण की सब व्यवस्था यूनिवर्सिटी के आधीन होनी चाहिये। यूनिवर्सिटी उचित समझे तो बोर्ड की सलाह ले।

१३. केन्द्रीय आयुर्वेदिक परिषद् को सम्पूर्ण देश के वैद्यों और आयुर्वेदिक संस्थाओं की एक पूर्ण पत्रिका बोर्ड ऑफ आयुर्वेद के साथ मिलकर प्रकाशित करनी चाहिये। नवीन स्नातकों का नाम इसमें तुरन्त सम्मिलित करना चाहिए। इस प्रकार से एक प्रान्त की संख्या में से उत्तीर्ण छात्र का नाम स्वतः ही दूसरे प्रान्त में रजिस्टर्ड हो जायेगा।

१७. प्रत्येक प्रान्त में आयुर्वेद के प्रैक्टीशनरों का रजिस्ट्रेशन तुरन्त आरम्भ करना चाहिये। इस रजिट्रेशन में जो वैद्य ४॥ से ५ वर्ष का अभ्यास क्रम लेकर उत्तीर्ण हुए हों उसके (इन्स्टीटशनली क्वालिफाइड) और वंश-परम्परागत वैद्यों के लिये (ट्रैडीशनल) तथा दूसरों के लिये पृथक २ विभाग रखने चाहिए। संस्थाओं में से उत्तीर्ण विद्यार्थियों के लिये भी मिश्रित और शुद्ध विभाग करना चाहिये।

१८. आयुर्वेदिक स्टेट बोर्ड को प्रति वर्ष नियमित रूप से रजिस्टर्ड वैद्यों की सूची प्रकाशित करनी चाहिये। वैद्य अनैतिक अपराध के लिये दण्डित हो या अपराधी करार दिया गया हो, उसका नाम चेतावनी देने के पीछे, कानून से जो अधिकार प्राप्त हो उसके अनुसार रजिस्टर में से निकाल देना चाहिए।

१९. आज की अवस्था से यदि आयुर्वेद की स्थिति सुधारना हो तो आठ अंगों में से पांच अंगों का नियमपूर्वक अभ्यास और प्रैक्टिस होनी चाहिए, इसके लिए स्नातकोत्तर अभ्यास क्रम प्रारम्भ करना चाहिये।

२०. जिनके पास सिद्ध नुस्खे हों, उनकी वैज्ञानिक जांच अवश्य करनी

चाहिये, यदि ये सच्चे प्रमाणित हों तो ये आयुर्वेद और प्रजा दोनों के लिये लाभदायी होंगे।

२१. आयुर्वेद में वैद्य के जो गुण बताये गये हैं, उनकी अभिवृद्धि के लिए वैद्यों को सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। आयुर्वेद की प्रतिष्ठा बढ़े ऐसा प्रयत्न करना चाहिये।

२२. भारतवर्ष के समस्त वैद्यों का प्रतिनिधित्व करने वाली निखिल भारतीय आयुर्वेदिक महासम्मेलन जैसी एक संस्था चाहिये, जो वैद्यों के अधिकार तथा कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहे और वैद्यों का स्टेटस उन्नत हो ऐसा ही व्यवहार करें। इस प्रकार की संस्था को आयुर्वेद की सम्पूर्ण पुस्तकों का एक सरल पुस्तकालय प्रारम्भ करना चाहिये और आयुर्वेद के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए एक मुख्य पत्र (मासिक या त्रैमासिक) प्रारम्भ करना चाहिये।

उपसंहार

हमने अपना काम पूरा कर दिया, विचार आदि प्रश्नों से सम्भवतः हम अधिक कह गये, शायद किसी को यह अच्छा न लगे। परन्तु हमारा उद्देश्य समग्र दृष्टि से समग्र प्रश्न पर विचार करना तथा उसका रास्ता ढूंढने का था। यदि हम ऐसा न करते तो केवल जानकारी ही दे सकते थे।

आज तक सरकार से नियुक्त कमेटियों पर अभी तक सरकार ने ध्यान क्यों नहीं दिया इसका भी कारण ढुंढवाया। हमको ऐसा लगता है कि सरकार ने आयुर्वेद का प्रश्न सम्पूर्ण रूप से सोचा ही नहीं केवल जो सूचनाएँ दी गई थीं उन पर ही विचार किया गया। जिसका परिणाम यह हुआ कि आयुर्वेद का प्रश्न ज्यों का त्यों रहा परन्तु अब हम आशा करते हैं कि एकत्रित की हुई सब सूचनाओं पर यथासम्भव विचार होगा। केन्द्रीय सरकार प्रांतीय सरकार, भारतीय चिकित्सा परिषद और सम्पूर्ण वैद्यों को प्रामाणिक रूप से इसमें प्रयत्न करना चाहिए, जिससे आयुर्वेद को जो स्थान, गौरव मिलना चाहिए वह उसको प्राप्त हो सके आयुर्वेद विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित हो। इसके साथ २ रोग पीड़ित जनता के लिए आयुर्वेद का उत्थान बहुत जरूरी है। इस हेतु से विचार हमने बहुत स्पष्ट रूप से व्यक्त किये हैं। इन सब विचारों का आदर करें यह हमारी इच्छा है। स्वतन्त्र भारत प्राचीन भारत की समस्त

संस्कृति को फिर से जागृत करना चाहता है तब इसी संस्कृति के मुख्य अंग आयुर्वेद को किस प्रकार से भुलाया जा सकता है। ज्ञान के क्षेत्रों में आदान और प्रदान की क्रियाएं संतत चलती रहती हैं। इसलिये आयुर्वेद को भी दूसरों से जो लेना आवश्यक है उसे लेकर एक समन्वित (इन्टेगेरोडि मिश्रित) आयुर्वेद पद्धति चालू करना चाहिए यह हमारी इच्छा है।

डाक्टर सम्पूर्णानन्द—आयुर्वेद पद्धति के लिए जो कुछ हमने यहाँ कहा है उसी को यूनानी और सिद्ध, समस्त पद्धतियों के लिए समझना चाहिये।

उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री डा० श्री सम्पूर्णानन्द जी ने उत्तर प्रदेश के आयुर्वेद कालेजों में बढ़ते हुए असन्तोष को देखकर एक कमेटी नियुक्त की थी। इसकी मीटिंग नैनीताल में हुई थी। इस कमेटी में श्री पं० शिवशर्मा जी, श्री दत्तात्रेय, अनन्त कुलकर्णी जी उपसंचालक चिकित्सा एवं स्वास्थ्य(आयुर्वेद) आदि सभ्य थे। इस कमेटी में कोई भी डा० नहीं रखा गया था यही इसकी विशेषता थी।

उपर्युक्त दोनों सज्जन काशी हिन्दू विश्वविद्यालयों कुलपति स्रीसर सी० पी० रामस्वामी की अध्यक्षता में आयुर्वेदके पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में बनी कमेटी के भी सदस्य थे। इस कमेटी में डा० भी सम्मिलित थे। इस कमेटी ने जो पाठ्यक्रम तैयार किया उसमें सदस्यों का मैतक्य नहीं था। इसमें डा० तथा कुछ सज्जन विश्वविद्यालय में चलने वाले मिश्रित पाठ्यक्रम को पसन्द करते थे और कुछ सदस्य कथित शुद्ध पाठ्यक्रय को अधिक उत्तम मानते थे।

डा० सम्पूर्णानन्द जी की देख-रेख में जो कमेटी बनायी गई उसमें कुछ सिद्धांत निश्चित कर दिये थे। इसके अनुसार आयुर्वेद की प्रधानता पाठ्यक्रम में रखनी चाहिए। दूसरे विषय आयुर्वेद के प्रतिरूप में पढ़ाने के लिए थे। परन्तु पाठ्यक्रम बनाने में इस निश्चय की पूरी उपेक्षा कर दी गई। पाठ्यक्रम बनाने की कठिनाई से बचने के लिए बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के पाठयक्रम को ही थोड़ा बहुत कहीं बदल कर रख दिया गया। पुस्तकें भी प्रायः वही रखीं जो कि उसमें निर्दिष्ट थीं। पुस्तकों का निर्देश करने में उदारता नहीं बरती गई, जबकि उससे अच्छी, सम्पूर्ण दूसरी पुस्तकें प्राप्त थीं।

प्रवेशयोग्यता संस्कृत के साथ इन्टरमीडिएट अथवा अंग्रेजी के साथ मध्यम

उत्तीर्ण या उसके समकक्ष स्वीकार की गई। इसमें साइंस की शिक्षा विद्यार्थी को पाठ्यक्रम में देने की सुविधा रखी गई। परन्तु इस पाठ्यक्रम का विशेष स्वागत नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण पाठ्यक्रम तैयार करने वालों की अनुभव-हीनता ही है।

डाक्टर सम्पूर्णानन्द जी का उद्देश्य पवित्र और मान्य था। आयुर्वेद का प्राचीन रूप में उद्धार होना चाहिए, उसकी सर्वाङ्गीण शिक्षा मिलनी चाहिये। परन्तु उसके साधन, उसके अध्यापक, विद्यार्थियों की रुचि इन सबने उसको सफल बनाने में बाधा उपस्थित की। उदाहरण के लिए रसशास्त्र के विषय पर विद्यार्थी कदम-कदम पर आधुनिक विज्ञान के अनेक ज्ञान पर प्रश्न करता है, इसका उत्तर सामान्यतः अध्यापक के पास नहीं होता। इसी प्रकार शरीर क्रिया विज्ञान की शिक्षा में विद्यार्थी जब वस्तु को नहीं देख पाता, तो उसमें असन्तोष की लहर उठती है। इन सब कारणों से इस पाठ्यक्रम का स्वागत नहीं हुआ, विद्यालयों में प्रवेश संख्या बहुत ही कम हो गई। इसमें मुख्य उत्तरदायित्व पाठ्यक्रम बनाने वालों का है, नीति निर्धारण का प्रश्न जहाँ तक है, वह आयुर्वेद की उन्नति एवं गौरव के प्रति आदरणीय है, इसमें संदेह नहीं।

———

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड)—१९६१

पूर्णांक १००	**प्रथम पत्र**	समय ३ घंटा

केवल ६ प्रश्नों का उत्तर लिखिये। तृतीय प्रश्न अनिवार्य है।

१. शिरोरोग कितने प्रकार के होते हैं? उन सभी शिरोरोगों का नामोल्लेख करिये। अनन्तवात सूर्यावर्त्त, शंखक रोगों के लक्षण व चिकित्सा लिखिए। १६

२. सुश्रुत ने दृष्टिगत रोग कितने माने हैं? चरक में दो किन दृष्टिगत अतिरिक्त रोगों का उल्लेख किया गया है? चारों पटलगत दोषों के लक्षण लिखिये। १६

३. कर्ण शरीर का सचित्र वर्णन कीजिये। कर्णगूथ, पूतिकर्ण रोगों के लक्षण व चिकित्सा लिखिये। २०

अथवा

नेत्रेन्द्रिय की आधुनिक ग्रन्थों के आधार पर चित्र खींचकर प्रत्येक भाग का अंकन कर उसकी रचना व कार्य समझाइये।

४. पीनस, दीप्ति, भ्रंशथु, नासाशोष रोगों के लक्षण व चिकित्सा लिखिए।

५. निम्नलिखित रोगों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(अ) पूतिनस्य, (ब) हताधिमन्ध, (स) लगण, (द) धूमदर्शी।

६. शालाक्यतन्त्र का आयुर्वेद में क्या महत्त्व है? विस्तृत वर्णन कीजिए। १६

७. दन्तवेष्ट रोगों का नामोल्लेख करिये। दन्तपुप्पुट, शीताद के लक्षण व चिकित्सा लिखिये। १६

८. निम्नलिखित विषयों पर टिप्पणी लिखिए— १६

(अ) शेरोवस्ति, (व) नासासंधान विधि, (स) तर्पण, (द) पुटपाक

९. नेत्र रोगों का सामान्य निदान लिखिए। नेत्र रोगों की सम्प्राप्ति बताकर आश्च्योतन विधि का वर्णन कीजिये।

१०. आयुर्वेद की पद्धति के अनुस र शालाक्यतन्त्र चिकित्सा इस युग के अनुरूप हो सकती है? यदि हाँ तो कैसे, यदि नहीं तो किस प्रकार का संशोधन उसमें किया जाय, अपने विचार लिखिए। १६

११. प्रतिश्याय रोग के भेद बतलाकर, निदान, संप्राप्ति व पूर्वरूप लिखें। १६

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड) १९६१

पूर्णाङ्क १०० · द्वितीय पत्र समय ३ घंटा

केवल पाँच प्रश्नों के उत्तर अपेक्षित हैं। सव प्रश्न समांक हैं।

१. भ्रूण में रक्त संचार कैसे होता है ?

२. योषापस्मार रोग के पूर्वरूप, रूप संप्राप्ति और इसकी सामान्य चिकित्सा लिखिए।

३. धात्री के लक्षण, धात्री की स्वच्छता और सूतिकागार तथा प्रसवकर्म में प्रयुक्त होने वाले यन्त्र शस्त्र और उपकरणों के निर्जन्तुकरण की व्याख्या एक निवन्ध द्वारा कीजिए।

४. गर्भपात कराने की विधि तथा प्रसव की तीन अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।

५. स्त्री प्रजनन अंगों का सविस्तार वर्णन कीजिये।

६. जन्म के पश्चात् प्रथम दस दिन में होने वाले शिशुओं के विशेष रोगों का निदान वा चिकित्सा लिखिए।

७. निम्नलिखित में किन्हीं चार पर संक्षिप्त लिखिये—

(अ) वन्ध्या के भेद वा चिकित्सा, (ब) रक्त प्रदर का निदान वा चिकित्सा (स) श्वेत प्रदर का निदान वा चिकित्सा, (द) वाल यकृत का निदान वा चिकित्सा, (ह) जन्मोत्तर शिशु का संरक्षण, (य) गर्भ का आकर्षण यन्त्र (मिडवायफरी फारसैप) और प्रयोग विधि।

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड) १९६१

पूर्णाङ्क १०० तृतीय पत्र समय तीन घंटा

किन्हीं छः प्रश्नों का उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न में १६ अंक हैं। चार अंक सुलेख के लिए हैं।

१. प्रमाण, आप्तोपदेश, शब्द प्रमाण, उपमान और अर्थापत्ति की परिभाषा लिखकर उदाहरणपूर्वक समझाइये।

२. चिकित्सा शास्त्र में पुरुष की आवश्यकता और उसके महत्त्व का वर्णन कर उसकी आध्यात्मिक परम्परा तथा आयुर्वेदिक स्वरूप और भेदों का वर्णन कीजिए।

३. मन का इन्द्रियत्व प्रतिपादित कर उसके कार्य तथा इन्द्रियों से सम्बन्ध

बतलाकर पुरुष के कारण, करण, संयोग, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का सामान्य परिचय लिखिए।

४. मन एक है या अनेक ? उसे वेदना का अनुभव किस प्रकार होता है ? प्रज्ञापराध और भ्रांति का वर्णन कीजिए।

५. निद्रा का कारण, तन्द्रा का स्वरूप, आलस्य के उपद्रव और उत्क्लेश के लक्षण कीजिए।

६. अपतानक और अपतन्त्रक में क्या भेद है, उन्माद के निदान, जड़ोन्माद के लक्षण, बुद्धि भ्रंश की चिकित्सा, अंशुघात के अरिष्ट लक्षण और अपस्मार के आहार विहार बतलाइये।

७. नाड़ी शब्द की व्याख्या कर नाड़ी दौर्बल्य का निदान, साध्यासाध्यत्व और चिकित्सा वर्णन कीजिये।

८. आयुर्वेद के ग्रह दोष का संबंध शरीर के किस भाग से विशेष है। शकुनी और स्कन्ध विकार के उपाय लिखिए।

९. सारस्वत चूर्ण का उपयोग किन विकारों में किस प्रकार होता है ? योषापस्मार में कौन औषधि किस अनुपान के साथ देवें ? शिरोवेदना के लिए एक तेल लिखिये।

१०. पंचमहागव्यघृत किन २ रोगों में दिया जाता है, स्मृति स्मरणों में किस द्रव्य की भावना दी जाती है ? योगेन्द्र रस को एरण्ड पत्र में लपेट कर धान्यराशि में दबाकर रखने से किस प्रकार गुण वर्धन होता है ? मस्तिष्क विकृति के लिये एक नस्य का प्रयोग लिखिये।

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड) १९६१

पूर्णांक १०० चतुर्थ पत्र समय तीन घंटा

केवल पाँच प्रश्नों का उत्तर लिखिये। पंचम प्रश्न अनिवार्य है।

१. आयुर्वेद के प्रवर्तकों का क्रमिक इतिहास संक्षिप्त रूप में लिखिये। २०

२. रस चिकित्सा एवं वनौषध चिकित्सा में किसे महत्व देते हैं ? २०

३. पारद के दोषों का वर्णन कीजिये।

४. क्या वात श्लैष्मिक ज्वर को आधुनिक मत में इन्फ्लुएंजा नाम से कहा जा सकता है ? और इसकी चिकित्सा भी लिखिये। २५

५. अपबाहुक व विश्वाची तथा आमवात—उरु स्तंभ में क्या अन्तर है ? तथा इनमें से किसी एक का चिकित्सा व पथ्यापथ्य निर्णय दीजिये। २५.

६. चिकित्सा किसे कहते हैं और कितने प्रकार की होती है ? १५

७. शोथ किसे कहते हैं ? क्या व्रण के पूर्व शोथ आवश्यक है ? तथा उस की चिकित्सा भी लिखिए । १५

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड) १९६१

पूर्णांक १०० प्रथम पत्र समय ३ घंटा

केवल सात प्रश्नों के उत्तर लिखिये । चतुर्थ प्रश्न अनिवार्य है ।

१. प्रतिश्याय कितने प्रकार का होता है ? प्रतिश्याय की चिकित्सा तथा पथ्यापथ्य लिखिये । १४

२. ऊर्ध्वांगरोग चिकित्सा को शालाक्य तन्त्र क्यों कहा जाता है ? ऊर्ध्वांरोग-चिकित्सा में कौन-कौन से यन्त्र तथा शस्त्र काम में लाये जाते हैं ? १४

३. दन्तरोग कितने प्रकार के होते हैं ? दन्तशर्करा, शीताद दन्तपुप्पट के लक्षण व चिकित्सा लिखिये । १४

४. नाशा की आधुनिक ग्रन्थों में किस प्रकार रचना बताई है ? चित्र खींचकर समझाइये और प्रत्येक भाग का नाम लिखिये ।

अथवा

नेत्रेन्द्रिय की आधुनिक ग्रन्थों के आधार पर चित्र खींचकर प्रत्येक भाग का नाम लिखिये ।

५. अर्द्धाभेदक, कृमिजशिरोरोग के लक्षण तथा चिकित्सा लिखिये । साथ ही शिरोरोगों के पथ्यापथ्य बताइये । १४

६. निम्न रोगो पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये— १४

(अ) कर्णक्ष्वेड, (व) परिदर, (स) कुकूणक, (द) अधिमन्थ

७. आयुर्वेदमतानुसार नेत्र में कितने पटल होते हैं । पटलगत दोष लक्षण व चिकित्सा लिखिये ।

८. सुश्रुत के पश्चात शालाक्यतन्त्र का ह्रास हुआ या विकास सप्रमाण उत्तर दीजिये । साथ में यह भी बताइये कि आधुनिक युग में शालाक्यतन्त्र विषयक आयुर्वेद की क्या स्थिति है ? १४

९. निम्नलिखित विषयों पर टिप्पणी लिखिये— १४

(अ) पीतबिंदु, (व) कर्णपाली, (स) आश्च्योतन, (द) अंजन ।

१०. क्षवथु, भ्रंशथु, दीप्ति रोगों के लक्षण व चिकित्सा लिखिये। १४

११. नासासन्धान विधि का विस्तार से वर्णन करिये। साथ में यह भी बताइये कि आधुनिक एलोपैथी में भी इस विधि को मूलतः भारतीय क्यों कहा है। १४

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खण्ड) १९६२

पूर्णांक १०० द्वितीय पत्र समय तीन घंटा

(नोट :—किन्हीं पाँच प्रश्नों का उत्तर दीजिए।)

१. गर्भवती के लक्षण लिखकर, मासानुक्रम से गर्भविकास तथा गर्भवती की चिकित्सा विस्तृत लिखिये। २०

२. परिवार-नियोजन के लिए उचित तथा सुरक्षित उपायों का विस्तृत वर्णन कीजिए। भारतवर्ष के लिए यह क्यों आवश्यक है? २०

३. गर्भ के आकर्षण-यन्त्र का वर्णन कीजिए। इसे किस अवस्था में, किस विधि से प्रयुक्त किया जाता है? २०

४. नवजात शिशु का किन कारणों से श्वासावरोध होता है। उसके लक्षण लिखकर, चिकित्सा, भी लिखिये। २०

५. प्रसव के पूर्व साधारण तथा आवश्यक प्रवन्ध क्या करना चाहिए? बिना कष्ट प्रसव कराने की विधि सविस्तृत लिखिए। २०

६. व्योषापस्मार से क्या अभिप्राय है? इसके कारण, लक्षण तथा संप्राप्ति लिखकर, चिकित्सा भी लिखिए। २०

७. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :— २०

(क) मूढ़गर्भ, (ख) रक्तप्रदर, (ग) मक्कल-मूल, (घ) शुद्ध-रज, (ङ) शिशु-अतिसार।

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड) १९६२

समय ३ घण्टे तृतीय पत्र पूर्णाङ्क १००

केवल ६ प्रश्नों के उत्तर दीजिए, प्रश्न ३ अनिवार्य है।

१. मन, चित्त और अहंकार की परिभाषा और उनके ज्ञान का स्वरूप वर्णन कर मन का इन्द्रियत्व प्रतिपादित कीजिए। १६

२. सब व्याधियों का प्रभाव जब शरीर पर अनिवार्य रूप से पड़ता है तब

मानसिक व्याधियों का अलग विवेचन क्यों किया गया है? जैसे शरीरिक व्याधियों में वात-पित्त-कफ तीन दोषों की कल्पना की गयी है उसी प्रकार मानसिक व्याधियों में भी क्या दोष की कल्पना हो सकती है? इसे अच्छी तरह प्रतिपादित कर यह भी सकारण बताइए कि "सत्व" को भी दोष की गणना में ले सकते हैं या नहीं? १६

३. आत्मा, आप्तोपदेश, जीवात्मा, इन्द्रियों और इन्द्रियों के विषय को अच्छी तरह समझ कर "पुरुष" और उसके भेदों पर परिचयात्मक प्रकाश डालिए। २०

४. मद्यपान के गुण-दोष वर्णन कर बतलाइए कि मद्यपान का प्रभाव विशेषकर शरीर के किस भाग या भाव पर विशेष पड़ता है? पानात्यय और पानविभ्रम का वर्णन कीजिए? १६

५. प्रज्ञापराध, सूतिकोन्माद, बुद्धिभ्रंश, जड़ोन्माद और यौवनोन्माद के कारण, लक्षण और उपाय बतलाइए। १६

६. प्रेतजुष्ट, देवजुष्ट और राक्षसजुष्ट का क्या अर्थ है? इसका आक्रमण किस प्रकार होता है? उन्हें पहचानने के लक्षण और दूर करने के उपाय बतलाइए। १६

७. योपापस्मार और हिस्टीरिया के सम्बन्ध में विवेचनपूर्वक वर्णन, औषधि और उपचार के सहित लिखिए। १६

८. अपतानक के लक्षण, मूर्च्छा और संन्यास के उपद्रव, शोकज उन्माद के आहार-विहार, क्षयोन्माद के असाध्य लक्षण, विषजन्य उन्माद की चिकित्सा और अंशुघात का पथ्यापथ्य लिखिए। १६

९. लक्ष्मीनारायण, अश्वगन्धारिष्ट, भूतभैरवरस, अभयादि गुग्गुल और ब्राह्मीघृत का उपयोग किन मानसिक व्याधियों में होता है? प्रत्येक औषधि के सम्बन्ध में अलग-अलग लिखकर यह भी बतलाइए कि प्रत्येक में ऐसे कौन-कौन द्रव्य हैं जो उस रोग पर लाभकर हैं। १६

१०. सारस्वतचूर्ण, सारस्वतारिष्ट, शिवादिवटी, चिन्तामणि चतुर्मुख और अभयादिचूर्ण के अनुपान भिन्न-भिन्न रोगों के प्रयोग पर बतलाइए १६

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड) १९६२

समय ३ घण्टे चतुर्थ पत्र पूर्णाङ्क १००

१. आयुर्वेद की कौन-सी संहिताएँ प्रतिसंस्कृत हैं और कौन-सी अप्रतिसंस्कृत। दोनों में क्या वैशिष्ट्य है ? प्रतिसंस्कार किसे कहते हैं और कौन प्रतिसंस्कर्त्ता हुए हैं। क्या इन ग्रंथों का अब भी प्रतिसंस्कार अपेक्षित है ? सहेतुक लिखो। २०

२. चरक और पतंजलि की अथवा हृदयकार वाग्भट्ट और संग्रहकार वाग्भट्ट की भिन्नता या अभिन्नता में आप अपना क्या अभिनिवेश रखते हैं ? सप्रमाण लिखें। २०

३. जिनकी टीकाएं आज भी उपलब्ध हैं, ऐसे कौन-कौन पुरातन टीकाकार हुए हैं ? और किस-किस काल में हुए हैं और किन-किन ग्रंथों पर टीकाएँ लिखी हैं ? २०

४. चरक संहिता और सुश्रुत संहिता की पूर्वापरता के विषय में आपकी क्या अभिसन्धि है ? सयुक्तिक प्रतिपादन करें। २०

५. आधुनिक आयुर्वेदीय साहित्यकारों में से किन्हीं पाँच विद्वानों का संक्षिप्त परिचय लिखें, और उनके साहित्य की उपयोगिता पर प्रकाश डालें। २०

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड) १९६२

समय ३ घंटे प्रथम पत्र पूर्णाङ्क १००

सूचना :—केवल ६ प्रश्नों का उत्तर लिखिए। द्वितीय प्रश्न अनिवार्य है।

१. नासारोग कितने होते हैं ? उनके नामों का निर्देश करिए। नासाशोष का निदान, लक्षण तथा चिकित्सा लिखिए। १६

२. वृहद्मस्तिष्क, मध्यमस्तिष्क तथा सुषुम्नानाड़ी को प्रदर्शित करनेवाला चित्र खींचिए साथ ही इनके कार्यों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। २०

अथवा

एक लेख लिखिए जिसमें बताइए कि शालाक्यतन्त्र के योग्य चिकित्सालय में किन-किन वस्तुओं की आवश्यकता रहती है तथा कौन-कौन से यंत्र व शस्त्र इस चिकित्सा में काम आते हैं।

३. अरुंपिका, इन्द्रलुप्त, अनन्तवात रोगों की सम्प्राप्ति, लक्षण व चिकित्सा लिखिए। २०

४. निम्नलिखित विषयों पर टिप्पणी लिखिए :— १६

(अ) विडालक (ब) शिरोवस्ति (स) पुटपाक (द) तर्पण

५. जिह्वागत रोग कितने होते हैं ? उनके नामों का उल्लेख करिए। अविजिह्वा, रोग के लक्षण तथा चिकित्सा लिखिए। १६

६. कर्णनाद, कर्णबाधिर्य, कृमिकर्ण रोगों की सम्प्राप्ति, लक्षण तथा चिकित्सा लिखिए। १६

७. लगण, अर्जुन, पर्वणि, अधिमंथ, परिम्लायी रोगों के लक्षण तथा चिकित्सा एवं पथ्यापथ्य लिखिए १६

८. नेत्ररोग कितने होते हैं ? उनके नामों का उल्लेख करिए। चरक तथा सुश्रुत की नेत्र गणना में क्या अन्तर है ? १६

९. निम्नलिखित रोगों पर संक्षित टिप्पणी लिखिए :— १६

लिङ्गनाश (ब) पोथकी (स) पीनस (द) दीप्ति

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड) १९६२

समय ३ घण्टे **द्वितीय पत्र** **पूर्णांक १००**

नोट—(किन्ही पांच प्रश्नों का उत्तर दीजिए) अंक समान हैं।

१. गर्भस्राव के विषय में अपनी जानकारी देकर इसके कारण लक्षण तथा चिकित्सा लिखिए।

२. वस्तिगह्वर के माप पर प्रकाश डालिए। यदि भ्रूण के कपाल का व्यास अधिक हो तो कौन-सा प्रसूत कर्म प्रशस्त रहेगा।

३. शिशु अतिसार तथा वालशोथ का निदान लिख कर, लक्षण तथा चिकित्सा भी लिखिए।

४. प्रसूत कर्म में कृमिविहीनता की आवश्यकता लिखकर उसकी विधि पर प्रकाश डालिए। कमल से क्या अभिप्राय है।

५. भ्रूण रक्त-संचार पर चित्र सहित विवरण दीजिए।

६. प्रदर के प्रकार लिखकर उसके कारण, लक्षण तथा सामान्य चिकित्सा लिखिए।

७. निम्न पर टिप्पणी दीजिए:—

क. तालु कण्टक, ख. कामला, ग. शुद्धवीर्य, घ. पसली चलना, ङ. दौहृद।

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड) १९६३

समय तीन घण्टे | तृतीय पत्र | पूर्णांक १००

नोट:—किन्हीं ६ प्रश्नों के उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न में १६ अंक हैं। ४ अंक सुलेख के लिए हैं।

१. आत्मा, आप्तोपदेश, जीवात्मा, इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषय को समझाकर "पुरुष" और उसके भेदों पर परिचयात्मक प्रकाश डालिए।

२. स्मृति विकार कितने प्रकार के होते हैं? जिन मानसिक रोगों में स्मृति विकार विशेष रूप से पाए जाते हैं, उनका उल्लेख कीजिए।

३. मन, चित्त और अहंकार की परिभाषा लिखिए और उनके ज्ञान का स्वरूप वर्णन कीजिए। मन का इन्द्रियों के साथ क्या सम्बन्ध है?

४. निम्नलिखित में से किन्हीं चार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

१. हिस्टीरिया, २. योपाषस्मार, ३. कम्प, ४. उत्क्लेश, ५. शिरोवेदना, ६. मदात्यय, ७. शिप्रोन्माद।

५. नाड़ी शब्द की व्याख्या कर नाड़ी-दौर्बल्य का निदान, पूर्वरूप, साध्यासाध्यत्व और चिकित्सा का वर्णन कीजिए।

६. प्रज्ञापराध, सूतिकोन्माद, बुद्धिभ्रंश, जड़ोन्माद और यौवनोन्माद के कारण, लक्षण और उपाय लिखिए।

७. अपतानक और अपतन्त्रक में क्या भेद है? अपतानक के लक्षण, मूर्च्छा और संन्यास के उपद्रव, उन्माद का निदान, क्षयोन्माद के असाध्य लक्षण, अंशुघात के अरिष्ट लक्षण और अपस्मार के आहार-विहार बतलाइए।

८. 'गृह दोष' के क्या अर्थ हैं? शरीर के किस भाग से इन दोषों का विशेष सम्बन्ध है? शकुनी और स्कन्ध विकारों के लक्षण और उपाय बतलाइए।

९. प्रेतजुष्ट, देवजुष्ट और राक्षसजुष्ट का क्या अर्थ है? इसका आक्रमण किस प्रकार होता है? इन्हें पहचानने के लक्षण और दूर करने के उपाय बतलाइए।

१०. निम्न औषधियों का उपयोग किन मानसिक व्याधियों में होता है प्रत्येक में कौन ऐसा द्रव्य है जो उस रोग पर लाभकर है ?

१. सारस्वत चूर्ण	२. अश्वगन्धारिष्ट
३. भूतभैरव रस	४. अभयादिगुग्गुल
५. ब्राह्मीघृत	६. लक्ष्मीनारायण
७. अभयादि चूर्ण	८. चिन्तामणि चतुर्मुख

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड) १९६३

समय तीन घण्टे **चतुर्थ पत्र** **पूर्णांक १००**

नोटः—किन्हीं पाँच प्रश्नों का उत्तर लिखें। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. आयुर्वेद के क्रमिक विकास के इतिहास को संक्षेप में लिखें और इतिहास ज्ञान की उपयोगिता पर भी प्रकाश डालें।

२. आज के युग में आयुर्वेद की प्रगति रुद्ध क्यों है और उसके अभ्युत्थान के लिए कौन-कौन से उपाय श्रेयस्कर होंगे ?

३. रोगोत्पत्ति का कीटाणु-सिद्धांत आयुर्वेद-सम्मत है या नहीं ? यदि है तो उसके कौन-कौन से पहलू शास्त्र में वर्णित हैं ?

४. रसशास्त्र का विकास कब और क्यों और कहाँ तक हुआ। इसके प्रमुख प्रवर्त्तक आचार्य कौन-कौन हुए हैं ?

५. आयुर्वेद के कुछ प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं के नाम, स्थान, सम्पादकों और प्रकाशकों का उल्लेख करो और उनकी विशेषताएँ दर्शाओ। आपका मनपसन्द पत्र कौन-सा है और क्यों ?

६. आयुर्वेद के शुद्ध और मिश्र पाठ्यक्रम की चल रही समस्या के बारे में आप अपना दृष्टिकोण सप्रमाण उपस्थित करें।

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खण्ड) १९६४

समय ३ घण्टे प्रथम पत्र पूर्णाङ्क १००

सूचनाः—केवल ६ प्रश्नों का उत्तर लिखिये। आठवां प्रश्न अनिवार्य है।

१. अभिष्यन्द कितने प्रकार का होता है ? अभिष्यन्द की चिकित्सा तथा पथ्यापथ्य लिखिये।

२. तिमिर, काँच और लिंगनाश में भेद बतलाकर लिंगनाश की चिकित्सा लिखिये।

३. निम्न रोगों में से तीन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :—

(अ) पोथकी (स) अंजननामिका (ब) अधिमंथ (द) पीनस १६

४. शिरोरोग कितने होते हैं ? उनके नामों का उल्लेख करिये अर्धावभेदक रोग के लक्षण तथा चिकित्सा लिखिये। १६

५. उपशीर्षक, शंखक, इन्द्रलुप्त रोगों के लक्षण व चिकित्सा लिखिये। १६

६. निम्नलिखित विषयों पर टिप्पणी लिखिये :—

(अ) कवल तथा गंडूष (ब) नस्य (स) श्रुतिसुरंग (द) नासागुहा १६

७. नासागत रक्तपात तथा नासावरोध के कारण तथा चिकित्सा लिखिये।

८. कर्ण की आधुनिक ग्रन्थों में किस प्रकार रचना बताई है ? चित्र खींचकर प्रत्येक भाग का नाम लिखिए। २०

९. पायरिया तथा रोहिणी के लक्षण तथा चिकित्सा लिखिए। १६

१०. उर्ध्वांग रोग—चिकित्सा को शालाक्य-तन्त्र क्यों कहा जाता है ? शालाक्य-तन्त्र की चिकित्सा शास्त्र में क्या उपादेयता है ? लिखिए। १६

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खण्ड) १९६४

समय ३ घण्टे | द्वितीय पत्र | पूर्णांक १००

(सूचना :—किन्हीं पाँच प्रश्नों का उत्तर दीजिए)

१. किसी शिशु को कामला रोग है ? आप कैसे पहिचानेंगे। इसका निदान लिखकर, उपयुक्त चिकित्सा भी लिखिये। २०

२. बालशोष से क्या अभिप्राय है ? यह किन अवस्थाओं में होता है ? इसकी सफल चिकित्सा लिखिये।

३. गर्भपात कराने की प्राचीन तथा आधुनिक विधियों पर प्रकाश डालकर लिखिये कि किन-किन अवस्थाओं में यह आवश्यक है ? आप किस विधि को सुरक्षित व प्रशस्त समझते हैं ?

४. किसी स्त्री का मासिक धर्म दो मास से अवरुद्ध है। आप क्या कल्पना कर सकते हैं ? उसे आप क्या परामर्श देंगे ? २०

५. गर्भ-स्थिति की अवस्था में चतुर्थ मास में कौन से विशेष लक्षण होते हैं ? सद्यः प्रसव से आप क्या अभिप्राय समझते हैं ? प्रसव काल की तिथि कैसे जानेंगे ? २०

६. किसी स्त्री के प्रसव नहीं ठहरता। क्या कारण है? इसके लिए उपयोगी तथा फलप्रद चिकित्सा लिखिये।

७. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी दीजिये :—

(क) श्वेत प्रदर, (ख) वाल-यकृत,

(ग) कमल, (च) गर्भस्राव

(ङ) योनि भ्रंश।

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खण्ड)

समय ३ घण्टे | तृतीय पत्र | पूर्णांक १००

नोट—किन्हीं ६ प्रश्नों के उत्तर दीजिये। प्रत्येक प्रश्न में १६ अंक हैं। ४ अंक शुद्ध तथा सुलेख के लिए हैं।

१. सत् तथा असत् वस्तु की परीक्षा के कौन-कौन से प्रकार हैं? उन्हें अलग-अलग समझाते हुए लिखिए कि मनुष्य की उत्पत्ति में क्या हेतु है तथा मनुष्य दीर्घजीवन कैसे प्राप्त कर सकता है?

२. मन, इन्द्रिय तथा बुद्धि के विषय में समझाते हुए आत्मा के अस्तित्व का स्वरूप निरूपित कीजिए।

३. रक्त के दूषित होने के कारण, दूषित-रक्त से उत्पन्न होने वाले रोगों के नाम तथा रक्त के शुद्ध करने के उपाय लिखिये।

४. अपतानक, योषापस्मार तथा नाड़ी दौर्बल्य के निदान, चिकित्सा तथा पथ्यापथ्य लिखिये।

५. मानसिक रोगों के उत्पन्न होने के कारणों को बताते हुए लिखिये कि अनिद्रा का मानसिक रोगों पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है?

६. क्षयोन्माद का पूर्वरूप, मूर्च्छा का निदान मदात्यय का लक्षण तथा अपस्मार की चिकित्सा लिखिए।

७. ग्रहोन्माद तथा शकुन का निदान, लक्षण तथा चिकित्सा लिखिए।

८. अर्जुनारिष्ट, अश्वगन्धारिष्ट, पञ्चगव्यघृत तथा सारस्वत चूर्ण को किन-किन मानसिक रोगों पर किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए इनमें कौन-कौन से मुख्य द्रव्य हैं? जो लाभ करते हैं।

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड) १९६४

समय ३ घण्टे | चतुर्थ पत्र | पूर्णांक १००

१. इतिहास शब्द का निरुक्तिलभ्य अर्थ क्या है ? वे कौन से आधार हैं जिनके बल पर आयुर्वेद के इतिहास को हम प्रामाणिक इतिहास कह सकें ? २०

२. प्रवर्तक और प्रचारक आचार्य में क्या अन्तर है ? आयुर्वेद के प्रवर्तक और प्रचारक आचार्यों की गणना करो। आजकल के आचार्य किस श्रेणी में आएंगे। आज सबसे बड़ा प्रचारक आचार्य कौन है ? २०

३. वे कौन सी बातें हैं जिनका जानना एक आयुर्वेदिक चिकित्सक के लिए उपयोगी होगा। क्या आप अपने में किसी तरह की कमी देखते हैं ? २०

४. आयुर्वेद के स्नातकोत्तर व अनुसन्धान केन्द्र आजकल कहाँ-कहाँ चालू हैं ? उनके विषय में जानते हो तो लिखो। "वाक्सौष्ठवेऽर्थविज्ञाने प्रागल्भ्ये कर्मनैपुणे। तदभ्यासे च सिद्धौ च यतेताऽध्ययनान्तकाः।" इस श्लोक से आप क्या अर्थ निकालते हैं ?

५. आयुर्वेद अष्टांग क्या हैं, शल्यांग को प्रधानता क्यों दी गई है ? इस अंग के उत्थान और पतन के कारणों का ऐतिहासिक विवेचन करो। २०

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड) १९६५

समय ३ घण्टे | प्रथम पत्र | पूर्णांक १००

सूचना :—केवल ६ प्रश्न का उत्तर लिखिए। द्वितीय प्रश्न अनिवार्य है।

१. प्रतिश्याय कितने प्रकार का होता है ? प्रतिश्याय की चिकित्सा तथा पथ्यापथ्य लिखिये। १६

२. मध्यकर्ण की आधुनिक ग्रन्थों में किस प्रकार की रचना बताई है बतला कर मध्यकर्ण शोथ के लक्षण व चिकित्सा विस्तार से लिखिये। २०

३. निम्न रोगों में से तीन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये :—

(अ) प्रतिनाह (ब) दीप्ति

(स) टानसिल (द) कर्णबाधिर्य।

४. मुखपाक कितने प्रकार का होता है ? मुखपाक की चिकित्सा लिखिए। १६

५. कर्णनाद और कर्णक्ष्वेड में भेद बतलाकर कर्णस्राव के कारण व चिकित्सा लिखिए। १६

६. अर्धावभेदक, कृमिज शिरोरोग के लक्षण तथा चिकित्सा लिखिये। १६

७. निम्न विषयों में से चार पर टिप्पणी लिखिये :— १६

(अ) तर्पण (ब) शिरोवस्ति (स) कर्णपाली

(द) अंजन (त) आश्च्योतन।

८. सूर्यावर्त, अरुंषिका तथा इन्द्रलुप्त रोगों के लक्षण व चिकित्सा लिखिये। १६

९. शीताद, दन्तवेष्ट, दालन, कृमिदन्त रोगों के कारण, लक्षण तथा चिकित्सा लिखिये। १६

१०. नेत्र रोग कितने होते हैं ? चरक तथा सुश्रुत की नेत्र रोग गणना में क्या अन्तर है बतलाकर पोथकी रोग की चिकित्सा लिखिये। १६

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड) १९६५

समय ३ घण्टे द्वितीय पत्र पूर्णांक १००

(कोई भी पाँच प्रश्न कीजिये सभी प्रश्नों के अंक समान हैं)

१. कौमारभृत्य किसे कहते हैं। इसमें कौन कौन से विषयों का वर्णन रहता है। कैसी धाय प्रशंसनीय है।

२. जातमात्रकुमार तथा सद्यः प्रसूतामाता की तात्कालिक उपचार विधि का वर्णन कीजिये।

३. नाभितुण्डी और नाभिपाक में क्या अन्तर है। बालक के गुदभ्रंश की आप कैसे चिकित्सा करेंगे।

४. ग्रहदोष से पीड़ित बालक के सामान्य लक्षण क्या हैं। स्कन्दग्रह से गृहीत बालक की चिकित्सा कैसे करेंगे।

५. गर्भवती के मनोवांछित दोहद न मिलने से गर्भस्थ बालक को क्या हानि होती है। गर्भ में शिशु मल, मूल और रोदन क्यों नहीं करता स्पष्ट लिखो।

६. यदि वायु विकार के कारण गर्भ सूखता जा रहा हो तो आप क्या चिकित्सा करेंगे। मृतगर्भ के क्या लक्षण हैं।

७. गर्भपात और गर्भस्राव में क्या अन्तर है। प्रसवोत्तर रक्तस्राव की चिकित्सा आधुनिक और प्राचीन पद्धति से बताइये।

८. स्तन दुग्ध वर्धक कोई सफल उपाय बताइये। गर्भपात कराने की प्राचीन और आधुनिक विधियाँ क्या हैं। किस अवस्था में गर्भपात कराना उपयोगी है।

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड) १९६५

समय ३ घण्टे **तृतीय पत्र** **पूर्णांक १००**

नोट :— किन्हीं ६ प्रश्नों के उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न में १६ अंक हैं। ४ अंक शुद्ध तथा सुलेख के लिए हैं।

१. मन बुद्धि तथा इन्द्रिय की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कीजिए कि मन इन्द्रिय है या नहीं।

२. आत्मा तथा पुरुष की विशद व्याख्या करते हुए पुनर्जन्म सिद्ध कीजिए।

३. किन-किन मानसिक रोगों में स्मृति विकार होता है ? और क्यों होता है ? स्मृति प्राप्त करने के लिए क्या उपाय करना चाहिए ?

४. अपतन्त्रक तथा अपतानक में अन्तर बताते हुए अपतन्त्रक के निदान-लक्षण तथा चिकित्सा लिखिए।

५. उन्माद तथा अपस्मार के निदान-लक्षण और चिकित्सा लिखिये।

६. मूर्च्छा, नाड़ीदौर्बल्य तथा बुद्धिभ्रंश के निदान लक्षण तथा चिकित्सा लिखिए।

७. ग्रहोन्माद तथा शकुनि के लक्षण और उपाय लिखिए।

८. महानारायण तैल,ब्राह्मीघृत, सारस्वत चूर्ण तथा अर्जुनारिष्ट का किन-किन मानसिक रोगों पर किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए ? प्रत्येक के मुख्य-मुख्य द्रव्यों का उल्लेख भी कीजिए।

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खण्ड) १९६५

समय ३ घण्टे **चतुर्थ पत्र** **पूर्णांक १००**

१. इतिहासकार किसी राष्ट्र, समाज और साहित्य के वर्तमान की समीक्षा के लिए, भूत के इतिवृत्त संकलित करके भविष्यत् का मार्ग प्रशस्त करता है। क्या इस सिद्धान्त को निभाने में आयुर्वेद के इतिहासकार सफल हुए हैं ?

अथवा

जब आयुर्वेद "अनुत्पाद्यैव प्रजा आयुर्वेदाग्रेऽसृजत्" (सू० अ० १) "आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत् ततो विश्वानिभूतानि" (कश्यप संहिता) "सोऽयमायुर्वेद शाश्वतो निर्दिश्यते अनादित्वात्" स्वभाव संसिद्ध लक्षणत्वात्, भाव स्वभाव नित्यत्वाच्च. (च० सू० ३०-२७) इन संहिता वचनों से शाश्वत नित्य और भूतोद्भव से पूर्व का है, तो फिर आप उसका इतिहास कहाँ से, कैसे, किससे प्रारम्भ करेंगे युक्ति-युक्त वर्णन करिये।

२. सतत प्रवाहित आयुर्वेद की विज्ञान गंगा को हम तक आने के लिए जितने शैल, शृङ्ग, घाटी, वन, उपवन और मरुस्थल पार करने पड़े हैं क्या उनको आधार मानकर आयुर्वेद के इतिहास का काल-विभाजन किया जा सकता है सप्रमाण अपना मत व्यक्त करिये ।

अथवा

चरक संहिता में कृष्णात्रेय, पुनर्वसु आत्रेय और भिक्षु आत्रेय, यह तीन नाम आते हैं क्या ? यह एक ही व्यक्ति के नाम हैं या पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के नाम हैं तो क्या यह सब समकालीन थे ? अगर समकालीन नहीं थे तो फिर चरक संहिता की गोष्ठियों में एक ही स्थल पर उनका वर्णन कैसे और क्यों किया गया ? शंका समाधान करते हुए बताओ इनमें अग्निवेश के गुरु कौन से आत्रेय हैं ? २५

३. संस्कृत वाङ्मय में समुद्र-मंथन से प्रकट धन्वन्तरि, राजाधन्व के पुत्र धन्वन्तरि और दिवोदास धन्वन्तरि इन तीन का वर्णन मिलता है । इनमें शल्य-शास्त्र के आचार्य सुश्रुत के गुरु कौन से धन्वन्तरि थे ?

अथवा

आयुर्वेद की सेवा कौन-कौन से डाक्टरों ने की है, उनमें से कुछ के नाम लिखकर उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों का परिचय दीजिये और दर्शाइये कि उन ग्रन्थों ने आयुर्वेद की क्या श्रीवृद्धि की और कौन सा मार्ग प्रशस्त किया ? २५

४. आचार्य प्रवर वैद्य यादवजी त्रिकमजी, श्री स्वामी लक्ष्मीराम जी, कविराज गणनाथ सेन जी, राजवैद्य नन्दकिशोर जी, कविराज हरि निरञ्जन जी मजूमदार का संक्षिप्त परिचय देते हुए इनमें से किसी एक की आयुर्वेद सेवाओं का वर्णन करो ।

अथवा

शुद्धायुर्वेद और मिश्रायुर्वेद से आप क्या ग्रहण करते हैं तथा इस प्रकार के आंदोलनों को क्या आप आयुर्वेद के हित में मानते हैं ? अपना मत व्यक्त करिये । २५

———

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड)–१९६६

समय ३ घंटे **प्रथम पत्र** **पूर्णांक १००**

सूचना—केवल ६ प्रश्नों का उत्तर लिखिए। तीसरा प्रश्न अनिवार्य है।

१. आयुर्वेद मतानुसार नेत्र में कितने पटल होते हैं? पटलगत दोषों के लक्षण व चिकित्सा लिखिए। १६

२. कर्णनाद, कर्णबाधिर्य, कृमिकर्ण रोगों की संप्राप्ति, लक्षण तथा चिकित्सा लिखिए। १६

३. नेत्रेंद्रिय की आधुनिक ग्रंथों के आधार पर चित्र खींचकर प्रत्येक भाग का नाम लिखिए। २०

४. निम्न रोगों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :— १६

(अ) कर्णस्राव। (ब) कर्णशूल। (स) कर्णक्ष्वेड। (द) पोथकी।

५. दंतमूलगत रोग कितने प्रकार के होते हैं? शीताद, दंतवेष्ट, परिदर के लक्षण व चिकित्सा लिखिए। १६

६. निम्नलिखित विषय पर टिप्पणी लिखिए :— १६

(अ) नासागुहा। (ब) आश्च्योतन। (स) कवल तथा गडुंष।

७. सूर्यावर्त्त, शंखक रोगों के लक्षण व चिकित्सा लिखिए। १६

८. मुखपाक कितने प्रकार का होता है? मुखपाक की चिकित्सा लिखिए। १६

९. पीनस, नासापाक, प्रतिनाह रोगों के लक्षण व चिकित्सा विस्तार से लिखिए। १६

१०. उर्ध्वांग रोग-चिकित्सा को शालाक्य-तंत्र क्यों कहा जाता है? शालाक्य-तंत्र की चिकित्सा शास्त्र में क्या उपादेयता है? विस्तार से लिखिए। १६

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड)–१९६६

समय ३ घंटे द्वितीय पत्र पूर्णांक १००

सूचना—कोई भी पांच प्रश्न कीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. वायु से दूषित शुक्र और शुद्ध रज की क्या पहचान है ? असृग्दर के लक्षण और चिकित्सा बताइए।

२. ऋतुमती किसे कहते हैं ? लक्षण बताते हुए अप्रशस्त ऋतुकालीनचर्या का वर्णन कीजिए। कष्टार्तव की सफल चिकित्सा क्या है ?

३. गर्भवृद्धि का प्रधान कारण क्या है ? गर्भस्थ शिशु के कौन-कौन से अंग किन महीनों में बनते है ? क्रम से वर्णन कीजिए।

४. आयुर्वेदिक मतानुसार सूतिकागार कैसा होना चाहिए ? सूतिकागार ठीक न होने से प्रसूता को क्या हानि होती है ? प्रसवकाल की तिथि कैसे जानेंगे ?

५. शुद्ध स्तन दुग्ध की क्या पहचान है ? स्तन्यनास होने के क्या कारण हैं ? स्तन-कीलक नामक व्याधि के लक्षण और चिकित्सा बताइए।

६. बालक के मसूरिका रोग का निदान और संप्राप्ति बताते हुये उसके उपचार का वर्णन कीजिए। मसूरिका और मन्थर ज्वर में क्या अन्तर है ?

७. यदि किसी बालक को जन्म से माता का दुग्ध नहीं मिलता है तो उसका पालन पोषण आप कैसे करेंगे ? आयुर्वेदिक मतानुसार परिवार नियोजित करने का सफल उपाय बताइये।

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड)–१९६६

समय ३ घंटे — तृतीय पत्र — पूर्णांक १००

नोट—किन्हीं ६ प्रश्नों के उत्तर दीजिए। प्रत्येक प्रश्न के लिए १६ अंक हैं। ४ अंक शुद्ध और सुलेख के लिए हैं।

१. जगत् और पुरुष की तुल्यता को स्पष्ट समझाते हुए निवृत्ति के उपाय लिखिए, साथ ही यह भी सिद्ध कीजिए कि आत्मा अविनाशी है।

२. मूर्च्छा तथा संन्यास की संप्राप्ति, लक्षण तथा चिकित्सा लिखिए।

३. योषापस्मार तथा मदात्यय के निदान, लक्षण तथा चिकित्सा लिखिए।

४. उन्माद के भेद बताते हुए दैत्याविष्ट, यक्षाविष्ट तथा नागाविष्ट के लक्षण और चिकित्सा लिखिए।

५. अपतन्त्रक तथा अपतानक में भेद बताते हुए उचित चिकित्सा लिखिए।

६. 'भय, चिन्ता तथा क्रोध का मानसिक रोग से घनिष्ठ संबंध है'—इस उक्ति को समझाकर लिखिए।

७. स्कन्दापस्मार, शकुनि तथा गंध पूतना के निदान, लक्षण तथा चिकित्सा लिखिए।

८. महाचैतसघृत, बृहत्पंचगव्यघृत, विश्वाद्यचूर्ण, कल्याणचूर्ण, समीर-पन्नगरस, भूतांकुशरस तथा सारस्वतारिष्ट में से किन्हीं चार के मुख्य-मुख्य द्रव्य, निर्माण की विधि तथा प्रयोग लिखिए।

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खंड)–१९६६

समय ३ घंटे चतुर्थ पत्र पूर्णांक १००

१. ब्रह्मास्मृत्वा आयुशोवेदं प्रजापतिमजिग्रहत् । सोऽश्विनौतौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान्मुनीन् (वाग्भट्ट) इसी प्रकार—

"हेतुलिंगमौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम् । त्रिसूत्रं सास्वतंपुण्यं बुबुधे यं पितामहः" (चरक सू०), (इन्द्रादहं), (सुश्रुत सू०) ।

इन वाक्यों में आयुर्वेद का प्रवर्तनक्रम ब्रह्मा से प्रजापति, प्रजापति से अश्विनी-कुमारों, अश्विनी कुमारों से इन्द्र को आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त हुआ, ऐसा लिखा है। आप स्वकीय बुद्धि से बताइए कि ब्रह्मा प्रजापति-अश्विनीकुमार और इन्द्र का वर्णन प्रतीकात्मक है या वास्तव में देव मानव योनि के पार्थिव पुरुष। अगर पार्थिव पुरुष हैं तो कौन-कौन से देवयोनि के हैं और कौन मानवयोनि के। २०

२. आयुर्वेद के पत्रपत्रिका का इतिहास किससे प्रारम्भ होता है तथा आयुर्वेद की पत्रकारिता कला में आयुर्वेद पंचानन श्री जगन्नाथप्रसाद शुक्ल और श्रीकिशोरीदत्त बाजपेयी का स्थान और उनकी कला-किसी एक पर प्रकाश डालो। २०

३. केवल मात्र इतिवृत्त लेखन ही इतिहास होता है या परिस्थितियों का उद्घाटन कर उनके प्रकाश में भावी पीढ़ी का मार्ग दर्शन, सिद्धांत स्थिर कर बताइये कि आयुर्वेद के कौन-कौन से इतिहासकार किस शैली को लेकर चले हैं ? २०

४. रस शास्त्र शब्द का व्युत्पत्ति पूर्वक अर्थ बताते हुये बताइए कि रसशास्त्र के अंदर आने वाले धातुओं आदि द्रव्यों का विषदवर्णन अथर्ववेद में मिलता है। फिर भी इस शास्त्र के प्रवर्त्तक आचार्य सिद्ध क्यों माने जाते हैं तथा यह सिद्ध चिकित्सा क्यों कहलाती है ? २०

५. २०वीं शताब्दी के आयुर्वेद मनीषियों ने आयुर्वेद शिक्षा में क्या-क्या सुधार किस दृष्टि से किये ? संक्षेप में वर्णन करिये तथा इन मनीषियों में "प्रत्यक्ष शरीर" के लेखक श्री गणनाथ सेन महोदय का स्थान निश्चित करिये। २०

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खण्ड)–१९६७

समय ३ घण्टे | प्रथम पत्र | पूर्णांक १००

सूचना—किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. 'शिर' किसे कहते हैं ? शिरो रोग के हेतु और भेदों का नाम सहित उल्लेख कीजिए। अर्धविभेदक और सूर्यावर्त्त में भिन्नता प्रतिपादित करते हुए इनकी चिकित्सा-विधि पर प्रकाश डालिए।

२. अन्तःकर्ण की रचना का विस्तारपूर्वक वर्णन कर, शब्द-ग्रहण में इस भाग के योगदान की विधि समझाइए। कर्णकण्डू और कर्णगूथ में मौलिक अन्तर क्या है ? इनकी चिकित्सा-विधि क्या होगी ?

३. नेत्र रोग के कारणों पर प्रकाश डालिए। 'दृष्टि' किसे कहते हैं ? लिंगनाश में नेत्र का कौन-सा भाग विकारग्रस्त होता है ? इस रोग की चिकित्सा विधि, लक्षण सहित सविस्तार समझाइए।

४. मुखरोग की सम्प्राप्ति क्या है ? खण्डौष्ठ की शल्य चिकित्सा क्या होगी ? उपकुश और दन्तशर्करा के लक्षण लिख, इनकी चिकित्सा-विधि का वर्णन कीजिए।

५. मस्तिष्क की रचना और कार्य-पद्धति का परिचय दीजिए। क्या रक्त विक्षेप (ब्लडप्रेशर) की गणना शिरोरोग में हो सकती है ? समर्थन में युक्ति दीजिए। उन्निद्र रोग के कारणों का उल्लेख कर, चिकित्सा-विधि का वर्णन कीजिए।

६. निम्नलिखित में से कन्हीं पाँच पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :

(१) अनन्तवात, (२) अधिमन्थ, (३) उत्पात, (४) रोहिणी, (५) न्यूमोनिया, (६) सुषुम्ना।

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खण्ड)–१९६७

समय ३ घण्टे द्वितीय पत्र पूर्णांक १००

सूचना—किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. परिवार नियोजन पर आयुर्वेदिक तथा नवीन विज्ञान के मत से प्रकाश डालिए।

२. शुद्ध वीर्य तथा शुद्ध रज के लक्षण लिख कर रजो दोष क्या है? लिखिए। कष्टार्तव की संक्षिप्त सफल चिकित्सा भी लिखिए।

३. प्रसूत गृह सज्जा का विस्तृत विवरण दीजिए। सद्यः प्रसूता के लक्षण भी लिखिए।

४. बालकों को दन्तोद्गम के समय होने वाले लक्षण लिख कर अतिसार की चिकित्सा भी लिखिए। दाँत सरलता से निकलें, क्या उपाय है?

५. बाल यकृत् तथा कामला के कारण और लक्षण लिख कर चिकित्सा पर प्रकाश डालिए।

६. कोपापस्मार पर आयुर्वेदिक तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के मत से कारण और लक्षण लिख कर चिकित्सा लिखिए।

७. माता का दूध न होने की अवस्था में बालक का पोषण किस विधि से करना उपयुक्त होगा?

८. निम्न पर सारगर्भित संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :

मूढ गर्भ; पसली चलना; कमल; गर्भपात; लूप।

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खण्ड)–१९६७

समय ३ घन्टे **तृतीय पत्र** **पूर्णांक १००**

सूचना—किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. अहंकार के भेद तदनुसार उससे उत्पन्न होने वाले तत्वों का वर्णन कीजिए। पाँच भौतिक होने पर भी इन्द्रिय दूसरे इन्द्रियार्थ को ग्रहण क्यों नहीं करती ?

२. मन के लक्षण, गुण, कर्म, दोष और उनसे होने वाले रोग तथा सामान्य चिकित्सा दीजिए। जीवित शरीर में मन का क्या महत्त्व है ?

३. एपणाएँ क्या होती हैं ? उनमें परलोकेपणा का वर्णन करते हुए पुनर्जन्म को युक्ति प्रमाणों से सिद्ध कीजिए।

४. वुद्धि भ्रंश, स्मृति भ्रंश और धृति भ्रंश एवं प्रज्ञापराध के लक्षण दीजिए।

५. उन्माद और अपस्मार के लक्षण और परस्पर भेद लिख कर अपस्मार के पूर्व रूप और उन्माद की सामान्य चिकित्सा दीजिए।

६. वालग्रह कितने होते हैं ? इनके आवेश का हेतु क्या है ? क्या ये सचमुच मनुष्य-शरीर में आविष्ट होते हैं। युक्त-प्रमाण सहित स्पष्ट करते हुए किसी एक ग्रह के लक्षण और चिकित्सा दीजिए।

७. अतत्वाभिनिवेश और योपापस्मार के लक्षण और चिकित्सा दीजिए।

आयुर्वेदरत्न (द्वितीय खण्ड)–१९६७

समय ३ घण्टे **चतुर्थ पत्र** **पूर्णांक १००**

१. आयुर्वेदशास्त्र शाश्वत एवं नित्य है, तो इसका इतिहास कब और कहाँ से प्रारम्भ किया जा सकेगा ? इसका युक्तियुक्त प्रतिपादन कीजिए। २०

२. समुद्र-मन्थन से आविर्भूत धन्वन्तरि, राजधन्व के पुत्र धन्वन्तरि और दिवोदास धन्वन्तरि में शल्यशास्त्र के आचार्य सुश्रुत के गुरु कौन थे ? अपने मत का तर्कयुक्त समर्थन कीजिए। २०

३. आयुर्वेद शास्त्र की सेवा में किन-किन डाक्टरों ने अपना समय लगाया ? उनका परिचय एवं उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियों का नमोल्लेख पूर्वक निर्देश कीजिए। २०

४. वीसवीं शताब्दी के आयुर्वेद मनीषियों ने आयुर्वेद-शिक्षा में कौन-कौन सुधार किया ? और उसका क्या उद्देश्य था ? संक्षिप्त वर्णन कीजिए। २०

५. वर्तमानयुग के प्रमुख आयुर्वेदज्ञों में किन्हीं दो का परिचय तथा उनकी विशिष्टताओं का वर्णन कीजिए। २०